राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान-सम्पादक
ओ. पी. सैनी I.A.S.
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क 181

महाकवि विश्वनाथप्रणीत

शत्रुशल्यचरितमहाकाव्य

भाग - 1

(1-12 सर्ग)

(सम्पादक विरचित संस्कृतव्याख्या विद्योतिनी व अंग्रेजी अनुवाद सहित)

सम्पादक
डा० भोलाशंकर व्यास
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1996 मूल्य 157/- रु.

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक

ओ. पी. सैनी I.A.S.

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क 181

महाकवि विश्वनाथप्रणीत

शत्रुशल्यचरितमहाकाव्य

भाग – 1

(1–12 सर्ग)

(सम्पादक विरचित संस्कृतव्याख्या विद्योतिनी व अंग्रेजी अनुवाद सहित)

सम्पादक

डा. भोलाशंकर व्यास

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1996

मूल्य 157.00 रु.

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान-सम्पादक

श्रो. पी. सैनी I.A.S.

[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थांक 181

महाकवि–विश्वनाथप्रणीत

शत्रुशल्यचरितमहाकाव्य

भाग–1

(1–12 सर्ग)

(सम्पादक विरचित संस्कृतव्याख्या विद्योतिनी व अंग्रेजी अनुवाद सहित)

सम्पादक

डॉ० भोलाशङ्कर व्यास

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1996

मूल्य 157 रु.

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान सरकार द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थान प्रदेशीय
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी-राजस्थानी आदि भाषा-निबद्ध
विविध वाङ्मय-प्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक
ओ. पी. सैनी I.A.S.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थांक 181

शत्रुशल्यचरितमहाकाव्य

भाग—1

© प्रकाशक

मुद्रक
राजस्थान लॉ वीकली प्रेस एवम् पंकज प्रिण्टर्स जोधपुर

RAJASTHAN PURATAN GRANTHAMALA

No. 181

General Editor – O.P. Saini I.A.S.

(Director, Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur)

S'atrus'alya-carita-Mahākāvya

by

MAHĀKAVI-VIŚVANĀTHA

Part I

(I-12 Cantos)

(With Editors' Vidyotini Sanskrit Commentary & English Translation)

Edited by

Dr. BHOLASHANKAR VYAS

Former Professor & Head of the Hindi Department

Kashi Hindu University, Varanasi

Published by

Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1996 Price Rs. 157-00

RAJASTHAN PURATAN GRANTHMALA

Published by the Government of Rajasthan

A series devoted to the publication of Sanskrit, Prakrit, Apabhramsa, Hindi & Rajasthani works pertaining to India in General & Rajasthan in particular

General - Editor

O.P. Saini I.A.S.
Director, Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

No. 181

S'atrus'alya - Carita - Mahākāvya

(Part - I)

500 Copies

First Edition

© Publisher

Printers

Rajasthan Law Weekly & Pankaj Printers, Jodhpur

निदेशकीय

संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक काव्यों के प्रणयन की परम्परा बाण के हर्षचरित से मानी जाती है। निजाश्रयदाता राजा की प्रशंसा के साथ ही इन काव्यों में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों का यथार्थ निरूपण हुआ है जो तत्कालीन ऐतिहासिक ज्ञान के लिये अत्यन्त उपयोगी स्रोत है।

राजस्थान के पूर्व रियासतों के शासकों यथा मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़, हाड़ौती के राजाओं पर ऐसे अनेक ऐतिहासिक काव्य लिखे गये थे जिनमें से अनेक अभी तक अप्रकाशित हैं।

प्रतिष्ठान की 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' में ऐसे शासकों पर काव्यों को प्रकाशित करने की नीति प्रारम्भ से ही रही है, फलस्वरूप ईश्वरविलास–महाकाव्य, हम्मीर–महाकाव्य, राजविनोद महाकाव्य, सूरसिंह वंश-प्रशस्ति आदि अनेक ऐतिहासिक काव्यों का प्रकाशन किया जा चुका है। इसी क्रम में बूंदी के हाडा शासकों से सम्बन्धित प्रस्तुत 'शत्रुशल्यचरित महाकाव्य' का मुद्रण कार्य काफी समय पूर्व प्रारम्भ करवाया गया था। मुझे प्रसन्नता है कि अब यह कार्य पूर्ण होकर विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

चौहानों के इतिहास से सम्बन्धित तीन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक महाकाव्य प्रकाशित हो चुके हैं। पृथ्वीराज चौहान के विषय में जयानककृत पृथ्वीराज विजय, रणथंभोर के हम्मीर देव पर नयचन्द्रसूरिकृत हम्मीर-महाकाव्य तथा बूंदो के राव सुर्जन पर चन्द्रशेखर कृत सुर्जनचरित महाकाव्य अत्यन्त विश्रुत एव चर्चित रहे हैं। इसी परम्परा में प्रस्तुत शत्रुशल्य-चरित महाकाव्य चौथा महाकाव्य है। इस क्षेत्र का पाँचवाँ तथा अन्तिम ज्ञात महाकाव्य रामविलास महाकाव्य है। इसे भी सम्पादित कर प्रतिष्ठान को प्रकाशनार्थ देने का वचन डा. भोलाशंकर व्यास ने दिया है जिसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। 22 सर्गों में विभक्त इस काव्य में बादशाह अकबर, जहांगीर एवं शाहजहां कालोन रणथम्भोर, गौंडवाना, गुजरात एवं दक्षिण भारत में लड़े गये युद्धों का यथार्थ निरूपण है। राव रतन एवं शत्रुशल्य द्वारा जो विभिन्न युद्ध बुरहानपुर,

बलोचपुर और दौलताबाद आदि स्थानों पर लड़े गये उनमें हाडाओं के राजवैद्य होने के नाते कवि विश्वनाथ स्वयम् उपस्थित थे। सन् 1623 में खुर्रम द्वारा अपने पिता के विरुद्ध किये गये विद्रोह का भी इसमें यथार्थ वर्णन प्राप्त होता है। युद्ध की घटनाओं एवं वर्णन के साथ ही महाकाव्य के लक्षणों के निर्वहन हेतु सुरम्य प्रकृति वर्णन आदि का भी अभिराम चित्रण इसमें किया गया है।

प्रस्तुत काव्य को दो भागों में विभक्त कर प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम भाग में सर्ग 1 से 12 के साथ सम्पादक की अपनी संस्कृत टीका एवं अंग्रेजी भाषानुवाद दिया गया है। द्वितीय भाग में गंगासहाय शिशु विनिर्मित संस्कृत प्रकाशिका टीका दी गई है। विद्वान् सम्पादक डॉ. व्यास ने अपनी आलोचनात्मक भूमिका में काव्य के ऐतिहासिक एवं काव्यशास्त्रीय पक्ष पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

डॉ. भोलाशंकर व्यास ने हमारे अनुरोध पर इस सम्पादन कार्य को जिस निष्ठा और तत्परता के साथ पूर्ण कर प्रतिष्ठान को सौंपा उसके लिये हम उनके आभारी हैं। डॉ. व्यास का भविष्य में भी हमें इसी प्रकार का सहयोग मिलता रहेगा, ऐसा विश्वास है। उनके इस सत्प्रयास को विद्वज्जगत् को सौंपते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है।

ओ. पी. सैनी
निदेशक

शत्रुशल्यचरितम्

(पूर्वार्द्धस्य विषयानुक्रमणिका)

भूमिका (आंग्लभाषायां) पृ० १-१६

सर्गः	विषयः	पृष्ठम्
१.	चाहुवाणोद्भवः	१-१०
२.	वासुदेवदीक्षितवर्णनम्	१०-२५
३.	अरिथपालोद्भवः	२५-३२
४.	मेदान्वयध्वंसः	३३-४४
५.	बुन्दचां तुरुष्कोदयः	४५-५६
६.	नारायणदासवर्णनम्	५७-७३
७.	सूर्यमल्लवर्णनम्	७४-८०
८.	सुर्जनवर्णनम्	८०-१०२
९.	महाराजश्रीदुर्योधनवर्णनम्	१०३-११०
१०.	भोजदेववर्णनम्	१११-११९
११.	श्रीरत्नराजवर्णनम्	१२०-१४५
१२.	श्रीशत्रुशल्यसामुद्रिकलक्षणवर्णनम्	१४६-१५४

विद्द्योतिनोव्याख्या — १५४-४२६

English Translation — १-१२५

INTRODUCTION

Śatruśalyacharitam Mahakavya of Mahakavi Vishwanatha has a special place among the historical Sanskrit Mahakavya. It was really unfortunate that the present poetic work was lying under abyss and was waiting for its recovery from the deep darkness. We are glad to publish it, so that sanskrit savants may drink deep the beauty of this ornate poetic work following the footsteps of the poetic skill of Sriharsha, the author of 'Naisadhiyacharitam'. High flights of imagination, superb erudition and choice of sonorous words in flowing metrical compositions of this poem will really enchant the hearts of scholars and readers, who are familiar with the superb Ornate style of sanskrit poetry.

Though known to some sanskrit scholars of Bundi (erstwhile state in Rajasthan), it was not known to the outer literary world, like 'Surajan-charitam' of Chandrasekhar, now available to us in the published form, edited by our esteemed friend Dr. Chandra Dhar Sharma of Kota. The present poem of Vaidya Vishwanatha, son of Vaidya Narayana and Rukmini was lying in the palace library of Bundi princes, and one of its manuscript was transferred to the Public library of Bundi.

My grandfather, Pt. Govardhanaji Vyas who was Head of the Pandit-Sabha, and also incharge of the palace library in the state, used to talk about this Kavya and I had heard about it during my early education at his esteemed feet. But unfortunately I could not have a glimpse of the full Mss. of it till 1968, when a collection of mss. in Bundi public library was displayed in an exhibition. The said mss. contains only the text with no commentary on it. Later on I came to know from the biography of Pt. Ganga Sahayaji written by the famous Hindi novelist and journalist, Pt. Lajjarama Mehta that the former had also commented on Satrusalya-Charitam. I tried to find out this commentary but could not succeed. Then I decided to edit the text itself, procuring a photostate copy of the same from Bundi Public Library. While working on it, I was informed by Pt. Batuknathji Sastri Khiste, ex-Head & Professor of Sahitya, Sanskrit University, Varanasi that a manuscript of its text with commentary was available at the Sanskrit College Library. I was fortunate enough to get a photostate copy of the same with the courtesy of Dr. R.K. Sharma the then Vice-Chancellor, Sanskrit University at Varanasi and Dr. L.N. Tiwari Professor in-charge of the University Library. But adding still to my agony, the mss. of it contained the text, with the 'Prakasika' commentary of Pt. Ganga Sahayaji, of only 10 cantos from

XIII to XXII. The mss. of canto I to Canto XII could not be procured, though it was lying somewhere in the library. So I thought of commenting on the first part of the poem (I to XII cantos) my self and worked on other commentary of the first part with the name of 'Vidyotini'. I also felt that as English translation was desirable an introduction should be also added to the present edition. Hence the part first of the poem is published with canto I to canto XII supplicating it with my own Sanskrit commentary, English translation and introduction.

Manuscript Material of the Text.

This first part is edited on the basis of a single mss and the later part (cantos XIII to XXII) will be published in a separate volume with the Commentary of Pt. Ganga Sahayaji.

Mss. A. Mss. in the Bundi Public Library containing 234 folios of the text. It originally belonged to the palace library of Maharao Raja Ram Singh (1821 . A.D.) of Bundi state. Each page approximately contains 7 lines with 33 to 35 letters in each line. The mss. was copied by some Bagasurama in 1918 V. S. "लिखितं बगसुरामेण इदं पुस्तकं सं. 1918" Generally the mss. is correct, but at places it is soiled and reading is invisible. Again 16 verses from 2 - 17 of the IX canto have been left by the copyist.

Mss. B. Procurred from the Sanskrit University Varanasi containing only 10 Cantos (XIII to XXII) with the aforesaid 'Prakasika' commentary of Pt. Ganga Sahayaji. It contains in two separate portions :

(1) folios 87 containing text and commentary from verse 39 of canto XIII to verse 101 of canto XVII containing roughly 21 lines with 27 letters in each line.

(2) folio 350 to 498 + 1 roughly contiaining 10 lines with 43 letters in each line.

It is clear that the second portion available to us is a part of the original mss. containing 498 folios and the first part (XIII-39 to XVII-107) is a copy of the same original but lost somewhere. Both are written in separate hands and on the paper of separate size as well as different marks. While editing the उत्तरार्द्ध of the poem (10 cantos - from XIII to XXII) we have also made use of this B mss. and have explained the variant readings of A and B mss. in the footnotes of the edited text.

Orthography of the mss.

Both the mss. do not distinguish in writing between व and ब graphems and even the vocal stop ब is written as semi-vowel व. We have denoted ब with a separate grapheme in our edition. Both mss do not generally point out अवग्रह (S), which have been denoted in our edited text, so that reading may be clear. There is rare use of homogeneous पञ्चमाक्षर for अनुस्वार before the stop consonants, it is generally denoted by अनुस्वार. We have generally converted it to पञ्चमाक्षर, but at places we have also kept अनुस्वार instead for the convenience of the printing press. So is the case with अनुनासिक which is also denoted by अनुस्वार in the mss.

There are many Sanskrit Mahakavyas depicting historical episodes or related with the histories of the patron kings of poets worth mentioning in the history of Sanskrit literature. The Satrusalya-charitam by Visvanatha is an hitherto unknown Mahakavya belonging to the first half of the seventeenth century A.D. and describing certain important incidents of the Pre-Mughal and Mughal History. It is a mature artefact from literary standards as well. We propose here to place our survey of it before the scholars of Sanskrit poetry and Mediaeval Indian History.

The tradition of historical Kavyas starts from Bana's Harṣacharitam, a prose-poem dealing with the life, expeditions and achievements of the famous Vardhan king Harṣa. But the first Mahakavya dealing with history was composed by the Kāsmirian poet Vilhana, describing the wonderful feats of the chivalry of his patron, the chalukya king Vikramankadeva. The poem is "Vikramaṇkadeva-charitam". Next comes Parimala Padmagupta's "Navasahasanka-charitam", depicting the life of his patron king Navasahasanka Munja of Dhara, the famous Paramāra king. There are several other Kavyas which are not important here for purpose. All these poems are actually historical romances, where there is blending of fact and fiction, and the aim of the poets is not to narrate history as such, but to eulogise their patrons and to exhibit their poetic skill par excellence. The only exception to this to some extent, is Kalhana's Rajatarangini, for which S. K. De opines as follows—

"The only work in Sanskrit which to a certain extent approaches the standard of sustained chronicle, if not of critical history is the well known Rajatarangini of Kalhana, but it is no less a poetical narrative than a matter-of-fact chronicle".[1]

The rise of Rajputs during the early mediaeval history of India has very much influenced the tradition of so-called historical Kavyas, which in a way are the panegyrics of the patron kings by their own court-poets.

The Chauhan kings are really fortunate enough in this respect. There are about half a dozen Mahakavyas dealing with the Chauhans in Sanskrit, besides Chand Bardai's 'Prithvirajaraso', the date of which is not yet fully established, Padmanābha's 'Kanhadade-prabandha', the two 'Hammira-rāso' poems of Sārngadhara (not available) as well as Jodhraja and the two 'Hammira Hath' poems by Gvala and Chandrasekhara in Hindi and last but not least is Suryamalla Misrana's 'Vamsabhaskara', the encyclopaedic poem in Dingala, with which we are not concerned here.

We already know about five historical Sanskrit Kavyas dealing with the Chauhan kings, out of which three have already been published. They are :-

1. Pṛithviraja-Vijaya-Mahakavya by Jayanaka, a Kasmiri court poet of Pṛthviraja III of Delhi and Ajmer (12 Century A.D.)[2].
2. Hammira Mahakavya of Nayachandra Suri, composed at Gwalior about hundred years after Hammira's death, in the first quarter of the 14th Century A.D. and [3].
3. Surajanacharit-Mahakavya by Chandrasekhara, a court poet physician of Hada Rao Surjana (16th Century A.D.) [4].

Out of all these Mahakavyas the Satrusalya-charitam has a unique place among the Sanskrit poems dealing with the Chauhana dynasty. The poem, though not a matter-of-fact historical chronicle is still more authentic even in historical information about certain facts of Mughal history from Akbar to Shahjahan than the Surjanacharitam. The Ranthambor Gondwana, Gujarat and Deccan expeditions of the Mughals under Akbar, Jahangir and Shahjahan are vividly described here and the poet seems to have possessed first hand knowledge of battles fought by Rao Ratan and Satrusaya a t Burhanpur, Balochpura (Agra), Daulatabad Deccan, and Mhow. He, being a royal physician was himself present on the battlefield during these fights. He also gives a vivid description of the revolt of Khurram against his father Jahangir in 1623 A.D. in the XI canto of this poem. The local geography of the region is also factually referred to by our poet, which is wanting in the Surjanacharitam. Again, as an artistic creative composition the present poem is more ornate and erudite in matters of fancy, wit and imagery and betrays a better influence of two master poets of Sanskrit ornate poetry—Magha and Sriharsa. It is the richest scholarly literary creation among the so far published Chauhana Mahakavyas and its publication shall benefit the researchers and scholars and mediaeval Indian history and Sanskrit poetry alike.

The present poem Satrusalyacharitam is composed in 22 cantos by Visvanatha. son of Narayana and Rukmini, and expert physician, scholar of rhetorics, poetics and grammar and a mature poet. His father, as he

writes, was a great physician ond well-versed in literature. It seems both of them were court-physicians of Rao Ratan, Sarbulanda Rai of Bundi, the famous Mansabdar of Jahangir's court and the subedar of Burhanpur. The poet had first hand knowledge of the happenings during the region of Rao Ratan and his grandson Rao Chhattrasal [5]. The latter was killed in the battle of Samugarh in 1658 A.D. fighting against Aurangzeb, on the side of Dara Shukoh during the Mughal war of succession. The present poem of about 2500 verses abruptly ends after the conquest of Daultabad by Hada Chhat rsal in 1633 A.D. The poem of course does not refer to Mughal expedition on Kabul and Qandhar in 1641 A.D. and also the later rivalry between Dara and Aurangzeb. That shows that the poem was composed somewhere in 1635 A.D. and ended abruptly perhaps due to the demise of the poet, who must have been in his sixties or seventies at that time.

Before dwelling upon its literary appraisal, a note on a few aspects of its historical content is necessary here. Though the history and chronology of early Chauhanas dealt with in the poem in Cantos I, II and III are not as authentic as that of Bijolia Inscription and Jayanaka's 'Prthvirajavijaya', they do not correspond totally even to those given by Nayachandra Suri and Chandra Sekhara. The poem cursorily gives the the chronology of early Chauhanas, omitting many a name, of course devoting a full canto for Dikshit Vasudeva, the founder of the dynasty (Canto II), and earlier for the legendary figure Chahumana, who was born from the solar disc according to Jayanaka [6], Nayachandra [7] and Chandrasekhara[8]. Prthvirajavijaya first of all mentions the legend of the birth of Chahumana from the solar disc and the later poets follow it.

अथांशुभिः सूर्यमयस्य चक्षुषः
स सूर्यकान्तादिव सूर्यमण्डलात् ।।
जवादवारोहदखण्डचण्डिमा
वसुन्धरासम्मुखमर्चिषां चयः ।।

(पृथ्वीराज, II-I)

Visvanatha's description differs from these earlier poets. Though he also calls all the Chauhanas and Hadas as "Suryavamshis" like earlier poets, he is the first to mention the other version of the legend of Chahumana as emerging from the sacrificial fire, ignited by the sage Vasistha--

तस्मादकस्मादथ वह्निकुण्डा द्
कृतान्ततुण्डादिव चण्डरूपः ।
चण्डांशुवद्भासुरभूरिभासां
भीमः समूहो द्रुतमाविरासीत् ।।

(शत्रुशल्य I-20)

"Then all of a sudden rapidly arose the furious assemblage of numerous blazing lustres like the solar globe itself from the fire. after, as if from the mouth of the god of Death himself."

Still, Visvanatha never calls them Agnivanshis, and has always declared them as Suryavanshis, e.g.

विधुं ग्रहीतुं स्वकरेण तावत्
सिन्धुं तरीतुञ्च भुजद्वयेन ।
मेरुं समुल्लङ्घयितुञ्च पद्भ्यां
स्तोतुं व्यवस्यामि गिरार्कवशम् ।

(शत्रुशल्य, I-9)

"I am trying to command with my speech the lineage of the sun, as if trying to catch the moon by hand to swim across the ocean by both the arms and to climb over the Mount Meru with just the pair of my feet."

At other places also he calls them as 'दिवसमणिकुल्य:' (IV-72), दिनकृत्कुलसम्भव: (VI-73), दिनेशवंश्य: (VIII-59) etc. meaning 'a progeny of of the sun'. We can quote several references from the poem in this regard, but the beautiful erudite imagery of the following verse will suffice here, mentioning Rao Narayanadasa Hada as born of the solar race.

अभिधावदिभार्वसैनिकोद्धतधूलीभरधूमदर्शनात् ।
रविवंशजसैन्यपावकं पुरतः सोऽनुममे समागतम् ।।

(शत्रुशल्य, VI-91)

"The ruler of Satpura inferred the fire of the army of Hada Narayanadasa, born in solar dynasty. marching towards his capital with the perception of the smoke of dust raised by the running elephants, war-horses and infantry soldiers."

The metaphoric image is highly technical here, taken from the syllogistic paradigm of Indian logic. "Where there is a smoke, there is a fire." (यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः) ।

We are not concerned here with its logical import related to the artistic embellishment of the figure of speech "Anumana." We simply emphasise the fact from this quotation that all these poets regarded the

Hadas as 'Suryavamshi Kshatriyas', though Visvanatha also refers to the legend of their origin from Agnikunda, a legendary innovation of the royal bards later on.

There is dispute about the origin of the Chauhanas, nay of all the Rajputs, whether they are Kshatriyas. Hunas, Gurjaras or even Sakas. There is still another view that the Chauhanas are Brahmins of Vatsa gotra and Tri-pravara, with Samaveda as their Vedic school. Dasaratha Sharma[9] opines that Vasudeva, better known as Dikshita Vasudeva, the founder of Chauhan dynasty as described by Jayanaka, Nayachandra, Chandra-Sekhara and our present poet was present during the 6th century A.D. and his coins of 627 V.S./570 A.D. have been found, in which the Pahlavi inscription reads as, "saf basutef bahmāna sultana malka." which Bhandarkar reads as "Chahamana and not bahamana." Dikshit Vasudeva was the first North-Western frontier king to migrate from there to Jangala region and establish his soveriegnity over 'Sapadalaksa' and 'Sakambhari' region. Dr. Gopinatha Sharma[10] has also accepted this view. The Bijolia Inscription mentions the Chahamana as Brahmins[11].

We think, Dr. Dasaratha Sharma is correct and the Chauhanas are actually the descendants of one of those N.W.F. Aryan tribes which are referred to by Panini, the great grammarian with the famous pharase :-

ब्राह्मणराजन्याः, the Brahmins who had left the Brahminical tradition and had even fought against Alexander later on. Their first migration to Rajasthan must have been in the sixth or seventh centuty A.D. under Dikshit Vasudeva who was decidedly a descendant of earlier Vedic brahmins known as 'Dikshit'. Jayanaka, Nayachandra and Chandrasekhara [12] all call him Dikshit Vasudeva and not simply Vasudeva, and this epithet has a special connotation referring to his family. The present poet not only calls him Dikshita Vasudeva, but describes the sacrifices performed by him picturesquely as follows :

त्रिभुवनगतकीर्तिः सुन्दरोदारमूर्ति-
र्वंग्विसितसुपर्वा ज्याकिणक्रूरपर्वा ।
अनवरतवितीर्णस्वर्णवर्षोऽतितूर्ण
क्रतुमकृत स सम्राड् दीक्षितो वासुदेवः ।।

(शत्रुशल्य, II-99)

"The initiated and consecrated emperor Dikshita Vasudeva, whose glory had reached the three worlds, and whose form was charming and noble, and who had worshipped the Gods and had knots of his fingers hardened because of their rubbing against the bow-string, performed the

sacrifice, showering the rain of gold bestowed incessantly upon the mendicants".

प्रविततसुविताने जुह्वतां भव्यजुह्वा
हविरविरतमुच्चैर्ऋत्विजां तत्र रेजे ।
चरमसवनकालाधीतयाज्यानुवाक्या-
ध्वनिरजनि सुरौघाकारणे चारुदूतः ॥

(शत्रुशल्य, II-99)

"The incessant oblations offered by the priests performing the sacrifices with auspicious wooden ladel appeared splendid in the extensive sacrificial ceremony. The sound of the holy chanting of Anuvakva hymn recited by the chief priest at the time of the final offering of the oblation served as the proper messenger for inviting the group of Gods to partake the offerings."

Perhaps according to the traditional chronicles of the Chauhanas this king Dikshita Vasudeva had performed sacrifices per Vedic traditions, but the epithet Dikshita suggests something more than this and refers to his being a Brahmin by birth, though Kshatriya by profession like Bappa Rawal of the Guhil dynasty.

The present poet first of all refers to the legend of 'Asthipala', which is absent in the poem of Rao Surjana's court-poet Chandrasekhara. Tod refers to this legend and accepts "Istapala" son of Anuraja and grandson of Vishala-deva, who fought against Mahmud Ghaznavi and captured Asir in 1081 V.S.[13]. This "Istapala" or "Asthipala" has been founder of Hada branch of Chauhanas according to Hada bardic tradition, but historians deny that there was any Chauhan prince Asthipala by name[13].

Visvanatha's reference to this connected legend suggests that it was coined by the royal bards after the reign of Rao Surjana, since it is absent in the Surjana Charita, but was accepted as established by the first half of the seventeeth century A.D. to explain the epithet of Hada as the family name of Bundi House. We refrain from discussing this topic in details here and simply quote the following verses from Canto III, where the legend has been referred to by the poet Visvanatha in details. According to the legend the name Asthipala, from which the word 'Hada' is said to have been derived, was actually the name of a demon killed by the son of Candrasena, having received a boon from Devi Asapura, at the Mt. Asira and the Goddess gave him the name of the demon himself—

हत्वा दैत्यं घोरमात्मंभरिं त-
मङ्गीकुर्वन् ब्राह्मणाशीर्वचांसि ।

आशापूरां तां कुलस्यादिदेवीं
नत्वा प्रायात् स्वान् गृहान् चान्द्रसेनिः ।
आलिङ्ग्यामुं भूपतिश्चन्द्रसेनो
विप्रौघेभ्यश्चाशु दत्वा वसूनि ।।
देव्या दत्तं तं च नाम्नाऽस्थिपालं
चक्रे पुत्रं सच्चरित्रं विचित्रम् ।।

(शत्रुशल्य III -41-42)

And thence this dynasty of the Chahuvana assumed the name of Asthipala i.e. Hada, as the dynasty of Ikshvaku assumed the name of Raghu after him.

इक्ष्वाकोरिव चाहुमाननृपतेर्भू मण्डलीमण्डनं
वंशोऽयं नृपमस्थिपालमवधि यावद्दधाराभिधाम् ।
एतस्मादनघाद्रघोरिव परं ये जज्ञिरे भूमिपा-
स्ते लोके विभराम्बभूवुरचिरादेतस्य नाम्ना प्रथाम् ।

(शत्रुशल्य. III-47)

My friend Dr. J.N. Asopa opines that there was no Chauhan prince as 'Asthipala' or 'Hada' to whom the 'Hada' branch as well as the name of the region as 'Hadauti' can be ralated. The word according to him refers to a primitive tribe 'Hada' perhaps Austric, residing in the Southern Aravali mountaneous region, vanquished by a branch of Chauhans. As the region was 'Hadavataka' from which 'Hadauti' can be derived, they acquired the regional name for themselves also as 'Hadas'. From where did this branch of Chauhanas came to Uparamala first and then to Bundi is yet a matter of discussion. Some say that they came from Asirgarh to Bhainsrongarh, while others say, they came from Nadol. [14]. But we think, that descendants of brother of Prthviraja III, Manikyaraja must have left Ajmer and settled at Menal and adjoining area and from thence came to Bnndi valley.

Still the chronology of the Hadas from Rainsi to Rao Bhava Singh is more correct in the present poem than that found in the Surjan Caritam. While the latter cursorily describes descendants of Manikyaraja upto Rao Surjana in canto XIII of his poem. the present poet depicts in details some incidents from the lives of Kollhana and Vangadeva, son and grandson of Rainsi (i.e. Renusimha). Since Devsimha, the founder of the Bundi dynasty of Chauhans, his description is more accurate and elaborate than that of Chandrasakhara in 'Surjana charitam'. The famine be fallen on Bundi in the reign of Bharamalla, the invasion of the Sultan of Mandu over Bundi and the murder of Bharamalla have been referred to in a poetic manner in details, which are decidedly historical facts[15]

Chandrasekhara omits these facts and also the fact that Burdi was under the Muslim rule of Mandu Sultans for 11 yrs (1492-1503 A.D.), and was reconquererd by Hada Rao Narayanadasa in 1503 A.D., after kllling his Muslim uncles Samarakandi and Umarakandi[16]. 'Surjana carita' not only omits this historical fact, but also omits the names of Narayanadasa, his son Surajamala and his grandson Suratana[17], and directly jumps from Bharamalla to Narbada, his grand son Arjuna and his son Surjana[1+], while Narbada and Arjuna were never rulers of Bundi but-simply fiefs of Matunda jagir being younger brother and nephew of Narayandasa respectively, our poet follows the historical records correctly in cantos, V, VI, VII. We are quoting two verses here describing the slaying of Samarakandi by Narayanadasa.

समरोपपद्रं कन्दक किल विश्रब्धमर्ति रहः स्थितम् ।
अवधिदवधीरयंस्तदा धृतखड्गेन करेण वक्षसि ।।
अथ तस्य कराम्बुजे लसन् स कृपाणस्तरसा विभिद्य तम् ।
वरशैलशिलां व्यदारयद् यवनश्रीकदलीवनीमिव ।।

(शत्रु. VI 49-50)

"Then Narayanadasa killed in privacy Samarakanda full of confidence, striking him in the chest with arm, holding a sword, with utter disregard towards him". "Then the sword shining forth in the lotus like hand of Nurayanadasa, having cut down him (the yavana), shattered the mighty mountain rock like the grove of plaintain trees of the fortune of yavanas".

The omission of great warrior ruler Narayanadasa who has been a legendary hero of Bundi is regretable in case of the Surjana charitam. The Satrusalya charitam also refers to the invasion of Chittor by Bahadurshah of Gujarat in 1535 A.D, when Arjuna. the nephew of Narayanadasas and father of Rao Surjana was blasted with the rampart of the fort itself.

समुल्लसत्सैन्यघटाप्रचण्ड-सुमण्डपैशज्वलनास्त्रयोगात् ।
अदभ्रमभ्रङ्कषचित्रकूटे महागिरौ सत्वरमेव डीने ।।
सहायकर्त्तोदयसिंहकस्य पिताऽर्जुनस्ते शिखराग्रसस्थः ।
करेण कर्षन् करवालवल्लीं दिवं व्रजञ्जेतुमिव व्यलोकि ।।

(शत्रु. VIII 43-44)

"Your father Arjuna, the helper of Rana Udaisimha staying on the top of the moutain (i,e. Chittor), drawing the creeper of sword with his hand, was seen by people marching to conquer the Heaven i.e. dying, when the great moutain fort of Chitrakuta, scrapping the clouds, was blasted

(lit. flew up) by the lighted mines spread by the Sultan of Mandu powerful with the assemblage of delightful armies".

There is some error on the part of our poet regarding historical facts about this invasion. Visvanatha mentions the invader as Sultan of Mandu and the Rana of Chittor as Udaisimha. Actually the invader was Bahadurshah of Gujarat and the Rana of Chittor at that time was Vikramadit. The date of this invasion was March 1535 A.D. (Chaitra V.S. 1592)[19]. This was the fight when Karmavati. the widow of Rana Sanga. mother of Vikramadit, who was neice of Narayandasa and daughter of Narbada had invited the Mughal Emperor Humayun to help Mewar.

Surjana Charita also omits the revolt of Hada Duda, the eldest son of Rao Surjana against his own father and the Mughal Emperor Akbar.

Chandrasekhara mentions only the name of his younger son Bhoja and omits purposely the name of Duda[20]. Duda, whom the author of our present poem names 'Duryodhana' was neither in favour of surrendering Ranthambhora to Akbar, nor in favour of relinquishing the sovereignity of Bundi to Mughals. Hence he captured Bundi and established liason with Rana Pratap and declared independence of Bundi and fought his whole life against Akbar with a short interval, when Akbar tried to establish contact with him by inviting him to Mughal Court.[21] Our poet has praised Duda very much and has devoted a full canto to him describing in details of his battles against Akbar's army vividly in picturersque language[22].

We do not propose to discuss all the aspects of the present poem here. The poet has a photographic eye for battle-scenes, discharging of arrows and shooting of muskets and cannons, marching of armies and combats of rival kings and warriors, being chiefly a poem depicting heroic valour, but still it has beautiful erotic scenes of the love of Satrusalya and Shyamakumari, his chief consort and has charming natural sceneries of morning, evening, moonlit night, different seasons, water-ponds, groves and gardens etc. The technique of the poem is rich and sometimes even highly erudite. The poet at times displays his mastery over Sanskrit grammar by construing abstruse morphological forms like the Sanskit poets Bhatti and Magha, but the charm of his alliterative diction and flowing musical metres is really remarkable. He has command over flawless composition of long rhythmic metres like 'Harini' Sikharini', 'Prthvi', 'Sardulvikridita', and 'Sragdhara', and has even applied some lesser known metres. It would suffice to quote some examples as samples of the poetic skill of Visvanatha, the author of 'Satrusalya' charita mahakavya.

The poem has powerful scenes of battles chiefly depicting the chivairous feats of Hada rulers. Here are few pictures.

अमर्षविषमानप्रबलदीप्ततेजश्छक्षे
द्भटोऽतिविकटो रणेचरभटै प्रचण्डैर्वृतः ।।
कनत्कनककिङ्किणीक्वणितदारुणं कार्मुक
दधत् प्रधनमूर्धनि प्रसभमाविरासीदसौ ।।

(शत्रु. IV-69)

"Then Rao Devasimha emerged at the head of the battle against the aboriginal Mewas, bearing the bow, terrible with the resounding of jingling gold bells, surrounded by the furious warriors fighting in the battle, himself dreadful with the lustre of his mighty prowess. gladdened brightly because of the troublesome fire of his anger".

Here is a picturesque description with powerful diction of the fight between Rao Ratan Hada and Khurram. the revolting son of Emperor Jahangir.

संस्फोटस्फायमानस्फुरदतिरभसोत्कण्ठ्यकण्ठीरवोच्च-
ध्वानव्याजात् स्वनन्तौ प्रविततविलसच्चित्रकोदण्डचण्ड ।।
शम्पासम्पातभीमप्रहरणनिकरज्वालज्वालोज्जटालौ
संजग्माते मिथस्तौ प्रलयजलधरौ रत्नदिल्लीशपुत्रौ ।।

(शत्रु. XI 133)

"Rao Ratan and Khurram, the son of the emperor of Delhi, the two clouds of the of day of deluge, roaring with the guise of the loud uproar of two lions anxious for rapid onslaught, ignited by the ensuing battle, looking dreadful with their wounderful bows outstretched, and blazing with the flames of weapons as terrible as the fall of lightening, marched towards each other."

Here is the description of fires emitted by the cannons during the same battle, which was fought at Balochpura near Agra in April 1623 A.D. [23] (i.e. 1032 Hijri).

दोर्दण्डो द्दण्डण्कण्डूविकटभटघटागाढसंघट्टनिर्यन्-
निर्मर्यादार्यवीर्यज्वलदनललसत् सत्स्फुलिङ्गप्रचण्डाः ।
कल्पान्तोच्चण्डचण्डीपरिवृढकुटिलप्रौढलालाटचक्षुः
स्फोटस्फीता विरेजुर्महति बलयुगे नालिकोत्था हुताशाः ।।

(शत्रु. XI-133)

"The fires emitted by the cannons, powerful with the glittering sparks of the glow flaming like the unrestrained valour of the noble warriors, ignited by the forceful striking by the soldiers. dreadful with the

itching sensation of their staffs of arms, shone forth between the two mighty armies, as if increased by the outbrust of the third powerful cruel eye on the forehead of the husband of Chandi (.e. Lord Siva), furious at the time of final destruction of the cosmos." Notice the accostic image of the blasting sounds of the cannons with the most apt choice of vocabulary chosen by our poet as well as the long compounded morphological forms.

Here is a marching scene of the army of Rao Ratan under the command of Prince Satrusalya against the Khinchi ruler of Mhow[21].

रणरसमदासीदस्सादिप्रणोदितवाजिनां
खरखुरपुटोद्धूतधूलि : पिशङ्ग रुचिर्भृशम् ।।
नभसि रभसाद् भान्ती भूष्णु: प्रतीपमहानिशा–
प्रसरपिशुनामाविश्चक्रे चिरेण पितृप्रसूम् ।।

(शत्रु. XX-17)

"The mass of dust, raised by the sharp hoofs of the steeds driven forcibly by the cavaliers pained excessively because of the inebriety due to their interest in the combat; brownish yellow in colour and too much gathered in the sky, instantly disclosed the mother of the dead forefathers (i.e. Death) for the rivals".

The description of the fight of Rao Duda for Bundi's independence against the Mughal invasion is powerful indiction.

विभिन्नकुम्भिकुम्भस्थलग्नमुक्ताफलच्छलात् ।
पुष्पवर्षं सुरैर्मुक्तं तस्यासिर्विजयी बभौ ।।

(शत्रु. IX-47)

कबन्धकन्धरारन्ध्रमरुन्भाङ्कारनि: स्वनै: ।
दुर्योधनस्य सुयशो जगौ रणमही जवात् ।।

(शत्रु. IX-49)

"The victorious sword of Duryodhana (i.e. Rao Duda, the eldest son of Rao Surjana), bore the shower of flowers scattered by the gods, in the guise of pearls attached to it from the torn up temples of the tuskers". "The battle field hurriedly sang the glory of Duryodhana, with the buzzing sound of the air passing through the cavities of the necks of beheaded soldiers".

The Mughal expeditions on Deccan have been vividly and pictursquely depicted by our poet in the cantos X, XI and XXII. The conquest of Ahmednagar under the commandership of Hada Rao Bhoja, son of

Rao Surjana in 1600. A.D.[25], can be quoted as an example. The present poet highly praised Chand Bibi of Bijapur, the aunt of Sultan Muzaffar Shah of Ahmednagar, who had come to help her nephew and had commanded the Ahmednagar army herself. She had also organized women's army and our poet specially mentions this fact.

यमदिशो नृपते : किल कामिनी
रुचिरचन्द्रमुखी रणभामिनी ।।
वसति यत्र वधूरिव शूलिनो
भुवि मता विमतान्तकरी स्वयम् ।।

(शत्रु. X-43)

"There resided the wife of the Sultan of Deccan (lit. the king of the quarter of yama) named Candramukhi (i.e. Chanda Bibi), with her face as charming as the moon, passionate for the combat like the goddess Durga, the consort of the upholder of Trisula (i.e. Lord Siva), respected by the people (lit. on the earth), herself capable of destroying the adversaries".

अपि च यत्र सुवीरवरस्थले
शरशरासनखड्गकरा स्त्रियः ।।
समिति मातृगणा इव विद्विषा-
मविकलं विकलं विदधु : कुलम् ।।

(शत्रु. X-46)

"And in that place of mighty brave warriors, even the ladies. bearing arrows, bows and swords in their hands, alarmed and mutilated the entire family of the foes, like the Mother Goddesses themselves in the battle field."

The poet's diction here applies a special technical device of rhyme and repetition called as 'Yamaka Alamkara'. The poet has used this 'tour de force' in two cantos of poem X and XV, but his choice of 'Yamaka' is lucid and clear and is free from sheer exhibition of scholarship visible in poets like Ratnakara, the author of 'Haravijaya Mahakavya'. At times our poet reminds us of Kalidasa, who has applied 'Yamaka' device in the IX canto of Raghuvamsa. Our poet has also experimented with the metrical rhythm of Kalidasa there, in the X canto of Satrusalya charitam most successfully.

Visvanatha is skilful in portraying even the romantic scenes. Here is one portraying the first private meeting of the married couple.

साम्मुख्यस्पृहयालु मानसमपि त्यक्ताभिमुख्यक्रमं
मन्दस्पन्दयुतेक्षणं क्षणमथामीलच्च नापाङ्गकम् ।

लुम्पत्केलिकथं क्षणं क्षणमहो पाश्वानुवृत्तिच्छला-
दन्योन्यस्य कृताङ्गसङ्गमनयोरासीद् विचित्रं रहः ।।

(शत्रु. XVII-98)

' Strange was their privacy, where the hearts were first eager to face each other, but still facing each other was any how abandoned; where the eyes were slowly moving for a while, and then the corners of them were slightly open and in motion; and where the touch of each other's body was felt by the pretest of turning over the side of one's body for a moment; though no talk of amorous sportings.

At other places also the poet has depicted lovely snapshots, e.g. the eagerness of the urban ladies to have a view of Satrusalya passing through the city street of Mandovara as a bridegroom. Here is one.

रतिजप्रजागररसरागविघूर्ण-
न्नयनानवेक्षितनतोन्नतमार्गा ।।
स्खलनोल्लसद्धसखीजनदृष्टा
प्रमदामदालसमियाय तदाऽन्या ।।

(शत्रु. XVII-40)

"Another lady, unable to see the uneven path with her red eyes rolling due to the drowsiness on account of her awakening during the night because of indulgence in erotic dallings, walked intoxicatingly, being observed by her lady friends, laughing at her due to her stumbling gait

The poet also applies romantic imagery for natural scenes.

करैः सहस्रेण सरोजबन्धुना
भृशं समालिङ्गितया नया दिशा ।।
नभोङ्गने भङ्गुरहीरमौक्तिको-
पमः समाकीर्यत तारकागणः ।।

(शत्रु XVI-13)

"The west, when embraced tightly by the friend of the lotus i.e. the (setting) sun, with thousand of hands (i.e. rays), scattered the multitude of stars resembling the brittle particles of diamonds and pearls on the floor of the sky behaving like a beloved forcibly embraced by her lover.

The poet possesses a rich stock of imaginative faculty and hiw range of similes, fancies and metaphore is very wide. Here is cne taken from the science of Alchemy.

सुधाकरव्याजसुवर्णपारदे
प्रदोष रासायनिको न कोविदः ।।
महीधराग्राणि सुवर्णसात्कृता-
न्यपि क्षणाद् यान्ति यतोऽद्य रौप्यताम् ।।

(शत्रु. XVI-27)

"The setting sun's golden rays had converted the mountain tops as gold, but after sunset the moonlight has converted them into silver. The poet imagines that the evening is non-expert alchemist, who has tried unsuccessfully to convert the copper of mountain peaks with mercury formula meant for converting it into gold, but having changed like gold in colour for a while, it becomes silver-white within a moment."

There are even remarkable pathetic scenes in the poem. The ill omens appearing in Bundi foretelling the future calamity, the invasion and capturing of it by the Sultan of Mandu during Rao Bharamalla's rule, are full of fear and pathos.

वृन्दावतीपरिसरेऽश्रुविमिश्रनेत्रा
मन्दास्तृणादिकवले कृतहुम्बशब्दा : ।।
वत्सान् पिपासितवतोऽपि गवां समूहा
नापाययन् रुधिरसंस्रवदूधसोऽपि ।।

(शत्रु. V-32)

"The herds of cows, dull in grazing the grass, bellowing with the noise 'humb', with their eyes full of tears, and with their udders dropping blood, did not cause even the thirsty calves to drink their milk, in the vicinity of Bundi city."

राज्ञश्च तस्य तुरगा वरमन्दुरायां
त्यक्ताशना : किमपि चेतसि चिन्तयन्त : ।।
प्रोथप्रदेशसुचिरस्फुरणातिभीम-
जिह्वेषिरेऽह्नि तरुणे नु दिनेशबिम्बम्।।

(शत्रु. V-33)

"The royal horses, housed in the luxurious stable, having abandoned the food, and contemplating something in their hearts, neighed towards the solar disc with their nostrils quivering dreadfully for a long time".

The examples quoted above show that our poet has mastery over the different styles and chooses the apt rhythmic pattern matching with metre

and chioce of words, morpholigically compounded or uncompounded linguistic structure befitting the content. In war-scenes he opts for 'Gaudi' but ample examples of lucid and delicate 'Vaidarbhi' and 'Pancali' can be quoted from his poem and that exhibits the maturity of his creative faculty. One example will suffice.

सरसीं सरसीरुहेक्षणां
द्रुतमापृच्छ्य निजां प्रियामिव ।
पतिधर्मरतो नुकूलग :
पवनो भृत्य इवाभजन्नृपम् ।।

(शत्रु. VI-28)

"Having taken leave from the lotus-pond like a beloved lady with eyes as beautiful as lotuses, the fragrant breeze, dutiful towards the master, served the king Narayanadasa like a faithful servant."

As far as the form of the poem is concerned Visvanatha has a sharp sense of rhyme, rhythm and repetition, the three R's of poetry according to the famous English poet Cecil Dey Lewis. Poetry is primarily composed of choicest words, which first of all must possess an accostic quality of imagery, and our poet is skilful in setting the gems of words artistically in beautiful pattern of his ornamental creation. No doubt, at places he has recourse to 'tour de force' style and has a liking for 'double entedre' (Slesa), as basis of figures of speech like simile (upama), metaphor (rupaka) Paradox (Virodha), and specification (Parisankhya), but that shows his command over the subject matter and form, as well as the linguistic structure and adds beauty of mature artefact to his composition.

In nutshell the 'Satrusalya charitam' is one of the important contributions of Sanskrit poetry hitherto unknown. Though its diction is not easy it exhibits maturity and elegance of artistic finish and reasonably powerful verbal and metrical skill. In an age of verbose literary compositions the present work definitely exhibits charming examples of Poetic composition, though it is also engulfed at times in sheer verbosity and too much display of erudition and scholarship. But we should not forget that that was an age when poetry was blended with scholarship and technique was highly ornate and our poet could not have escaped the trend of his age.

Prof. Bhola Shankar Vyas
Ex. Professor and Head
of the Hindi Department
Banaras Hindu University

FOOT NOTE :

1. Dasgupta and De: History of Sanskrit literature p. 354.
2. Published twice in fragments by Guleriji and the Royal Asiatic Society of Bengal respectively.
3. First edited by N.K. Kirtane in 1879 and then by Muni Jinavijayaji from the Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur in 1968.
4. Published with Hindi translation and introduction by our friend Dr. C.D. Sharma (Kota).
5. Jahangirnama: Hindi Tr. Brijratna Das p. 211.
6. Prthvirājavijaya II-1.
7. Hammira Mahākāvya I-18.
8. Surjana Charitam VII 57-60.
9. Dr. Sharma, Dasaratha; Early History of Chauhanas pp. 9-10.
10. Dr. Sharma, Gopinath: Rajasthan-ka-Itihas p. 89.

13. विप्र: श्रीवत्सगोत्रेऽभूत् quoted by Dr. Dasaratha Sharma as above.

12. पराक्रमाक्रान्तजगत्क्रमेणा-
भवन्नृपो दीक्षितवासुदेव: ।। —हम्मीरमहाकाव्य I-97.
ख्यात: क्षितावजनि दीक्षितवासुदेव:
नाम्ना स्वधर्मसुमनीकृतवासुदेव: ।—सुर्जनचरित I-9.

13. See Dr. Sharma, Gopinatha : Rajasthan ka Itihas pp. 38-39.
14. Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan Vol. III p. 146.
15. Gehlot : Rajputana ka Itihas Vol. II p. 40.
16. Gehlot : Rajputana ka Itihas p. 40 and Munot Nainsi ri Khyat Vol. I p. 104.
17. Gehlot : Rajaputana Ka Itihas Vol. II p. 51.
18. Gehlot : Op. cit. p. 52.
19. Ibid : pp. 53-56.
20. Surjana Charitam : XIII, 18-24, XIII, 45.
21. See Dr. Ashirvadilal : Mughal Kalin Bharat p. 5ı and Gehlot : Op. cit. p. 56.

12. कालेऽथ शुद्धिमति शूरजन: समृद्धान्
पत्नीसु तासु तनयान् जनयाञ्चशकार ।
तेषामभूदधिगुण: किल भोजदेव:
प्रासूत पट्टमहिषी कनकावती यम् ।।

— सुर्जनजरित XVI 1.

23. See. Akbaranamah : Eng. Tr. Vol. III, p. 284 Munhta Nainsi ri Khyat Vol. III, pp. 266-272 and Rajendrashankar Bhatta : Mewar ke Maharana Aur Shahanshah Akbar pp. 273-74.
24. Satrusalya Charitam canto IX.
25. Jahangirnama : Hindi Tr. Brijratna Das pp. 769-70.
26. See. Suryamalla : Vamsabhaskara pp. 2479-80.
27. See. Dr. Ashirvadilal : Mughal Kalin Bharat p. 164, also Gehlot : Rajputana ka Itihas Vol. II, pp. 64-65.

24. See [illegible] Eng. Tr. Vol. III, p. 284 [illegible] Vol. III, pp. 266–72 and [illegible] Le [illegible]

25. [illegible] Cant. IX.

[illegible] Hindu [illegible] Dev op. 266 [illegible]

26. [illegible]

See Dr. [illegible] Michael Kahn [illegible] also Geb[illegible] Rabbinic ed. [illegible] Vol. II, pp. [illegible]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ शत्रुशल्यचरित-महाकाव्यम्

॥ प्रथमः सर्गः ॥

श्रीराधाकुचकलशद्वयेऽतिगौरे
संसर्गी नवजलदोद्धुरो मुरारेः ।
आश्लेषे जयति वपुःप्रभासमूहः
कस्तूरीललितघनाङ्गरागमाली ॥ १ ॥

वन्दारुवृन्दारकसत्किरीट-
रत्नप्रभारञ्जितपादपीठः ।
श्रीरुक्मिणीकेलिकलानिधानं
सदा स जीयात् पुरुषः पुराणः ॥ २ ॥

यस्मिन्ननन्नाकिकिरीटकोटि—
वैदूर्यमाणिक्यलसन्मयूखैः ।
अभूत्त्रिवेणीव सुरापगेयं
पादप्रयागः स हरेः पुनातु ॥ ३ ॥

पद्मालयाचारुमुखारविन्दं
वन्दामहेऽचित्यतरं[1] चिरेण ।
मुरारिनेत्रायित-पुष्पवद्भ्या-
मालोकयद्भ्यामिव यत्प्रफुल्लम् ॥ ४ ॥

यन्नाममन्त्राक्षरवैनतेया-
दुदग्रपापत्रयकाद्रवेयाः ।
प्रयान्ति दूरे किल कान्दिशीका
नारायणं तं पितरं नमामः ॥ ५ ॥

---

1 A बन्दामहे चिततरं

उर्वीभृतां मूर्धनि दत्तपादः
क्षणात्समुल्लासितवेदनादः ।
अध्वन्यलोकाहितसाधुवादः
पायादपायाद्धतपद्मसादः ।। ६ ।।

देवो रविः पद्मवनीवतंसः
परं समुल्लासितराजहंसः ।
अर्थव्रजस्तेनतमोनृशंसः
कुर्याद्द्रुतम्मे[1] विमलां दृशं सः ।। ७ ।।

उद्दण्डवैतण्डिकदारुणोद्यद्-
दुरुक्तदोषाकरमुद्रिताङ्गाम् ।
मग्नां जडौघेषु कथं गिरम्मे
नोद्भासयेदम्बुजिनीमिवायम् ।। ८ ।।

विधुं ग्रहीतुं स्वकरेण तावत्
सिन्धुं तरीतुञ्च भुजद्वयेन ।
मेरुं समुल्लङ्घयितुञ्च पद्भ्यां
स्तोतुं व्यवस्यामि गिराऽर्कवंशम् ।। ९ ।।

लोकं द्युलोकादमुमायियासो-
र्देव्या गिरः खेदविनोदशाखी ।
स्वतः स्फुरद्वाङ्मय एष यस्य
वल्मीकजन्माऽपि बभूव वन्दी ।। १० ।।

यदुत्थितानां वरपार्थिवानां
सिन्धुः सुराणां तटिनी च पूतम् ।
भ्रूभङ्गलीलाविभवैकहेतुः
सेतुः स रक्षोन्वयधूमकेतुः ।। ११ ।।

किञ्चाऽङ्घ्रिपङ्केरुहधूलितीर्थे
सा गाहमाना मुनिधर्मपत्नी ।

---

1 A क्रियाद्द्रुतं मे इतिपाठान्तरम् ।

स्थातुं चिरं माधवनाभिसारात्
क्षणेन शैलीं स्वतनूं व्यहासीत् ।। १२ ।।

धियं सुमन्दां निपुणं निरूप्य
वाचंयमीयं नियमं व्यधास्यम् ।
नाधास्यदुच्चैर्यदि सत्प्रशस्ति-
र्वाचालतां मे स दिनेशवंशः ।। १३ ।।
(चतुर्भिः कलापकम् ।)

सुधीधरैः सौरकुलाम्बुराशेः
समुद्धृतं यद्यपि कीर्तिरत्नम् ।
श्रीशत्रुशल्यीययशःसुधायै
स्पृहां रसज्ञा मम किं न धत्ते ।। १४ ।।

देवो विधिर्लोकविधानशिल्पी
चित्ताद्दृषीन् याञ्जनयाञ्चकार ।
तेषां वरिष्ठस्तपसा वशिष्ठः
पुरोहितोऽसौ तरणेः कुलस्य ।। १५ ।।

अरुन्धतीनामकमुग्रतेजः
स्वं ब्राह्मतेजश्च मिथो ज्वलन्ती ।
दैतेयवैरीव रवीन्दुरूपे
नेत्रे स बिभ्रज्जयति द्विजेन्द्रः ।। १६ ।।

उर्वीं सुदुर्वीरभरातिगुर्वीं
दर्वीकरेणेन्द्रेण धृतां कथञ्चित् ।
धर्माभिभूतिञ्च कलिप्रयुक्तां
विलोक्य स ध्यानधुरीणदृष्ट्या ।। १७ ।।

वृद्धिं निनीषुर्निजयाज्यबीज्यान्
राजन्यवीरान् स मुनिप्रवीरः ।
प्रणीय कुण्डे ज्वलनं ज्वलन्तं
श्रुत्युक्तमन्त्रैर्जुहवाम्बभूव ।। १८ ।।
(युग्मम्)

तस्मिन्नथाऽथर्ववविदां वरिष्ठो
वेदीं परिस्तीर्य शरैर्वशिष्ठः ।
सिद्धार्थमध्वाऽऽज्यतिलादियुक्तं
हविर्हुताशे स वषट्चकार ।। १६ ।।

तस्मादकस्मादथ वह्निकुण्डा-
त्कृतान्ततुण्डादिव चण्डरूपः ।
चण्डांशुवद्भासुरभूरिभासां
भीमः समूहो द्रुतमाविरासीत् ।। २० ।।

किं द्वादशात्मा न स भूविहारी
किं जातवेदा न स दिक्प्रसारी ।
कल्पान्तकालातिकरालकर्मा
यमः किमुच्चैर्न स दीप्रवर्ष्मा ।। २१ ।।

दीव्यत्प्रभामण्डलमण्डिताङ्गः
स्फुरन्निषङ्गः कवचावृताङ्गः ।
कोदण्डशक्तीषु कृपाणपाणिः
श्रीचक्रपाणिः स जनैरभाणि ।। २२ ।।
(युग्मम्)

रोषप्रकर्षारुणकोणनेत्रः
स्फुरत्तनुश्री रिपुवृन्दजैत्रः ।
आजानुलम्बोद्धतबाहुदण्डः
प्रादुः पुमानास ततोऽतिचण्डः ।। १३ ।।

वाष्पायमानोद्धतदृक्तरङ्गः
सद्यः समुदञ्चत्पुलकाकुलाङ्गः ।
दृष्ट्वा तमुच्चैरमृतांशुदर्शं
सिन्धुप्रहर्षं स मुनिर्जहर्ष ।। २४ ।।

निर्मन्थिताऽथर्ववरारणीतो
प्रादुर्बभूवे मुनिपुङ्गवस्य[1] ।

1 A यत्प्रादुरासीन्मुनिपुङ्गवस्य, इति पाठान्तरम् ।

स्वयं तपस्यानल एव यस्मा-
त्तस्मात्स आसीदनलाभिधानः ।।२५।।

दोर्दण्डकण्डून्मददुष्टभूप-
भरं भुवो हन्त निराकरिष्णून् ।
दोष्णः स बिभ्रच्चतुरोवतीर्णः
ख्यातोऽत्र तस्माद्भुवि चाहुवानः ।।२६।।

शुभे मुहूर्त्तेऽथ मुनिः स तीर्थ-
सार्थाहृताभिर्विमलाभिरद्भिः ।
सत्पावनी (भिः) श्रुतिमन्त्रिताभी
राज्ये भुवस्तं द्रुतमभ्यषिञ्चत् ।।२७।।

आनन्दसान्द्रामृतपूर्णनेत्रं
पश्यन्स मैत्रावरुणिर्विचित्रम् ।
शूरन्तमेकं दिननाथवंशे
रिपूञ्जयेति द्रुतमाशशंसे ।।२८।।

निश्शेषमन्त्रार्थविदा द्विजेन
तदाभिषिक्तस्य धराधिराज्ये ।
यन्त्रोद्धृतस्येव मणेः सुभीमं
क्षात्रं दिदीपेऽधिकमस्य तेजः ।।२९।।

धर्मः स नूनं न कठोरदण्डो
नृपः स भीमो न तु मागधारिः ।
वीरः किरीटी न कृपादिशत्रु-
र्नाम्नाऽनलो नैष कलेस्तु वश्यः ।।३०।।

नाम्नाऽनलोऽप्युग्रकराभितप्तां
क्षोणीमिमां दुर्नयदावदग्धाम् ।
मुहुर्वितीर्णामलजीवनौघैः
सञ्जातमूर्च्छामिव सिञ्चति स्म ।।३१।।

अधर्महेतुं दनुजं स धूम्र-
केतुं तरस्वी तरसैव हत्वा ।
त्रैलोक्यरक्षाक्षमबाहुदण्डो
जघान दर्पोद्धतजम्भकेतुम् ॥३२॥

उत्तङ्कनामा गुरुदक्षिणार्थी
ते कुण्डले प्राप्य वरे मघोनः ।
अथ नयन्नध्वनि तक्षकेण
कृतान्तरायो हरिमेव दध्यौ ॥३३॥

ततस्तदीयस्तवजाततोषाद्
वज्री स वज्रं प्रजिघाय घोरम् ।
रसातले तक्षकतक्षणाय
मौत्तङ्कमातङ्कमथापि हातुम् ॥३४॥

दुन्वन् गरिष्ठं वरकूर्मपृष्ठं
धुन्वन्नशेषानपि शेषमूर्ध्नः ।
स वज्रपातः सहसैव भूमिं
भित्त्वा तमत्रासयदाशु सर्पम् ॥३५॥

विलेशयोऽसौ बत वेपमानः
स्वरुप्रपाताद् गलितोरुमानः ।
ऐन्द्रे अनर्घ्ये वरकुण्डले ते
ददौ द्विजेन्द्राय कृताञ्जलिः सन् ॥३६॥

वज्रप्रभावोद्भवभूमिगर्ते
तस्मिंश्चरन्ती वरहोमधेनुः ।
पपात मैत्रावरुणेस्ततोऽसौ
मन्त्रप्रभावादुददीधरत्ताम् ॥३७॥

हिताय लोकस्य परं दयालु-
र्गौरीगुरुं पर्वतमाशु गत्वा ।
शृङ्गं समानीय ततोऽर्बुदाह्व-
मपूरयत्तेन मुनिः स गर्त्तम् ॥३८॥

विन्ध्योऽपि वन्ध्योऽजनि तुङ्गतायां
सीमानमुल्लङ्घ्य दिवं गतायाम् ।
स्तवे गिरेरर्बुदनामकस्य
न कुण्ठिता गीरपि नाम कस्य ॥३९॥

यः प्रस्थवानप्यतिमानकायः
सद्वंशलक्ष्मीरपि नो कुलीनः ।
प्रवृद्धगुल्मोऽपि धृतोरुधातु-
र्भयं करोत्युल्लसिताभयौघः ॥४०॥

यत्तुङ्गशृङ्गाऽसितरत्नकान्ति-
दूर्वाभ्रमान्न्यञ्चदुदारवक्त्रः ।
चान्द्रः कुरङ्गो भटशावकानां
मृगव्यकेलीषु शरव्यमासीत् ॥ ४१ ॥

समुल्लसत्स्वादुपयःकदम्बा
कादम्बिनी यत्कटकावलम्बा ।
समुन्नतास्यं चिरमम्बुपान-
व्रतं बभञ्जोर्ध्वगचातकस्य ॥ ४२ ॥

गभीरयत्कन्दरमन्दिरान्त-
र्दृढानुरागा निजवल्लभेन ।
विद्याधरीणां निवहा असूर्यं-
पश्या विजह्रुः सततं दिनेऽपि ॥ ४३ ॥

स धर्मशत्रून् विनिहत्य दैत्या-
ञ्छ्रीचाहुवानो विलसत्कृपाणः ।
अभ्रंलिहं तं शिखरैरदभ्रं
सदर्बुदं पर्वतमध्यवात्सीत् ॥ ४४ ॥
(पञ्चभिः कुलकम्)

जगत्त्रयस्याभयलग्नकोऽयं
वीरः प्रजा धर्मपथेषु युञ्जन् ।

क्षात्रं परं तेज इवाशु शूरं
सामन्तसंज्ञं सुषुवे तनूजम् ॥ ४५ ॥

सद्यो महीभृत्कुलमूर्धदत्त-
पादप्रभारं जितदिङ्मुखश्रीः ।
स्फुरत्करोद्भासितचारुपद्मः
सत्यं स भास्वानिति किन्नु विद्मः ॥ ४६ ॥

अस्मात्परस्मादुदभून्नृपालः
सत्कामदानोद्धतदृग्विलासः ।
लीलारसाऽऽमोदितसाधुवर्गः
श्रीमान्महादेव इति क्षितीशः ॥ ४७ ॥

तेजः प्रकर्षाद्भुतनन्दितार्यः
स्फुरन्महासेन उदारशक्तिः ।
जज्ञे कुमारोऽस्य कुमारकल्पो
महोंतदेवो वसुधादिदेवः ॥ ४८ ॥

त्रैलोक्यजङ्घालभुजप्रसारः
सङ्ख्यातिसंख्याहतिदुर्निवारः ।
धर्मैककर्माभिलसद्विचार-
स्ततोऽप्यभूद्भूपतिबिन्दुसारः ॥ ४९ ॥

अबिन्दुनिन्दाकरकान्तकीर्ते-
र्यदस्य सारः किल बिन्दुकल्पम् ।
चक्रे रणे वैरिबलौघवार्द्धि
ततोऽयमासीद् भुवि बिन्दुसारः ॥ ५० ॥

अतन्द्रचन्द्रोद्धतमध्यरत्नं
ताराच्छमुक्ताकलितं चिरत्नम् ।
लसद्गुणं सुन्दरकीर्तिहारं
दधद्बभूवाऽत उदारहारः ॥ ५१ ॥

तस्मात्सुविस्मापनकारिकीर्ते-
र्जातः कुमारः स्मरचारुमूर्तिः ।

परान्निरस्यन्नचिरादशोकः
श्रीपः समुन्मूलितलोकशोकः ।। ५२ ।।

शकाविदारः समभूदमुष्माद्
विश्रान्तिभूमिर्विजयश्रियां यः ।
श्रीवीरसिंहं सुषुवे स पुत्रं
परं समुत्रासितशत्रुगोत्रम् ।। ५३ ।।

सोऽजीजनद् वैरिगजौघसिंहः
शक्रोपमानं वरसिंहदेवम् ।
यदीयपाणिः शतकोटिदानै-
रुद्दामदारिद्र्यबलं जघान ।। ५४ ।।

प्रौढप्रतापाऽऽहितवैरिदण्डः
सूनो बभूवाऽस्य स वीरदण्डः ।
असूत पुत्रं किल योऽरिमन्त्रं
प्रत्यर्थिसंहारकनाममन्त्रम् ।। ५५ ।।

माणिक्यराजः क्षितिपोऽरिमन्त्रात्
प्रादुर्बभूवाऽथ रणेषु धीरः ।
उत्पाद्य पुत्रान् दश सोऽपि
चित्रानवीवहद्भूमिधुराममीभिः ।। ५६ ।।

स भूपजातिप्रणतोत्तमाङ्ग-
मणिप्रभाधृष्टपदाम्बुजश्रीः ।
चञ्चच्छरच्चन्द्रमरीचिगौरं
कीर्त्यातपत्रं कलयाम्बभूव ।। ५७ ।।

यस्यामर्थान् दिशति चतुरोऽपि त्रिवेणीयमुच्चैः
सान्तर्वेदिभुवि विजयते मुक्तिसङ्केतभूमिः ।
भूमिग्रामं निजभुजयशःस्तम्भमत्राधितिष्ठन्
मन्दाक्रान्तः स किल जरसा निर्जरौघानियाज ।। ५८ ।।

एतद्वंशावतंसोऽजनि जनितजगज्जैत्रवैचित्र्यकेली-
संरम्भाश्लिष्टचञ्चद्भुजयुगपरिघो लोहराजःप्रराजः ।
निर्मान् कर्माणि धर्माण्यविरतमवनौ चर्मशर्मासुरं यो-
हत्वा तन्मांसमेदोमयबहलबलिः खड्गकालीयतार्प्सीत् ॥ ५९ ॥

योन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवैद्यनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्यसुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते श्रीचाहुवानोद्भवः ॥ ६० ॥

॥ इति श्रीमहाकाव्ये श्रीशत्रुशल्यचरिते चाहुवानोद्भवो नाम सर्गः प्रथमः ॥

॥ श्रीः ॥

द्वितीयः सर्गः

औदार्यशौर्यादिगुणैकभाण्डे
तस्यान्ववायेऽम्बुनिधाविवेन्दुः ।
प्रासोष्ट सम्पूजितवासुदेवः[1]
श्रीवासुदेवो वसुधादिदेवः ॥ १ ॥

नीलोत्पलश्यामलकायकान्तिः
सम्मोहयन् दर्पभरैर्जगन्ति ।
आपीवरांसः पृथुपीनवक्षा
वीरोऽपि शृङ्गाररसः स साक्षात् ॥ २ ॥

कान्तिः परामूर्तिरिवाऽऽस तस्य
मृदीयसी वागिव चास्य मूर्तिः ।
वाङ्माधुरी बुद्धिरिवात्यगाधा
बुद्धिस्तदीया च फलानुमेया ॥ ३ ॥

1 A अजायतोपासितवासुदेवः इति पाठान्तरम् ।

वीरान्सखीयत्यनिशं स्म सौवान्
मित्राणि बन्धूयति सन्ततं स्म ।
आत्मीयति स्म प्रसभं स बन्धू-
नात्मानमिन्द्रीयति सम्पदा स्म ।। ४ ।।

यस्यैष पाणिः किल कल्पवृक्षः
चिन्तामणिः सोऽपि कृपाकटाक्षः ।
वाङ्माधुरी यस्य च कामधेनुः
कामन्न कुर्यात् स सतां कथन्नु ।। ५ ।।

चित्रं नृसिंहः प्रियसद्विपेन्द्रः
सत्यं स जिष्णुर्बलदत्तमुद्रः ।
ईशो ध्रुवं कामदसच्चरित्रः
श्रीशः सपद्मायतचारुनेत्रः ।। ६ ।।

श्रीशस्स सत्यं पुरुषोतमोऽपि
नासीत् समुत्सारितपूर्वदेवः ।
देवस्स कामोऽपि न सर्वशत्रुः
श्रीदो न मित्रं विषमेक्षणस्य ।। ७ ।।

यस्मिन्परं शौर्यं (भरं दधाने)[1]
शाकम्भरीभूः प्रबरीभरीति ।
द्यां गोत्रभिन्नाथवतीं हसन्ती
सौभाग्यलक्ष्मीमतिशायिनीं ताम् ।। ८ ।।

ह्रासः कलानां प्रबभूव यस्मिन्
दोषाकरस्यैव न तु प्रजानाम् ।
नीचानुगत्वं पयसां तथाऽऽसीत्
पङ्करुहाणाञ्च जडैकसङ्गः ।। ९ ।।

---

1 The first line of the meter in the ms. is incomplete and is wanting । ऽ । ऽऽ, after यस्मिन्परं शौर्यं, we have tried to reconstruct the possible reading within brackets as शौर्यं (भरं दधाने).

लोलत्वमक्ष्णोर्मदिरेक्षणाना --
मुच्चैः प्रसह्य श्रुतिलङ्घनञ्च ।
जिह्मानुगत्वं भ्रुकुटिद्वयस्य
केलीषु गोत्रस्खलनं तथाऽऽसीत् ।। १० ।।

स्फोटो ध्वनेर्यत्र च शाब्दिकानां
नैयायिकानां छलवादभाषा ।
तौतातिकानामपि नेशचर्चा
वेदान्तिनां चाप्यखिलाऽनृतोक्तिः ।। ११ ।।

नक्षत्रमार्गस्खलनं भटानां
यस्य त्रिशङ्कोरिव जात्वदर्शि ।
वाशिष्ठ-मन्त्रप्रकरद्विरुक्त—
दर्पोद्धुरश्रीः स बभूव भूपः ।। १२ ।।

आधार एषोऽखिलजीवनानां
लक्ष्म्यास्तु मूलं प्रभवस्य दध्रे ।
अन्तःस्फुरद् वाडवचण्डतेजाः
सङ्गं सरस्वानिव वाहिनीनाम् ।। १३ ।।

देवः सुधर्माचरणैकदक्षः
कृत्ताऽतिदृप्यत्परगोत्रपक्षः ।
ख्यातस्त्रिलोक्यां विजयैकहेतु—
र्बभ्रे भुवं द्यां मघवेव साधुः ।। १४ ।।

सद्यः पदाक्रान्तजगत्त्रयोऽपि
बध्नन् बलिं हन्त रसातलेऽपि ।
प्राग्वंशशालां प्रविशन् हि लक्ष्मीं
त्रैविक्रमीं सम्बिभरांबभूव ।। १५ ।।

तस्याऽथ बाणः परमर्मभेदी
लक्ष्यैकगृध्नुः शुशुभेऽतिघोरः ।
दोषं श्रितो दस्युसदः सुगाढ—
मुष्टिप्रबन्धोऽप्यकृपः कृपाणः ।। १६ ।।

एतस्य संसद् द्विजराजशौरि–
दुर्गेश–सच्छक्तिधराश्रिताऽपि ।
ब्रह्मर्षिनिर्दिष्टलसत्सुधर्मा
चित्रं सुधर्माभिभवं विधत्ते ।। १७ ।।

विन्ध्यावनीवाऽऽकरभूर्गजानां
सिन्धुस्थलीव प्रभवो हयानाम् ।
विश्रान्तिभूमि नृपपुङ्गवानां
तद्गेहदेहल्यमरावतीव ।। १८ ।।

नासीत्परं तस्य स दृष्टिपातो
यो न प्रसादं दिशति प्रजानाम् ।
ता न प्रजा वा न हि याः समृद्धा
नासौ समृद्धिर्न परार्थकृद्या ।। १९ ।।

प्रौढप्रतापानल-साक्ष्यमेव
पाणौ स चक्रे रमणीमिवोर्वीम् ।
पत्याऽमुना साऽपि सती बहु स्वं
सम्मन्यमाना सुषुवेऽस्य कामान् ।। २० ।।

शेषस्य निःशेषशिरोभिरूह्य[1]
भारं भुवो बिभ्रदयं नृवीरः ।
स्फूर्जन्मणिश्रेणिकिरीटभाञ्जि
प्राणीनमद्वैरिशिरांसि सद्यः ।। २१ ।।

वीरः कदाचित् सचिवैःस्वकीयै-
स्तिस्त्रोऽपि शक्तीश्चतुरोऽप्युपायान् ।
सम्मन्त्र्य सम्यक् स यियक्षमाणः
क्षोणीतलं जेतुमजस्रमैच्छत् ।। २२ ।।

भव्ये मुहूर्तेऽथ वरैर्द्विजेन्द्रैः
सम्यक्कृतस्वस्त्ययनः स वीरः ।

---

1 A 'शेषस्य निश्शेषशिरोऽभिवाह्य' इति पाठान्तरम् ।

आजिज्ञपत् स्वान् सचिवान् समेतान्
जैत्रप्रयाणाय नितान्तमुत्कः ।। २३ ।।

तस्याऽथ सैन्यं चतुरङ्गयुक्तं
ते सज्जयाञ्चक्रुरुदारसत्वाः ।
तत्तत्स्थलप्रेषितचारचार—
प्रोत्साहनाऽऽम्रेडितसत्प्रभावाः ।। २४ ।।

रुन्धन् श्रुतीरष्टविधः प्रभिन्दन्
ब्रह्माण्डभाण्डं हरितो विलुम्पन् ।
तस्मादकस्मादथ सैन्यवार्द्धे—
र्ध्वानो बभूवाऽऽहतदुन्दुभीनाम् ।। २५ ।।

पर्यारुरुक्षोः प्रवरं शताङ्गं
तस्योत्तमाङ्गे नरपुङ्गवास्ते ।
कुन्देन्दुगौरं सुयशोऽनुमूर्तं
श्वेतातपत्रं बिभरांबभूवुः ।। २६ ।।

चञ्चच्चलच्चामरवीज्यमानः
शूरैः स्वमूर्ध्ना परिपूज्यमानः ।
धन्वी निषङ्गी विलसत्कृपाणः
सद्यो नृपः शक्तिधरः प्रतस्थे ।। २७ ।।

सौरी प्रभेवाऽरितमोनिहन्त्री
साक्षाज्जयश्रीरिव दीप्यमाना ।
उच्चैः पताकाऽस्य पुरस्तदानीं
पीताम्बरा मूर्ति रिवाऽऽस विष्णोः ।। २८ ।।

प्रौढः प्रतापोऽस्य पुरश्चकासे
नासीरवीरः स्वयमेव साक्षात् ।
आग्नेयमस्त्रं दधतः कृतास्त्रा
अन्वाविरासुस्तु परःसहस्राः ।। २९ ।।

तस्यानु माद्यद्-द्विरदेन्द्रयूथं
तद्रक्षकश्चानुययौ भटौघः ।

मध्ये स वीरोऽरिकुलान्तकारी
वल्गत्तुरङ्गेण ययौ रथेन ।। ३० ।।

तस्यानुपृष्ठन्तु प्रहारयोधाः
शस्त्रावलीत्रासितशत्रुसङ्घाः ।
आलानभूता जयकुञ्जरस्य
क्षिप्रं समाजग्मुरतीव दर्पात् ।। ३१ ।।

गाम्भीर्यमब्धिर्गिरयो गुरुत्वं
कल्पद्रुमाः कल्पितवस्तुदत्वम् ।
तस्मै जयार्थं किल यास्यते प्रा—
गानिन्युरेते सदुपायनानि ।। ३२ ।।

सद्यः परप्राणधनैकचोरः
तत्सैन्यसङ्घः प्रकिरन् रजांसि ।
अन्धीकरिष्यन् परलोचनानि
सर्वाक्षिदीपं तरणिं लुलोप ।। ३३ ।।

कामं चकासत्तरवारिधारा-
वर्षी बलौघः सघनोऽपि तावत् ।
दिग्दन्तिनां गण्डमदस्रवन्तीः
प्राशूशुषन्मार्गनदीस्तु पश्चात् ।। ३४ ।।

भिन्दन्नमन्दं परिपन्थिसेतुं
क्षुन्दन्नहङ्कारवनीं परेषाम् ।
गर्जन्प्रचण्डानकभीमघोषैः
ससैन्यनागः स ययौ प्रतीचीम् ।। ३५ ।।

तत्राऽथ **कश्मीरकसिन्धुवङ्गान्**
हूणाँस्त्रि**गर्तान्** विलसन्निषङ्गान् ।
स प्रत्यगृह्णान्नृप**वासुदेवः**
ताक्ष्यो भुजङ्गानिव चण्डबाणः ।। ३६ ।।

आसेदुषां युद्धमहीममीषां
सन्मण्डलीभूतशरासनानाम् ।

कोदण्डमुक्तैस्तरसाऽऽशुगौघै-
श्चिच्छेद सद्यश्शरदुर्दिनं सः ॥ ३७ ॥

दोर्दण्डकाण्डारणिसम्भृतेऽस्य
वीर्यानले चण्डतरे निजासून् ।
प्रस्फीतयुद्धाध्वरदीक्षितास्ते
स्वाराज्यकामा जुहुवाम्बभूवुः ॥ ३८ ॥

दोषं श्रिता खङ्गलताऽस्य रक्ता
कण्ठे विपक्षाब्जगृहे हठेन ।
तूर्णं जयश्रीरपि बासुदेवं
सानन्दमालिङ्गति तं यथा स्म ॥ ३९ ॥

क्रय्यान्निजान्प्राणगणान्विधाय
युद्धापणेषु प्रसभं स्थितांस्तान् ।
धर्मप्रणाय्यानपि बाणवर्षैः
क्षय्यांश्च जय्याननयद्दिवं सः ॥ ४० ॥

उच्छिद्य सद्यः परवृन्दमुच्चै-
रह्नाय गृह्णन्नपि वारुणीं ताम् ।
बिभ्रत्कृपाणीं परकण्ठसक्तां
वीरो ययौ पुण्यजनेशकाष्ठाम् ॥ ४१ ॥

तस्मिन्नुदीचीं प्रगते कुबेरो
मिथ्यैव लोकेऽजनि राजराजः ।
किन्त्वद्य तत्तन्नृपलक्ष्यतोऽयं
दाता धनानां धनदस्तु सत्यम् ॥ ४२ ॥

तत्रोत्तरानेष कुरून्विजिष्णुः
संग्रामलीलासुभगंभविष्णुः ।
प्रत्यर्थिदोर्दण्डमदाऽसहिष्णु—
र्दर्पादियासीत् समरोत्पतिष्णुः ॥ ४३ ॥

प्रत्युद्ययुस्तेऽस्य करप्रतप्ता[1]
भूपाः कुरूणां खुरलीप्रवीणाः ।
तेजः स्वकीयं परमं वमन्तो
भास्वन्त उच्चैरिव सूर्यकान्ताः ॥ ४४ ॥

कण्डूलदोर्दण्डबलोन्मदिष्णू—
स्तानुत्पतिष्णून् स निराकरिष्णुः ।
संवर्तवर्द्धिष्णुहुताशचण्डै—
र्बाणैः सपत्राकृतवानमित्रान् ॥ ४५ ॥

कर्णान्तविश्रान्तकठोरचाप—
मुक्तैः पृषत्कैः किरणैरिवोच्चैः ।
तं सन्तपन्तं तपसूर्यतापं
द्रष्टुं न शेकुः प्रवराः कुरूणाम् ॥ ४६ ॥

तद्बाणकाकोदरकालकूट—
व्यालीढगात्रा अचिरादमित्राः ।
जीवातवे जाङ्गलिकायमानं
ते तत्पदाब्जं शरणं प्रजग्मुः ॥ ४७ ॥

जित्वा **विदेहा**ऽनथ जातमोहा—
नौड्रान् प्रचण्डान् **मगधान**गाधान् ।
उच्चैर्विरूपानपि **कामरूपान्**
मेरुं जयस्तम्भमयं व्यधत्त ॥ ४८ ॥

दस्यून्निरस्यन् स्वकरप्रतापै—
र्गाढान्धकारानिव वासुदेवः ।
पद्मोरुशल्योद्धरणैकविज्ञः
प्राचीं स पूषेव ययौ रथेन ॥ ४९ ॥

सन्ताड्यमानानकघोरगर्जि—
शस्त्रार्चिरुद्यत्तडितं वहन्तम् ।

---

1 A ms. has a wrong reading प्रत्यूद्मूयस्ते ।

वर्षन्तमुच्चैस्तरवारिधारा—
स्तं पर्यकार्षीद्घनमङ्गभूभृत् ।। ५० ।।

अङ्गाधिनाथं समदेभयूथं
चञ्चत्तुरङ्गोद्धतसादिसार्थम् ।
श्रीचाहुवानीयकुलैकहीरो
धीरस्स वीरस्तरसा विजिग्ये ।। ५१ ।।

आशीविषेभ्यो विषमैः पृषत्कैः
कृत्वाऽऽकुलानुत्**कलभूमिपालान्** ।
युद्धैकमल्लः स सभल्ल**भिल्लान्**
कल्याणकीर्तिर्विचकर्त कुन्तैः ।। ५२ ।।

कुन्ताग्रनिर्भिन्नविपक्षपक्ष—
वक्षःक्षरच्छोणितमेदुरायाम् ।
गङ्गाब्धिसङ्गासहनः स पत्या
संयोजयामास सरस्वतीं ताम् ।। ५३ ।।

पौरन्दरी दिग्विषमेषुतप्ता
लोकैकवीरस्य वरस्य तस्य ।
कण्ठे हठेनैव जयश्रियं सा
मालामिवोच्चैर्निदधे **विशालाम्** ।। ५४ ।।

हस्ते कृता माधवनी दिगेषा
सम्फुल्ल-भास्वद्वदनाविशेषा ।
तं वीरभोगीणभुजं नृपालं
कामप्रदानेन सुखाचकार ।। ५५ ।।

क्षीबारिपक्षक्षपणैकदक्षः
क्षोणीपतिः क्षिप्रमुदारसारः ।
संख्यातिसंख्याऽहितर्दुर्निरीक्ष्य—
स्तूर्णं जगामाथ स दक्षिणां ताम् ।। ५६ ।।

यावत्स वीरो रणकेलिमानी—
नानीनमत् कार्मुककोटिमुच्चैः ।

तावद्विदर्भाधिपतेरदभ्रं
मूर्द्धानमद्धा नमयाञ्चकार ।। ५७ ।।

दानोद्धुराणामथ सिन्धुराणां
वल्गद्धयानाञ्च परःसहस्त्रम् ।
उच्चैर्मणीनां विलसद्घृणीनां
पुञ्जं स तस्मै विनयादुपादात् ।। ५८ ।।

आन्ध्रान् सुधीरानथ राजयुध्वा
विद्ध्वाऽर्द्धचन्द्रै ररिदत्ततन्द्रैः ।
जित्वा प्रचण्डानपि **गोलकुण्डान्**
प्रायाद्द्रुतं **देवगिरीशमेषः** ।। ५९ ।।

देवाद्रिनाथस्तरसा रुरुत्सू
रामं स लङ्केश इवातिदृप्तः ।
नाराचधारापवनाशपाशं
तन्वन्नहंपूर्वमयूयुधत्तम् ।। ६० ।।

बाणाहिपाशं **नृपवासुदेवो**
रोषप्रकर्षद्विगुणानुभावः ।
तूर्णं पतत्पत्रिवरौघपक्ष—
क्लृप्तानिलैरच्छिनदाजिभूमौ ।। ६१ ।।

एकेन बाणेन रणेषु तस्य
पञ्चत्वमाप्तश्चतुरङ्गयुक्तः ।
देवाद्रिपः सप्तहयं विभिन्दन्
साहस्रनेत्रं पदमाप सद्यः ।। ६२ ।।

सस्नावसिस्तस्य रणेऽरिभूभृद्-
वेतण्डगण्डस्रवदस्रतीर्थे ।
द्विषद्वधूनामधरो विरागो
धौताञ्जनञ्चाक्षि बभूव सद्यः ।। ६३ ।।

सद्द्राविडान् द्राक्तरसा विजित्य
कर्णाटमुच्चैः करदं विधाय ।

सद्यः कुरङ्गानिव तान् **फिरङ्गान्**
विद्रावयामास स राजसिंहः ।। ६४ ।।

ते दाक्षिणात्या इव वामभावं
सद्यः समुत्सृज्य च सज्जचापान् ।
क्षोणीलुठन्मौलि तदीयपादौ
संस्पृश्य मूर्द्धना निदधुस्तदाज्ञाम् ।। ६५ ।।

बाणोद्धृताऽऽशीविषराजराज-
दोर्दण्डसन्मन्दरमन्थितोऽयम् ।
तस्मै व्यतारीत्परिपन्थिवार्द्धिः
कीर्तीन्दुमाजौ विजयश्रियञ्च ।। ६६ ।।

उत्साद्य शत्रूनचिरादहंयून्
नम्रांश्च संस्थाप्य पदे शुभंयुः ।
आदाय तेभ्यः सदुपायनानि
सद्**गूर्जरान**न्वगमन्नृवीरः ।। ६७ ।।

दृप्यन्महीपालजयैककार्म—
सत्कार्मुकोऽसौ प्रकिरन् पृषत्कान् ।
लक्ष्मीं ललाटन्तपचण्डभानो-
र्मध्येरणं तूर्णतरं बभार ।। ६८ ।।

तं जर्जरीकृत्य च **गूर्जरेन्द्रं**
राज्यप्रभा-निर्जित-निर्जरेन्द्रः ।
श्री**वासुदेवो** वसुधादिदेवः
संहृष्टराष्ट्रः स ययौ सुराष्ट्रान् ।। ६९ ।।

उच्चैरमीषांभुजकण्डुदर्प-
नाडिन्धमोऽसौ समरं व्यधत्त ।
बाण-प्रवर्षातितिरोहितार्कं
नामैकविज्ञेयपरात्मवीरम् ।। ७० ।।

अन्योऽन्यमुच्चैः कलहायमाना
गाढं दशन्तो रदनच्छदान् स्वान् ।

स्वं स्वामिधर्मं बहु मानयन्त:
ते तत्र वीरारभसा प्रजह्रु: ।। ७१ ।।

प्राणांस्तृणीकृत्य नियुद्ध्यतस्ता-
नालोक्य शूरान् दिवमायियासून् ।
कान्तो ममाऽयं न तवाऽय-
मित्थमासीत् पुरैवाऽप्सरसां विवाद: ।। ७२ ।।

भास्वत्कृपाणोऽथ कठोरबाणो
मानोन्नतोऽसौ युधि राजमान: ।
ओजायितं शत्रुबलं विलोक्य
रोषप्रकर्षादधिकं दिदीपे ।। ७३ ।।

प्रौढं प्रतापं दधताऽमुनाजा-
वासञ्जि राग: स्वदृशोर्न यावत् ।
तावद्विषद्वीर-नितम्बिनीनां
बिम्बोष्ठराग: सहसा व्यलुम्पत् ।। ७४ ।।

शीघ्रं शराणामशनायिताना-
माशीविषाणामिव युद्धभूमौ ।
प्राणै: परेषामकरोत् स रोषात्
सौहित्यमुद्यद्दययेव वीर: ।। ७५ ।।

कल्पान्तकाल: किल नाऽस्य कोपो
व्यक्तं न तद्वक्त्रमयञ्च चाप: ।
एतेन दत्ता विशिखा: कृपाणी-
जिह्वा न जिह्मा युधि लक्ष्यते स्म ।। ७६ ।।

एतत्कृपाणी किल कालरात्रि:
पीत्वाऽस्रमध्वाऽऽसवमुन्मदिष्णु: ।
प्राणान् रिपूणामशनायितेव
मांसोपदंशं सुचिरं स्म भुङ्क्ते ।। ७७ ।।

संवीतवत्याप्रपदीनवासो
या जातु नाऽर्कं बत पश्यति स्म ।

तामेष चक्रे रिपुराजयोषां
ग्रामीणलोकैरुपहस्यमानाम् ।। ७८ ।।

एतस्य कीर्ति रणरङ्गभूमि-
र्नृत्यत्पिशाचोल्लसदट्टहासा ।
कृत्तारि-कण्ठोद्धुरन्ध्रभाजां
संनिःस्वनैर्गायति मारुतानाम् ।। ७६ ।।

सैन्यं **सुराष्ट्राधिपते**रदीनं
नीत्वा निशान्तं नियतं यमस्य ।
जग्राह मानग्रहिलः स तस्माद्
दन्तावलान् सिन्धुभवान् हयाँश्च ।। ८० ।।

मध्येनभः क्रीडित-सद्गभस्ति-
र्भास्वानिवार्यं युधि दुर्निरीक्ष्यः ।
जैत्रो बलान् मालवभूमिपालं
प्राधावदुच्चैस्तरसा नियन्तुम् ।। ८१ ।।

उष्णायमाणोद्धत-दोःप्रकाण्ड-
मायान्तमुच्चैरनुमालवं तम् ।
श्रुत्वा द्रुतं **मण्डपशैलनाथो**
नीतिप्रवीणः स चकार सख्यम् ।। ८२ ।।

आदाय सार्द्धं स सखायमुच्चैः
सन्**मण्डपेशं** परिखण्डितारिः ।
सैन्येन धीरो नमयन् धरित्रीं
धन्वप्रदेशान् समुपाजगाम ।। ८३ ।।

तैः सम्प्रहारोऽथ दृढप्रहारो
जज्ञेऽस्य **धन्वक्षितिपै**रुदारः ।
अन्योन्य-कोदण्ड-कठोरकोटि-
टङ्कार-सम्पूरित-रोदसीकः ।। ८४ ।।

अत्युज्ज्वलं ते परिधाय वर्म
मर्मच्छिदो बाणगणान् किरन्तः ।

प्राणान् पणीकृत्य रणाक्षवत्यां
शूरा मरूणां दिदिवुश्चिरेण ।। ८५ ।।

अन्योन्य-शस्त्रौघ-विमर्दनोत्थ-
झाङ्कार-घोरस्तनितातिभीमे ।
सैन्ये घने तत्र परं कृपाणी
तस्य क्षणाद्विद्यु दिवाऽऽविरासीत् ।। ८६ ।।

शक्तीः प्रकुर्वन्नथ कुण्ठशक्ती-
स्तेषां सतन्द्रानपि चन्द्रहासान् ।
छिन्दञ्छरौघानपि चापमुक्तैः
सद्यः पृषत्कैः स नृपोऽतिशिश्ये ।। ८७ ।।

श्रीरामरामेति मुहुर्वदन्तः
संसप्तकास्ते बत धन्ववीराः ।
उत्सृज्य सर्वाण्यपि वाहनानि
घोरं नियुद्धं विदधुः सुधीरम् ।। ८८ ।।

हैमं तनुत्रं परिधाय चित्रं
ते युध्यमाना शरविद्धगात्राः ।
अत्यन्तमस्रं ववमुः क्षणेन
स्वर्णाद्रिकूटा इव गैरिकौघम् ।। ८९ ।।

यस्मिन्नुदन्वानुरुपार्थसार्थः
स्वप्नेऽपि लेभे न किलाम्बुबिन्दुम् ।
तं मारवं देशमसौ रिपूणा-
मस्रैर्नदीमातृकमाशु चक्रे ।। ९० ।।

छिन्दन् कुठारेण वरासिनाऽसौ
धैर्यद्रुमं धन्वधुरीणयूनाम् ।
यद्देहसन्तेजनयन्त्रकेषु
रेजे पुनस्तं युधि संक्षणुवानः ।। ९१ ।।

कौक्षेयकोत्क्षिप्तविपक्षपक्ष-
क्षिप्रक्षरत्सक्षतज-ह्रदेषु ।

क्षोणीं समाप्लाव्य सतीत्वमस्या
दिव्यं गृहीत्वा निरगायि तेन ।। ६२ ।।

श्रीवासुदेवः परवीरगोष्ठी-
कल्पान्त-कर्णेजपपत्रिपूगैः ।
धन्वक्षितीशं स समूलपातं
हत्वा सुतं तस्य पदेऽभ्यषिञ्चत् ।। ६१ ।।

शस्त्रौघ-निर्भिन्नसुकुम्भिकुम्भ-
प्रोन्मुक्तमुक्ताफलकच्छलेन ।
सत्पारिजातोद्भवपुष्पवर्षं
चक्रुस्सुरास्तत्र रणे चिरेण ।। ६४ ।।

धीरो नृपः संयति राजयुध्वा
दुग्ध्वा धरित्रीं स परं वसूनि ।
प्राध्वं चकाराशु गुणैः स्ववाहु-
स्तम्भेऽतिगाढं विजयद्विपेन्द्रम् ।। ६५ ।।

संक्रन्ततः सत्परगोत्रपक्षाँ-
स्तस्येन्द्र-वज्रातिगमार्गणौघैः ।
त्रासात् कुलीनोऽपि परः सशेषो
मध्येसमुद्रं प्रविवेश भूभृत् ।। ६६ ।।

दिनकरकुलहीरः सर्वलोकैकवीरः
स जितधरणिचक्रस्तेजसाऽऽक्रान्तशक्रः ।
द्रुतमकृतचतुर्णां छद्मना सागराणां
चतसृषु जययूपान् दिक्षु हत्वाऽरिभूपान् ।। ६७ ।।

त्रिभुवनगतकीर्तिः सुन्दरोदारमूर्ति-
र्वरिवसितसुपर्वा ज्याकिणक्रूरपर्वा ।
अनवरत-वितीर्णस्वर्णवर्षोऽतितूर्णं
क्रतुमकृत स सम्राड् **दीक्षितो वासुदेवः** ।। ६८ ।।

प्रविततसुविताने जुह्वतां भव्यजुह्वा
हविरविरतमुच्चैरृत्विजां तत्र रेजे ।

चरमसवन(काला)धीतयाज्याऽनुवाक्या[1]
ध्वनिरजनि सुरौघाऽऽकारणे चारुदूतः ।। ९९ ।।

नमदवनिपमाला-मौलिमाणिक्यबाला-
ऽऽतपविलसदमन्दस्मेरपादारविन्दः ।
बुभुज इह बुधत्राभूतभूतिः पवित्रा-
ऽऽकृतिरमृतमिवोच्चैः **प्रस्थमैन्द्रं** स भूपः ।। १०० ।।

योऽन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवैद्यनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते श्रीवासुदेवकृत् ।। १०१ ।।

।। इति वासुदेवदीक्षितवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।।

।। श्रीः ।।

तृतीयः सर्गः

वंशेऽथाऽस्मिन् सर्वलोकावतंसे
श्री**गोपालः** संप्रसूतो नृपालः ।
मुष्णन् दस्यून् धर्मकर्माणि पुष्णन्
गुर्वीमुर्वीं गामिवोच्चैर्जुगोप ।। १ ।।

नेत्रानन्दी सुन्दरो राजहंसो
द्रुह्यन् दूरादेव दोषाकराय ।
भार्यामुर्वीं संलसन्मानसश्रीः
पाणौ चक्रे राजहंसीमिवाऽयम् ।। २ ।।

---

1 In the third line ऽऽ is missing between चरमसवन and धीतयाज्या etc. we have reconstructed the reading as चरमसवन (काला) धीतयाज्या etc.

प्रोद्यत्सद्यः सद्यशः सञ्चितानां
शौर्योदार्याद्यै रगण्यैर्गु णैः स्वैः ।
प्रांज्यं राज्यं प्राप्य सिंहासनेऽसौ
राजा राज्ञां मूर्ध्नि चाङ्घ्रिञ्चकार ।। ३ ।।

कोपाद्भूपान् ग्रामटीपानिवाऽर्यं
खर्वीकुर्वन्नौर्वचण्डप्रतापः ।
चक्रे शक्रेणापि संस्पर्द्ध मानान्
संख्ये संख्येयान् धनैःस्वान्भटौघान् ।। ४ ।।

वत्सं सत्सम्पूज्यमात्मप्रतापं
कृत्वा सुत्वा कामधेनुं महीञ्च ।
दोग्धा दग्धारिव्रजोऽसौ नृपालो
द्रव्य भव्यं भव्यतेजा अदुग्ध ।। ५ ।।

शासानस्य स्वप्रजानां सुधर्मं
तस्य स्वप्नेऽप्याविरासीन् नृपस्य ।
कासारः श्री**सोमनाथाभिधानः**
पारावारेणैव बद्धाभिमानः ।। ६ ।।

सध्रीचीना।[1] सत्सुधायाः सुतारं
लोलोल्लोलैः प्रीणयन् पान्थसार्थान् ।
गम्भीरार्थं स्वायतिप्रीतिपूर्वं
मानुष्याऽसौ चारुवाचा तमूचे ।। ७ ।।

राजन्नुच्चैर्यविना दुष्टभूपा
गां हन्तारो धर्ममुन्मूलितारः ।
उत्पत्स्यन्ते दण्डितारश्च लोकां-
स्तेभ्यस्त्रातुं मेदिनीमर्हसि त्वम् ।। ८ ।।

कृत्वा मां त्वं शातकुम्भीयकुम्भे
शीघ्रं भूया अभ्यमित्रीण एव ।

---

1 A सध्रीचीणा इति पाठान्तरम् ।

दुष्टानेतान् हन्त हन्तासि येन
तत्ते प्रीत्या वारुणास्त्रं ददामि ।। ९ ।।

इत्युक्त्वाऽसौ साधु मन्त्रञ्च दत्वा
तस्मै राज्ञेऽन्तर्दधे सोमनाथः ।
चित्ते चित्रं चिन्तयन् स्वाप्नमर्थं
सोऽथ प्रातर्जागरामास भूपः ।। १० ।।

ऊचुः पृष्टास्तेन शिष्टा द्विजास्ते
राजन् स्वप्नोऽसौ शुभोदर्क एव ।
म्लेच्छान् सद्यो मूर्च्छयित्वा वशां ते
विष्वद्रीचीं राज्यलक्ष्मीं व्यनक्ति ।। ११ ।।

आकर्ण्याऽसौ कर्णविश्रान्तनेत्रो
मन्त्रज्ञानां ब्राह्मणानां वचांसि ।
हर्षोत्कर्षोल्लासिचित्तोऽथ दृष्टं
स्वप्ने यद्यत्तत्तथैवाशु चक्रे ।। १२ ।।

दृष्ट्वोपायानाशु नीतित्रिवर्गं
चारैर्गुप्तैर्विद्विषां च प्रवृत्तिम् ।
सद्दैवज्ञाऽऽवेदिते जैत्रयोगे
म्लेच्छाञ्जेतुं सोऽथ वीरः प्रतस्थे ।। १३ ।।

दिङ्नागानां गण्डदानाम्बुवर्षा-
वग्राहोऽपि प्रौढढक्कानिनादः ।
एतस्याऽहो वैरिसीमन्तिनीनां
चक्षुर्देशे वाष्पवर्षं वितेने ।। १४ ।।

संग्रामैकग्रामणीरेष कोपा-
दुग्रं पश्योऽरुन्तुदं वारुणास्त्रम् ।
प्रादुःकुर्वन्नुल्लसद्दैवशैले
दृप्तान् म्लेच्छान् मूर्च्छयामास सद्यः ।। १५ ।।

म्लेच्छक्षोणीपालसंवर्तकल्की
श्रीगोपालो देवदुर्गं गृहीत्वा ।
(आसेरीं ?)[1] संविश्य शंसन्नमन्द-
माशापूरां तत्र देवीं ववन्दे ।। १६ ।।

आशापूराऽऽविर्भवत्कामपूरा
शूरायाऽस्मै सा वरं संव्यतारीत् ।
वीरं सूनुं त्वं लभस्वाऽऽत्मकल्पं
शत्रूञ्जित्वा यः क्षितिं शासितेति ।। १७ ।।

आशापूरापूर्णकामः प्रकामं
श्रीगोपालः शत्रुवंशैककालः ।
नित्यं चित्तध्यातगोपालबालः
पुत्रं सद्योऽजीजनच्चन्द्रसेनम् ।। १८ ।।

कीर्तिज्योत्स्नाऽऽनन्दनीयः कलावा-
नुद्यन् सद्यो वैरिपद्मान्तकारी ।
लोके ख्यातो यश्च राजा द्विजानां
चन्द्रः सत्यं चन्द्रसेनः स वीरः ।। १९ ।।

(अध्यासेरि)[2] प्रोल्लसँश्चन्द्रसेनः
तेजोभिः स्वैर्दग्धविद्वेषिसेनः ।
पुत्रं सुत्रामोपमानं कुलाग्रं
कन्याञ्चैकां शक्तिरूपामसोष्ट ।। २० ।।

कल्पान्तोद्यत्-क्रूरसूरोत्कराणां
तुल्यं तेजः स्वं दधानः सहोत्थम् ।
आसेर्यद्रेः सुन्दरोपत्यकायां
चिक्रीडाऽयं राजपुत्रो विचित्रः ।। २१ ।।

---

1 The ms. A has indistinct soiled reading, which reads like आसेरीं.

2 The first four syllables on the first line (a) are indistinct as the ms, is soiled, but it reads like अध्यासेरि, hence restored by us in brackets, an अव्ययीभाव form meaning "on the Mountain Aseri" (आसेरीमधि इति अध्यासेरि).

धात्रे तस्मै यः प्रियाकर्तुमुच्चैः[1]
तप्त्वा घोरं सत्तपो वर्षपूगान् ।
तुष्टादस्मात् प्रार्थयामास सद्यो
हन्ता नो मां मानुषः स्याद्भुवीति[2] ।। २२ ।।

लब्ध्वा धातुस्तं वरं सोऽथ दृप्तो
व्यालोलाक्षो व्यालभव्योग्रजिह्वः ।
नव्यं क्रव्यं मानुषं नित्यमश्न-
न्नासीद् दैत्यस्तत्र भीमोऽस्थिपालः ।। २३ ।।
(युग्मम्)

उत्क्रीडन्तं पर्वतासन्नदेशे
राज्ञः पुत्रं स क्षणादाततायी ।
जीवग्राहं किंकरात्तं गृहीत्वा
ऽभुङ्क्त क्रूरः सिन्धुरं केसरीव ।। २४ ।।

क्रीडन्ती तां देवकन्येव कन्या
भ्रातुर्दृष्ट्वा साऽस्थिपालादवस्थाम् ।
वक्षस्ताडं संरुदन्ती प्रकाम-
माशापूरां तुष्टुवे सुष्ठु वाग्भिः ।। २५ ।।

आद्याशक्तिश्चक्रपाणेः स्मृता त्वं
वन्द्या लोके भक्तकल्याणहेतुः ।
युष्मत्पादाम्भोजलब्धप्रसादो
भुञ्जन्निन्द्रो द्यां सुखायाम्बभूव ।। २६ ।।

वारं वारं वन्दमानाऽमरेन्द्र-
प्रोद्यच्चूडापद्मरागप्रभाभिः ।
शोभां धत्ते कृत्रिमाऽलक्तकार्द्रां
तत्ते पादाऽम्भोरुहं पातु मातः ।। २७ ।।

---

1 A धातारं तं यः प्रियाकर्तुमुच्चैः इति पाठान्तरम् ।
2 A हन्तानोमे मानुषः स्याद्, इति पाठान्तरम् ।

जिह्वानां द्वे सत्सहस्र वृथा ते
शेषीये ये न क्षमे कीर्तितुं त्वाम् ।
मूर्धानस्ते किन्तु मन्येऽस्य धन्याः
पादाम्भोजे ये लुठन्ति त्वदीये ।। २८ ।।

मातर्गौरि त्वत्प्रियोऽसौ गिरीशः
सद्योऽनङ्गध्वंसदक्षाक्षिसंपत् ।
मन्ये तस्य स्पर्द्धयेव त्वदीया
दृष्टिः शत्रूनाश्वनङ्गान् विधत्ते ।। २९ ।।

राकाचन्द्रद्रोहनिस्तन्द्रवक्त्रा
माध्वीकश्रीपाटलोदारनेत्रा ।
कल्पान्तोद्यत्कालकोदण्डचण्डै-
स्त्वं भ्रूभङ्गैरेव दैत्यान्निहंसि ।। ३० ।।

वंशक्ष्माभृत्कूर्मशेषैकधुर्यो
वंशः पित्र्यो मेऽम्ब सर्वावतंसः ।
सोदर्यो मे घातुकेनाऽस्थिपाले-
नाऽसौ नीतो नाममात्रावशेषम् ।। ३१ ।।

पादाम्भोजं संश्रितानां जनाना-
माशाः सर्वास्त्वं यतः संपिपर्षि ।
आशापूरा त्वं ततो देवि जाता
तन्मे मातर्भ्रातरं जीवयाशु ।। ३२ ।।

इत्थं तस्या गद्गदालापरम्यं
श्रुत्वा स्तोत्रं सा विचित्रं भवानी ।
ऊचेऽथैनामाहर भ्रातुरङ्ग
शेषं यत् स्याद् येन तं जीवयामि ।। ३३ ।।

देव्याऽऽज्ञप्ता साऽथ कन्याऽतिहृष्टा-
ऽऽसूनां भूमौ संव्यचैषीत्तदङ्गम् ।
काठिन्यात् संत्यक्तवान् यन्नृशंसः
शीर्षण्यं सा तस्य लेभेऽस्थिसङ्घम् ।। ३४ ।।

आदायैतत् साऽऽशु कन्यातिधन्या
वंशं पित्र्यं वृद्धिमुच्चैर्निनीषुः ।
तस्या देव्या अग्रतः स्थापयित्वा
नत्वाऽऽहैनां भ्रातरञ्जीवयेति ।। ३५ ।।

आद्या वन्द्या साऽथ शक्तिर्मुरारेः
सद्यः प्रोद्यत्सान्द्रपीयूषपूर्णैः ।
उच्चैः सिक्त्वा तं कटाक्षैः स्वकीयैः
तस्या बन्धुं जीवयामासभूयः ।। ३६ ।।

संप्रीता च प्राह तं वीरशावं
वत्सोऽत्तिष्ठ त्वं प्रजह्यस्थिपालम् ।
हत्वा चैनं नाम तस्यैव् दध्या
भूयास्त्वं चाऽस्याऽद्य वंशस्य धर्ता ।। ३७ ।।

तस्या देव्याः स प्रसादादसादात्
कालस्याऽऽस्यान्निर्गतो राजवीरः ।
मुष्टीमुष्टि क्षिप्रमेतेन युद्ध्वा
दैत्येन्द्रं तं शीर्षपेषं पिपेष ।। ३८ ।।

लघ्वापायोऽथान्तरायो मुनीनां
दीनं क्रन्दन् मुञ्च मुञ्चेत्यमन्दम् ।
दोष्णोर्जिष्णोरन्तरं प्राप्य तस्य
प्राणान् प्रेष्ठानप्यहासीत् स सद्यः ।। ३९ ।।

न्यञ्चन्न्यञ्चद्भूमिभारातिभुग्नान्
मूर्ध्नःकुर्वन् हन्त शेषस्य सद्यः ।
तत्कीर्तीनामुच्चकैः केलिशैलो-
ऽपप्तद् भूमावस्थिपालः सदेहः ।। ४० ।।

हत्वा दैत्यं घोरमात्मंभरिं त—
मङ्गीकुर्वन् ब्राह्मणाऽऽशीर्वचांसि ।।
आशापूरां तां कुलस्यादिदेवीं
नत्वा प्रायात् स्वान् गृहांश्चान्द्रसेनिः ।। ४१ ।।

आलिङ्ग्याऽमुं भूपतिश्चन्द्रसेनो
विप्रौघेभ्यश्चाऽऽशु दत्वा वसूनि ।।
देव्या दत्तं तञ्च नाम्नाऽस्थिपालं
चक्रे पुत्रं सच्चरित्रं विचित्रम् ।। ४२ ।।

राज्ये पित्राऽथाऽभिषिक्तोऽस्थिपालः
शालप्रांशुः श्लिष्टसंध्यस्थिमांसः ।
व्यूढोरस्कः पीवरांसप्रदेशो
रेजे साक्षाद् देहधारीव वीरः ।। ४३ ।।

सप्तोद्दामाम्भोधिसन्मेखलाया
भर्ता भूमेर्वैरिसंवर्तवह्निः ।।
अन्तर्वेद्यां जैत्रलक्ष्मीमिव स्वां
चक्रे नाम्ना स्वेन रम्यां पुरीं सः ।। ४४ ।।

वैरिस्त्रीणां वक्त्रचन्द्रं सतन्द्रं
कुर्वाणोच्चैर्हारकान्तिं हरन्ती ।
गाढोन्मन्थक्षुब्धदुग्धाब्धिगौरी
रेजे लोके **शालिनी** तस्य कीर्तिः ।। ४५ ।।

निजभुजबलतः प्रदलितविमतः
सुरपतिसदृशः शशिरुचिरयशाः
वयसि स चरमे सुमहसि परमे
कृतमतिरनिशं वरमलभत शम् ।। ४६ ।।

इक्ष्वाकोरिव **चाहुवाननृपतेर्भू**मण्डलीमण्डनं
वंशोऽयं नृपमस्थिपालमवधिं यावद्धाराऽभिधाम् ।।
एतस्मादनघाद्रघोरिव परं ये जज्ञिरे भूमिपा-
स्ते लोके बिभरांबभूवुरचिरादेतस्य नाम्ना प्रथाम् ।। ४७ ।।

योन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवैद्यनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते प्रोक्तोऽस्थिपालोद्भवः ।। ४८ ।।

।। इति श्रीविश्वनाथकृते महाकाव्ये श्रीशत्रुशल्यचरितेऽस्थिपालोद्भवस्तृतीयः सर्गः ।।

॥ श्रीः ॥

चतुर्थः सर्गः

अस्थिपालनृपतेरथ तस्मा-
च्चन्द्रराज उदभूदवनीशः ।
पक्षयुग्ममहनीयसुमूर्ति-[1]
श्चन्द्रमप्यतिशयान उदैद्यः ॥ १ ॥

आधिपत्यमधिगत्य स नित्य-
माधिमेव जगतां प्रबबाधे ।
बाधतामथ नृपो युधि यं वा
विद्महे तु विनतं रिपुमस्य[2] ॥ २ ॥

मन्महे स किल सन्महनीयः
शक्र एव वरविक्रमबन्धुः ।
पाणिराजिशतकोटिरजस्रं
कालकृत् परबलस्य नृपालः ॥ ३ ॥

कल्पयन्नतिवनीयककामान्
कल्पशाखिनमथाऽकृत सोऽल्पम् ।
ईप्सितं बहु ददत् किल चिन्ता-
रत्नमेव स चकार सचिन्तम् ॥ ४ ॥

नन्दयन्नयममन्दगुणौघै-
र्मेदिनीं प्रमदमेदुरलोकाम् ।
चन्द्रराजनृपतिः सुतमाज्ञा-
कीर्तिमर्तिहरणं समसौषीत् ॥ ५ ॥

संप्रसह्य किल तस्य वराज्ञा-
संस्थिता झटिति मूर्द्धनि राज्ञाम् ।

---

1 A पद्मयुग्महनीय etc.

2 A नूनमेव नत एव पुरोऽस्य ।

किञ्च चञ्चदधिपर्वसुधांशोः
शीर्षमाक्रमदमुष्य सुकीर्तिः ।। ६ ।।

कीर्तिशोभितकुलः शुभशीलः
शोषिताऽरिजलधी रणधीरः ।
वाडवायितलसद्गुरुकोपः
सोपमानमसविष्ट स **रेणुम्** ।। ७ ।।

यच्छरण्यचरणाम्बुजरेणु-
र्मस्तकेषु मुकुटीयति राज्ञाम् ।
यत्प्रदानसमये कनकाद्रिः
संबभूव च जवात् त्रसरेणुः ।। ८ ।।

सद्गुणस्य बत तस्य नृपस्य
प्रादुरास तनयोऽथ विनेता ।
दुर्मदान्ध-परिपन्थिभटानां
कोल्हनः प्रियरणो धरणीशः ।। ९ ।।
(युग्मम्)

गच्छता मुहुरनेन **सुकेदा-**
राद्रिमीशपदमाश्वभिवन्द्य ।
धीरभक्तिगुणगुम्फितराजद्-
वाङ्मयाम्बुजगणैः समपूजि ।। १० ।।

आमनन्ति मुनयो निगमोक्त्या
त्वां जगत्त्रितयकारणमेकम् ।
अन्तरायपरिवारणहेतु-
मंहसां जलनिधेर्वरसेतुम् ।। ११ ।।

शीतशैलतनयाकुचकुम्भ-
कोटिकुङ्कुमरजःसुपिशङ्गे ।
ईश वक्षसि निजे चिरमक्षाँ-
श्चञ्चरीकनिकरानिव धत्से ।। १२ ।।

एकया निजदृशा सुसमाधौ
मग्नया हर चिरेण मुनीयन् ।

चण्डिकावदनचन्द्रचकोरी-
भूतयाऽथ परयापि गृहीयन् ।। १३ ।।

अन्यया विषमबाणजिघत्सा-
क्रूरया चिरतरञ्च यमीयन् ।
पालनाय मम तां तु चतुर्थी-
मैन्दवीं वरकलां किल धत्से ।। १४ ।।
(युग्मम्)

रोषलेश-कुटिल-भ्रकुटिस्त्वं
हुङ्कृतिध्वनि-निरस्त-रिपुश्रीः ।
तं न वेद्मि दधदद्य पिनाकं
स्पर्द्धसे शिवद येन तु सार्द्धम् ।। १५ ।।

मन्थघूर्णदुदधेरुदरस्थं
वाडवं तदतिचण्डमिवार्चिः ।
कालकूटमनिशं निजकण्ठे
त्वं दधासि कुशलाय जनानाम् ।। १६ ।।

त्वां महेश विगणय्य शरण्यं
संयजन् सुरगणान् किल दक्षः ।
यज्वनस्तव स रोषकृशानौ
हव्यमाशु निदधे निजदेहम् ।। १७ ।।

संवहन् किल करेण कपालं
शङ्कनीयमपि यद्गतशङ्कः ।
तद्ध्रुवं स्वचरणाम्बुजभक्तं
नाकपालयितुमाशु गिरीश ।। १८ ।।

त्वामगम्यचरितं निगमानां
स्तोतुमाश्वचतुरश्चतुरास्यः ।
देवता बत गिरामपि मन्दा
संबभूव गिरिराज-सुतेश ।। १९ ।।

त्वं दधासि शिरसा हर गङ्गां
चञ्चदुच्चतरचारुतरङ्गाम् ।
घोर-संसृतिज-तापसुभीत-
प्राणिनामभयदान-पताकाम् ।। २० ।।

ईश शर्व शिव शङ्कर शम्भो
नीलकण्ठ गिरिजेश पिनाकिन् ।
चन्द्रशेखर विभो पुरवैरिन्
पाहि मां शरणगं सुशरण्य ।। २१ ।।

ईशदत्तहृदयः सदयोऽसौ
संस्तुवन् वरमचीकमताऽथ ।
आडशैलवलयं कुलजानां
निश्चलं भवतु मे सदुमेश ।। २२ ।।

तत्तथेति हरतो विरतोऽसौ
प्राप्य काममचिरांद् रुचिराङ्गः ।
नन्दिताखिलजनः सुजनाना-
मग्रणीः प्रमुमुदे नरदेवः ।। २३ ।।

बाहुना वरमथाऽयमथारि-
क्षोणिपालजलधिं परिमथ्नन् ।
कीर्तिचन्द्रमचिराद् रुचिरांशु
प्रोच्चकैः परिदधार सुधीरः ।। २४ ।।

तत्र शासति महीं महनीयां
वीरसूर्भुवि न काचिदलक्षि ।
कोल्हनस्य नृपतेर्वरयुद्धे
या पटून् प्रतिभटान् प्रसवित्री ।। २५ ।।

तेन भूपरिवृढेन दृढेन
कार्मुकेन वसुधां वसुधाम्ना ।
शासता विलसता गुणवृन्दै-
र्विश्वमाशु सुयशोभिरशोभि ।। २६ ।।

सप्तनिर्भरपयोधिसुभूम-
सीमभूमिवलयं कलयन् सः ।
संव्यधादथ पुरं किल बन्दी-
भाविता रिनिवहामिह बुन्दीम् ।। २७ ।।

याऽलकेव वलितोरुधनेशा
हृत्स्थलीव नृहरेः स्थिरलक्ष्मीः ।।
विन्ध्यभूरिव खनिर्द्विरदानां
सैन्धवी क्षितिरिवाऽपि हयानाम् ।। २८ ।।

वारिधेस्तनुरिवोद्धतरत्ना
मैरवीव धरणी सहिरण्या ।
वीरसूरिव भटौघसवित्री
कामधेनुरिव कामितदात्री ।। २९ ।।

सा लसत्सुचतुराननवृन्दा
बिभ्रती कविबुधौघममन्दम् ।
सन्महेशकलिता दिवमुच्चैः
सञ्जहास नगरी नगरम्या ।। ३० ।।
(चतुर्भिः कलापकम्)

याऽस्थिपाल-सदुदारकुलस्य
प्रौढकीर्तिरनिशं श्रितमूर्तिः ।
वर्णनेऽतिकृपणः कविरस्या
वाग्धनव्ययकृतौ शिथिलोऽभूत् ।। ३१ ।।

तां पुरीमधिवसन्नथ धीमान्
मानदः क्षितिभृतां निवहस्य ।
वृत्रहा वरजयन्तमिवोच्चै-
राशुपालमसविष्ट सुहृष्टः ।। ३२ ।।

गाढभक्ति-परितोषित-भर्गः
सच्चरित्र-विलसत्-कुलवर्गः ।

स्वाङ्गकान्तिजित-भास्वदनङ्गः
स प्रतापहुत-वैरिपतङ्गः ॥ ३३ ॥

मेदिनीं विमलयन् स्वगुणौघैः
सन्ततं विदलयन् किल शत्रून् ।
आशुपालनृपतिर्वरमेषो-
ऽजीजनद् **विजयपाल**तनूजम् ॥ ३४ ॥
(युग्मम्)

आशुपालविलसद्धरणीन्द्राद्
योऽभवद् भरतमण्डनवीरः ।
चारु-कुण्डलविभासितकर्ण-
स्पर्द्धि-चापवर-भासुरबाहुः ॥ ३५ ॥

उद्धुरप्रधनतुन्दिलकण्डू-
चण्डवैरिनिकरान् युधि निघ्नन् ।
धर्मराजमकृताऽथ कृतार्थं
सोऽर्जुनो **विजयपालक** आसीत् ॥ ३६ ॥
(युग्मम्)

श्रीमतो विजयपालनृपालात्
कामपालसदृशोद्धतशीलात् ।
आस शासि(त)रिपुव्रजचक्रो
वङ्गदेव इति भूतलशक्रः ॥ ३७ ॥

वङ्गदेशजकुरङ्गदृशां यः
तुङ्गसुस्तनतटीमकरीभिः ।
अन्तरम्बु मृगयावरकेली-
कौतुकं प्रविदधे रणधीरः ॥ ३८ ॥

सङ्गराङ्गणतरङ्गितरोषो-
दञ्चितभ्रुकुटिताण्डवचण्डः ।
वङ्गदेव-नरपः स विपक्षैः
काल एव समलक्षि विपक्षैः ॥ ३९ ॥

वङ्गदेव-सुभटः पटुतेजा
विक्रमार्क-कुलमण्डन-कन्याम् ।
प्रोदुवाह विधिवत् सुविधिज्ञो
मैथिलीमिव दशाननशत्रुः ।। ४० ।।

एतया स रममाण उदारो
व्याकुलीकृतलसद्रिपुदारः ।
वैरिमारणसुमन्त्रमिवौजः
स्वं क्षणान्न्यधित चण्डममुष्याम् ।। ४१ ।।

संलसल्लवलिकापरिपाक-
पाण्डुगण्डयुगदन्तुरितेन ।
मृत्तिकासु सुरभिश्वसितेन
स्वाननेन शशिनं प्रहसन्ती ।। ४२ ।।

बिभ्रती वसुमतीपतितेजः
सा शमीव दहनं जठरेऽन्तः ।
वर्द्धमानगुरुदक्षिणकुक्षिः
श्यामतां कुचयुगे समधासीत् ।। ४३ ।।
(युग्मम्)

भानुभानुविकचाम्बुजकोषान्-
निःसरन्मधुपराजिरिवास्याः ।
निम्ननाभिकुहरादतिनीला
रोमराजिरुदभून्नृपवध्वाः ।। ४४ ।।

सातिगर्भभरभुग्ननितम्बा
कम्पमानकुचभङ्गुरगात्री ।
गौरवात् सुचिरमुच्चलिताङ्घ्र-
र्मन्थरेण गमनेन विरेजे ।। ४५ ।।

मेदिनीपतिसमाहितवीर्या[1]
बिभ्रती द्विगुणदौर्हृदलक्ष्मीम् ।

---

1 A सा महीपतिसमाहितवीर्या ।

कीकसानि वलिवस्तिकुचेषु
क्षोणिपालमहिषी परिदध्रे ।। ४६ ।।

गर्भमन्तरुदरं कलयन्त्या
यद्वलित्रयमलुम्पदमुष्याः ।
स्वौजसा जितजगत्त्रयवीरः
तत्सुतः प्रभविता ध्रुवमस्याः ।। ४७ ।।

गोस्तनी-मधु-सुधा-सहकारान्[1]
सा विसृज्य मधुरान् मधुराङ्गी ।
अम्लमेव चकमे रसमेकं
दौर्हृदं बहुविधं हि वधूनाम् ।। ४८ ।।

गर्भदोलितहृदो नृपवध्वा
दौर्हृदं हृदि पुपोष यथाऽस्याः ।
भूपतेरपि तथा सुतवक्त्र-
प्रेक्षणोन्मनसि चेतसि कामः ।। ४९ ।।

पुत्रसम्प्रसवमासमजस्रं
तत्सखी रहसि सम्परिपृच्छन् ।
उत्सुकः सुतमुखेन्दुममन्दं
द्रष्टुमाशु स चकोर इवाऽऽसीत् ।। ५० ।।

शोभनेऽथ समये विधिविद्भिः
स्वस्तिकर्मणि कृते सकलेऽपि ।
आशिषं प्रपठति द्विजसङ्घे
राज्ञि संवितरति द्रविणौघम् ।। ५१ ।।

सर्वतः प्रसृमरच्छविदीपं
तुङ्गमञ्चकयुतं सुसमृद्धम् ।
वृद्धवर्गविनिवेदितदेशं
कामिनीगदितमङ्गलशब्दम् ।। ५२ ।।

---

1 A मृद्धिकामधुसुधा etc.

गर्भभारविधुराऽपि सखीनां
पुत्रजन्मनिनदैरतिहृष्टा ।
स्वेदबिन्दुरुचिराऽऽननलक्ष्मीः
सूतिकागृहमसावधिशिश्ये ।। ५३ ।।
(त्रिभिर्विशेषकम्)

उच्चपञ्चवरखेचरदिव्ये
शोभनेऽथ समये नृपयोषित् ।
वीरसूरियमसूत कुमारं
भासुरं किल शचीव जयन्तम् ।। ५४ ।।

पुत्रजन्मसमये स नृपालः
सम्मदं बहुतरं प्रदधानः ।
डिण्डिमानकमृदङ्गसुभेरी-
झर्झरान् द्रुतमवीवददुच्चैः ।। ५५ ।।

जातकर्म विधिवत्कृतधर्मा
निर्ममे स तनुजस्य नृपालः ।
देव एव यदसाववतीर्णो
देवनामकममुं तदकार्षीत् ।। ५६ ।।

तेजसाऽथ तिरयन्मणिकुड्य-
प्रौढदीप्तिमचिरेण कुमारः ।
अम्बुराशिमिव तं क्षितिनाथं
नन्दयन् प्रववृधे स शशीव ।। ५७ ।।

वङ्गदेवनृपपुङ्गवजन्मा
बाल एष विहरन् स वयस्यैः ।
अद्भुतानि विदधे किल कर्मा-
ण्युच्चकैर्जनकतोषकराणि ।। ५८ ।।

इन्द्रनीलमणिमेचकगात्रं
नीलनीरधरधीरसुघोषम् ।

क्षीरकण्ठमपि तं नृपशावं
संविलोक्य रिपवः किल बिभ्युः ॥ ५९ ॥

रूपविक्रमगुणैरभिरामं
तं स्वमप्यतिशयानमवेक्ष्य ।
वङ्गदेवनरपोऽङ्गजमुच्चै-
र्यौवराज्यपदवीं प्रददेऽस्मै ॥ ६० ॥

न्यस्य पुत्रशिरसि क्षितिभारं
दुर्धरं फणभृताऽपि चिरेण ।
स्वर्भरं स मघवेव जयन्ते
वङ्गदेवनृपतिः क्लममौज्झत् ॥ ६१ ॥

इन्दुनेव गगनाङ्गणमुच्चै-
र्भानुनेव सकलं ग्रहजालम् ।
भासुरेण मणिनेव सुवर्णं
तेन भूमिवलयं बहु रेजे ॥ ६२ ॥

स्वं स तेन शिशुना कृतकृत्यं
मन्यमान उप**बुन्दि** नृपालः ।
पुष्पितासु सरसीषु कदाचित्
क्वाऽपि केलिविपिनेषु विजह्रे ॥ ६३ ॥

तत्र तत्र विहरन् नरनाथो
राज्यभारधरणे शिथिलः सः ।
वासरान् बहुतिथान् समतीतान्
केलिकृष्टहृदयो न विवेद ॥ ६४ ॥

एणकानथ वराँश्च वराहान्
पक्षिणोऽपि विविधान् परिणिघ्नन् ।
राजनीतिमवमत्य स नित्य-
मेक एव मृगयानिरतोऽभूत् ॥ ६५ ॥

सोऽहिनेव दधता विषगुप्ति
मेदकेन किल केनचिदीशः ।

संस्मृतप्रथमशात्रवभावाद्
भोजितोऽथ गरलं कुटिलेन ।। ६६ ।।

स स्वभावसरल: क्षितिपाल:
कालकूटमदघूर्णितचक्षु: ।
सङ्कुचत्-सकलचेतनमर्मा
देववञ्चितमतिर्विरराम ।। ६७ ।।

सन्निशम्य स पितुर्युवराजो
वैशसं कुटिलमेदजनेभ्य: ।
संभवद्विषमरोषकृशानु:
स्वागतामपि शुचं निरुरोध ।। ६८ ।।

अमर्षविषमानलप्रबलदीप्ततेजश्छटो-
द्भटोतिविकटो रणेचरभटै: प्रचण्डैर्वृत: ।
कनत्कनक-किङ्किणीक्वणितदारुणं कार्मुकं
दधत् प्रधनमूर्धनि प्रसभमाविरासीदसौ ।। ६९ ।।

महाप्रलयदारुणानलजटालकीलायितै:
शरैररिशिरांस्ययं प्रसभमुत्क्षिपन् क्षोणिप: ।
मुहुर्हरगलोचितां विदधदाशु मौण्डीं स्रजं
जघान रणरोषण: प्रमदमेदुरान् मेदकान् ।। ७० ।।

द्विषद्गणविजित्वरो भटवरो रणे सत्वरो
वितत्य सुयश: स्वकं क्षितिधुरां धुरीणो दधत् ।
स्फुरन्निजभुजद्वयोल्लसदनल्पवीर्याऽनलो ।
नलोपम उदारधीरभवदेष पृथ्वीपति: ।। ७१ ।।

अथ क्षोणिपालो रिपुकुलकरालोद्धुरयशा
दिशां पालैस्तुल्यो दिवसमणिकुल्योऽम्बरमणि: ।
पुरीं बुन्दीनाम्नीं कनकरुचिधाम्नीं शिखरिणी-
मलङ्कुर्वन् देवो रचितहरिसेवोऽतिशुशुभे ।। ७२ ।।

---

1 Variant reading is बुन्दीनामां कनकरुचिधामां ।

योऽन्तर्वाणि शिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
(साहित्याम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवैद्यनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुद्भूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य) सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते मेदान्वयध्वंसनम् ।। ७३ ।।

।। इतिशत्रुशल्यचरिते मेदान्वयध्वंसो नाम चतुर्थः सर्गः ।।

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

श्रीदेवभूपतिसुतोऽथ बभूव वीरो
धीरोद्धतः समरसिंह इति क्षितीशः ।
पित्र्यं पदं समधिगम्य परं धुरीणः
क्षोणीमिमामभुनगेकपुरीमिवोच्चैः ॥ १ ॥

आक्रम्य विक्रमभरैः परिपन्थियोधान्
योऽधात् क्षणेन वशगान् महनीयकीर्तिः ।
सम्यक् शशास जनता विनतारिपक्षः
स क्षोणिपालतिलको जनको यथाऽऽसाम् ॥ २ ॥

उन्मुक्तकञ्चुकविशेषविशेषकाय-
शोभां क्षणेन तिरयन् यशसां समूहैः ।
सिंहोद्धतोऽपि समरेष्वमरेशतुल्यो
दानाम्बुराजितकरः स करीव रेजे ॥ ३ ॥

वृन्दावतीमधिवसन् जनवन्दनीयां
वृन्दारकेशमपि मन्दमयञ्चकार ।
आनन्दितोद्धतबलैरचिरेण चित्रै-
र्गोत्रव्रजस्य सुभगङ्करणैश्चरित्रैः ॥ ४ ॥

एतस्य मूर्तिरिव कीर्तिरतीव गौरी
मूर्तिश्च बुद्धिरिव तस्य गभीररूपा ।
चेष्टेव बुद्धिरधिकं परिपूर्णसत्त्वा
चेष्टा त्वमुष्य कुलरीतिरिवात्युदारा ॥ ५ ॥

कृत्वा महीं सुमहतीं समहानुभावो
भीमे भुजे परभटौघनिराकरिष्णुः ।
पुत्रं पवित्रचरितं त्वरितं धरित्री-
धुर्यं नृपः स सुषुवे किल नार्पसंज्ञम् ॥ ६ ॥

एकोऽप्ययं समरमौलिमलङ्करिष्णु-
र्दोष्णा व्यराजत रणे नृपसङ्घभीमः ।
(अन्यत्र) नार्पयति यद्वसुधा वसूनि
तस्मिन्नृपेऽभवदतोऽपि नृपः स **नार्पः**[1] ।। ७ ।।

नार्पो नृपो रिपुकुलान्तकरालकालः
सत्कालकूटकुटिलोद्धतधीररोषः ।
वृन्दावतीकमलिनीरमणीयसूरो
हम्मीरदेवतनुजं समसूत सद्यः ।। ८ ।।

हम्मीरभूपतिरयं तिरयन् प्रतापै-
र्घूकानिवाऽरिनिकरान् रणावावदूकान् ।
पद्माकरानिव निजावनिजातलोका-
नामोदयन् रविरिवाऽतितरां दिदीपे ।। ९ ।।

तेजोहुताशहुतराजकलाजहोमः
पाणौ कृतां सुभ्ररणीं रमणीमिवोच्चैः ।
हम्मीर एष विहरन् वरवाजिटाप-
सच्चन्द्रकैः[2] प्रविदधे स नखक्षताङ्काम् ।। १० ।।

दोर्विक्रमाक्रमितविक्रमकीर्तिचक्रे
तस्मिन् प्रदातरि तदा वसुधैकशक्रे ।
इभ्यीकृतार्थिनि करे कनकाचलस्य
रत्नाकरस्य च चिरेण दरिद्रताऽऽसीत् ।। ११ ।।

आसीदमुष्य कृतिनः क्षितिनायकस्य
प्रत्यर्थिसंहतिसमुद्धतसायकस्य ।
प्राचीन-पुण्य-सुपचेलिमसद्विवर्तः
प्रेष्ठः सुतोऽथ **वरसिंह** उदारवृत्तः ।। १२ ।।

---

1 A. राजान्तरे करतया स नृपो वसूनि कुत्रापि नार्पयति तेन बभूव नार्पः ।।
2 A. वरवाजिपादसच्चन्द्रकैः ।
3 A प्राचीनपुण्यनिकुरम्बलसद्विवर्तः ।

एतस्य यद्यपि बलं बहुलं नृपस्य
संख्ये तु किन्तु वरखड्गसहायबाहुः ।
धीरो व्यलोकि विहरन् प्रहरन् सपत्नान्
कोपात् कषायनयनो हरिरेव साक्षात् ।। १३ ।।

ईशोऽप्ययं परभटान् विदधात्यनङ्गान्
भास्वानसावपि चिरं परचक्रभीमः ।
देवः कलानिधिरपि क्षपितोरुदोषो
भूभृद्वरोऽपि शतकोटि-विराजिपक्षः ।। १४ ।।

सद्वाहिनीपरिवृढः कलितोरुलक्ष्मी-
र्नित्यं मुदं सुमनसां विदधद्वरार्थैः ।
त्रासार्दितक्षितिभृदाश्रितसाधुमूर्तिः
प्रासूत भूपतिरयं किल **वैरचन्द्रम्** ।। १५ ।।

तारं स राज्यममलं सदलङ्करिष्णुः
पूर्णाः कलाः किल दधन् नृपवैरचन्द्रः ।
उच्चैः सुधामधुरकीर्ति सुचन्द्रिकाभि-
रानन्दिनीं प्रविदधे जनताचकोरीम् ।। १६ ।।

आभ्यन्तरानपि रिपून् षडय विनिघ्नन्
नित्यं सुनीतिनिपुणैः सचिवैः समेतः ।
कूर्माद्रिराजभुजगाधिपदिग्गजानां
तुल्यां धुरं चिरतरं बिभरांबभूव ।। १७ ।।

धिग्धिग् रवेरथ सहस्रतयीं कराणां
नैशं तमोऽपि न हि या दलितुं क्षमाऽऽसीत् ।
वन्दामहे करयुगं नृपतेस्तदस्य
नामापि यद् द्रुततरं द्विषतामहासीत् ।। १८ ।।

तस्मिन् महौजसि महीमहनीयशक्रे
कामं ववर्ष मघवानपि दण्डभीतः ।
नित्यं सुधाममधुरैर्मधुरैर्गुणौघैः
सम्प्रस्नुता च सुषुवे वसुधा वसूनि ।। १९ ।।

वृन्दावतीकुमुदिनीरमणीयचन्द्रो
वैरक्षमापतिरसौ जितशत्रुवृन्दः ।
भुञ्जन् महीं करतलामलकायमानां
पापं कलिं कृतयुगीकृतवानजस्रम् ॥ २० ॥

कर्णान्तिगत्वरविजित्वरचापदण्डो
दुर्वारचण्डकरतापविसंष्ठुलाङ्गीम् ।
उच्चैस्तरां वसुमतीं विशदैर्यशोभिः
सान्द्रार्द्रचन्दनरसैरिव संलिलेप ॥ २१ ॥

तस्मादथाऽविरभवद्वरभूमिपालात्
स्वीयोल्लसच्चरितनिर्जितनाकपालात् ।
पुत्रो विचित्रमहिमा समरैकमल्लः
सल्लोकपालनकरः किल **भारमल्लः** ॥ २२ ॥

पित्र्यं पदं स विपदन्तकरः प्रजानां
सम्प्राप्य बाहुबलतो दलितोरुशत्रुः ।
सम्भासुरं भुवि यशस्तिलकं दधानः
सिंहासनं निजकुलागतमारुरोह ॥ २३ ॥

उच्चैः सुरालयकृतप्रणयं सुरेशं
तं निर्बलं नरपतिः प्रहसन् प्रसह्य ।
सद्यःफलैरिव वशीकरणस्य मन्त्रै-
र्नित्यं प्रजाः स्वचरितैः स वशीचकार ॥ २४ ॥

कस्याऽपि योगविदुषो वचनाद् भविष्यद्-
दुर्भिक्षसंभवविदा चितसर्वधान्यैः ।
येनात्युदारमतिना भरणं प्रजानां
चक्रे कथं स न भवेद् भुवनैकभर्ता ॥ २५ ॥

गम्भीरबुद्धिषु सुमन्त्रिषु राज्यभारं
कृत्वा प्रशासति महीं नृप**भारमल्ले** ।
औत्पातिकान्युदभवन्नथ लक्षणानि
सद्यो युगेन कलिना बलिना कृतानि ॥ २६ ॥

धूम्राननाः सुमलिना रजसा प्रकीर्णा
उद्भ्रान्तसत्वनिकरा अशुभं वदन्त्यः ।
तद्वैरिवामनयना इव चेत्थमन्त-
र्दाहं[1] दधुः किल चिरेण दिशश्चतस्त्रः ।। २७ ।।

आप्रावृषेण्यघनवर्षणकापदेशा-
देषा मही सततमश्रुजलं किरन्ती ।
क्रन्दच्छिवारुतमिषेण कृतार्तनादा
दीर्णान्तराऽरि कमलेव चिरं चकम्पे ।। २८ ।।

मैत्रीव वक्रितधियां कमलालयेव
दुःशीलिनां स्मृतिरिवोन्मदमद्यपानाम् ।
सौदामिनी धृतिरिवोल्वणभीरुकाणां
प्रादुर्बभूव तरला दिशि दक्षिणस्याम् ।। २९ ।।

बन्दीकृतं नृपमिवोज्झितमात्मलक्ष्म्या
पर्यन्ततः प्रविलसत्परिधिं सुदीनम्[1]।
भूयः स्मरन् प्रथमजं निजशत्रुभावं[2]
जग्राह राहुरहनि द्विजराजमाशु ।। ३० ।।

वल्गद्द्विजेशगुरुसत्कविसन्मुनीन्द्रे
ऽनन्ताङ्गने[3] सुमनसां सुविहारभूमौ ।
उच्चैस्तरां सकललोकविनाशहेतुः
प्रादुर्बभूव सहसा किल धूमकेतुः ।। ३१ ।।

वृन्दावतीपरिसरेऽश्रुविमिश्रनेत्रा
मन्दास्तृणादिकवलेकृतहंबशब्दाः ।

---

1 The Ms A reads like इव तेत्यमन्तर्दाहं etc. in the third line which is unintelligible word being meaningless, hence we have presented it as इव चेत्थमन्तर्दाहं ।

2 A प्रथमशात्रवमात्मनीनं ।

3 A नन्ताङ्गणे ।

वत्सान् पिपासितवतोऽपि गवां समूहा
नापाययन् रुधिरसंस्रवदूधसोऽपि ॥ ३२ ॥

राज्ञश्च तस्य तुरगा वरमन्दुरायां
त्यक्ताऽशनाः किमपि चेतसि चिन्तयन्तः ।
प्रोथप्रदेशसुचिरस्फुरणातिभीमं
जिह्वेषिरेऽह्नि तरुणेऽनु दिनेशबिम्बम् ॥ ३३ ॥

इत्थं सचिन्तहृदयः क्षितिपोऽथ पश्य-
न्नौत्पातिकानि सहसा किल लक्षणानि ।
पप्रच्छ सोऽच्छमतिमाशु पुरोहितं स्वं
ब्रह्मन् किमेतदुदितं विषमं भुवीति ॥ ३४ ॥

स्थित्वा महोदधिरिव क्षणसुप्तयादो
वेदार्थदृङ् मुषितकालिकविप्रकर्षः ।
निःश्वस्य विप्रियमपि द्विज एष सत्यं
श्रीभारमल्लनृपतिं वचनं बभाषे ॥ ३५ ॥

राजन् वयं श्रुतिकठोरधियो न विद्मो
वक्तुं वचः सुचतुरं नृपसन्निधाने ।
किन्त्वद्य नः श्रुतितेः प्रतिवेशिनीनां
वाचां रहस्यमनृतं बत मैव मंस्थाः ॥ ३६ ॥

देवेदमद्य सकलं विकलं प्रजाना-
मौत्पातिकं विषममुत्पतितं तु चिह्नम् ।
कोऽप्यत्र नास्ति विरलोऽपि तव प्रमादः
पश्यामि किन्तु कलिदुर्ललितं तदेतत् ॥ ३७ ॥

द्रुह्यँश्चिरेण भवते कृतधर्मणेऽयं
तेजो हरिष्यति कलिः प्रसभं श्रुतीनाम् ।
मोघीकरिष्यति च मन्त्रविदां द्विजाना-
माशीश्चयं सफलयिष्यति पापसङ्घम् ॥ ३८ ॥

त्रय्या वषट्कृतमिदं बत यज्विवृन्दै-
स्त्रेतासु नैव कलयिष्यति निर्जरौघः ।

देवी क्षितिश्चिरमवग्रहतापदूना
मन्दं प्रसोष्यति वसूनि सदौषधींश्च ।। ३९ ।।

क्षात्रं विहाय नियमं स्वपरम्पराप्तं[1]
कुर्वन् परं चतुरचाटुवचोभिराशु ।
वंश्योऽपि भूपतिगणो यवनोक्तधर्मं
तत्प्रीतये किल वरिष्यति राज्यलोभात् ।। ४० ।।

इत्थं जगत्सुविकलं स कलिः प्रकुर्व-
न्नाऽऽप्लावयिष्यति महीं किल यावनाब्धौ ।
केदारनाथवरतः परमास्थिपालो
वंशः स कोऽपि वटवत् प्रविभास्यतीह ।। ४१ ।।

यं **वासुदेव**नृपतिः किल दिग्विजिष्णुः
कृत्वावशेऽथ कृपयाऽनुचरञ्चकार ।
एषोऽद्य **मण्डपपतिः** कलिबृंहितौजा
वृन्दावतीमभिपतन् निहनिष्यति त्वाम् ।। ४२ ।।

पुत्रस्तु ते त्रिजगतीमहनीयवीर्यो
नारायणाभिध उपासितरक्तदन्तिः ।
हत्वा तुरुष्कनिकरानुरुदुर्मदान्धान्
वृन्दावतीं पुन(र)सौ परिभोक्ष्यतीति ।। ४३ ।।

इत्थं निगद्य निगमार्थविदां वरिष्ठो
जोष बभूव महसा मुनिपुङ्गवोऽसौ ।
राजाऽपि दैवमनतिक्रमणीयमित्थं
सञ्चिन्त्य नैव विषसाद गभीरधीत्वात् ।। ४४ ।।

अन्तर्वहन्नपि चिरेण स शल्यमुच्चै-
राकारगोपनकृती नृपभारमल्लः ।

---

1 A क्षात्र व्रतं प्रविजहन् मुहुरानुचर्यं ।

शासद्गणैः सुविमलैर्धरणीमभीरु-
र्मन्त्रं चकार सचिवैः स्वहिताय सद्यः ।। ४५ ।।

पृष्टोऽथ तेन किल सर्वपथीनबुद्धि-
र्मन्त्रिव्रजः प्रभुहितादृतसर्वधर्मः ।
सम्यक् परापरबलाबलतत्त्वदर्शी
बद्ध्वाऽञ्जलिं स समयोचितमेतदूचे ।। ४६ ।।

मत्या स्वया सुरगुरुं लघयन् प्रकामं
तावद् भवान् नयविदां प्रथमो मतो नः ।
पृष्टेन किन्तु सुखदुःखविभागिनेशः
प्रज्ञाबलादनुचरेण हिताय योज्यः ।। ४७ ।।

नीतित्रिवर्गमसकृत् प्रविभाव्य सौवं
राज्याङ्गवर्धनपरो धृतसद्गुणौघः ।
नित्यं चरैः परिनिवेदितसत्प्रवृत्तिः
काले जयाय नयवित् प्रयतेत भूप(ः) ।। ४८ ।।

काले विचार्य रचितं किल कार्यजातं
सस्यं महीव कुशलं बहलं प्रसूते ।
सद्यः प्रयाति विलयं कुमतेरकाले
कर्म प्रयुक्तमिव शारदमभ्रवृन्दम् ।। ४९ ।।

विद्वाँस्तदेव विदधीत चिरेण कर्म
कृत्वा तु यत् परिणतौ बत नानुतप्येत् ।
कुर्याद्विविच्य सुचिरं सुमतिः परं त-
दुच्चैः परं किल चमत्कुरुते यदग्रे ।। ५० ।।

स प्रत्ययस्तु विदुषा निपुणं विधेयो
यस्तद्धितः प्रकृतिवृद्धिकरो यथाञ्णित् ।
सर्वां विलोपयति यः प्रकृतिं बत स्वां
धिग्धिक् किलेयत इवाऽस्य विधानसूत्रम् ।। ५१ ।।

नो धातुतोपहृतिकृत् प्रकृतेः स्वलोपे
सिद्धे परोऽपि य इहाऽऽगममाशु धत्ते ।
स प्रत्ययः क्विबिव साधुरथो पुनः स्वं
धिक् प्रब्रुवे बहुमिव प्रकृतीषदर्थम् ।। ५२ ।।

शत्रुर्यदा प्रतिदिनं परिवर्धमानः
सोऽवेक्ष्य एव विदुषा परमात्मवृद्धेः ।
शौर्येण केवलमरीन्विजिगीषते यः
शौवापदं चरितमस्य वदन्ति सन्तः ।। ५३ ।।

प्राकारकाननमहीधरधन्वभेद-
दुर्गाणि दुर्गमतराणि विधाय सद्यः ।
सञ्चीय तानि तृणधान्यजलादिभिर्यः
काले पराक्रममुपैति जयोऽस्य हस्ते[1] ।। ५४ ।।

सर्वात्मना नरपतिर्निजरक्षणार्थं
नित्यं भवेदवहितो नयतत्त्वविज्ञः ।
मूलं परं हि विभवस्य चिरेण जीवन्
निर्मूलमेव स खनत्यरिवृन्दमुच्चैः ।। ५५ ।।

एषोऽद्य मण्डपपतिस्तु कलिप्रभावाद्
वृद्धिं गतः प्रथमतोऽपि भवत्पुराणैः ।
उच्चैस्तरामपकृतो भृतभीमसैन्यः
सम्प्रत्यहो त्रिजगतीमपि जेतुमीशः ।। ५६ ।।

श्रुत्यर्थसारनिपुणोऽथ भवत्पुरोधा
यत्प्रोक्तवाँस्तदपि नैव मृषाऽद्य भावि ।
त्रैकालिकं सकलमेव विलोकयन्तो
नैतादृशा द्विजवरा वितथं ब्रुवन्ति ।। ५७ ।।

---

1 A कालं प्रतीच्छति निजं विजयोऽस्य हस्ते ।

न प्राकृतेव वनिताऽद्य सुसंस्कृता गी-
र्नीचान् प्रदर्शयति सौष्ठवमात्मनिष्ठम्[1] ।
एषा तु किन्तु विदुषा प्रभुणा त्वयोच्चै-
रासेविता कुलवधूरिव सौख्यहेतुः ।। ५८ ।।

तत्प्राप्तकालमधुना विनिवेदयामो
यामस्त्वया सह वयं नृप मण्डलाद्रिम ।
तत्र स्थिताश्च सुचिरं भृतराष्ट्रकोषा
जेष्याम आशु यवनान् यदि रोचते ते ।। ५९ ।।

इत्थं निशम्य सचिवोदितमेष भूपो
भ्रूभङ्गभीमवदनः किल जातकोपः ।
तूर्णं नवाम्बुधरधीरवचाः सुधीरः
स्वान् मन्त्रिणो नयविदो गदति स्म वाक्यम् ।। ६० ।।

युष्माभिरग्र्यमतिभिर्यदवादि वाक्यं
सत्यं नयोपनिषदर्थ उदार एषः ।
प्राणाँस्तृणीकृतवतां समरे भटानां
न्यायेन किं त्रिदिवराज्यसमुत्सुकानाम् ।। ६१ ।।

किञ्चाऽद्य वन्द्यतर एष उदारकीर्तिः
कूर्माधिराज-भुजगेश-सदृग्धुरीणः ।
हन्त प्रसूय किल मां निजजीवलुब्धं
किं वा वदिष्यति पुरन्दरमस्थिपालः ।। ६२ ।।

तन्मे मतं शृणुत **मण्डलनामशैलं**
यात द्रुतं मदवरोधजनं गृहीत्वा ।
नो तर्कयामि भवतो रणभूमिभीरून्
किन्त्वेवमात्मकुशलाय नियोजयामि ।। ६३ ।।

उच्चैरहं तु करवालसहायबाहु-
र्वृन्दावतीपरिसरे समरैकलुब्धम् ।

---

1 A another reading in the ms. is **न प्राकृतीव वनिता** (first line) and **सौष्ठवमात्मनीनम्** (second line).

यान्तं तु **मण्डपपतिं** तरसैव हत्वा
भोक्ता महीमथ हतोऽप्यमरावतीं वा ।। ६४ ।।

शौवापदं भवतु वा चरितं ममैतत्
क्षात्रं जनो वदतु वा नहि मेऽत्र रोषः ।
एतन्मतं तु मम मन्त्रिवराः शृणुध्वं
नैवाऽन्यथा भवितुमर्हति निश्चयेन ।। ६५ ।।

इत्थं निगद्य सचिवान् नृप**भारमल्लः**
सल्लक्षणः समरनिश्चितसाधुबुद्धिः ।
सांग्रामिकाणि सकलानि विधाय सज्जा-
न्युच्चैस्तरामथ रुषा परुषश्चकाशे ।। ६६ ।।

सच्चन्द्रहासरुचिरा कलितोरुबाणा
स्मेरायमानसुमनोनिवहं वहन्ती ।
श्री**भारमल्ल**नृपतेः सुचिरेण तस्य
सेना वसन्ततिलका शुशुभे वनीव ।। ६७ ।।

अथ प्रचण्डमण्डपप्रभुः सुभूरिरोषणः ।।
नृपं तमाययौ चमूं दधत् किलाऽप्रमाणिकाम् ।। ६८ ।।

धारावर्षं वर्षत्युच्चैः
सैन्याम्भोदे तौरुष्केऽस्मिन् ।
शस्त्रज्वाला विद्युन्माला
प्रादुर्भूता रेजे सद्यः ।। ६९ ।।

आलोक्य यावनं बलं
वृन्दावतीसमीपतः ।
आकृष्य चापमुच्चकै-
र्नाराचकं ववर्ष सः ।। ७० ।।

अहमहमिकया कृतप्रहारा
यवनचमूर्नृपभारमल्लबाणैः ।

सुचिरमनुचकार किंशुकालीं[1]
क्षतविगलद्रुधिराऽथ पुष्पिताग्राम् ।। ७१ ।।

संक्रुद्धा यवनचमूः प्रहर्षिणी सा
मुञ्चन्ती शरनिकरान् यमाग्रदूतान् ।
साहस्रान् समितिभटाँस्तु भारमल्ला-
नल्लासंस्मरणपरा[2] रणे जघान ।। ७२ ।।

रोषोत्कर्षकषायितेक्षणयुगेनाग्नेयमस्त्रं क्षिपन्
भिंदानो वरकुम्भिकुम्भयुगलं कोदण्डमुक्तैः शरैः ।
पादोत्तारमसौ विहीनपृतनो निघ्नंस्तुरुष्कान्बहून्
बुन्दीशः समरे रराज रचयञ्छार्दूलविक्रीडितम् ।। ७३ ।।

संग्रामाग्रप्रयागे प्रसृमरयवनान् पापसङ्घानिवोच्चै-
र्हत्वा सन्मार्गणौघैर्विमलतरलसत्खड्गधाराम्बुतीर्थे ।
सम्यक् स्नात्वाऽथ सद्यस्त्रिदिवमुपगता भारमल्लीयमूर्ति-
र्दिव्यस्त्रैणप्रकीर्णामरतरुकुसुमस्रग्धरा सा व्यराजत् ।। ७४ ।।

अथ यवननृपः सगरेनिष्कृपः
प्रहतपरबलः संमदेनोत्कटः ।
दधदतिमहतीं हन्त वृन्दावतीं
निजकरवशगां स क्षमां स्वामगात् ।। ७५ ।।

योऽनर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवैद्यनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्यसुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते बुन्द्यां तुरुष्कोदयः ।। ७६ ।।

(इति श्रीविश्वनाथकृते महाकाव्ये श्रीशत्रुशल्यचरिते बुन्द्यां तुरुष्कोदयः पञ्चमः सर्गः ।।)

---

1 A सुचिरमनुजहार किंशुकालीं ।
2 A नल्लासंस्मृतचरणा ।

॥ षष्ठः सर्गः ॥

अथ तत्तनुजोऽद्रिमण्डले
नृपनारायणदासनामकः ।
पितुरेष निशम्य वैशसं
सुनृशंसाद्यवनाद्रुषं दधौ ॥ १ ॥

अरुणायितकोणलोचन-
स्तरुणाम्भोजरुचिं हरन्नयम् ।
विजयाय मनो दधे हठा-
दपि पौगण्डवयोविभूषितः ॥ २ ॥

सचिवाः किल नाऽनुमेनिरे
मतमेतस्य पराञ्जिगीषतः ।
अबलस्य बलोद्धतांश्चिरा-
दसहायस्य सहायसंयुतान् ॥ ३ ॥

असकृत्सचिवाब्धिसंवृतः
किल तस्योद्धतकोपवाडवः ।
जगतीमपि निर्दहन् क्षणात्
परिजज्वाल हृदन्तरेव सः ॥ ४ ॥

ज्वलनं स्फुरदुग्रकोपजं
चिरमन्तर्हृदयं वहन् परम् ।
वरवीरसुतः स पञ्जरे
वशितः सिंह इवाऽऽस तत्क्षणम् ॥ ५ ॥

यवनौघवनोल्लसद्दवं
सुचिरं क्षामतनुं किलाऽऽविना ॥
अगदत् समयोचितं वचो
वरखैराडभटोऽथ तं सखा ॥ ६ ॥

न सखे कुरु खेदमुच्चकै-
र्न हि शोचन्ति कदापि मानिनः ।

असखः कथमुद्धतान् परान्
प्रभविष्यस्यभिहन्तुमेककः ।। ७ ।।

अथ तं स जगाद भूपति-
र्न सखे चण्डकरं किमीक्षसे ।
असखस्तिमिराणि हन्ति यद्
वद तत्कोऽस्य सहायताङ्गतः ।। ८ ।।

बलकालविचारचुञ्चुरो
नयमार्ग स्तु परं हि भीरुता ।
अथ तं नु कथं भवादृशो
वरवीरोऽनुसरोत्यहो चिरम् ।। ९ ।।

(इति दुर्द्धरशौर्यसंश्रयां
गिरमाकर्ण्य वसुन्धरापतेः ।।
जगदे निरुपाधिसौहृदा—
दथ खैराडभटेन भारती ।। १० ।।[1]

प्रथमस्तु सहाय एष ते
भुजदण्डः परदर्पखण्डनः ।
असिरेष परोऽद्य ते सखा
चरमं मां समरे विदाङ्कुरु ।। ११ ।।

अथ शैशव एव लाघवं
धनुषः शिक्षितमस्ति तत् त्वया ।
अपि संमुखगं किरीटिनं
समरे येनलघूकरिष्यसि[2] ।। १२ ।।

अनुयुक्त उदारधीस्तु यत्
तव पित्रा स पुरोहितोऽवदत् ।
तदभून्मम कर्णगोचरं
वचनं तच्छृणु सादरं सखे ।। १३ ।।

---

1 Mss. mentions for this verse—"कल्पितं पद्यम्" ।
2 Early reading is लघूकरिष्यते ।

यवनाऽम्बुनिधौ निमज्जत—
स्तव पुत्रः स्मृतरक्तदन्तिकः ।
स विधाय रणे स्वकं भुजं
वरसेतुं किल तं तरिष्यति ।। १४ ।।

तदहं भवतस्तु साम्प्रतं
बहु मन्ये जयदं रणाङ्गणे ।
उपबुन्दि **सुतीर्थनामके**
नगरे संस्तुहि **रक्तदन्तिकाम्** ।। १५ ।।

प्रणतिस्तुतितोषिताऽथ सा
भवते दास्यति तं वरं क्षणात् ।
सबलानपि मत्सखो भवान्
समरे येन परान् हनिष्यति ।। १६ ।।

इति तद्वचनाऽमृतं परं
प्रणिपीय प्रमदं परं दधत् ।
सह तेन **सुतीर्थनामके**
परितुष्टाव स रक्तदन्तिकाम् ।। १७ ।।

चरणौ तरुणाम्बुजारुणौ
हृदयेऽहं कलये सदैव ते ।
अणुमात्रमपीह यद्रजो
गरिमाणं तनुते शिरोधृतम् ।। १८ ।।

वदने तव देवि दाडिमी-
कुसुमाभारदतो[1] वदंत्यमी ।
भुजदर्पं विमूढदानवा
इति ताम्बूलवदाशु चर्विताः ।। १९ ।।

अरुणायितकोणया दृशा
ननु भस्मीकुरुषे द्विषद्गणम् ।

---

1 Mss. कुसुमामारदता

स्वकरे करवालमुच्चकै-
र्बिभृषे मण्डनमेव चण्डिके ।। २० ।।

प्रकृतिं सगुणां गृणन्ति य-
ज्जगतस्त्वां श्रुतयः पुरातनीम् ।
मम तन्न मतं यतो गुणा—
नतिशेते भवती स्वकर्मभिः ।। २१ ।।

भवतीं भवतीव्रतापत-
श्चकिता भक्तवरा भजंति यत् ।
तदहं पितृदुःखवह्निना
परितप्तः शरणं द्रुतं गतः ।। २२ ।।

इति संततमेष संस्तुवन्
नृपनारायणदासनामकः ।
विजयस्व परान् रणाङ्गणे-
ष्विति देव्या जगदे प्रसन्नया ।। २३ ।।

अथ सोऽधि गताऽम्बिकावरः
सह **खैराडभटेन** भूमिपः ।
प्रययौ नगरीं गरीयसीं
वर**बुन्दीं** यवनैर्वशीकृताम् ।। २४ ।।

सुदतीजनपाणिपल्लवै—
रपि संवाहितमाप यच्छ्रमम् ।
समखिद्यत नाऽस्य तत्पथा
किल पादाम्बुरुहं दवीयसा ।। २५ ।।

पथि मञ्जुलकोकिलारवैः
स्मरवैदग्ध्यकलामनोहरैः ।
अवरोधवधूस्वरं स्मरन्
क्षणमुत्कर्णित आस भूमिपः ।। २६ ।।

दधतां मधुपानजं मदं
रमणीभिः कृतकोमलश्रुति ।

अश्रृणोन्मसृणं स भूपति-
र्भ्रमराणां वरगीतमध्वनि ।। २७ ।।

सरसीं सरसीरुहेक्षणां
द्रुतमापृच्छ्य निजां प्रियामिव ।
पतिधर्मरतोऽनुकूलगः
पवनो भृत्य इवाऽभजन्नृपम् ।। २८ ।।

यवनैरवनीं वशीकृतां
द्रुतमुद्धर्तुमसौ समुत्सुकः ।
नुनुदे क्षणमध्वज श्रमं
वरशाखानगरेऽथ तस्थिवान् ।। २९ ।।

समयोचितमूचिवान् वचः
स सखायं समरैककोविदम् ।
अयि चिंतय केन वाऽधुना
व्यपदेशेन विशेम सत्पुरीम् ।। ३० ।।

अथ तं स जगाद कोविदो
वरखैराडभटो भटोत्तमः ।
विनयात् कपटेन सत्कृतान्ननु
कोऽन्योऽस्ति नयः सुखप्रदः ।। ३१ ।।

कपटेन विधाय वामनीं
स्वतनुं सोऽपि मुरं किल द्विषन् ।
विनयेन विशँस्तदन्तिकं
बलिनं हन्त बलिं वशेऽकरोत् ।। ३२ ।।

अथ भीष्ममुखा भटोत्तमाः
समरे पाण्डुसुतैर्यथा हताः ।
विदितं भवताऽपि तत्तथा
वद धर्म्योऽत्र नयोऽस्ति कश्चन ।। ३३ ।।

अचिरादुचितस्तवाऽपि तत्
कपटेनैव विपक्षसंक्षयः ।

नहि दृप्तरिपून् विनिघ्नतः
कथितो जात्वपि धार्मिको रणः ।। ३४ ।।

जहि किञ्च बलोद्धतान्परा-
नहमस्मि स्वजनैस्तिरस्कृतः ।
व्यथितो निजरक्षणाय वः
सविधं प्राप्त[1] इतिच्छलं वदन् ।। ३५ ।।

द्विषतो निजिघांसुरुच्चकै-
र्न बिलम्बं विदधीत कोविदः ।
ननु कर्म चिरं कृतं सखे
दृढमुत्साहबलं निकृन्तति ।। ३६ ।।

इति तस्य भटस्य नीतिम-
द्वचनं साधु निशम्य पार्थिवः ।
पवनैधितवह्निवत् क्षणात्
परिजज्वाल स शौर्यतेजसा ।। ३७ ।।

नवनीरधरोद्धुरध्वनि-
र्विलसन् कोकनदायितेक्षणः ।
भ्रुकुटिद्वयभीषणाननो
यमदण्डोपमबाहुभीषणः ।। ३८ ।।

समदद्विरदेन्द्रमन्दया
निजगत्या नमयन् महीतलम् ।
कृतवान् निजगोपनं तदा
भटखैराडमतेन भूमिपः (युग्मम्) ।। ३९ ।।

जलदैरिव संवृतो रविः
पिहितो हन्त शिखोव भस्मभिः ।

---

1 Earlier Mss. reading is—रचितुं भवतामुपाश्रयं सविधं प्राप्त (इतिच्छलं वदन्) ।

कपटैः पटुनिर्मितैरसौ
परिगुप्तः शुशुभे भटोत्तमः ।। ४० ।।

अथ तस्य पुरीं प्रवेक्ष्यतो
वरकर्मा किल दक्षिणो भुजः ।
स्फुरणेन शशंस सङ्गरे
विजयश्री-सुदृढाङ्कपालिकाम् ।। ४१ ।।

नगरीं विशतोऽस्य सारसैः
सरसैः श्रेण्यनुबन्धबन्धुरैः ।
कृतमञ्जुलकाकलीरवै-
र्विदधे तोरणमालिका क्षणात् ।। ४२ ।।

मृगया-समुपागतं रिपुं
जहि शीघ्रं रहसि स्थितं निजम् ।
विजये समयः शुभः क्षणा-
दिति दिव्यां स गिरं किलाऽशृणोत् ।। ४३ ।।

कृतसंवरणश्चिरादपि
प्रसरन् साहजिकः प्रभागणः ।
अकरोत् किल तस्य नागरा-
ञ्जनसंघानतिविस्मयान्वितान् ।। ४४ ।।

तरणिर्धरणीमुपागतः
किमयं हन्त पुरन्दरोऽथवा ।
अवनीमवितुं श्रयन् वपुः
किमु देवो दितिजान्वयान्तक. ।। ४५ ।।

अथवीररसो नु मूर्त्तिमा—
नवतीर्णो बत कोऽपि साम्प्रतम् ।
इति संशयमुग्धमानसं
तमवैक्षिष्ट जनः स नागरः ।। ४६ ।।

(युग्मम्)

---

42 This varient Mss. reading is श्रेणिसुबन्धबन्धुरैः ।

अथ राजगृहं विशन् रिपुं
मृगयँस्तं मृगयागतं नृपः ।
समरोपपदं स कन्दकं
भटगोपं प्रददर्श यावनम् ।। ४७ ।।

वरवेत्रधरैरलक्षितौ
विलसत्खड्गधरौ सुशिक्षितौ ।
यवनस्य सुदृप्यतो गृहाञ्-
छनिराहू इव तौ समीयतुः ।। ४८ ।।

समरोपपदं सकन्दकं
किल विश्रब्धमतिं रहःस्थितम् ।
अवधीदवधीरयँस्तदा
धृतखड्गेन करेण वक्षसि ।। ४९ ।।

अथ तस्य कराम्बुजे लसन्
स कृपाणस्तरसा विभिद्य तम् ।
वर शैलशिलां व्यदारय-
द्यवनश्रीकदलीवनीमिव ।। ५० ।।

यवनस्य समुद्यतान् भटान्
युधि खैराडभटः स कालयन् ।
पतिधर्मरतो दिवं ययौ
नृपनारायणसात्कृतक्षितिः ।। ५१ ।।

यवनीयवनीं दहन्नयं
नृप **नारायणदास** उच्चकैः ।
निजराजपदे निवेदितान्
कृतवान् ज्ञातिभटान् क्षणाद् वशे ।। ५२ ।।

कुतुरुष्कगभीरवारिधे-
र्वरबुन्दीं नगरीं महीमिव ।
धृतकोलतनुः समुद्धरन्
वनमालीव जनैरवन्दि सः ।। ५३ ।।

अथ तीर्थहृताऽम्बुसम्भृतैः
प्रवरैः काञ्चनभद्रकुम्भकैः ।
श्रुतिविद्द्विजमन्त्रमन्त्रितैः
पुरलोकैद्रु तमभ्यषेचि सः ।। ५४ ।।

अधिगत्य स पित्र्यमासनं
नरदेवश्चिरनन्दितप्रजः ।
विदधद् बलकोषसंग्रहं
सकलं भूवलयं वशेऽकरोत् ।। ५५ ।।

जनतासु नतासु भासुरः
क्षितिसूरः स निवारयँस्तमः ।
विकलं कलितामसीवशा-
दुदयन् धर्ममपूपुषत् क्षणात् ।। ५६ ।

वलयं रमितं भुवश्चिरं
सदिगादेशितमिष्टसंहितम् ।
दधतोऽस्य मृषा कथं भवे-
न्ननु नारायण इत्यहो प्रथा ।। ५७ ।।

स महीं महनीयविक्रमो
रिपुहीनां रचयन् निजाऽसिना ।
अधिबुन्दि लसन्सुमण्डपा-
चलभर्तुश्श्रुतिगोचरङ्गतः ।। ५८ ।।

समरोपपदञ्च कन्दकं
छलतो हन्त हतं निशम्य सः ।
यवनाम्बुधिरुच्चकै रुषा
प्रविचुक्षोभ जगज्जिघत्सया ।। ५९ ।।

अथ मण्डपराट् स हव्यवाट्
यवनालीपवनैधितः परम् ।
अनुबुन्दि चमूशिखाछटाः
प्रजिघाय द्विषतो दिधक्षया ।। ६० ।।

स नृपो रणकर्मकोविदः
प्रकटीकृत्य परं शरासनम् ।
यवनोग्र-बलोद्धतानलं
शरवर्षैर्घनवद्व्यशीशमत् ।। ६१ ।।

घनकूर्च्चमिषेण बिभ्रतो-
ऽमृतलुब्धं किल सिंहिकासुतम् ।
करवालनिकृत्तयावना-
ऽऽननचन्द्राः प्रणिपेतुराहवे ।। ६२ ।।

अधिसङ्गररङ्गमुज्जगौ
क्षतजोन्मत्तपिशाचसञ्चयः ।
अतिकृत्त-कबन्धसंहति-
र्यवनानां प्रननर्त सन्ततम् ।। ६३ ।।

युधि तस्य नृपस्य दारुणैः
शरवर्षैर्विधुराऽथ यावनी ।
पृतना हतनायका क्षणाद्-
धरिणालीव भयाद् व्यदुद्रवत् ।। ६४ ।।

अथ साऽपसृताऽऽशु यावनी
पृतना गौरिनृपं व्यजिज्ञपत् ।
स भटो युधि देवदानवै-
र्न विजेयः किमु मानुषैरिति ।। ६५ ।।

अथ कोपगभीरवारिधौ
स निमज्जन् यवनक्षितीश्वरः ।
चतुरङ्गबलं तु सज्जयन्-
नभिचक्राम शुरभूदरिं प्रति ।। ६६ ।।

यवनाधिपतेरभिक्रमं
स्पशवक्त्रात् स निशम्य पार्थिवः ।
स्वयमेव जगाम निर्भयो
धृतखड्गः किल मण्डपाचलम् ।। ६७ ।।

रिपुसङ्घविघातनोद्धतं
करवालं कलयन् स्वके करे ।
भटनर्मदनामकोऽन्वयान्-
नृपनारायणदासमग्रजम् ।। ६८ ।।

अतितुङ्गतयाऽथ रोदसी
परमाहृत्य विभान्तमुच्चकैः ।
द्रुतमेत्य नृपः स **मण्डपं**
प्रययौ द्वारभुवं स्वविद्विषः ।। ६९ ।।

वरवर्मसमावृताङ्गकाञ्-
छरकोदण्ड-समुल्लसत्करान् ।
स ददर्श परस्य तान् भटान्
यवनेशप्रतिहारसन्निधौ ।। ७० ।।

असिमात्रसहाय उच्चकै-
र्गतभीरेव नृपोऽथ सत्वरम् ।
वरवेत्रभृतो न्यवीविद-
न्निजनाम प्रथितं जगत्त्रये ।। ७१ ।।

प्रतिहारभुवं समागतो
नृपनारायण एष वो द्विषन् ।
इति ते प्रणिपत्य यावनं
क्षितिपं वेत्रभृतो न्यवेदयन् ।। ७२ ।।

दिनकृत्कुलसम्भवो भटः
स्वयमेको यदि तत् प्रवेश्यताम् ।
इति वेत्रधरान् मुदायुतौ
यवनेशः स जगाद सम्भ्रमात् ।। ७३ ।।

अथ तस्य सभां सभाजितां
यवनौघैः शित-शस्त्र-पाणिभिः ।
अचिरादवधीरयञ्छ्रिया
सकनीयान् स भटोत्तमोऽविशत् ।। ७४ ।।

तरुणारुणपङ्कजेक्षणो
वदनश्रीजितचन्द्रमण्डलः ।
अतिजानुगबाहुबन्धुरो
घनवक्षा वरपीवरांसकः ।। ७५ ।।

कटिबद्धकृपाणमामृशन्
सततं ज्याकिणधारिबाहुना ।
दृढकृष्टकठोरकार्मुकं
विधुनानोऽतिरणत्सु किंकिणि ।। ७६ ।।

जगतीमिव भर्त्सयन्
हठादभिमानेन मुहुर्महीयसा ।
सवितेव नवग्रहेष्वयं
यवनौघेषु बभौतरां चिरात् ।। ७७ ।।
(त्रिभिर्विशेषकम्)

अथ मण्डपराड् विलोक्य तं
जगती-मण्डल-मण्डितं भटम् ।
भयविस्मयमुग्धमानसः
समभूच्चित्र इवार्पितःक्षणात् ।। ७८ ।।

यवनाधिपतिर्गभीरधी-
द्रुतमाकारसुगुप्तिकोविदः ।
हृदये बहु मानयन् रिपुं
चतुरं वाक्यमुवाच तं नृपम् ।। ७९ ।।

तव वीर वरेण कर्मणा
द्रुतमस्मि प्रमदं वहन्नहम् ।
अभयं वितरामि ते मया
सह सख्यं यदि संश्रयिष्यते ।। ८० ।।

चतुरं वचनं निशम्य तत्
यवनेशस्य स भारमल्लजः ।

सुचिरं हृदि चारु चिन्तयन्-
नगदन्मण्डपनाथ-मोमिति । ८१ ॥

समयेऽथ शुभे शुभाऽऽकृतिं
यवनेशो गजवाजिराजिभिः ।
परिपूज्य चकार तं भटं
वरमित्रं निजमर्कवंशजम् ॥ ८२ ॥

अथ तत्सखितापदं वहन्
नृपनारायणदास उच्चकैः ।
स्वरिपुं सहजं हि षट्पुर-
क्षितिपं सोऽक्षयराजमव्रजत् ॥ ८३ ॥

समरे तु गरिष्ठमोजसा
वयसा स्वस्य कनिष्ठमुत्तमम् ॥
भटनर्बदमाह पार्थिवः
प्रणयेनैव वचः स धर्मवित् ॥ ८४ ॥

अयि वत्स भवाँस्तु सत्वरो-
ऽक्षयराजाय सु-षट्पुरं व्रजन् ।
परिबोधयतु द्रुतं वचो
मम गम्भीरतरं स्पशोभवन् ॥ ८५ ॥

धरणीं यदि भोक्तुमिच्छसि
त्वरितं तद्वितराऽद्य षट्पुरम् ।
अथ कामयसे दिवः पदं
तदिदानीं रणसम्मुखो भव ॥ ८६ ॥

इति सोऽग्रजलब्धशासनः
प्रययौ षट्पुरमाशु नर्बदः ।
जवनं पवनैकजित्वरं
हयमारुह्य विमोहयन् परान् ॥ ८७ ॥

परिखावलयेन वैरिणा-
मवरुन्धत् प्रसरं सुदृप्यताम् ।
प्रददर्श स षट्पुरं पुरं
प्रवरं भूमिपुरन्दरानुजः ।। ८८ ।।

अथ सोऽक्षयराजमन्दिरं
प्रविशन्नाह गभीरया गिरा ।
त्वरितं वितराऽद्य षट्पुरं
यदि भोक्तु धरणीं समीहसे ।। ८६ ।।

अथ तद्वचनानिलैधितं
निवहन् रोषकृशानुमुच्चकैः ।
चतुरङ्ग-बलं स सज्जयन्
समरायैव मनो दधे हठात् ।। ६० ।।

अभिधावदिभार्वसैनिकोद्धत-
धूलीभरधूम दर्शनात् ।
रविवंशजसैन्यपावकं
पुरतः सोऽनुममे समागतम् ।। ६१ ।।

मुखरं श्रुतिलङ्घनोद्यतं
धनुरास्फाल्य शरान् प्रवर्षतोः ।
रविवंशजषट्पुरेशयो-
र्ववृते तत्र यमप्रियो रणः ।। ६२ ।।

दृढकृष्टधनुःसमुल्लसत्-
पटुटङ्काररवैर्खैज्जन ।
रिपुवंशवनीं विकर्तना-
ऽन्वयवीरो दहतीति सत्वरम् ।। ६३ ।।

दृढचर्मविराजिसत्फणं
वरवर्मोद्धतचारुकञ्चुकम् ।

करवाललताशरोल्लसद्-
द्विरसज्ञं परमर्मदंशकम् ।। ९४ ।।

शितशस्त्रविषानलार्चिषः
प्रवमन्तं वरषट्पुरेशितुः ।
प्रबलं बलभोगिनं क्षणात्
स भटो विष्णुरथोपमोऽवधीत् ।। ९५ ।।

(युग्मम्)

दिनकृत्कुलसंभवोल्लस-
द्भटदोर्दण्डकृपाणिका मुहुः ।
अहितग्रसनेऽतिकोविदा
प्रदिदीपे युधि कालिकेव सा ।। ९६ ।।

क्षतशत्रुभटाङ्गकक्षरत्-
क्षतजोद्यद्बहलापगाम्बुभिः ।
सुभगीरथवन् निजं यशो-
जलधिं तुन्दिलयाञ्चकार सः ।। ९७ ।।

अथ सोऽक्षयराजनामकः
सुमहाबाहुजवंशजोऽपि सन् ।
चकितोऽपससार तस्य तु
स्थिरमासीदयशो रणाङ्गणे ।। ९८ ।।

कृपणं हरिणप्लुतैः क्षणाद्-
रणतो विद्रुतमात्मवैरिणाम् ।
न नृपोऽनुययौ स धर्मविन्-
न हि धावन्ति भटा रणोज्झितान् ।। ९९ ।।

तरसा स विजित्य शात्रवान्
यशसा स्वेन विभूष्य भूतलम् ।
मगधैः परिगीतविक्रमो
नगरीं स्वां प्रययौ पुनर्नृपः ।। १०० ।।

द्रुतमाहतदुन्दुभिध्वनि-
र्नृपतेरस्य पुरीं विविक्षतः ।
उपबुंह्यचलानुशब्दितैः
पुनरुक्तीकृत आनशे दिवम् ।। १०१ ।।

नगरीं विशतोऽस्य नागरी-
निवहः स्वेक्षणचारुनीरजैः ।
असकृद्विदधे समर्हणां
नृप-नारायणनाम्न उच्चकैः ।। १०२ ।।

भवनं भवनन्दनोपमो
हरशैलोपमसौधसुन्दरम् ।
अविशन्मणिकुड्यभासुरं
वरचामीकरकान्तिबन्धुरम् ।। १०३ ।।

अथ तां नगरीं गरीयसी-
मधितिष्ठन् सुगरिष्ठविक्रमः ।
शुशुभेऽतितरां निजश्रिया
स मरुत्वानमरावतीमिव ।। १०४ ।।

वसुधां वसुधामधृङ् नृप-
श्चरितैः स्वैर्जगतां मनोहरैः ।
दिवमिन्दुरिवोच्चकैरल-
ङ्कृतवान् भूतलजातसत्प्रथः ।। १०५ ।।

रणजव्रणदारुणव्यथा-
विधुरांगो धरणीधुरां वहन् ।
अशयिष्ट किलेष भीष्मवत्
स शरप्रायनिवेशने नृपः ।। १०६ ।।

द्रुतमुच्चितया मलीमसं
निजशासा परवक्त्रवारिजम् ।

विदधन्मुहुरर्कवंशजो
बत भास्वानिव सोऽस्तमाययौ ।। १०७ ।।

क्षितितलभरं वारं वारं निवार्य निजौजसा
यवनवशितं राज्यं प्राज्यं विधाय निजे करे।
अहितहरिणीनेत्रानेत्रावलीवरतस्करो
द्रुतमलभतोदारां नारायणो गतिमुच्चकैः ।। १०८ ।।

इति विश्वनाथकविविरचिते शत्रुशल्यचरितमहाकाव्ये
नारायणदासवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः

।। सप्तमः सर्गः ।।

अथ सूर्यमल्ल इति तस्य सुता
जनतोषकृत् समभवन्नृपतिः ।
करतेजसा परतमोनिवहं
शमयन् परं विमलयन् हरितः ।। १ ।।

परिपन्थिसिन्धुरसमूहहरि-
र्जगदेकवीर उरुबाहुबलः
प्रथमे वयस्यधिगतं स पितुः
पदमात्मसादकृत साधु नयैः ।। २ ।।

(इतः परं तृतीयपद्यादारभ्य षोडशपद्यपर्यन्तं चतुर्दश
पद्यानि आदर्शपुस्तके न लभ्यन्ते । द्वितीय
पद्यानन्तरं सप्तदशतमं पद्यं प्राप्यते ।)[1]

नृपसूर्यमल्लशरकृत्तरिपु-
प्रकरैर्विभिद्य हृदयं द्युगतैः ।
व्रणितः स रावणसुतारिसख-
स्तरणेः समीरणसुतः शरणम् ।। १७ ।।

इति तं निहत्य वरषट्पुरपं
युधि सूर्यमल्लनृपतिस्तरसा ।
दयया युतस्तनुजमस्य वरं
स चकार षट्पुरसुदेशपतिम् ।। १८ ।।

---

1. The Ms does not contain Verses 3 to 16 in it, and just after Verse 2, Verse No. 17 is written by the scribe and numbered as 17. on folio 49 a.

शरदिन्दुसुन्दरयशोविततं
दधदातपत्रमथ सूर्यनृपः ।
प्रमदोल्लसज्जनपदां स्वपुरीं
प्रययौ द्रुतं मगधगीतगुणः ॥ १९ ॥

विषये चिरादहिभयं प्रहरन्
प्रहसन् रसातलपतिं स बलिम् ।
विधिवच्छशास जनता विनता
विनतासुतप्रतिमबाहुबलः ॥ २० ॥

नृपतिः (स पुण्य)[1] जनराष्ट्रधरो
वरराजराजपदवीसहितः ।
समशात् प्रमोदितशिवः स्वपुरीं
चिरमुत्तरामिव दिशं धनदः ॥ २१ ॥

वररत्नसिंहधरणीरमण-
द्युमणेस्तृणीकृतसुराधिपतेः ।
स नृपः स्वसारमथ सारतनू-
मुदुवाह बाहुजकुलैकभटः ॥ २२ ॥

विरहन् रहः समतयाऽथ तया
रुचिरेषु केलिविपिनेषु नृपः ।
नृपरत्नसिंहनिगृहीतमरं
किल षट्पुरेशतनयं श्रुतवान् ॥ २३ ॥

अथ रत्नसिंहभगिनीरमणः
स नृपः स्वयं किल मुमोचयिषुः ।

---

1 The Ms is soiled after नृपतिः and before जन. We have restored (स पुण्य-) which should be the proper reading.

वरसादिनां दशशतीसहितो
रणरङ्गतुन्दिलबलः[1] प्रययौ ।। २४ ।।

अथ रत्नसिंहनृपतिं छलिनं
बहुमानितं भरतवर्षनृपैः[2] ।
अपराजितां शरदि पूजयितुं
प्रययासुमैक्षत स सूर्यनृपः ।। २५ ।।

सुरराजसिन्धुरसमं करिणं
तरसाऽधिरुह्य जवतो व्रजतः ।
नृपरत्नकस्य किल पृष्ठगतं
स ददर्श षट्पुरपतिं वशितम् ।। २६ ।।

यदपि प्रभूतरणभीमभटैः
सहितस्तथापि किल सूर्यभटः ।
स्वयमेक एव हरिवन् निपतन्
द्रुतमारुरोह नृपरत्नगजम् ।। २७ ।।

नृपराणकः स्वगजपृष्टगतं
स्वनिदेशवाक्यमवमत्य हठात् ।
नृपसूर्यमल्लमवलोक्य रुषा
पुटपाकवद्धृदि तताप चिरात् ।। २८ ।।

अपराजिताचरणपूजनतः
स निवर्तमानत उदारबलः ।
नृपरत्नसिंहगजतः स्वगजं
द्रुतमानिनाय किल षट्पुरपम् ।। २९ ।।

अथ रोषशोणनयनद्वितयं
भ्रुकुटिद्वयोत्कटललाटतटम् ।

---

1 The Ms has in the fourth line रणारङ्गतुन्दिलबलः which has been corrected as above.

2 Earlier reading in the Ms is. बहुमानितं प्रवरहिन्दुनृपैः ।

नृपरत्नसिंहमवलोक्य भटः
प्रमिताक्षरां गिरमुवाच पटुम् ।। ३० ।।

क्षोणीनायकवन्दिताङ्घ्रियुगलस्त्वं[1] राणवंशोत्थितो
(नैनं)[2] सन्निगृहीतुमर्हसि सुधीरेवं किलच्छद्मना ।
इत्थं प्रौढतरं वदन् पटुरटद्भेर्यानकौघः क्षणाद्-
बुन्दीशः सह तेन मन्दमगमद् वृन्दावतीं वन्दिताम् ।। ३१ ।।

सुदृप्यद्द्विषद्वृन्दसंवर्तकर्ता
स वैकर्तनोदारवंशावतंसः ।
महीमण्डलीमण्डिताखण्डलस्तं
पुनः षट्पुरप्राज्यराज्येऽभ्यषिञ्चत् ।। ३२ ।।

अथ प्रस्फुरन्मत्सरो रत्नसिंहो
विधायावहित्थां मृगव्याऽपदेशात् ।
प्रयातो द्रुतं चन्द्रदुर्गोपकण्ठं
नृपं सूर्यमल्लं क्षणादाजुहाव ।। ३३ ।।

प्रकृत्या गभीरं नृपं सूर्यमल्लं
समायान्तमालोक्य मायाधरोऽसौ ।
मुहुः सूनृतालापपूजोपहारै-
र्द्रुतं हन्त विश्वासयामास भूयः ।। ३४ ।।

भटेनैष खींचीकुलीनेन पापं
रहः किञ्चिदामन्त्र्य राणाकुलीनः ।
मृगाखेटलक्ष्येण मन्दाक्षहीनो
ययौ काननं श्वापदाकीर्णमुच्चैः ।। ३५ ।।

---

1 v.r. हिन्दूभूपति वन्दिताङ्घ्रियुगलः etc.
2 The reading (नैनं) has been restored by us as the Ms is soiled and first two syllables of the second line are invisible.

पुमांसं मृग तं जिघांसू उभौ तौ
त्रिलोकीविजेत्राञ्छरास्त्रान्(?)दधानम्[1] ।
नृपं सूर्यमल्लं मुहुर्याचमानौ
कथञ्चित् ततो द्राविषू अग्रहीष्टाम् ॥ ३६ ॥

अथैकं शरं बिभ्रतं तं नृपालं
द्रुतं स्थापयन्नेकतो रोद्धुमेणान् ।
भटं खींचिजं सम्मुखे तस्य कुर्वन्
स्वयं निर्ययौ सोऽनुवातायु सद्यः ॥ ३७ ॥

स सङ्केतितः खींचिजन्माऽथ शूरः
समाकर्ण्य राणेशहुङ्कारशब्दम् ।
बलात् कुण्डलीकृत्य कोदण्डमुच्चैः
शरं प्राहिणोत्सूर्यमल्लं निहन्तुम् ॥ ३८ ॥

सपत्राकृतः पत्रिणा तस्य वक्ष-
स्यथो सूर्यमल्लः क्षणाल्लब्धसंज्ञः ।
छलाम्रेडितक्रोधचण्डप्रतापो
निशान्तं निनायेषुणा तं यमस्य ॥ ३९ ॥

परावर्तमानं हतं मन्यमानं
रिपुं रत्नसिंहं परं श्लाघमानम् ।
मृगः साधु राजन् हतः साम्प्रतं तत्
गृहं याहि जीवन्नसावित्यवादीत् ॥ ४० ॥

ततस्तद्गिरा जातकोपः स पापो
नृपो रत्नसिंहः परावर्तिताश्वः ।
विधुन्वन् स्वपाणौ कृपाणीं
विकोषां हठादभ्यधावद्भटं तं निहन्तुम् ॥ ४१ ॥

---

1 The reading शरास्त्रान् दधानम् is grammatically wrong, as अस्त्र is neuter in gender. Better expression would be शरास्त्रं दधानम्, where it would be जातावेकवचनम् । Hence second line should read 'त्रिलोकीविजेत्रं शरास्त्रं दधानम्' ।

स्वदोर्दण्डकण्डूमदान्धम्भविष्णुं
नृशसं स तं जत्रुदेशे गृहीत्वा ।
समाकृष्य कट्टारिकां मूर्च्छितोऽपि
प्रसह्याऽच्छिनत्तस्य हृन्मर्म सद्यः ।। ४२ ।।

भुजङ्गप्रयाताऽतिजिह्मः स राणा-
कुले पांसनः पापकृद्रत्नसिंहः ।
स्वकर्मानुरूपांद्रुतंसिद्धिमश्नं-
स्तुरङ्गादरङ्गामयासीत् क्षणेन ।। ४३ ।।

ओजसा साञ्जसा स्वेन सारेण तं
दारयित्वा रणे हन्त राणेश्वरम् ।
तस्थिवान् भूतलस्थस्य तस्योपरि
श्रीनृसिंहो यथा दैत्यराजोरसि ।। ४४ ।।

तौ नृवीरावुभौ सूर्यराणान्वयौ
यद्यपि स्वर्गतौ सार्धमेव क्षणात् ।
अप्सरोभिः कृतां स्रग्विणीं स्वां तनू
सूर्यमल्लो दधे किन्तु रेजेतराम् ।। ४५ ।।

गतोऽपिमूर्च्छां स भटो जघान यद्-
द्विषन्तमेकोऽत्र किमद्भुतं नवम् ।
दिनेशवंशस्थमहीभृतामसौ
स्वभावसिद्धा ननु वृत्तिरीदृशी ।। ४६ ।।

वीर्यान्नारायणीयाद्यदि स मदुदरं प्राप्य जातोऽस्ति वीर-
स्तर्ह्येको नो मरिष्यत्यनृतमिदमथो तन्न वो नाथ एषः ।
इत्थं या प्रत्यषेधत् समनुजिगमिषूः स्वा वधूः पुत्रमेकं
नष्टं संशृण्वती सा जगति विजयते तस्य माताऽद्य खेतुः[1] ।। ४७ ।।

अस्याऽभूत्सुरताणनामकसुतो दुर्दैवतोऽसौ चिरा-
दुन्मादी न शशाक शासितुमलं पित्र्यं विचित्रं पदम् ।

---

1 Earlier reading in the Ms of the last line is संशृण्वन्ती प्रणष्टं....साऽस्य माताऽद्य किन्तु ।

वृद्धा मन्त्रिगणा निमङ्क्ष्यदचिरात्प्रत्यर्थिवारांनिधु
राज्यं हन्त विलोक्य मन्त्रममलं चक्रुर्हितार्थं भुवः ।। ४८ ।।

किङ्कर्तव्यविमोहदूनमनसः सम्मन्त्रयन्तो मुहु-
र्दिव्यं वागमृतं क्षणेन निपपुः कर्णेन ते मन्त्रिणः ।
पौत्रो **नर्बदभूपतेः** सुमहसो यश्चा**र्जुन**स्याङ्गजो
नाम्ना **सुर्जनदेव** एष धरणीं भोक्ताऽद्य कृत्स्नामिति ।। ४९ ।।

दिव्यामव्याहतार्थां मधुमधुरलसद्वर्णकर्णाभिरामा
वाणीमाकर्ण्य तूर्णं तरणिकुलमणिं मन्त्रिण. **सुर्जनं** ते ।
आम्नायाम्नातकर्मप्रवणमुनिमनु स्नानपूताम्बुपूर्णैः
कुम्भैः सच्छातकुम्भैर्द्रुतमभिषिषिचुः प्राज्यराज्ये धरित्र्याः ।। ५० ।।

योन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याम्बुरुहाकरैणतरणेः श्रीवैदचनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते श्रीसूर्यमल्लस्तवः ।। ५१ ।।

"इति श्रीमद्विश्वनाथकृते महाकाव्ये श्रीशत्रुशल्यचरिते सप्तमः सर्गः"

॥ अष्टम: सर्ग: ॥

अथाऽऽर्जुनि: सुर्जनदेवभूप:
स दुर्जनानां किल कालरात्रि: ।
महीं महेन्द्र: कटकायमानां
परं स्वपाणौ दधदुच्चकाशे ॥ १ ॥

अयं सुजानुद्वयलम्बबाहु:
प्रतप्तचामीकरचारुकान्ति: ।
सुपीनवक्षा: कमलायताक्षो
बभूव विक्षोभकरो रिपूणाम् ॥ २ ॥

अमुष्य राज्ञो द्विजराजमुच्चै-
श्चिरं द्विषद्वारिरुहं जवेन ।
शरण्यमङ्घ्रिश्रितमेव सक्ष्य:
श्रिय: पदं प्राप सुदुर्लभं तत् ॥ ३ ॥

दिनेशवंशैकभट: स भूभृद्
द्विषन्न वृद्धश्रवसं कदापि ।
विराजिपक्षद्वयवन्दनीयो
भुवं शशासैकपुरीमिवोच्चै: ॥ ४ ॥

क्षमाऽनुयातोऽपि चिरं सुधर्मा-
ऽऽश्रित: सुबाहु: कमनीयराम: ।
निधि: कलानामपि साधु
मित्रोदयैकलुब्ध: शुशुभेतरां स: ॥ ५ ॥

स भोगिभोगाङ्कितकायकान्ति-
र्नृपो महेशो धृतचारुदुर्ग: ।
गिरीशवद्भूतिविभूषिताङ्गो
जगत्सु मारप्रसरं जहार ॥ ६ ॥

सदानभोगोत्सुक एष वीर:
सहस्रदोषं रिपुमाशु निघ्नन् ।

जितामथोर्व्वीमिव जामदग्न्यो
द्रुतं द्विजत्राक्कृतवान् पवित्रः ।। ७ ।।

मुहुः सुमित्राऽनुगतः सुमन्त्रा-
ऽऽश्रितो गृहोद्भासितविष्णुमूर्तिः ।
अजस्रमन्तर्पितकौशिकोऽयं
श्रियं क्षणात्पङ्क्तिरथस्य दध्रे ।। ८ ।।

स सन्ततं विष्णुपदावलम्बी
सदाऽवदातं हृदयं दधानः ।
सुशारदाम्भोद इवाऽभिरामो-
ऽप्यभूत्परं जीवनदो जनानाम् ।। ९ ।।

स वंशदीपोऽपिनृपोऽतिपुष्य-
दृशोऽयमीशोऽपि दलद्विषादः ।
रराज भास्वानपि भूप एष
चिरं करध्वंसितलोकतापः ।। १० ।।

अयं वशस्यापितकालधर्मो
विराजिधर्मोदयपक्षपातः ।
लसन् महाभारतयुद्धकर्मा
चकार भीष्मोऽपि परानपार्थान् ।। ११ ।।

अथैष शम्भोरिव नृत्यकेलिं
विराजिचक्षुःश्रवसं चिरेण ।
घनागमद्यामिव चारुपीन-
पयोधरश्रीरुचिरां प्रकामम् ।। १२ ।।

समुल्लसत्सद्वलिभङ्गरम्या-
मुपेन्द्रलीलामिव दिव्यरूपाम् ।
सुवंशपालक्षितिपालपुत्रीं
चकार पाणौ कनकावनीं ताम् ।। १३ ।।

(युग्मम्)

जगत्त्रयीवामविलोचनाना-
मुग्ज्ञरूपा कमनीयतायाः ।
मनःसमाकर्षणमन्त्रसिद्धि-
र्मनोभुवः सा नव एव सर्गः ।। १४ ।।

पुरारिसम्प्लुष्टतनोः स्मरस्य
रसायनं यौवनवैद्यदत्तम् ।
असौ पतिं सुर्जनमाशु चक्रे
प्रतीपनेत्राऽप्यनुकूलमेव ।। १५ ।।

दधत् स गाण्डीवमिवाऽतिचण्डं
करेण कर्णान्तविराजि चापम् ।
रिपूनयासीत् पिशुनानिवेषून्
किरन् प्रगल्भान् परमर्मभेदे ।। १६ ।।

अथाऽस्य दुष्टैर्यवनक्षितीशैः
शराशरि क्रूरतरो रणोऽभूत् ।
समुल्लसच्चारुभटातिभीमो
नृत्यत्कबन्धः प्रियकृदद्यमस्य ।। १७ ।।

श्वसन् रिपुर्भीष्म इवाऽतिविद्धो
रणेऽस्य शिश्ये शरतल्प एकः ।
अथाऽपरोऽरिः शकलीकृताङ्गो
विमुक्तवान् कर्ण इव स्वशक्तिम् ।। १८ ।।

असंख्यवीर्यः स विजित्य संख्ये
तुरुष्कयोधान् भुजदुर्मदान्धान् ।
स्वयं जयस्तम्भमिव क्षणेन
वशे रणस्तम्भगिरिं व्यधत्त ।। १९ ।।

समुल्लसच्चारुगतिः प्रकाम-
मयं न धत्तेऽद्य समासमद्रिः ।
परिस्फुरद्धातुविकाररूपः
क्रियाविहीनोऽपि परं चकास्ति ।। २० ।।

दिगम्बराऽऽलोकपिधानदक्षो
नयो नु भाट्टो विलसद्विचारः ।
अजस्रमद्वैतपथावलम्बी
श्रियं स वेदान्तनयस्य धत्त ॥ २१ ॥

शिरःस्थपारीन्द्रनखाग्रधारा-
विदीर्णदन्तावलकुम्भभागात् ।
द्रुतं पतन्तीर्गिरिरेष धत्ते
चिरेण तारा इव चारुमुक्ताः ॥ २२ ॥

शिरोगसानूरुदरीविराजि-
प्रचण्डसिंहीसुतजातशङ्कम् ।
कुरङ्गमालोक्य कलाधरोऽस्य
जवादधःसानुगतो निरेति ॥ २३ ॥

अथाऽचलं तं सुमनोऽभिरामं
सुवन्द्यविद्याधरवृन्दजुष्टम् ।
सुवर्णसानुं नृपसुर्जनोऽसौ
शचीपतिर्मेरुमिवाधितस्थौ ॥ २४ ॥

सहस्रनेत्रप्रमदप्रदात्रीं
पुलोमकन्यामिव धन्यरूपाम् ।
लसत्सुवर्णां विहरद्बुधौघां
सुमेरुपार्यन्तधरामिवोच्चैः ॥ २५ ॥

प्रदोषलक्ष्मीमिव पौर्णमास्या
द्रुतं लसत्पूर्णकलां मनोज्ञाम् ।
दिशं किलन्द्रीमिव चारुसूरो-
दयकहेतुं वरकान्तिचित्राम् ॥ २६ ॥

परस्वरान् सद्गुणिनोऽप्यवर्णान्
सुपाणिनीयामिव सूत्ररीतिम् ।
प्रतिक्षणं सन्दधतीं सभां स्वां
विशन् स भास्वान् सुचिरं चकाशे ॥ २७ ॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

अलङ्करिष्णौ सदसं नृपेऽस्मिन्
दृढाऽऽहतानां वरदुन्दुभीनाम् ।
सुमन्दरक्षुब्धसमुद्रमन्द्र-
ध्वनि विजिग्ये सुगभीरनादः ।। २८ ।।

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽय-
मुदारवेषः कृतलोकतोषः ।
यशःशरच्चन्द्रमरोचिगौरं
वरातपत्रं कलयाम्बभूव ।। २९ ।।

सभां गतो भूमघवा सुधर्मां
स विश्वकर्माश्रयवन्दनीयाम् ।
चिरं चलच्चामरवीज्यमानः
शशास दिक्पालकुलं यथावत् ।। ३० ।।

पृथक्पृथक्कालविभक्तकर्मा
प्रजासु शर्माणि परं वितन्वन् ।
स धर्मपादाँश्चतुरोऽपि पुष्णन्
जघान दण्डेन कलिं नृपालः ।। ३१ ।।

इति प्रजानामवदानदक्षं........
(क्षितीश-)[1] राजं सदसि स्थितं तम् ।
उदारबन्धार्थमनोहराभिः
स्वगीर्भिरस्तौद्वरवन्दिलोकः ।। ३२ ।।

सुखाय सन्ध्या नृपतेऽस्तु माध्य-
न्दिनी दिनेशान्वयमण्डितस्य ।
प्रचण्डचण्डांशुमयूखखेलत्-
(।ऽ।ऽऽ)[2]तःद्युतिवीक्षितश्रीः ।। ३३ ।।

---

1 missing in the mss. being soiled.
2 missing in the mss. being soiled

दिगङ्गना सम्प्रति चण्डताप-
प्रमूच्छिता दिग्ग(जकर्णतालैः)।[1]
संवीज्यमानाऽपि तनौ बिभर्ति
भवद्यशःसद्घनसारलेपम् ॥ ३४ ॥

विभास्वतश्च(ण्डकरप्रताप-)
-(ऽ)[2] यते क्वापि तवाऽरिवृन्दम् ।
स्थलोल्लसत्कच्छपवामनाङ्ग-
महो जनच्छायमिवाऽधुनेदम् ॥ ३५ ॥

पटीरसत्कोटरमध्यसंस्था
भुजङ्गकन्या रसनाद्वयेन ।
अलक्ष्यरोमाञ्चसुमेदुराङ्गं
चिरेण गायन्ति यशस्त्वदीयम् ॥ ३६ ॥

हतारिनारीनयनस्थलीतः
पलायितं कज्जलकालिमानम् ।
निजे भुजे ज्याकिणलक्ष्यतस्त्वं
जगच्छरण्ये बिभृषे चिरेण ॥ ३७ ॥

तमालकाली करवालवल्ली
रणे द्विषच्छोणितशोणकान्तिः ।
तवाऽधुना शारदशर्वरीश-
विशारदां कीर्तिमहो प्रसूते ॥ ३८ ॥

नमन्महीपालकिरीटकोटि-
विराजिवज्रव्रज एष तावत् ।
तवातिशोणाङ्घ्रिनखप्रभाभि-
र्बिभर्ति सद्यः कुरुविन्दलक्ष्मीम् ॥ ३९ ॥

---

1 Missing in the mss. being soiled.
2 Missing in the mss. being soiled.

अनेकदन्तावलवाजिराजि-
विराजमानाऽङ्गणभूस्त्वदीया ।
मघोन एकेभतुरङ्गयुक्तां
सभामजस्रं हसति प्रसह्य ।। ४० ।।

महीमहेन्द्रं कुरुतेऽर्थिलोकं
तव प्रसाद स्तदहो न चित्रम् ।
द्विषां स्वराज्यं वितरन् प्रकोप-
स्तवाऽद्य विस्मापयते मनो नः ।। ४१ ।।

सुदर्शनीयाऽऽकृतिरप्यजस्र-
महो (ISSISI)[1] गतो जनस्य ।
तिथीन् स्वधर्मैरतिथींश्च राज-
न्नहो परं सत्कुरुषे त्वमेकः ।। ४२ ।।

समुल्लसत्-सैन्यघटाप्रचण्ड-
सुमण्डपेशज्वलनास्त्रयोगात् ।
अदभ्रमभ्रङ्कषचित्रकूटे
महागिरौ सत्त्वरमेव डीने ।। ४३ ।।

सहायकर्तोदयसिंहकस्य
पिताऽर्जुनस्ते शिखराग्रसंस्थः ।
करेण कर्षन् करवालवल्लीं
दिवं व्रजञ्जेतुमिव व्यलोकि ।। ४४ ।।
(युग्मम्)

इति स्तुतो वन्दिजनेन भूपो
विसृज्य सामन्तसमाजमाशु ।
ययौ गृहान्नम्रनृपोत्तमाङ्ग-
सुरत्ननीराजितपादपद्मः ।। ४५ ।।

---

1 Missing in the Ms.

इति प्रजाः शासति शास्त्ररीत्या
जगत्त्रयीपालनलग्नकेऽस्मिन् ।
अवन् स लोकत्रितयीमचिन्तः
सुखेन शिश्येऽम्बुनिधौ मुरारिः ॥ ४६ ॥

[1]चकत्तवंश्योऽकबरोऽथ नाथ-
स्तुरुष्कसङ्घस्य रणेऽतिदृप्तः ।
धनुर्धराऽक्षौहिणिका दधानो
ययौ रणस्तम्भगिरिं निरोद्धुम् ॥ ४७ ॥

अमुष्य सैन्याऽजगरो गरीया-
ञ्शरौघदंष्ट्राविकटः प्रचण्डः ।
जगत्त्रयीसङ्ग्रसनोग्रकर्मा
रुरोध शैलं कुपितः क्षणेन ॥ ४८ ॥

ग्रहीतुकामोऽकबरो महीध्रं
सुभीमभीमो यवनाभिरामः ।
निरुध्य तं सैन्यगणैः स्वकीयैः
कियन्ति वर्षाणि स तत्र तस्थौ[2] ॥ ४९ ॥

अथाऽवरुद्धे धरणीधरेऽस्मिन्
धराधिराजो नृपसुर्जनः सः ।
अमर्षसन्दीपितबाहुदर्पः
ससर्प सद्यः समराय वीरः ॥ ५० ॥

वितत्य कोदण्डमतीवचण्डं
नृपः स चण्डांशुकुलैकवीरः ।

---

1 चकत्त – Chughtai, अकबर–Akbar. तुरुष्क—any Muslim including 'Moghuls'.

2 Akbar invades Ranthambhor. (Phalgun 1626 V. S., Feb. 1569 A. D.) This battle was fought for $1\frac{1}{2}$ months. The treaty was signed on 18th March, 1569 A. D. The poet exaggerates. कियन्ति वर्षाणि स तत्र तस्थौ ।

शरैरमोघै रिपुसङ्घघोरै-
र्ववर्ष रोषेण तुरुष्कनाथम्[1] ।। ५१ ।।

समुल्लसद्-दोर्मदमेदुराणां
रणेष्वरीणां प्रलयैकहेतून् ।
इषून् विमुञ्चन्तमथाऽऽदधानं
न तं जनो जातु विदाञ्चकार ।। ५२ ।।

परिस्फुरच्छस्त्रगणोर्मिमालं
बलौघपानीयभरैरगाधम् ।
स्वबाहुतेजोबडवाहुताशं
परं वहन्तं बहुवाहिनीशम् ।। ५३ ।।

भुवं समाप्लावयितुं समुत्कं
प्रचण्डसत्त्वाऽकबराऽम्बुराशिम् ।
रणेऽतिशौण्डोऽस्य भुजप्रकाण्डो
रुरोध वेलाशिखरीव सद्यः ।। ५४ ।।
(युग्मम्)

असौ सुनासीर उदारचापो
जगत्त्रयोजीवनदानदक्षः ।
अहो सुदुष्टग्रहवत् परेषां
रणेऽवजग्राह शराम्बुवर्षम् ।। ५५ ।।

स धर्मराजः समवृत्तिशीलः
प्रजाः स्वदण्डेन चिरेण शासन् ।
तुरुष्कनाथस्य रणे भटानां
जहार सद्यो बत जीवनानि ।। ५६ ।।

चलत्कबन्धोद्धततुङ्गभङ्गः
समुच्छलच्छोणितवारिपूरः ।

---

1 Variant Reading शरानमोघान् रिपुसंघघोरान् ववर्ष रोषेण तुरुष्कनाथे ।

विदीर्णदन्तावलचक्रनक्रः
प्रकृत्तमूर्च्छत्तुरगौघमत्स्यः ।। ५७ ।।

हतद्विषद्दोर्मकरातिघोरः
समुच्छलद्घोरकपालशुक्तिः ।
विभिन्नराजन्यभटोत्तमाङ्ग-
विराजिरत्नावलिशोभमानः ।। ५८ ।।

चिरेण निद्रात्पुरुषोत्तमाढ्यो
दिनेशवंश्येन विवर्धितोऽसौ ।
रणाम्बुराशिः परिखोपमानो
द्रुतं रणस्तम्भगिरेर्बभूव ।। ५९ ।।
(त्रिभिर्विशेषकम्)[1]

निहत्य शत्रूञ्छितपत्रिवृन्दै-
र्वितत्य कीर्तिञ्च जगत्सु भूपः ।
सुदुन्दुभिध्वानविपक्षकर्ण-
वितीर्णतापो गिरिमारुरोह ।। ६० ।।

अथाऽस्य गम्भीरतरो निनादो
दृढाऽऽहतानां जयदुन्दुभीनाम् ।
चकार संवृद्धमपि प्रकामं
सुमोघमेवाऽकबरस्य कामम् ।। ६१ ।।

सुभीमभीमोऽप्यथ मोघकामः
स तेन सामाऽकबरश्चिकीर्षुः ।
नयैकविज्ञः प्रजिघाय दूतं
समीपमुर्वीपतिसुर्जनस्य ।। ६२ ।।

अथैष सन्देशहरो निदेशं
रहो नृपस्याऽकबरस्य लब्ध्वा ।

---

1 After the verse 59 त्रिभिर्विशेषकं is our addition., ms. does not mention it.

दधत् परं वैनयिकं स्ववेषं
समारुरोह द्रुतमेव शैलम् ।। ६३ ।।

पदैः समर्थैर्विलसत्समासं
सुपाणिनेः सूत्रमिवात्युदारम् ।
प्रणम्य पादौ नृपसुर्जनस्य
चरो वचोऽवोचदतीवचारु ।। ६४ ।।

विराजदम्बेरिपुराधिराजं
प्रसिद्धसत्कच्छपवंशवीरम् ।
अवेहि मां श्रीभगवानदासं
वर नृपस्याऽकबरस्य चारम् ।। ६५ ।।

दिशां पतीन् यः स्वभुजप्रतापाद्-
गृहाङ्गणेशानिव हन्त चक्रे ।
पुरन्दरप्रस्थपतिः क्षितीशो-
ऽधुना त्वया कामयते स सख्यम् ।। ६६ ।।

उदारकीर्तेरतिथिप्रियस्य
तवाऽतिथिः साम्प्रतमेष जातः ।
तदस्य पाथेयविधिं विधातुं
हितं रणस्तम्भगिरेः प्रदानम् ।। ६७ ।।

सदस्थिपालान्वयसम्भवानां
भवादृशां बाहुबलं हि दुर्गम् ।
अथाऽपरेषां युधि कातराणां
मतं हि तद्धन्त निजाऽसुगुप्त्यै ।। ६८ ।।

यदर्थिसार्थस्य तु कामवृक्षः
फलेग्रहिर्जायत एव सद्यः ।
अयं हि सूर्यान्वयसम्भवाना-
मधीत उच्चैर्लिखितोऽपि धर्मः ।। ६९ ।।

भवत्पुराणैरतिघोरबाणै-
र्विपक्षपक्षे क्षपितै क्षणेन ।

शचीपतेश्चापकलाकृतित्वं
चिरेण विस्मारितमेव देव ॥ ७० ॥

अलं किलाऽप्रस्तुतवर्णनेन
भवानिदानीं कुरुतामनेन ।
गिरिप्रदानात् परिपूजितेन
सुमित्रभावं ननु नो मतेन ॥ ७१ ॥

इति ब्रुवाणे विनयेन तस्मिँ-
ल्लसत्स्मितोऽभूत् प्रमनाः स भूपः ।
रणे परैरर्थिजनैश्च कामे
सुयाचिते हर्षयुता (हि सौ)[1]राः ॥ ७२ ॥

उवाच चैनं नृपसुर्जनोऽसौ
मृगेन्द्रगम्भीरतरस्वरेण ।
उदारदन्त-च्छवि(भिः स)भास्वान्
हरिन्मणीन् हीरमणीन् प्रकुर्वन् ॥ ७३ ॥

गृहानुपेतोऽकबरोऽतिथि (र्मे
स्वयं यदि)[2] प्रार्थयते गिरीन्द्रम् ।
जगत्सु धन्योऽहमतीव मान्यः
तददद्य ददयां ध्रुवमद्रिमस्मै ॥ ७४ ॥

(धना)[3] नि वासांसि गजास्तुरङ्गा
भुजार्जिता भूमिरिदं च राज्यम् ।
प्रियस्तु देहोऽपि ममाऽस्ति देयो
यशस्तु दातुं कृपणोऽहमेकम् ॥ ७५ ॥

इति ब्रुवन्नेव स दानवीरो
दिनेशवंशदच मणिर्नृपालः ।

1, 2 & 3 The readings restored within brackets by us are indistinct in the ms. soiled.

विधाय सद्योऽकबरस्य पूजां
गिरिं रणस्तम्भमदत्त तस्मै ।। ७६ ।।

ददद्रणस्तम्भगिरिं नृपालः
सदर्थिमान्याऽकबराय तस्मै ।
वहन् प्रमोदं विततार सारां
सुदक्षिणामेव किलाऽऽत्ममैत्रीम् ।। ७७ ।।

अथैष सख्याऽकबरः स तेन
सहाऽऽययौ प्रस्थमहो मघोनः ।
नदन्मृदङ्गाऽऽनकदुन्दुभीनां
गभीरनदैः प्रथयन् यशः स्वम् ।। ७८ ।।

स तत्र गत्वा नृपसुर्जनस्य
विधाय पूजां विविधोपचारैः ।
मदोद्धुराणामथ सिन्धुराणां
वराऽर्वतां चापि ददौ सहस्रम् ।। ७९ ।।

जगत्त्रयाऽभीतिवदान्यबाहुं
सुबाहुजानां मुकुटैकरत्नम् ।
वरं सखायं नृपसुर्जनं तं
पुलिन्ददेशाधिपतिं स चक्रे ।। ८० ।।

अथाऽऽर्जुनिस्तर्जितशत्रुगोत्रः
स तद्धितप्रत्ययजातवृद्धिः ।
तुरङ्गमाणामयुतद्वयेन
ययौ पुलिन्दाधिपतिं नियन्तुम् ।। ८१ ।।

विपक्षपक्षक्षयवावदूका
कठोरकल्पान्ततडिल्लतेव ।
नृपस्य तेजःशिखिनः शिखेव
पुरोऽस्य पीता शुशुभे पताका ।। ८२ ।।

सदा वदान्या इव दानवन्तो
भटा इवोद्भासिशिलीमुखौघाः ।

महाकुलीना इव चारुवंशाः
पुरो गतास्तस्य गजा विरेजुः ॥ ८३ ॥

प्रचण्डकोपा इव तत्तुरङ्गाः
क्षमां स्पृशन्तो न परं कदापि ।
मणिप्रभाऽवर्तयुताः समुद्रा
इवातिवेगेन बभुः प्रयान्तः ॥ ८४ ॥

अमुष्य वीराः समरैकधीराः
सुकृष्टजीवा धनुषां द्विषां च ।
निरन्तरं मानधनैकलुब्धाः
प्रियाय पत्युस्तरसा समीयुः ॥ ८५ ॥

अथाऽस्य धावद्धयपादधूत-[1]
रजोभिरन्धङ्करणैर्जनानाम् ।
दिशः पुलिन्देशमहानिशायाः
क्षणेन पूर्णास्तिमिरैरिवाऽऽसुः ॥ ८६ ॥

करे करालां करवालवल्लीं
दधत् स भिल्लोपमहीं ग्रहीतुम् ।
अहीनवीर्यो युधि वज्रपाणेः
सुवृत्रजैत्रस्य दधार लक्ष्मीम् ॥ ८७ ॥

अयं पुलिन्दाधिपतीनमन्दान्
प्रचण्डबाणैर्विदधत् सुमन्दान् ।
वशे चतुष्काचलमाशु कृत्वा
जगाम चौराचलनाथमाशु ॥ ८८ ॥

सुवंशजातं पटुकोटियुग्मं
विराजिसौवर्णविचित्रलेखम् ।
विकृष्य चापं किरतः शरौघा-
नमुष्य जज्ञेऽत्र रणः प्रचण्डः ॥ ८९ ॥

---

1 Earlier reading in the mss. धावद्धयटापधूतं etc.

सुदारुणे तत्र रणे दिनेश-
पुलिन्दवंशोद्भवयोः प्रवृत्ते ।
भटास्तृणौघेष्विव वत्सदन्त-
क्षतेषु देहेषु जहुः किलाऽऽस्थाम् ।। ६० ।।

चिरेण चौराचलनाथ आजौ
किरन् समुत्क्षेपणिकाश्मवर्षम् ।
अनेन मानग्रहिलेन सार्धं-
मयुध्यतोच्चै रणरङ्गधीरः ।। ६१ ।।

द्वयोस्तयोर्बाणगणाश्मवर्षे-
मिथोविनिष्पेषसमुच्छ्रितेन ।
अदभ्रमभ्रंलिहवह्निनोच्चैः
समुल्ललास ज्वलनास्त्रमाशु ।। ६२ ।।

तदाऽऽर्जुनिः सत्तरवारिधारा-
विराजिताऽसाररयेण युद्धे ।
अशीशमच्चौरमहीध्रनाथ-
भुजोत्थतेजोऽग्निमिव क्षणेन ।। ६३ ।।

पुलिन्दयूनाममुना हतानां
समुच्छलच्छोणितवारिपूरैः ।
रणाङ्गणोर्न्नर्तितसौवकीर्ते-
रकारि सद्यो बकपङ्कलेपः ।। ६४ ।।

अमुष्य कीर्तेः किल रङ्गभूमौ
रणाङ्गणे तत्र परं विचित्रे ।
कपालचञ्चच्चषकेऽस्रसीधुं
प्रपीय मत्ता ननृतुः पिशाच्यः ।। ६५ ।।

कृपाणदीर्णोन्मदकुम्भिकुम्भ-
निपातिमुक्ताः स्रवदस्रशोणाः ।
सुदाडिमीचारुफलभ्रमेण
मिलच्छुकाली सहसा चकर्ष ।। ६६ ।।

अथैतदीयोद्धुरमण्डलाग्र-
विदीर्णगात्रः पतितः क्षमायाम् ।
पुलिन्दराजः किल योगिनां तां
गतिं स लेभे रणमूर्ध्नि सद्यः ।। ९७ ।।

सुरालयप्रेषितजीवदूत-
श्चिरेण घूर्णन् सतत च मूर्च्छन् ।
स्खलन्मुहुः श्रीरहितः पपात
दलन्मदस्येव स तस्य देहः ।। ९८ ।।

उपासितो भूतगणैरजस्र
विकीर्णमुण्डः स शिवाऽऽश्रितोऽपि ।
समाप्लुतो युद्धसुरापगाया-
मिहैव देहोऽस्य हरो बभूव ।। ९९ ।।

निहत्य **चौराचलनाथमु**च्चैः
स चारणोद्गीतभुजप्रशस्तिः ।
द्रुतं दरिद्राकृतदेवशैलो
जहार **वैरागरराज**लक्ष्मीम्[1] ।। १०० ।।

समूलघातं विनिहत्य शत्रून्
स्वयम्वरे तत्र रणे नृपः सः ।
चकासतीमिन्दुमतीमिवाजो
जयश्रियं स्वस्य वशे चकार ।। १०१ ।।

इति क्षणेन क्षपितारिपक्षः
स्वविक्रमाक्रान्तपुलिन्ददेशः ।
असूत **दुर्योधनभोजदेवौ**[2]
नृपः स दस्राविव साधुपुत्रौ ।। १०२ ।।

---

1 Historically the reading should be जहार वैरागढराजलक्ष्मीम्. Vairagarh was the Capital of Gonds of Gondwana defeated by Rao Surjan, the Mughal Subedar of Gondwana. (See Moghul History).

2 Variant reading in the ms. is 'प्रसूतवान् दुर्जनशल्यभोजौ'—पाठान्तरं.

पुत्रद्वयन्यस्तसमस्तसम्पन्-
महीपतिः सुर्जनदेव एषः ।
वसुन्धरापालनकर्मखिन्नः
सुखाम्बुराशिं सुचिरं जगाहे ।। १०३ ।।

अथोत्खनन्ती द्विजवर्गवृत्ति[1]
चिरेण रीतिर्बत यावनीव ।
निरुन्धती दृष्टिपथं जनानां
स्फुरत्तमिस्रा रजनीव सद्यः ।। १०४ ।।

कुभूमिपानीतिरिव प्रचण्डा
द्रुतं विनश्यद्विषयोरुसम्पत् ।
लसद्बलिश्रीर्जगतीव साऽपि
प्रकम्पिताङ्गी हिमवद्दरीव ।। १०५ ।।

वपुर्विरामं बत कर्णग्राहे
रहो वदन्ती पलितच्छलेन ।
सुतृप्तभूनिर्जरसोऽपि देहे
महीपतेस्तस्य जराऽऽविरासीत् ।। १०६ ।।
(त्रिभिर्विशेषकम् ।)

प्रतापसन्तापितवैरिचक्रं
निवेश्य दुर्योधनमाशु बुन्द्याम् ।
अतिप्रियं स्वस्य चिरेण भक्तं
सुतं गृहीत्वा सह भोजदेवम् ।। १०७ ।।

चिरं च्युतस्नेहसुदीपिकाभां
दशाऽन्तसंस्थां स्वतनूं निरीक्ष्य ।
जगाम गङ्गारुचिरं नृपोऽसौ
विमुक्तिकामोऽप्यविमुक्तमाशु ।। १०८ ।।
(युग्मम्)

---

1 Variant reading is अथ द्विषन्ती द्विजवर्गवृत्ति.

अथैष शम्भोः सुविहारभूमिं
विमुक्तिमुक्तामणिचारु पेटाम् ।
क्षणेन रम्यां नगरीषु काशीं
महीपतिर्दृग्-विषयोचकार ।। १०६ ।।

प्रचण्डताप (त्रितयप्रतप्त-)
जगच्छरण्यां सुधया प्रपूर्णाम् ।
विराजमानां सरसीमिवाऽयं
विलोक्य गङ्गां हृदि संजहर्ष ।। ११० ।।

अथाऽभिषुण्वन्नृपतिः स तस्या-
मुपेन्द्रवज्रायुधमुख्यदेवैः ।
अधिष्ठितायामनिशं द्य ुनद्यां
लसत्सदार्यां स्तुतिमाशु चक्रे ।। १११ ।।

मोक्षऽमृतफलवल्लीं जटालवाले हरस्य सम्भूताम् ।
गङ्गां कृताघभङ्गां लसत्तरङ्गां चिरं वन्दे ।। ११२ ।।

विरचितजगदानन्दामुच्छिन्दानां जनस्य सन्तापम् ।
शीताचलकुलकीर्ति कलये त्रिस्रोतसो मूर्तिम् ।। ११३ ।।

धूर्जटिजटामतल्लीं सल्लीनमधुव्रतद्विजस्तोमाम् ।
परगतिपरिमलबहलां महिलां सिन्धोर्वरां वन्दे ।। ११४ ।।

कादम्बिनीव सद्यो ध्वस्तरजा लोकतापहन्त्री च ।
सुषमा चान्द्रीव तमश्छिन्दाना भीष्मसूः पायात् ।। ११५ ।।

सकलजगत्प्रभविष्णोर्विष्णोः पादारविन्दमकरन्दः ।
सद्बहुमार्गामोदो धूनोतु स्वधुनी मेंऽहः ।। ११६ ।।

ब्रह्मकमण्डलुविलसत्प्राङ्गणरिङ्गत्तरङ्गकव्याजात् ।
खेलन्ती शिशुलीलां बाला जह्नोर्जयत्येषा ।। ११७ ।।

स्वच्छैः समुच्छलद्भिर्दिवं स्पृशद्भिः पृषद्भिरुद्दामैः ।
मुक्तास्रजमिव मुक्तेः कुर्वाणा मे शरण्याऽसौ ।। ११८ ।।

विहरन्त्या हरमौलौ हरयन्त्या साधु मज्जतो लोकान् ।
कैलासोऽपि कुटीवदचयाऽऽशु चक्रेऽल्पकः साऽव्यात् ।। ११९ ।।

जनिमृतिदुःखविहीनं परमानन्दं ददाति या नृणाम् ।
मातेव सा शरण्या धन्या भागीरथी पायात् ।। १२० ।।

ईर्ष्याश्यामामेकामथाऽपरां रोषतः सुशोणाभाम् ।
वहति सपत्नीं याऽङ्गे स्वयं प्रसन्ना सरित् साऽव्यात् ।। १२१ ।।

इति मुनिगणयतिमान्यामार्यां गङ्गां स्तुवन् दशश्लोक्या ।
स चरमदशावलम्बी प्रययौ **विश्वेश्वरं** द्रष्टुम् ।। १२२ ।।

असकृत् प्रणम्य मूर्ध्ना क्षितितललोलेन विश्वनाथं तम् ।
स पठन् दण्डकमेकं सन्ततमस्तौत् करौ बद्ध्वा ।। १२३ ।।

युगविलयविराजमानाऽसमानाक्षकुण्ड-
प्रचण्डोल्लसज्ज्वालजालेऽनले लेलिहाने क्षणात्-
ज्जगदिदमखिलं वषट् कुर्वतः (ऽ।ऽ)[1] शर्व ते
पर्वतेशात्मजामर्धगात्रे निजे बिभ्रतः ।
द्रुतमुपदिशतः सुखासारसंसारदुःसागरे
मज्जतःसज्जनस्योच्चकैस्तारकं ब्रह्म तत्
त्रिभुवनमहितं महादेव वन्दे सदा
वेदवृन्देन गीतं श्रितं नाकिभिः पादपङ्केरुहम् ।। १२४ ।।

सोऽथ विभावसुभास्वरवंश्यः
सुर्जनदेवः सुन्दरवेषः ।
वन्दितसु**विन्दुमाधव**मगमत्
पादाकुलकं भक्तिरसार्द्रः ।। १२५ ।।

सम्मदवारिसुसम्भृतनेत्रः
श्रीरमणं प्रणिपत्य पवित्रः ।
स्तम्भितसुवाष्पगद्‌दवचनः
स स्तुतिममलामपठत् सुमनाः ।। १२६ ।।

---

1 One word ऽ।ऽ is missing here as demanded by the metre.

प्रलयसमुद्राद् (भ्रमिगणरौद्राद्·
वेद-)[1]सुरत्नं हन्त चिरत्नम् ।
उद्धृतवन्तं लोकमवन्तं
शफरशरीरं प्रणमत धीरम् ।। १२७ ।।

संलसदुर्व्वीं पृष्ठे गुर्वीं
शैवलसदृश बिभ्रतमनिशम् ।
पदनतलोकं प्रणिहतशोकं
हृदि कलयेऽहं कच्छपदेहम् ।। १२८ ।।

चुम्बितकमलालोचनयुगला-
ऽञ्जनमिव दन्ते किल जगदन्ते ।
रैजे यस्य क्षितितलमस्य
त्वघगणमेष श्रीकिटिवेषः ।। १२९ ।।

दितिसुतवक्षःक्रकचसदृक्षः
शुशुभे शोणो यन्नखरगणः ।
श्रीहृत्सङ्गं दधदिव रागं
तं नरसिंहं नौमि सदाऽहम् ।। १३० ।।

जितसुरवृन्दं सुबलिममन्द
वामनमूर्त्या विस्मयकर्त्र्या ।
तं दमयन्तं सपदि नितान्तं
हरिमभिवन्दे दुरिततितिभिदे ।। १३१ ।।

क्षत्रियसङ्घं जनकक्रनाघं
व्याप्ततराशे रोषहुताशे ।
सपदि यजन्तं भृगुतनुजं तं
नौमि निकामं कृतनिजकामम् ।। १३२ ।।

जनकनिदेशाद्दण्डकदेशा-
नास्थान् रक्षःकुलकृतशिक्षः ।

---

1 Mss. is soiled here (भ्रमिगणरौद्राद्वेद-) is restored by us.

यो दशकण्ठं चक्रे कुण्ठं
जगदभिरामः पातु स रामः ।। १३३ ।।

सुन्दरमदिरा-भवमदरुचिरा-
ऽरुणरुचिनेत्रं लोकपवित्रम् ।
असितसुवसनं प्रलम्बदलनं
तं बलदेवं स्तौमि सदैवम् ।। १३४ ।।

जगदतिदीनं तापसुदूनं
करुणासुधया सिञ्चति वरया ।
क्षमया युक्तो योऽतिविरक्त-
स्तमहं बुद्धं कलये शुद्धम् ।। १३५ ।।

यवनसमूहं यः सुदुरूहं
समरकराले निजकरवाले ।
बलिमिव कुरुते जनतोषकृते
कल्किनि परमे तत्र रमेऽहम् ।। १३६ ।।

धृतदशलीलं परमनुवेलं
माधवदेवं ध्यायन्नेवम् ।
सुर्जनदेवः कृतहरिसेव-
श्चक्रे चित्रां नित्यं यात्राम् ।। १३८ ।।

अथ रराज नृपः स विभासुरः
परतमः शमयन् स्वकरौजसा ।
अवनिवृष्टसुवर्णसुजीवनो
विरहितस्तुलयाऽपि तुलनाङ्गतः[1] ।। १३८ ।।

अपि सदूषवति क्षितिपःस्थले
स्वकरकल्पितवारिभरोक्षिते ।
द्रविणबीजमयं प्रवपन् परं
सुकृतरूपफलं बुभुजे क्षणात् ।। १३९ ।।

---

1 mss. has बुभूजे corrected by us to बुभुजे.

सशतकोटिविराजिकराम्बुजो
द्विजवितीर्णसुवर्णमहीधरैः ।
अकृत मूढमतेर्भ्रमतो रवे-
द्रुतविलम्बितचारुतरां गतिम् ।। १४० ।।

त्रिपुरवैरिपुरोपनिरोधतः
स चकितः सुचिरं पृतनापतिः ।
सुरसरित्तटभूमिविराजिते
स्वयमुवास चिरं **चरणाचले** ।। १४१ ।।

अवनिभारधुरन्धरमुच्चकैः
समरभूमिकरालतरौजसम् ।
अकृत **भोजमयं** प्रियमात्मनो
द्रुततरं निजदेशपतिं नृपः ।। १४२ ।।

स्वहृदये कलयन् मुरवैरिण-
श्चरणवारिरुहं नृपसुर्जनः ।
सदितिहासपुराणकथादिना
स समयाकृतवांश्चरमां दशाम् ।। १४३ ।।

तनुजनिहितराज्यः सर्वलोकैकपूज्य-
स्तरणिकुलमहीयान् **सुर्जनो**ऽसौ गरीयान् ।
हरिपदयुगभक्तिः प्राप्तवान् ज्ञानसक्त-
स्त्रिदिवगतिमुदारां मोक्षरत्नैकसाराम् ।। १४४ ।।

योन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याऽम्बुरुहाकरणैकतरणेः श्रीवैदयनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते श्रीसुर्जनो वर्णितः ।। १४५ ।।

"इति श्रीमद्विश्वनाथकृते महाकाव्ये श्रीशत्रुशल्यचरितेऽष्टमो सर्गः"[1]

---

1 The ms. has the corphon of VIII Canto written mis-spelt as श्रीसत्रुसल्यचरिते अष्टमो सर्गः ।

अथ दुर्योधनो वीरो युवराजपदस्थितः ।
जीवत्येव गुरौ बुन्दीं वशयामास तत्क्षणात् ।। १ ।।

धृतराष्ट्रकृतानन्दः कर्णविश्रान्तलोचनः ।
परभीमबलद्वेषी रेजे स कुरुराडिव ।। २ ।।

वाहिनीशात्ततो जातो विलसत्कुमुदाकरः ।
द्विजराजोऽप्ययं वीरो नताराातिबलोऽभवत् ।। ३ ।।

समाक्रान्तजनस्थान उद्धृतोद्धतदूषणः ।
वीरो लङ्कानृपद्रोही रेजे राम इव क्षितौ[1] ।। ४ ।।

सौकर्याऽऽसादितक्षोणीमण्डलो रक्षितप्रजः ।
नारायण इवैषोऽभूच्छ्रुतिख्यातयशोगुणः ।। ५ ।।

दधत् स धरणीभारं फणिनाऽपि सुदुर्धरम् ।
आत्मनो द्विषतां मौलीन्नमयामास तत्क्षणात् ।। ६ ।।

ऋते भगवतो विष्णोर्जिष्णोर्वा सुर्जनात् पितुः ।
दर्पोन्नतं शिरः स स्वं नाऽनंसीत् कस्यचित् पुरः ।। ७ ।।

रत्नसिंहं हतं श्रुत्वा सूर्यमल्लेन स स्वयम् ।
रणे दिल्लीपतिं हन्तुं चकमे चेतसा चिरम् ।। ८ ।।

हृन्मर्मणि सुविद्धोऽसौ शल्येनेव किलाऽऽधिना ।
चिकीर्षुः साहसं घोरं समराय मनो दधे ।। ९ ।।

एक एव सहस्राणां धन्विनां विजये प्रभुः ।
तथापि सौर्जनिस्तूर्णमकरोद्बलसङ्ग्रहम् ।। १० ।।

जयदन्तावलाऽऽलानजयस्तम्भान्महौजसः ।
धनैरयं मानधनान् पूजयामास धन्विनः ।। ११ ।।

---

1 Variant reading सुमित्रानन्दनप्रीती रेजे राम इव क्षितौ ।

अस्पृष्टधरणीचक्रा मिहिराश्वजिगीषया ।
सशस्त्रसादिनस्तस्य हया द्वारे विरेजिरे ॥ १२ ॥

अमन्ददन्तिनिष्यन्दिदानवारिमहानदीम् ।
अभिबुन्दीपुरि प्रौढां स व्यधात् परिखामिव ॥ १३ ॥

साङ्ग्रामिकोपकरणैर्यथाविधि सुसज्जिताः ।
अकुण्ठगतयस्तस्य प्रतीहारे रथा बभुः ॥ १४ ॥

सयत्नसैन्यसंवर्त्तजल्पाकभुजदुर्मदम् ।
परःसहस्रं पत्तीनां[1] तं सिषवे दिवानिशम् ॥ १५ ॥

इत्थं स चतुरङ्गेण बलेन सहितो भटः ।
महान्तमपि दिल्लीशमवाजीगणदुच्चकैः ॥ १६ ॥

अथैष करदान् कुर्वन् सर्वानुर्व्वीभृतः क्षणात् ।
निहत्य **मेदकाधीशं त्रिकूटं** गिरिमग्रहीत् ॥ १७ ॥

जयन् दिशः क्रमेणैष विक्रमेणैव सङ्गरे ।
वृकसंज्ञं[2] भिल्लपतिं स्वसेवकमिवाऽकरोत् ॥ १८ ॥
अथ दिल्लीपतेरेष द्वेषेण रणरोषणः ।
शोषणः परसैन्यानां तद्देशान् समुपाद्रवत् ॥ १९ ॥

तत्तद्देशेष्वधिकृतान् दिल्लीशवशवर्तिनः ।
शतशो यवनानेष समरे तरसाऽवधीत् ॥ २० ।

दुर्गं रुन्धि पुरं भिन्धि बधान बलिमात्मनः ।
इति दिल्लीपतेर्देशे चक्रेऽस्वास्थ्यमसौ मुहुः ॥ २१ ॥

तमात्मदेशलुण्टाकं श्रुत्वाऽकबरभूमिपः ।
महामदाभिधं कञ्चित् प्राहिणोदयवनं जवात् ॥ २२ ॥

सादिनामयुतं बिभ्रद्यवनः सोऽतिरोषणः ।
उपबुन्दि चकाराऽऽशु स्कन्धावारनिवेशनम् ॥ २३ ॥

---

1 Variant reading परः सहस्रं पादातं.

2 Variant reading बीकाख्यंभिल्लपतिं.

अथ दुर्योधनो वीरो रोषोत्कर्षाऽरुणेक्षणः ।
बाणवर्षानियं कुर्वन् समराङ्गणमाययौ ।। २४ ।।

क्रुद्धो यवनसेनानीर्बलेन महता वृतः ।
वर्षञ्शस्त्रसहस्त्राणि प्रतिजग्राह तं रुषा ।। २५ ।।

चिरं चटचटाशब्दः समभूदनलास्त्रतः ।
परवंशवनोदाहो वाचाटचटुलश्रुतिः ।। २६ ।।

शूरौघदारुणभुजाशमीवह्नेर्ज्वलिष्यतः ।
पिशुनः सहसोत्तस्थौ धूमो वैश्वानरास्त्रतः ।। २७ ।।

पावकास्त्रविदां तत्र चित्राऽऽसीत् कृतहस्तता ।
सप्रतिज्ञं रोमकूपमपि लक्ष्यं विभेद या ।। २८ ।।

नलिकाग्निसमुत्क्षिप्ता नागनिर्मितगोलका. ।
जगत्प्राणाशनगुणं न जहुस्तत्र हेतुजम् ।। २९ ।।

अथेषुवारुणास्त्रेण निर्बाणेऽस्त्रहुताशने ।
बभूव युद्धं तुमुलं शूराणां हर्षवर्द्धनम् ।। ३० ।।

अनल्पवैरिकल्पान्तकर्णजपमिषुत्करम् ।
उभयोः सेनयोर्वीराः किरन्तः प्रचकाशिरे ।। ३१ ।।

सुवर्णरेखितान् पक्षान् दधतो रेजिरे शराः ।
ईक्षितुं मानुषं युद्धं याता दिव्याः खगा इव ।। ३२ ।।

बाणानां खेलतां व्योम्नि मिथः सङ्घर्षजोऽनलः ।
दृढाभिघातनिष्ठ्यूतरक्तपूर इवोद्बभौ ।। ३३ ।।

मत्तेभकुम्भनिर्मग्नाः पुङ्खशेषाः शिलीमुखाः ।
रेजिरे समरे लुब्धा दानेष्विव शिलीमुखाः ।। ३४ ।।

अन्तर्ललाटं सुभटा दधुः शरभवं व्रणम् ।
जगद्-दिधक्षया चक्षुस्तृतीयमिव दारुणम् ।। ३५ ।।

प्रवृत्ते शरसम्पाते रणे तत्र सुदारुणे ।
हस्त्यश्वरथपादातं विद्धमेव क्षणादभूत् ।। ३६ ।।

विपक्षसंक्षये सद्योऽलङ्कर्मीणं स्वकार्मुकम् ।
वितत्य सौर्जनिस्तूर्णं युयुधे यवनैः सह ॥ ३७ ॥

दुर्योधनेन कृष्टस्य धनुषष्टङ्कृतिच्छलात् ।
जयश्रियः समेष्यन्त्या नूपुरध्वनिरुद्बभौ ॥ ३८ ॥

नसंहता नोविभिन्नाः स्वामिधर्मपरायणाः ।
तृणाय मत्वा स्वप्राणान् समयुध्यन्त तद्भटाः ॥ ३९ ॥

बाणपञ्जरमध्यस्थक्रीडाशकुनिकौतुकम् ।
क्षणादयवनसेनान्यः पूरयामास सौर्जनिः ॥ ४० ॥

उरो विभिद्य द्विषतां कृतप्राणाऽनिलाऽशनाः ।
वल्मीकमिव पातालं ययुस्तस्य शराऽहयः ॥ ४१ ॥

तस्यैवं किरतो बाणान् यवनान्तकरान् बहून् ।
शक्तीशक्ति ततो जज्ञे खड्गाखड्गि ततः परम् ॥ ४२ ॥

अथ ते यवनाः सर्वे दर्शयन्तः स्वविक्रमम् ।
दिल्लीशस्य प्रियाकर्तुं मयुध्यन्त बताऽक्रमम् ॥ ४३ ॥

बलीमुखाऽऽताम्रमुखास्तुरुष्कास्ते स्वभावतः ।
क्रूरक्रोधवशादुच्चैस्ताम्रामास्ये च्छविं दधुः ॥ ४४ ॥

शस्त्रैः शस्त्राणि संवार्य तेषां दुर्योधनः स्वयम् ।
कृतान्त इव संक्रुद्धश्चकार कदनं महत् ॥ ४५ ॥

पातयामास करिणः स कृपाणद्विधाकृतान् ।
धातुद्रवमिवाऽजस्रं स्रवतोऽस्रं गिरीनिव ॥ ४६ ॥

विभिन्नकुम्भिकुम्भस्थलग्नमुक्ताफलच्छलात् ।
पुष्पवर्षं सुरैर्मुक्तं तस्याऽसिर्विजयी दधौ ॥ ४७ ॥

सौर्जनेः करवालेन कृत्तकण्ठा द्विषद्भटाः ।
अहङ्कारमदाविष्टा जघ्नुः स्वानेव धन्विनः ॥ ४८ ॥

कबन्धकन्धरारन्ध्रमरुज्झाङ्कारनिःस्वनैः ।
दुर्योधनस्य सुयशो जगौ रणमही जवात् ॥ ४९ ॥

मांसमेदसृजम्बालां शोणितोदभरैर्युताम् ।
कपालफेनबहुलां केशशैवालशालिनीम् ॥ ५० ॥

नृत्यत्कबन्धसद्भृङ्गामस्थिपाषाणसङ्कुलाम् ।
समुल्लसच्चारुभटां हयकच्छपदारुणाम् ॥ ५१ ॥

छिन्नदन्तिकरग्राहां सङ्ग्रामे महतीं नदीम् ।
कुर्वन्नसौ यमस्योच्चैः सुभिक्षं विषयेऽकरोत् ॥ ५२ ॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

इत्थं निहत्य समरे सौर्जनिर्यावनं बलम् ।
ललाटन्तपचण्डांशुदुरालोकतरोऽभवत् ॥ ५३ ॥

कल्पान्तक्रूरसूराणां तेजोभ्योऽपि सुदारुणात् ।
सद्यो यवनसेनानीस्तत्प्रतापादपासरत् ॥ ५४ ॥

भ्रातृव्यं भागिनेयं च हतं त्यक्त्वा रणाजिरे ।
यवनो जीवलोभेन दिल्लीशस्यान्तिकं ययौ ॥ ५५ ॥

लगुडस्येव तस्यासीन्न नम्यं[1] कस्यचित् पुरः ।
शिरो दिलीपतिः श्रुत्वा तं चक्रे **लगुडाभिधम्**[2] ॥ ५६ ॥

अथ दुर्योधनं शत्रुं मन्यमानो बहुं हृदि ।
दिल्लीपतिः सभामध्ये धिक्चकार निजान् भटान् ॥ ५७ ॥

तत्रैकश्चण्डकण्डूलदोर्दण्डद्वयभीषणः ।
यवनेशो **बाहुदरो**[3] दिल्लीशं प्रत्यभाषत ॥ ५८ ॥

राजन् लगुडनामाऽसौ सौर्जनिर्भवता कृतः ।
तदा तस्य कुठारोऽहं सद्यो विच्छेदने पटुः ॥ ५९ ॥

मम बाह्वोर्दरेणैव दृप्यन्तोऽपि द्विषद्गणाः ।
अपसरन्ति सङ्ग्रामाद्धरिणा इव भीरवः ॥ ६० ॥

---

1 The ms. comments on the margin for अनम्यं i.e. शिर इति अध्याहारः।
2 Ms. has a note on the margin. दूदा लक्कडखां ।
3 The ms. notes on the margin बहादरखान (for बाहुदरो) ।

इति ब्रुवाणं तं वीरं दिल्लीशो हृष्टमानसः ।
कुठारनामकं[1] कृत्वा प्राहिणोत् सौर्जनिं प्रति ।। ६१ ।।

कठोरोऽथ कुठारोऽसावयुतद्वयसंयुतः ।
हन्तुं **दुर्योधनं** रोषादुपबुन्दि ययौ जवात् ।। ६२ ।।

वरे **वरह्रदे** ग्रामे सनिवेश्य स्वकं बलम् ।
स **कुठाराभिधो** वीरो योद्धुं सिद्धोऽभवत् क्षणात् ।। ६३ ।।

रणाय दंशितं श्रुत्वा सौर्जनिः स कुठारकम् ।
श्येनपातं पतित्वाऽऽशु जघान यवनान् बहून् ।। ६४ ।।

सोऽयुतद्वयमप्याशु बलं यावनमुद्भटम् ।
अजुहोत् स्वप्रतापाग्नौ सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितः ।। ६५ ।।

रे रे कुठार किं मन्ये छेत्स्यसे लगुडाभिधम् ।
कुण्ठं कुठारं त्वां कुर्यां लगुडः पश्य साम्प्रतम् ।। ६६ ।।

इत्युक्त्वा सोर्जनिस्तूणमाकृष्टाकर्णकार्मुकः ।
क्रोधैधितप्रतापाग्निश्शरवर्षैरवाकिरत् ।। ६७ ।।
(युग्मम्)

स्रवद्भिर्द्विषतामस्रैरुद्वृत्तं कृत्तवर्म्मणाम् ।
असौ **वरह्रदग्राम**मन्वर्थं समरेऽकरोत् ।। ६८ ।।

अनेन लगुडाह्वेन कुण्ठिताग्रः कृतो हठात् ।
स **कुठाराभिधो** वीरः पटकुट्यां न्यलीयत ।। ६९ ।।

इत्थं रणे रणे तस्य द्विषतो निघ्नतो बहून् ।
स्वाधीनपतिकेवाऽऽसीज्जयश्रीर्वंशवर्तिनी ।। ७० ।।

नास्ति नोत्पत्स्यते नापि भूता काचन वीरसूः ।
दुर्योधनस्य युद्धे या सवित्री प्रतियोगिनम् ।। ७१ ।।

---

2 The ms. notes on the margin कुराडखान (explaining कुठारनामकं) ।

अथाऽकबरतर्जितं प्रवरगुर्जरक्षोणिपं
स सुर्जननृपात्मजः सततसङ्गरोर्जस्वलः ।
मधुद्विडिव सिन्धुरं दुरवहारसंयन्त्रितं
रिरक्षिषुररिक्षयक्षमभुजोऽभ्यधावज्जवात् ।। ७२ ।।

कठोरगुणदारुणोत्कटसुकोटिकोदण्डकं
वितत्य परुषो रुषा शरगणानजस्रं क्षिपन् ।
प्रसह्य समराङ्गणेऽकबरसैनिकान् कालय-
न्नयं सपदि गूर्जराधिपमतिष्ठिपत् स्वक्षितौ ।। ७३ ।।

अमन्दहतमन्द्रसन्नददभ्रभेरीभर-
स्फुरन्मुखरदुन्दुभिध्वनितपूर्णदिङ्मण्डलः ।
जगत्त्रितयगत्वरोद्धुरभुजप्रशस्तिप्रथो
ययौ पथि सुमन्थरं निजपुरीं प्रयास्यन्नयम् ।। ७४ ।।

मुहुःपवनचुम्बितस्फुरितफुल्लपद्माकरो-
ल्लसत्परिमलाकुलाऽलिकुलकाकलीकौतुकी ।
रिरंसुवरटाबहुप्रणयलोलहंसेष्वसौ
सरःसु सरसीभवन् व्यनुददध्वजातं श्रमम् ।। ७५ ।।

विचित्रितपतत्रिणि श्रुतिकटूच्चरत्पोत्रिणि
स्फुरत्सृमरसंवरे महति कानने स क्वचित्[1] ।
विधाय मृगयोचितं त्वरितमेष वेषं धनुः[2]
क्षणेन समधिज्ययन् निरवधीद् बहूञ्श्वापदान् ।। ७६ ।।

इति पथि परिपन्थिप्रौढपाथोधिमन्थाः
कृतविविधविहारो मन्दमन्दं व्रजन् सः ।
विकटकटकचण्डश्चारुकोदण्डपाणि-
शिविरमकृत देवग्राम उच्चैर्गरिष्ठे ।। ७७ ।।

---

1 Variant reading कानने कुत्रचित् ।

2 Variant earlier reading is : —विधाय मृगयोचितं सपदि वेषमिष्वासनं ।

अथ स किल विदित्वा स्वावतारं समाप्तं
तनुमिह विजिहासुर्ध्यानयोगात्स्वकीयाम् ।
वदनविवरनिर्यज्ज्योतिरात्मीयमुच्चैः
सजलजलदनीलज्योतिषैकीचकार ।। ७८ ।।

योन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवैदयनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते दुर्योधनौजःस्तुतिः ।। ७९ ।।

"इति श्रीमद्वैदयविश्वनाथकृतौ श्रीशत्रुशल्यचरिते महाकाव्ये
महाराजश्रीदुर्योधनवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।"

"दशमः सर्गः"

अथ स भोजनृपो गुरुमुर्जनात्
समधिगम्य महीं महतीं क्षणात् ।
चिरतरं विरराज दिनात्यये
दिनमणर्वरभासमिवाऽनलः ।। १ ।।

रुचिरचम्पकचारुतनुच्छवि-
स्तरुणनीरदधीरतरस्वरः ।
विकसिताऽरुणपङ्कजलोचनः
स वसुधां वसुधामधरोऽन्वशात् ।। २ ।।

सुजगतीत्रयजाङ्घिकविक्रमः
स्वगुणनिर्जितसन्नृपविक्रमः ।
अतितमामकरोदनुरागिणोः
स जनता जन-ताप-हरो नृपः ।। ३ ।।

चिरमसौ द्रविणोदकवृष्टिभि-
र्दहनदारुणदाहदरिद्रताम् ।
तृषमिवाऽर्थिखगस्य हरन् यशः-
सुमुदिरो मुदिरोपम उद्बभौ ।। ४ ।।

स्थितवतीह महार्हनृपासने
पदनताऽरिकिरीटमणित्विषः ।
नखरुचाऽरुणिता अनुरागकं
निजगदु-र्जगदुग्रजयश्रियः ।। ५ ।।

अहिभयं जगति प्रहरन् क्षणात्
स्ववरनामलसन्मनुमात्रतः ।
प्रमुदिता विदधौ सुचिरं प्रजाः
स विनता विनतासुतविक्रमः ।। ६ ।।

अतितरामधिबुन्दि महीधर-
ध्वनददभ्रसुधीरपयोधराः ।
प्रहरदुन्दुभयोऽस्य चकाशिरे
वसुमती-सुमतीशितुरुच्चकैः ॥ ७ ॥

यदपि सन्ति नृपास्तु परःशता
भुवि तथाऽपि न कोऽप्यमुना समः ।
यदुरुवीर्यशिखिद्रुतवाडवः
समकरोन्मकरौकसि संस्थितिम् ॥ ८ ॥

रुचिरचालुकवंशशिरोमणे-
र्धरणिमण्डनतोडपुरेशितुः ।
स बनवीरनृपस्य मनोहरां
श्रितनयां तनयामवृणोन्नृपः ॥ ९ ॥

त्रिजगतीवररूपसमुच्चयै-
र्मनसिजेन हृदा किमु निर्मिता ।
इयमहो वरराजकुमारिका
विनयतो नयतोऽप्यभजत् पतिम् ॥ १० ॥

व्रततपोनियमैः परितोषिता-
न्मुररिपोरिमकौ किल दम्पती ।
तनुजमापतुरुग्रपराक्रमं
जनहितं न हितं दधतं द्विषाम् ॥ ११ ॥

जगति राजितराजकमस्तके
मुकुटरत्नमिवोदित एष यत् ।
अजनि रत्न इति क्षितिभृत्सुतो
विनतिमानतिमानहरो द्विषाम् ॥ १२ ॥

अथ पितुः स सखायमकब्बरं
सहचिकीर्षुररं समरे नृपः ।
अनु पुलिन्दमियाय रिपुक्षये
सुचतुरं चतुरङ्गबलं दधत् ॥ १३ ॥

कटुरटत्पटहध्वनिशात्रवव्रज-
वितीर्णसुकर्णपुटज्वरः ।
त्रिजगतीजयकेलिरुचिर्नृपो-[1]
ऽधिसमरं समरंस्त पुलिन्दकैः ।। १४ ।।

अनणुघोररणद्वरकिङ्किणी-
क्वणितकङ्कणदारुणकार्मुकम् ।
समधिकृष्य शरैर्हरितो भवः
पतिरयं तिरयन् समयुध्यत ।। १५ ।।

वरपुलिन्दभटेभ्य उदारधी-
र्यमनिकेतनराज्यमरं ददत् ।
स वशयन्नपि मण्डगिरिं रणे
कमलयाऽमलया परिषष्वजे ।। १६ ।।

उपकृतोऽप्यमुना नृपमानकः
खलतरः पुरतोऽकबरस्य सः ।
पिशुनतामकरोद्विषमुद्गिर-
त्यहिरहो हि रहोऽपि सुसत्कृतः ।। १७ ।।

"अधिफणं फणिनां मणिलिप्सया
स्वशयमुत्क्षिपतः किल साहसात् ।
अपि च केसरिकेसरकं
मदादसुलभं सुलभं बत मन्यतः[2] ।। १८ ।।

कठिनसत्कमठान्वयजन्मनो
यदि तवाऽस्ति मणिग्रहणे बलम् ।
अपि गृहाण तदाद्य कटारिकां
प्रविलसद्विलसद्दलकादिति ।। १९ ।।"

---

1 Earlier reading is :—त्रिजगतीजयकेलिगृहे नृपो ।

2 Variant reading in the margin is (सुलभं बत) जानतः ।

अकबराऽनुमतेन किलाऽर्थयन्
प्रवरहीरमणिं नृपमानकः ।
द्रुतममर्षकषायदृशाऽमुना
निजगदे जगदेकविजिष्णुना ॥ २० ॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

दिवमुपेयुषि दिल्लोपमातरि[1]
प्रसभमुण्डितकूर्चशिखण्डके ।
नृपगणे स बभाविव केसरी
सुसमजे समजेयपराक्रमः[2] ॥ २१ ॥

स्वपितृदत्तसखित्वसुदक्षिणं
द्रुतमकब्बरमाहवदक्षिणम् ।
प्रचलितं सुजवादनुगुर्जरं
गुरुबलोरुबलोऽनुययौ क्षणात् ॥ २२ ॥

अकबरस्य रणे सहकृत्वनः
क्षितिभुजोऽस्य सुभीमभुजौजसः ।
प्रववृते वरगुर्जरसैनिकैः
सुसमरो समरोषविषार्चिषः ॥ २३ ॥

विकटकोपभटोर्मिघटाकुले
झटिति गुर्जरसैन्यमहोदधौ ।
प्रवरसेतुलसत्पदवीं शरैः
स महिता-महितापहरो व्यधात् ॥ २४ ॥

समरकार्मणकार्मुकधारिणो
द्रुतममुष्य विपक्षगणोरसि[3] ।

---

1 Variant reading, first line त्रिदिवभाजि तुरुष्कपमातरि ।

2 Variant reading, fourth line जनतया नतया कृतसत्कृतिः ।

3 Variant reading of the second line is द्रुतममुष्य विरोधजुषामुरः ।

प्रवरधैर्यसुरत्नचिकृक्षया
पविशरा विशरारुतरा ययुः ।। २५ ।।

क्षितिभुजोऽरमुदारधियोऽमुतः
समिति लक्षमिता वरमार्गणाः ।
ययुरहीशपुरो गदितुं यशः
श्रितरसास्तरसाऽनु रसातलम् ।। २६ ।।

मुखरधन्वगुणध्वनिगर्जिते
परपृषत्कमुचीह नृपेऽम्बुदे ।
प्रननृतुः सुभटा हृतकन्धराः
समुदिता मुदिता इव बर्हिणः ।। २७ ।।

इति स गुर्जरसगरसंसदि
प्रकटयन् धनुषि स्वकलाधवम् ।
वरकृपाणकलां समपप्रथत्
स्वयमसौ यमसौष्ठवरोषतः ।। २८ ।।

विततवक्कुंकटङ्कसुमार्जनात्
खरतरः किल तस्य कृपाणकः ।
कुपित काल इवाऽऽशु युगात्यये
त्रिजगतीं जगतीशितुरग्रसत् ।। २९ ।।

असिलताऽस्य मनोजलसत्सुर-
प्रणयिनीजनवाचिकहारिणी ।
उपगलं जगृहे सुचिरं भटान्
वरतरान् रतरागवशात् स्वयम् ।। ३० ।।

करटिकुम्भजमौक्तिकपुष्पिणी
रुधिरबिन्दुमिषारुणतन्तुभिः ।
सुकलिताऽसिलता कबरीव सा
जयरुचोऽयरुचोऽस्य करे बभौ ।। ३१ ।।

इति रणे स निहत्य बहून् भटान्
समरदुर्मददोर्द्र्यदारुणान् ।

अथ तदीयशिरःकमलैः स्रजं
समकरोन् मकरध्वजवैरिणः ।। ३२ ।।

त्रिजगदेकभटः स महीपति-
मुंदफरं वशयन् धरणीश्वरम् ।
समररङ्गगृहे परिषष्वजे
रुचिरया चिरयाऽपि जयश्रिया ।। ३३ ।।

प्रविलपन्तममुं करुणं वचो
मुदफरं गुरुमूर्जरदिक्पतिम् ।
करुणया सममूमुचदुच्चकैः
स वरया वरयानयुतो नृपः ।। ३४ ।।

जलनिधेरभितः परिखां दधत्
परभटैर्मनसाऽपि सुदुर्ग्रहम् ।
बहुसमृद्धजनं पुरमग्रहीत्
स सुरतं सुरतक्षितिमण्डलः[1] ।। ३५ ।।

स्वभुजविक्रमतः समराम्बुधेः
प्रमथितादधिगत्य यशःसुधाम् ।
हरिरिवाऽमरराजमकब्बरं
स सुहितं सुहितं विदधतेतमाम् ।। ३६ ।।

अकबरेण सहैव किलाऽर्गला-
पुरमुपेत्य नदज्जयदुन्दुभिः ।
रुचिरशक्तिधरः प्रविवेश स
स्वभवनं भवनन्दनविक्रमः ।। ३७ ।।

परिसरे किल यस्य यमस्वसा
वरतटोल्लसदिन्द्रमणित्विषा ।

---

1 The ms. has a marginal note. =समुद्रोपकण्ठे सूरथनामकं नगरं =सूरथभङ्-अच इति भाषया नगरद्वयं वर्तते तन्मध्ये सूरथनामकं पुरमिति यावत् ।

अधिकमेदुरनीलजलच्छवि-
र्वहति संहतिसक्षयदांऽहसाम् ।। ३८ ।।

दिवसनायककार्यविधित्सया
किमु निशास्वपि यद्वरसौधजा ।
कमलरागमणिप्रकरोल्लस-
च्छविरलं विरलं विदधे तमः ।। ३९ ।।

प्रसृमरच्छविसन्मणिनिर्मिते
वरयदीयविलासगृहे स्थिता ।
समनुरक्तमना अपि सुन्दरी
प्रियतमेऽयतमेऽप्यकरोद्रुषम् ।। ४० ।।

अतिविशालमपि प्रततस्फुरद्-
रुचिरचित्रितशालविराजितम् ।
अधिवसन्निह हर्म्यवरं नृपो[1]
विहृतवान् हृतवान् मघवत्सुखम् ।। ४१ ।।
(चतुर्भिः कलापकम्)

अथ नृपाऽकबरस्य परःशतै-
रपि भटैः समरेषु सुदुर्ग्रहम् ।
स रभसादमदानगरं ययौ
सुवरणावरणाऽतिभयङ्करम् ।। ४२ ।।

यमदिशो नृपतेः किल कामिनी
रुचिरचन्द्रमुखी रणभामिनी ।
वसति यत्र वधूरिव शूलिनो
भुवि मता विमतान्तकरी स्वयम् ।। ४३ ।।

अतिगभीरलसत्परिखाच्छलाद्
रिपुगतेरिव कुण्डलनां दधत् ।

---

1 Earlier reading in the ms. is इह स हर्म्यवरं निवसन्नृपो ।

यदवरोधगृहं यमदिक्पते-
र्नयविदोऽयविदो विजयश्रियः ॥ ४४ ॥

यदतिधीरतराऽनलनालिक-
ज्वलनदग्धरिपुव्रजकाननम् ।
वरविरोचननप्तृपुरं यथा
भुवि तथाऽवितथाविधमुद्बभौ ॥ ४५ ॥

अपि च यत्र सुवीरतरस्थले
शरशरासनखड्गकरास्त्रियः ।
समिति मातृगणा इव विद्विषा-
मविकलं विकलं विदधुः कुलम् ॥ ४६ ॥

त्रिजगतीविजयैकनिकेतनं
नरपतिः समराऽसमविक्रमः ।
तदभिनद् रभसादमदाभिधं
स नगरं नगरन्ध्रकरोपमम् ॥ ४७ ॥
(पञ्चभिःकुलकम्)

हयमधिष्ठित एव यदुच्चकै-
र्द्रुततमं विभिदे वरणं रणे ।
तदवगुण्ठपटं यमदिक्स्त्रियो-
ऽपहृतवान् हतवामरमः किमु ॥ ४८ ॥

पितृपतेर्दिशि यत्र रवेरपि
ह्रसति चण्डतरोऽपि रुचां व्रजः ।
स परितापितशत्रुरिहाप्यहो
स्वमहसा महसारयुतोऽभवत् ॥ ४९ ॥

अस्त्रीयमानां स्त्रियमप्यजस्रं
युद्धेषु तां चन्द्रमुखीं स भूपः ।
चण्डांशुचण्डोरुकरप्रताप-
श्चक्रे सतन्द्रां विलसद्बलो द्राक् ॥ ५० ॥

स नृपतिरिति दक्षिणां दिशं तां
निजसुनिदेशवशंवदां विधाय ।
अकबरनृपकामकल्पवृक्षः
सुमगधगीतगुणो ययौ पुरीं स्वाम् ।। ५१ ।।

प्रतिष्ठासौ स्वर्गं द्रुतम**कबरे माननृपतौ**,
प्रदातुं तत्पुत्रे गुरुधरणिभारं समुदिते[1] ।
प्रसह्य **श्रीभोज**स्त्रिभुवनविजेत्रोऽ**कबरजं**,
शचीशानप्रस्थाधिपतिमकरोच्छाहशिलिमम् ।। ५२ ।।

त्रैलोक्याऽभयदानदीक्षितभुजः **श्रीभोजभूमीप**तिः,
क्षात्रं धर्ममिवावतीर्णमनिशं लोकानहो रक्षितुम् ।
स्वप्रावपुण्यलतापचेलिमफलं[2] **श्रीरत्नसंज्ञं** सुतं,
संस्थाप्य क्षितिमण्डले मधुभिदो दध्यौ पदाम्भोरुहम् ।। ५३ ।।

योन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याऽम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवेदचनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते श्रीभोजदेवः स्तुतः ।। ५४ ।।

"इति श्रीविश्वनाथकृते महाकाव्ये श्रीशत्रुशल्यचरिते
भोजदेववर्णनो नाम दशमः सर्गः"[3]

---

1 The variant reading in the ms. is : प्रयाते स्वर्लोकं (द्रुतमकबरे माननृपतौ) (प्रदातुं) पौत्रायोदयतवति तदीयाय धरणीं also there is a third reading नृपतां instead of धरणीं.

2 Variant reading in the ms. in third line is—भूतं पूर्वसुकर्म्मचेलिमफलं.

3 The colophon should be भोजदेववर्णनं नाम etc. or the compounded form भोजदेववर्णनः should be taken as बहुव्रीहि, an adjective of सर्गः (भोज-देवस्य वर्णनं यस्मिन् सः सर्गः).

"एकादशः सर्गः"

परं गुर्वीमुर्वीं दधदथ सुदुर्वीरदमन-
स्त्रिलोकीनिःशोकीकरणतिलकीभूतचरितः ।
प्रजापुञ्जं भुञ्जन् स्वभुजयशसाऽञ्जन्
जनक्ष्शोऽप्ययत्नं श्रीरत्नो व्यजयत चिरत्नानपि नृपान् ।। १ ।।

सुवर्णाभं वर्णं वपुषि कलयन्नर्णव इव
प्रगम्भीरो धीरो गिरिरिव रणे रोषविषमः ।
कुलोत्तंसो मांसोपचितरुचिरांसोऽतिशुशुभे
सुवक्षाः पद्माक्षो भुजपरिघविक्षोभितरिपुः ।। २ ।।

शरच्चन्द्रातन्द्राननरुचिरनिद्राणनलिन-
स्फुरत्स्पर्धाबन्धोद्धुरचरणशोणायितनखः ।
रणे धीरो वीरोऽम्बुधिरिव गभीरोऽप्ययमहो
महोभिर्भूयोभिः सुरपतिमभीतो व्यजयत ।। ३ ।।

प्रतापस्तस्याहो सपदि रिपुलक्ष्मीकुमुदिनी-[1]
स्फुरन्निद्राक्रीडाप्रसभसुभगम्भावुकरुचिः ।
दिशोऽष्टौ संव्याप्य द्रुतमथ समुद्रांश्च चतुर-
स्त्रयोदश्या मूर्त्या भ्रमति गगने सूर्यमिषतः ।। ४ ।।

यशःस्तोमस्सोमो धरणिपतिरत्नाम्बुधिभवो
दृढोन्मन्थक्षुब्धाऽमृतजलधिफेनोज्ज्वलतरः ।
धृतो मूर्ध्ना सर्वैर्दिशि विदिशि निघ्नन्नपि तम-
श्चकोरीणां तृप्तिं वितरतितमामह्न्यपि चिरम् ।। ५ ।।

अमन्दं भिन्दानः परहृदयकामं भुजवरः
कथङ्कार घोरः सुरतरुतुलामस्य लभताम् ।
अनल्पः कल्पद्रुर्ध्रुवमवनिपस्यास्य चरणः
श्रितानां शत्रूणामपि दिशति कामान् सपदि यः ।। ६ ।।

---

1 Variant reading. A रिपुलक्ष्मीकमलिनी etc.

सुराणां पातेन्द्रः पिबति मखशिष्टाऽमृतमसौ
स गोत्राणां भेत्ता प्रमदयति गोत्रं पुनरयम् ।
बलद्रोही शक्रो नृपतिरयमुच्चैर्धृतबलः
कथङ्कारं रत्नक्षितिपतिरसौ तेन सदृशः ।। ७ ।।

नितान्तं सच्चिन्तामणिमपि तृणीयन्नतिहठात्
प्रसादो निःसादो वितरति फलं कुण्ठिमनसे ।[1]
प्रकोपोऽप्येतस्य क्षितिपतिमणेर्दिक्पतिमपि
प्रसह्योच्चैर्दीनं रचयति पदभ्रंशविधुरम् ।। ८ ।।

सुधाहेतोर्देवैः सपदि मथितस्याथ जलधे-
रवेदीद्गाम्भीर्यं[2] किमपि तदहो मन्दरगिरिः ।
परन्तु श्रीरत्नक्षितिपतिमणेरस्य मनसो
गभीरत्वं ज्ञातुं त्रिजगति न कोपि प्रभुरभूत् ।। ९ ।।

कदाचिच्छक्यन्ते नभसि बत तारा गणयितुं
सुसिद्धैर्मीयन्ते कथमपि नरैर्जात्विगुगणाः ।
परं त्वस्य क्षोणीपमुकुटमणेर्लोकविदिताः
कवीनां वाचामप्यहह विषयाः सन्ति न गुणाः ।। १० ।।

अयं बाल्ये तिष्ठन् रुचिरचरणाद्रौ भृगुभुवं
स्तयत्यासंस्थाने सकलजनरक्षाक्षमभुजः ।
समुग्रं सङ्ग्रामे कमपि यवनं दारुणबलं
स्वतेजःसद्दीपे शलभमिव चक्रे युधि रुषा ।। ११ ।।

अथाऽम्बेरीभर्तुः प्रवरभगवन्नामनृपते-
र्महीधौरेयोदयत्कमठकुलपद्माकररवेः ।
सुतां लावण्याब्धेर्मदनमथितात्तूर्णमुदितां
श्रियं साक्षाच्छ्रीलामभजत स रामोपपदिकाम् ।। १२ ।।

---

1 The earlier reading in the ms. is कुण्ठितमनः corrected in the margin as कुण्ठिमनसे.

2 The earlier reading in the ms. is जलधेरवैत्सीद्गाम्भीर्यं corrected to रवेदीद्गाम्भीर्यं in the ms. itself.

अरुन्धत्येवोच्चैः पतिचरणविन्यस्तमनसा
वपुःसौन्दर्यश्रीविजितसुरदृप्यत्प्रमदया ।
तया रम्ये हर्म्ये रहसि रममाणः स नृपतिः
सुतं गोपीनाथं भुवनवरवीरं प्रसुषुवे ।। १३ ।।

अथो गोपीनाथप्रसवसमये तत्र नृपतौ
मुहुर्वर्षत्युच्चैः कनकमनु लोकं चिरतमम् ।
स्फुरत्स्पर्धाबन्धव्यतिकरत एवाऽमरगणाः
प्रसूनानां सङ्घं ववृषुरनु रत्नक्षितिपतिम्[1] ।। १४ ।।

अथाऽसौ श्रीरत्न(:)क्षितिपतनुजः सुन्दरतरः
शिशुक्रीडाः कुर्वन् सहजभुजदर्पोद्धतबलः ।
महेभानां दन्तौ सरभसमिवोत्पाट्य कृतक-
द्विपानां वक्त्रान्तर्झटिति निदधौ स्मेरवदनः ।। १५ ।।

अयं क्रीडन् कण्ठीरवशिशुलसत्केसरसटा
लुनानः साटोपं स्वसदृशवयस्यैः परिवृतः ।
निधाय ग्रीवायां कृतकतुरगाणामतिजवात्
समारुह्याथाऽमून् द्रुततरमधावत् क्षितितले ।। १६ ।।

वयस्यानामर्द्धं स किल निजपक्षं विरचयन्
विपक्षीयं कृत्वा सपदि परमर्द्धञ्च बलवान् ।
परं वर्षन् रोषाद्द्रुतमथ विशल्यानिषुगणाञ्-
शिशुक्रीडायुद्धे सुमहति विजिग्ये प्रमुदितः ।। १७ ।।

चिरादित्थं क्रीडञ्शिशुरपि स नागायुतबलो
भुवो भारं हन्तुं किमु समवतीर्णो बकरिपुः ।
गिरेः श्रृङ्गं तुङ्गं निजभुजबलाऽऽलोककुतुकी
करे बिभ्रद् रेजे हरिरिव स गोवर्द्धनधरः ।। १८ ।।

---

1 The earlier reading is ववृषुरनु रत्नक्षितिपतेः

प्रचण्डं क्रीडन्तं विकटभटदन्तावलघटा-
समुत्कण्ठं कण्ठीरवमिव सुविक्रान्तचरितम् ।
सुतं गोपीनाथं धरणिभरधौरेयमचिरा-
दमन्दानानन्दान्मनसि बहु मेने स नृपतिः ।। १६ ।।

रणार्थिप्रत्यर्थिस्फुरदुदधिनिर्यज्जयरमा-
सुकेलीनिष्णातप्रततगुरुदोष्णाऽथ नृपतिः ।
सुतेनाऽसौ तेन द्विगुणितबलप्रौढिमयुतः
पुरीं बुन्दीं द्रष्टुं सह परिजनेनाऽऽशु समगात् ।। २० ।।

दधानां दुर्गौघं धनपतिमहेशादिकलितं
परं वन्द्यं वृन्दारकनगरनिन्दापटुतराम् ।
पुरीं बुन्दीनाम्नीं कनकरुचिधाम्नीमधिवसन्
सुतं गोपीनाथं व्यधित युवराज स नृपतिः ।। २१ ।।

अथो पित्रा न्यस्तां स्वशिरसि समस्तां क्षितिधुरां
वहन् गोपीनाथो रिपुकुलकरालोद्भटभुजः ।
महामेलादुर्गाधिपविजयनाथक्षितिभुजः
सुतां मात्रानाम्नीं ललितमधुराङ्गीमुदवहत् ।। २२ ।।

अजस्रं व्यामिश्रश्रुतिपठनमन्दायितधियो
विधेः स्पर्धाबन्धाद्द्रुतमिव समुच्चीय जगतः ।
अगण्यं लावण्यं कुसुमधनुषा किं नु कृतया
तया गोपीनाथः सपदि चक्रुषे स्वैदृढगुणः ।। २३ ।।

कुरङ्गीदृग्भङ्गीसुभगसदपाङ्गेक्षणभरै-
रनङ्गं पूर्णाङ्गं जगति विदधत्या द्रुततरम् ।
तया रुक्मिण्येव श्रिय इव पतिः साधु विहरन्
स शत्रूणां शल्यं तनुजमसविष्ट स्मरमिव ।। २४ ।।

सुभव्यं दिव्यानां पटुपटहढक्कासुमुरज-
स्फुरत्सद्भेरीणां ध्वनिततिभिराम्रेडिततरः ।
परं हर्षोत्कर्षः स्फुरदगणितातोद्यनिनदो
गृहे श्रीरत्नस्य प्रमुदितजने प्रादुरभवत् ।। २५ ।।

अनल्पप्राक्कल्पार्जितसुकृतसञ्जातसुफला-
द्विवर्ते मूर्तेऽस्मिन्नवतरति रत्नोदवसिते ।
अमन्दं मन्दारद्रुमकुसुमवर्षेण मरुतां
सहाऽभूत् पौरीणां कुवलयदृशां मङ्गलरवः ।। २६ ।।

जनन्या धन्याया: सदुदरमजस्रं सफलय-
न्नलङ्कुर्वन्नुच्चैरविरतमरिष्टोदवसितम् ।
स नप्ता रत्नस्य प्रसृमरमणिस्तोममहसां
स्वभासा कुड्यानां सपदि निरयामास सुषमाम् ।। २७ ।।

अनल्पे कल्पान्ते जठरपिठरे यस्य लसति
त्रिलोकी कृत्स्नेयं कलितललिताऽमेयवपुषः ।
निजे चित्ते नित्यं तमपि दनुजारिं कलयतो-
ऽप्यमुष्याऽहो हर्षो न सुत सुतजन्मा हृदि ममौ ।। २८ ।।

अथामन्दामोदाहतपटहभेरीसुनिनदै-
श्चिराच्छ्रव्या भव्या नभसि सहसा वागुदचरत् ।
द्विषां दत्त्वा मूर्ध्नि प्रसभमयमङ्घ्रिं निजबला-
च्चिरं भोक्ता नप्ता तव नृपतिरत्न क्षितिमिति ।। २९ ।।

गिरं दिव्यां भव्यां सपदि हृदयव्याधिदलिनीं
लसद्वर्णां कर्णाञ्जलिपुटसुपेयां विरचयन् ।
सुधार्णोधौ तूर्णं परममभिषुण्वन्निव बला-
दुदञ्चद्रोमाञ्चः समजनि स भूजानिरचिरात् ।। ३० ।।

निजं प्राज्यं राज्यं सततमनुरज्यज्जनपदं
परं दर्शं दर्शं रचितवसुहर्षं स नृपतिः ।
सुतं गोपीनाथं परभटगजेन्द्राङ्कुशभुजं
प्रतस्थे संस्थाप्य स्वयमिह विजेतुं दश दिशः ।। ३१ ।।

प्रतापैराक्रामन् क्षितिमथ सुविक्रान्तचरितः
स शाल्यादिं मथ्नन् सपदि समरे वाहननृपम् ।
गुणोदाहं वं दुर्गं प्रविकटभटैर्दुर्ग्रहतरं
स्ववीर्येणाह्लाय क्षितिपतिरगृह्णात् पुरमिव ।। ३२ ।।

अथो दिल्लीभर्तुर्विजयसहकृत्वा स नृपतिः
क्षणात् क्षोणीचक्रं स्वयममितमाक्रम्य तरसा ।
परं बद्धस्पर्धः समिति वरराणानृपतिना
सुरत्राणं त्रातुं त्वरितमजमेरीमुपययौ ॥ ३३ ॥

अयं दिल्लीपालप्रबलबलमौलिं चिरतमा-
मलङ्कुर्वन्नौर्वप्रतिभटसुदोर्दण्डचरितः ।
शरान् वर्षन् रोषाद्वशितमपि कारुण्यवशतो[1]
रणे राणाक्षोणीरमणमसुशेषं प्रविजहौ ॥ ३४ ॥

समुन्मुक्तं तेन क्षितिमघवता हन्त तमरिं
पुरोभागी श्रुत्वा खुरम इति दिल्लीपतिसुतः ।
बहुम्मन्यो येन त्वमसि नृपरत्नोऽद्य मिलितः
स ते शत्रूनित्थं व्यधित पितुरग्रे पिशुनताम् ॥ ३५ ॥

प्रकृत्या धीरोऽपि क्षितिपतिरथो शाहशिलिमः
स्वभावं पापिष्ठं निजयवनजातेरुपगतः ।
स्फुरत्कोपाटोपोल्लसदरुणकोणेक्षणयुग-
स्तमाहन्तुं हन्ताऽचकमत चिरं चेतसि निजे ॥ ३६ ॥

विपक्षाणां पक्षं श्रितमपि समक्षं सखितया
दयालुर्नास्मि त्वां कथमपि निहन्तुं प्रभुरहम् ।
अतो दुर्गाक्रान्तं विषममुपगत्य स्वविषयं
भवेः क्रुद्धो योद्धुं मम पृतनया त्वं बहुलया ॥ ३७ ॥

इति क्रोधक्रूरं यवनपवचोभावहरिणा
समाख्यातः ख्यातो जगति नृपरत्नक्षितिपतिः ।
स्फुरत्कोपाटोपोत्कटविकटकंठीरवरव-
प्रतिस्पर्धिध्वानो द्रुततरमभाणीदभिसभम् ॥ ३८ ॥

ज्वलज्ज्वालाजालप्रबलभुजतेजोग्निवरणं
समुद्वृत्तं कृत्ताऽहितरुधिरपाथोधिपरिखम् ।

---

1 The earlier reading in the ms. is वशितमपि हिन्दूकदयया.

प्रसिद्धं दुर्गं नो दिनमणिकुलाम्भोधिजनुषा-
मसन्दिग्धं विद्धि क्षितिवलयमम्भोधिकलितम् ।। ३९ ।।
(त्रिभिर्विशेषकम् ।)

अथादभ्रभ्राम्यद्भ्रुकुटिविकटापाटलदृशा
तिरस्कुर्वन् क्रूरप्रलयरविसङ्घं मुखरुचा ।
दिधक्षन् रोषेण द्रुतमहितपक्षान् क्षितिपति-
र्द्वयुत्या योधानां सह समभितस्थौ रणभुवम् ।। ४० ।।

समुन्नद्धं योद्धुं तमथ भवनोत्तुङ्गवलभी-
गवाक्षस्थः पश्यन् यवनपतिरुद्विग्नहृदयः ।
अयं जय्यः सेन्द्रैरपि न विबुधैरित्थमचिरा-
ज्जमानावेगेन प्रणयनयगर्भं निजगदे ।। ४१ ।।

तदुक्तं सञ्चिन्त्य स्वमनसि चिरं शाहशिलिमः
परं धूर्तस्याहो तनुजखुरुमस्यानुमतितः ।
विना शस्त्रै रत्नः प्रविशतु सुखं मे सद इति
स्वसेनाया नाथं द्रुतमसफखानं समवदत् ।। ४२ ।।

समाज्ञप्त पत्या द्रुतमभिहितस्तेन स नृपः
स्वदन्तांशुज्योत्स्नामुकुलिततदीयास्यनलिनः ।
जगौ त्रातुं धात्रा यदिह निहितं बाहुजकरे
कथं शस्त्रं जह्यां तदहमधुना क्लीबवदिति ।। ४३ ।।

भुजोत्सर्पद्दर्पग्रहिलमतिरित्थं स नृपतिः
सभां सौरत्राणीं विकटभटसङ्घट्टकठिनाम् ।
हसन्तीं सौत्रामीं सदसमलघुस्वीयविभवै-
स्तिरस्कुर्वन् सर्वानविशदचिराच्छस्त्रसहितः ।। ४४ ।।

ज्वलिष्यद्वीर्याग्नेरिव सहचरीं मेचकरुचि
स्फुरद्धूमश्रेणीमधिकटि कृपाणीं स कलयन् ।
द्विषत्कीर्तिज्योत्स्नाग्रसनकरराहुप्रतिभटां
दधानः कट्टारीं नरपतिसभे[1]ऽदीप्यततमाम् ।। ४५ ।।

---

1 The earlier reading in the ms. is कटारीं बिभ्राणो यवनपसभे etc.

प्रविष्टं दुष्टानां शिरसि विनिधाय स्वचरणं
ग्रहाणामुग्राणां तरणिमिव दीप्तं निजरुचा ।
विलोक्य श्रीरत्नं सपदि पिशुनाँस्तान् सखुरमाँ-
श्चिरस्थाऽपि क्षिप्रं त्विडिह कुमुदानीव विजहौ ।। ४६ ।।

दरिद्रां कुर्वाणं सपदि रुचिमैन्द्रीं स्वमहसा
नृपं तं श्रीरत्नं तरणिकुलरत्नाकरमणिम् ।
निमेषे मुष्णन्त्या यवनपतिरापीय तु दृशा
महार्हात्सिंहासनत उदतिष्ठत्स सहसा ।। ४७ ।।

स्वकर्णाभ्यां कर्णेजपवचनमैरेयमनिशं
परं पायं पायं प्रललप किलाहं त्वयि तु यत् ।
भवानागस्तन्मे किमपि सुसखे क्षाम्यतुतमा-
मिति प्रीणानोऽयं यवनपतिरूचे सविनयम् ।। ४८ ।।

अथामन्दामोदामृतसुहितचित्तः स सहसा
मरुत्त्वत्प्रस्थेशो मदकलितदन्तावलवरम् ।
ददन्मुख्यं सख्ये नृपमहितरत्नक्षितिभुजे
मनोवेगाँस्तुङ्गान् समदित तुरङ्गानपि बहून् ।। ४९ ।।

स धन्यो राजन्यस्त्रिभुवनसुमान्योऽप्यविरतं
तथाऽमानं मानं सदसि कलयञ्छाहशलिमात् ।
नदद्भेरीढक्कापटुनिनदसम्मिश्रमगध-
स्फुरत्स्तोत्रस्तोमः सपदि शिविरं स्वं प्रति ययौ ।। ५० ।।

निकामं वामाक्षिस्फुरणमनिमित्तं स्वहृदये
नितान्तं संशोचन् निजशिविरगो रत्ननृपतिः ।
समाहूतं त्रातुं स्वमिह पुरुहूतेन दनुजः
सहोग्रे सङ्ग्रामे सपदि युवराजं तमश्रृणोत् ।। ५१ ।।

नितान्तं संक्रन्तन् क्रकच इव हृन्मर्म सहसा
विसर्पन् सर्वाङ्गे बत विषमिवाऽहेयमचिरात् ।
दहन् गात्रं सद्यः खरखदिर जन्मानल इव
क्षमाभर्तुः शोकः स सपदि मतिं हन्त लुलुवे ।। ५२ ।।

सुधीरं संरोद्धुं क्षुभितकरुणापारजलधे
रयं यं यं यत्नं व्यधित धृतिसेत्वादिकमसौ ।
स संरम्भं तं तं सुतनिधनजन्मा नरपते-
रमुष्योच्चैः क्रूरः सपदि विभिदे शोकजभरः ।। ५३ ।।

प्रकृत्या गम्भीरं बत विततसत्त्वाश्रितमपि
क्षणात् क्षोणीभर्तुर्हृदयजलधिं दारुणतरः ।
ज्वलज्ज्वालाजालैरहह युवराजान्तजनितः
स शोकौर्वोऽखर्वो ननु चुलुकयामास सहसा ।। ५४ ।।

नितान्तं गाम्भीर्यादनधिगतवाष्पं प्रति सरो
ज्वलन्नन्तस्तीव्रं यदपि पुटपाकश्चिरमिव ।
अहो शोकोत्पीडस्तदपि नृपतेस्तस्य सहसा
बहिः कष्टं कष्टं स नयनगवाक्षान्निरगमत् ।। ५५ ।।

मनोमूषामध्ये[1] ज्वलदलघुदुःखानलशिखा-
समाध्मानादुच्चद्रुतमुपगतस्यातिरभसात् ।
अनल्पाः शुग्धातोः सरसकणिका भूपनयन-
प्रणाल्या सम्पेतुः समुपचितवाष्पोदकमिषात् ।। ५६ ।।

मुहुर्मुह्यन् द्रुह्यन् द्रुहिणकृतसर्गाय स नृपः
परं शोकावेगस्फुरदधरनासापुटयुगः ।
सुगम्भीरं निर्यन्नयनसलिलक्षालितमुखः
सुखेनोनो नूनं करुणजलधौ मग्न उदभूत् ।। ५७ ।।

अथाऽमुं व्यामुग्धं करुणशिखिदग्धं क्षितिपतिं
क्षणादुक्षामास प्रततनवपीयूषमधुरैः ।
पदैर्भव्यैर्दिव्या भणितिरिति मृद्वी त्रिदिवगं
तनूजं मा शोचीर्नृप वितर नम्रे भुवमिति ।। ५८ ।।

---

1 The reading is not clear in the ms. whether it is मूपा or मूषा. Context demands मूषा, which we have accepted, as the metaphoric image taken from alchemic preparation is referred to here.

अयं कर्णाभ्यर्णं सुरभणितिवर्णान् विरचयन्
समुष्णं निःश्वासं द्रुतमिव विमुच्य क्षितितले ।
इदं दैवादिष्टं क इव परिहर्तुं प्रभुरिति
क्षणं ध्यात्वा चित्ते सुतनिधनदुःखं प्रविजहौ ।। ५९ ।।

अथाऽयं दिग्दन्तावलकुलजशैलाहिपधृतं
निधित्सुर्भूयांसं क्षितितलभरं नप्तृशिरसि ।
समाधातुं चान्तःपुरमपि परं शोकविधुरं
ययौ मन्दं मन्दं शुचमपि विभिन्दन् निजपुरीम् ।। ६० ।।

मुहुर्मज्जन्तीनां तरुणकरुणापारजलधौ
स शुद्धान्तस्त्रीणां नृपतिरतिसान्त्वं विरचयन् ।
परं हस्तालम्बं सपदि वितरन् नाविक इव
प्रकामं प्रारेभे तमथ युवराजं रचयितुम् ।। ६१ ।।

अथो गौपीनाथिः शिरसि युवराजीयपदवीं
पितुः पित्रा न्यस्तां मुकुटमयभूषामिव वहन् ।
ग्रहाणामुग्राणां तरणिरिव दीप्यन्[1] स्वमहसा
समाकर्षच्चेतः परतिमिरशल्यं जनदृशाम् ।। ६२ ।।

त्रिलोकीदुर्वीरव्रजविजयदर्पोद्धतभुजं
भटं गौपीनाथिं सकलजनरागं विदधतम् ।
चकाशे वन्दारुक्षितिपतिकिरीटप्रणयिनां
रुचिर्माणिक्यानां[2] धरणिरिव नीराजितवती ।। ६३ ।।

वसन् बुन्द्यां वन्द्यः स किल गणरात्रं कतिपयं
नृपो रत्नः श्रीमान् सकलनृपसम्मान्यचरणः ।
विधित्सुः साहाय्यं रणशिरसि दिल्लीक्षितिपते-
र्निजामं तं जेतुं प्रभुमुपययौ दक्षिणदिशः ।। ६४ ।।

---

1 The variant readings are. तरणिरिव दीप्तः for दीप्यन्, and तूर्णं तिमिरमिव विद्वेषिनिकरम् for परतिमिरशल्यं जनदृशाम्.

2 Earlier reading in the ms. is रुचां माणिक्यानां.

स गच्छन् स्वच्छन्दं धरणिपतिरिच्छापुरवरं
नदद्भेरीढक्काध्वनिबधिरिताश्रिश्रुतिपुटः ।
निजामक्षोणीशप्रबल (बल-)नाथा-[1]
ऽम्बरमुखैर्भटैस्सार्धं युद्धं सकलजनभीमं व्यरचयत् ।। ६५ ।।

नितान्तं संवर्तक्षुभितसमवर्तीयवदन-
प्रचण्डं कोदण्डं रणशिरसि संस्फाल्य तरसा ।
अमर्षात् संवर्षन् विषधरकरालानिषुगणान्
परेषां प्राणानां व्यधित स नृपोऽत्यन्तविलयम् ।। ६६ ।।

श्रितोऽश्रान्तं लोकैरपि स नृपतिर्जीवनकृते
रणालङ्कर्मीणंधनुरपि सजीवं विरचयन् ।
स संरम्भभ्राम्यद्भ्रुकुटिकुलाक्षो यम इव
द्विषां जीवं जीवं युधि समपजह्रे द्रुतमहो ।। ६७ ।।

महाकल्पक्रूरप्रसृमरललाटन्तपकर-
स्फुरत्सूर्योत्तापं बत विनयमानो नरपतिः ।
विरुन्धानोऽप्युच्चैर्विशिखविषवर्षं रणभुवि
द्विषामस्त्रैश्चक्रे सपदि स सुभिक्षं पलभुजाम् ।। ६८ ।।

शराद्वैतं तन्वन् परभटशरारुः प्रतिरणं
दशन्नोष्ठं स्वीयं विषमविषरोषेण सहसा ।
रिपुस्त्रीणां बिम्बाधरपुटमसौ केलिकलहे
ररक्षाऽतिक्षिप्रं प्रियरदनगाढव्रणरुजः ।। ६९ ।।

समुद्वृत्ते कृत्तद्विपतुरगपादातबहल-
स्रवद्रक्तासारैः सपदि समरे पङ्किलभुवि ।
अहो नित्यं नृत्यत्प्रमुदितकबन्धैः सह परं
ननर्त श्रीरत्नक्षितिपतियशोनर्तकवरः ।। ७० ।।

---

1 The ms misses (बल) between प्रबल and नाथ replaced by us within brackets.

स्फुरत्कामस्याऽस्य प्रथितपरमारस्य समरे
जगज्जैत्रा भीमा अपि सुमहसो भैरवमुखाः ।
भटाः पञ्च प्रौढा वरमकरकेतोरिव शराः
पराञ्जित्वा भर्तुः परमनृणतां प्रापुरचिरात् ।। ७१ ।।

सुनासीरे तस्मिन् सततविततेष्वासनवरे[1]
रणक्षोणौ क्षिप्रं बहलशरवर्षं विकिरति ।
प्रनिर्वाणस्वौजोऽनलविलसदिङ्गालमलिनां
मुखे कान्तिं तान्ताः सपदि बिभरामासुरहिताः ।। ७२ ।।

प्रकामं याम्याऽऽशाप्रसभजयलक्ष्मीप्रणयिनी-
परीरम्भारम्भव्यतिकरविराजद्भुजयुगः ।
निजामाज्ञां कृत्वा समिति भुजदृप्ताऽम्बरशिरः-
किरीटस्पर्धालुं नृपतिरथ बुन्दीमुपययौ ।। ७३ ।।

प्रजाऽन्वीक्षाशिक्षाचटुलत्वरितामोदमधुरं
धुरीणं नप्तारं चरणपतितं स्वस्य विनयात् ।
मुहुः सान्द्रानन्दामृतबहलया तं निजदृशा
धयँश्चुम्बन् मूर्ध्नि क्षितिपतिरजस्रं स शुशुभे ।। ७४ ।।

स्वसात्कृत्याऽशेषान् द्रविणगणलोभेन नृपतीन्
परोलक्षैः सैन्यैः सह समरधन्योद्धुरभुजैः ।
जिघांसुं स्वं तातं खुरममथ यान्तं श्रुतवता
सुरत्राणं त्रातुं त्वरितममुनाऽधावि विभुना ।। ७५ ।।

अयं धावन् दिल्लीरमणसहकृत्वाऽद्भुततरा-
ममेयां तां मायां गजतुरगसम्प्रेषणमयीम् ।
तृणायोच्चैर्मेने खलखुरुमनाम्ना विरचितां
प्रतार्या नैवार्यास्त्रिदशपतिराज्यैरपि शतैः ।। ७६ ।।

यदाऽमुं दुष्टोऽसावभवदवकेशी वशयितुं
तदा योधैरस्य त्वरितमथ पन्थानमरुणत् ।

---

1 The variant reading is सततधृतबाणासनवरे.

परव्यूहं भीमं शरनिकरवर्षैः स तु भटः
किरीटीवोद्भिन्दन्नगमदवितुं शाहशिलिमम् ।। ७७ ।।

अथेन्द्रप्रस्थेन्द्रप्रततमददन्तावलवरं
रिरक्षुः सम्प्रातं खलखुरुमदुर्ग्राहवदनम् ।
स्फुरद्विष्वक्सेनो रिपुदलनचक्रोद्भटमहा-
महोन्द्रः सौपेन्द्रीं जगति बिभरामास सुषमाम् ।। ७८ ।।

व्रजन् दिल्लीशाङ्कं शरदुरुशशाङ्कोज्ज्वलयशा
निमग्नां सातङ्कां खुरुमबलपङ्केऽतिगहने ।
इमां गामुत्तुङ्गां निजभुजबलाच्छाहशिलिमीं
समुद्धर्ताऽख्यायि त्रिजगति स गोरक्षक इति ।। ७९ ।।

अथाऽमुं भास्वन्तं परतिमिरविध्वंसककरं
विलोक्य त्रैलोक्याऽभयवितरणोदारचरितम् ।
विशेषाद्दुर्दोषाकरखुरुमधाम्ना मुकुलितं
प्रफुल्लोच्चैर्दिल्लीपतिहृदयपद्मं द्रुततमम् ।। ८० ।।

परं गुर्व्या उर्व्याः सततममुना भूमिपतिना
पतिम्मन्यो मान्यो यवनपतिरुच्चैः प्रमुदितः ।
निजादेश्यैर्देश्यैर्मदकलित-दन्तावलशतै-
र्हयौघैश्चानर्च क्षितिपतिभटं रत्ननृपतिम् ।। ८१ ।।

विपक्षाणां पक्षं द्रुतमथ दिधक्षू तृणमिव
त्रिलोकीसंवर्ते प्रसभमुदितौ रत्नशिलिमौ ।
उभौ तौ वात्वग्नी इव सहगतौ वीक्ष्य सहसा
ललङ्घे दिक्चक्रं भयतुरगमारुह्य खुरुमः ।। ८२ ।।

मृगप्लुप्त्या तस्मिन्नपसरति दिल्लीपतिसुते
न मध्येतत्सैन्यं बत स ददृशे कोऽपि सुभटः ।
तपन्तं निःसीम्नि प्रततसमरव्योम्नि महसा
प्रभुस्तं भास्वन्तं भवतु किल यो वीक्षितुमपि ।। ८३ ।।

द्विषत्सर्पद्दर्पोल्वणफणिभुजा वीर्यशिखिना
दुराधर्षः शक्तिं भवनजयशक्ताञ्च कलयन् ।

वहन् सैनापत्यं नृपतिरयमत्यन्तमहितं
परं पीनं तापीपुरमधिवसन्नैन्ददनिशम् ।। ८४ ।।

यदुत्तुङ्गा गङ्गा कुकृतशिखिभङ्गाय भवति
स्मयस्तत्को वाऽस्मिंस्तुहिनगिरिसङ्गा हि यदसौ ।
त्रितापीं यत्तापीतपनतनयाऽऽपीय न चिरा-
न्निहन्त्युच्चैश्चित्रं जयति तदिदं ब्रध्ननगरे ।। ८५ ।।

निषद्यायां यस्मिन् पणिविततरत्नौघकिरणैः
स्फुरद्भिः संस्फूर्जत्तिमिरनिकरोल्लुण्ठनकरैः ।
समालोके लोके सपदि रचिते केवलमयं
सरोजानां मैत्रीं चिरमवति मित्रः समुदयन् ।। ८६ ।।

अदभ्रं बिभ्राणे प्रवरपुरकाणाञ्चयमयं
वसंस्तस्मिन्ननुच्चैर्गुरुणि नगरे रत्ननृपतिः ।
अवस्कन्दादिन्दन् प्रबलरिपुवृन्दस्य नितरा-
मवाचीं चञ्चन्तीं दिशमनुररञ्ज स्वमहसा ।। ८७ ।।

अथो दिल्लीभर्तुः परमसुहृदं राजघममुं
परं सैनापत्यं वरमिह वहन्तं यमदिशः ।
चरेभ्यः संशृण्वन् प्रथमनिकृतिक्रुद्धखुरुमो
निजामी-याकूतप्रमुखभटवृन्दैः सह ययौ ।। ८८ ।।

निजामीयामात्याऽम्बररचितसाहाय्यभरतः
परं लघ्वोच्छ्रायं तितनिषुरपायं क्षितितते ।
समाक्रम्याऽनेकाहगमनमपि पन्थानमचिराद-
दरौत्सीत्तं रामं खुरुमबलरक्षोभटभरः ।। ८९ ।।

त्रिलोकीसरक्षाप्रतिभुवमथैकाकिनममुं
स्थितं जानन्नौर्वप्रतिभटसुकोपाकुलमतिः ।
पतिः स क्रव्यादां सपदि निदिदेश स्वकभटान्
पुरं ब्राध्नं प्राध्वं कुरुत परितः सत्वरमिति ।। ९० ।।

निजस्वाम्यादेशप्रसभरभसानां रणरसा-
त्तनुत्राणं गात्रे सुपरिदधतां शीर्षकयुतम् ।

स्फुरच्छस्त्रव्रातं सपदि दधतां दारुणतरं
बभौ तद्योधानामनवरतमाहोपुरुषिका ॥ ९१ ॥

अपध्वंसात्प्राच्याद्रणविजयिरत्नेन रचिताद्
गभीरं संक्षुभ्मन् स खुरुम्महासैन्यजलधिः ।
समुद्वेलं वेल्लन्पटुपटहभेरीध्वनिमिषा-
न्मुहुर्गर्जन् लोकप्रलयमसुसूचद् द्रुततमम् ॥ ९२ ॥

दधद् धानुष्काणां कलहरसधीरां षडयुतीं
स्फुरत्स्पर्धाबन्धात् समरभुवि बद्ध्वा परिकरम् ।
धुरीणोदयद्धाराधरनिकरधीरध्वनिरसा-
वगादीद्गोपालं भटममलगौडान्वयभुवम् ॥ ९३ ॥

रणोत्सर्पद्दर्पग्रहिलगुरुदोर्दण्डमहसा
समाध्मातं रत्नं त्वमिह मम दौत्येन निगदेः ।
पुरं ब्राध्नं साधु प्रवितर न चेदद्य भवतः
क्षणान्मेदोमांसैरहमिह विधाता बलिमिति ॥ ९४ ॥
(युग्मम् ।)

अयं श्रीरत्नस्यानुचरवर उच्चैर्भटवरो
नमन्नङ्घ्री मूर्ध्ना धरणितललोलेन सततम् ।
धुरीणो गौडानां नयनिगमपारीणसुमतिः
प्रवक्तुं प्राक्रंस्त प्रवरखुरुमीयं किल वचः ॥ ९५ ॥

अहं यौष्माकीणो नृप परममासप्तपुरुषाद्
हृणीये दौत्येऽस्मिन् विघसलवणाशी तु यदपि ।
तथाप्यद्यावद्य जगति बत मां यत्परवशं
तुरुष्कीया सेवा मुखरयति तत् क्षाम्यतु भवान् ॥ ९६ ॥

श्रुतं यद्वा वैयाकरणमुखतः पाणिनिमते
त्रिपाद्यां यत् पूर्वं प्रति परमसिद्धं प्रभवति ।
तथा मे पूर्वस्यां त्वदनुचरतायामिह परा
खुरूमीया सेवा नृप परमसिद्धैवभवतु ॥ ९७ ॥

प्रवातं संवर्तं कलितबलसार्थं प्रतिघया
रिपूणां कुर्वाणः प्रणयवसुसम्मानितभटः ।
स्त्रिया वश्यं पश्यँश्चिरमपि सुरापं स्वजनकं
ग्रहीतुं तद्राज्यं विजयिखुरुमोऽद्य प्रयतते ।। ९८ ।।

सुतः सौरत्राणिर्यदपि परवेजाभिध इतो
वरीवर्ति ज्यायाँस्तदपि सहजप्रौढमहसा ।
महत् पित्र्यं राज्यं वशयितुमसावर्हतितमा-[1]
महो वीरैर्भोग्या भवति धरणी नैव चकितैः ।। ९९ ।।

रणारण्यप्रीणद्-विजयगजताऽऽलानविलसद्-
भुजस्तम्भैर्भीमाः समरसृमरप्रौढमहसः ।
यशोवित्ताविंत्तैरपि परममेतेन सहिताः
प्रियाकर्तुं वाञ्छन्त्यमुमसुभिरप्यद्य सुभटाः ।। १०० ।।

मुनेराज्ञामात्रव्ययितविभवं विन्ध्यमपि तं
सुवन्ध्यं कुर्वाणा निजतनुसमौन्नत्यमहसा ।
समोहन्ते हन्त प्रसभमरिलक्ष्मीकमलिनीं
रुषा मूलादुन्मूलयितुमिह तद्वारणगणाः ।। १०१ ।।

प्रमाथी प्रत्यर्थिप्रकरजलधेरित्थमचिरा-
दसावेको जेतुं प्रभवति समग्रानपि भटान् ।
इदानीञ्चान्याशापतिसहकृतस्याऽस्य पुरतो
वराकीं दिल्लीं कस्त्रिजगति समर्थः समवितुम् ।। १०२ ।।

तिरस्कृत्याऽशेषानपि सपदि रोषात् परभटान्
मृधे[2] शुल्के दिल्लीं विवरिषुरसौ द्वित्रिदिवसैः ।
त्वया तूर्णं तापीनगरमुपहारीकृतमिदं
परं वाञ्छत्यद्य रचयितुमहो मङ्गलविधिम् ।। १०३ ।।

---

1 The earlier ms. reading is प्रवशितुमसावर्हतितमा etc.

2 The ms. reading is मधे which we have corrected to मृधे (in the battle). The word शुल्के means 'for the object of gain'. It is in locative case—निमित्तात्कर्मसंयोगे.

अथ स्मारं स्मारं त्रिजगति सुसारं स्वहृदये
भवत्सेवाधर्मं तव हितकृदाख्यामि किमपि ।
अयं दिल्लीभर्ता ध्रुवमिह भविष्णुर्नयविदो
विरोध्यो नैवाद्धा भवति भवतो जातुचिदपि ।। १०४ ।।

शुभोदर्कायाऽस्मै त्वरितमुपदीकृत्य नगरं
निमित्तं त्वं दिल्लीग्रहणविषयेऽस्मादिह भवेः ।
पणैः प्राणैः क्रेये विधित उपनम्रे स्वयमहो
त्रिलोकीजङ्घाले सुयशसि विलम्बेत बत कः ।। १०५ ।।

इति श्रीरत्नाग्रे नयविनयरीतिं बहुतमां
निरूप्योच्चैस्तस्मिन् रहसि विरते वाग्मिनि भटे ।
स्मरन् क्षात्रं धर्मं निजविमलवंशप्रणयिनं
लघूकुर्वन् बुद्धया धिषणमवदत् तं स नृपतिः ।। १०६ ।।

नवाम्भोदस्निग्धं सदसि वदतस्तस्य नृपतेः
स्मितोन्मीलत्कुन्दप्रतिमरदवृन्दच्छवितति: ।
उदेष्यत्सन्दृप्यत्खुरुममदविध्वंसविलसद्-
यशश्चन्द्रज्योत्स्नाश्रियमुदयमानामुदवहत् ।। १०७ ।।

अहो सख्यादाख्यान् समयविहितं स्वायतिवचो
भवान् मेऽमून् स्वीयान् प्रसभमतिशेते बत कथम् ।
सुरत्राणस्नेहैः प्रसभमुपदिग्धा तु बिभृते
ममैषा हृत्पट्टी न भवदुपदेशाक्षरमपि ।। १०८ ।।

विवर्णीयां मैत्रीं यदि वदसि कार्यैकिकफला-
महो तद्दोषोऽयं न कथमभवत्ते दृगतिथिः ।
अहं यद्वा शङ्के नवयवनसंसद्वसतितो
भवान् क्षात्रं धर्मं चिरपरिचितं विस्मृत इव ।। १०९ ।।

पटुर्वाचोयुक्तौ यदसकृदवोचः परभटान्
विजेतारं घोरं सपदि गुरुसारं तु खुरुमम् ।
पुरा दिल्लीभर्तुः सपदि पुरतो विद्रुतममुं
श्रुतीयामो दृष्ट्वा कथमिव वयं तत्तव बचः ।। ११० ।।

अथतत्सैन्यौघः प्रलयजलधिस्ते यदि मतः
तदाऽगस्त्यं मां त्वं गणय बत तत्पाननिपुणम् ।
अथाऽमुं वेदाऽच्छप्रबलरिपुकान्तारदहनं
तदाऽहं किं न स्यां विशिखविषवर्षी नवघनः ।। १११ ।।

मृधप्रोद्यत्कण्डूविकटपरकाण्डीरनिधन-
प्रचण्डे दोर्दण्डे मम विजयलक्ष्मीप्रतिभुवि ।
परं जाग्रत्येतत्पितरि च खुरूमस्य वशगां
वदन् दिल्लीं व्योम्नः कुसुममपि मन्यस्व सुलभम् ।। ११२ ।।

हरिप्रस्थं कामं प्रभुरतभवादृग्भटबलात्
प्रबोधे स्वप्ने वा तव पतिरयं हन्त लभताम् ।
पुरं त्वेतत् ब्राध्न मदुरुभुजतेजोग्निवरणं
ग्रहीतारं सूते जगति बत का वाऽद्य भटसूः ।। ११३ ।।

अथैतद्दिल्लीसद्ग्रहणसुनिमित्तार्जितयशो
यशोवित्तं वेत्ता सुबहु मनुते चेद्बत भवान् ।
तदा पूर्वैः क्षुण्णां प्रवरभटसीमां विजहतो
ममाऽकीर्तिः स्थेष्टा तदपवदतां नाद्य तु कथम् ।। ११४ ।।

कदाचिद्गाम्भीर्यं सलिलनिधिरुज्भेद् भयवशात्
कुलक्ष्माभृद्वर्गः सपदि च विजह्यात्स्वगुरुताम् ।
यजेच्छेषो ऽशेषां धरणिमपि किंत्वस्थिपकुलं
प्रतीहि स्वां क्षात्रीं त्यजति न हि सीमां कथमपि ।। ११५ ।।

अतो ब्रूमो दिल्लीं निजकुलजकीर्त्ति सुखमसौ
स्वधाम्ना गृह्णातु प्रवरखुरुमोऽह्नाय तरसा ।
अथास्मै स्वीयौजोविजितवरपित्र्यासनयुजे
प्रदाताऽयं वीरः सपदि नियतं ब्रध्ननगरम् ।। ११६ ।।

इति श्रीमद्भोजप्रवरतनुजो रत्ननृपतिः
स मान्यो राजन्यव्रतनिगमपारीणचरितः ।

निजोदेष्यत्कीर्तिश्रुतिविलसदोङ्कारनिभया
गिरा चक्रे सूर्यं स्वकुलगुरुमाद्यं दिविषदाम्[1] ।। ११७ ।।

अथाऽसौ गोपालः प्रवरतररत्नक्षितिभुजा
कृताऽतिथ्यस्तथ्यं परमभिहितः क्षात्रचरितम् ।
सवैलक्ष्यं पश्यन् स्वहृदि पतिकामं विसुफलं
तदादिष्टं श्रेष्ठं खुरुमपुरतोऽचष्ट वचनम् ।। ११८ ।।

रहः कर्णाभ्यर्णं विदधदथ तूर्णं तदुदितं
विवर्णोऽसावर्णोनिधिरिव परं मन्दरगिरेः ।
दृढं मन्थात् क्षुभ्यन् बत जगदकाण्डप्रलयकृत्-
क्रुधा युद्धायाऽगाद्विकटभटपुष्टोद्भटमदः ।। ११९ ।।

विचिक्रसोः क्रूरप्रकृतिखुरुमस्याऽस्य विकटे
किलाऽसङ्ख्ये सङ्ख्ये बलजलनिधौ चित्ररुचयः ।
ध्वजा अन्तःस्फूर्जद्विषमतररोषौर्वदहन-
ज्वलज्ज्वालातुल्याः सपदि बत लोकैर्ददृशिरे ।। १२० ।।

पुरस्कृत्याऽशेषानथ दहननाडिन्धमभटा(न्)
गजानीकं पश्चात्तमनुगमयन् धन्विनिकराः ।
निवेश्यैतत्पृष्ठे महमदतकीयाकुतमुखान्
स्वयं तिष्ठन् मध्ये व्यतनुत बलव्यूहमसकौ ।। १२१ ।।

अरिव्यूहापोहं तितनिषुरिति व्यूह्य पृतनां
प्रसह्याऽसह्योजाः स सपदि जिघृक्षुः पुरवरम् ।
सहस्राणां षष्ठ्या समररसपद्या सुविकटो
भटानां सत्तापीपुरपरिसरेऽदीप्यततमाम् ।। १२२ ।।

परं कृत्वा वाम्यं समररसकाम्यं तु खुरुमं
सुसन्नद्धं शृण्वँस्तरणिकुलरत्नं स नृपतिः ।

---

1 The varient reading on the margin is गिरा चक्रे मीरूनपि समुदयच्छार्य-सुकृतान् ।

तितांसुः प्रत्यर्थिप्रलयफलमुच्चै रणमखं
भटर्त्विग्भिः सार्धं स्वयमथ सुदीक्षां समभिभः ॥ १२३ ॥

अयं समभिषेणयन् बलवतां बलीयान् परै-
र्मृधे परिदधे स्वयं न खलुवर्म गुप्त्यै तनोः ।
जगत्त्रितयरक्षणक्षमभुजाऽस्थिपालान्वयो-
द्भवामतिदृढं हि यत्कवचमस्ति वीरव्रतम् ॥ १२४ ॥

विपक्षकुलसंक्षयं तितनिषोर्विवक्षो रणं
गजस्थितसुवैजयंतकधृतं[1]स्ववंशागतम् ।
सुदर्शनमपि द्विषां परमभीमसन्दर्शनं
पुरोऽस्य शुशुभेतमां विजयिचारुचक्रं चिरम् ॥ १२५ ॥

वरिष्ठतरविष्ट्यत्रपगरिष्ठसत्कीर्तये
कराल-करवालिकां भगवतीं तितृप्सोर्मुदा ।
परं परकुलाऽसृजा[2] बलिसुदीपिकेवोद्धुरा-
व्यराजत पताकिका सपदि तस्य पीता पुरः ॥ १२६ ॥

अनूननिजविक्रमोद्धततनूनपार्दाचषा
विपक्षकुलकक्षकं क्षितिपतिर्दिधक्षुः क्षणात् ।
सुविष्टपविशिष्टसङ्कटकिरीटरत्नं जवात्
परं समरकौतुकी सपृतनः प्रतस्थे स्वयम् ॥ १२७ ॥

जनाऽसुधनतस्कर-प्रधनदर्पहालाहल-
द्विषद्भुजभुजङ्गमप्रशमतार्क्ष्यपक्षध्वनिः ।
क्षमावलयसंक्षयक्षुभितसिन्धुशब्दोद्धुरं
नृपस्य वरदुन्दुभिः सपदि तस्य साध्वध्वनीत् ॥ १२८ ॥

---

1 The ms. has वैजयन्तिकधृतं which is wrong, hence corrected by us.

2 The ms. has परकुलाऽसृजां in genetive plural; but we think it should be construed as an instrument of तितृप्सोः and hence we have taken the reading as परकुलासृजा in instrumental singular meaning 'with the blood of the family of the foes'.

असीमसमरोल्लसद्रभससादिसम्प्रेरण-
प्रधावदुरुसैन्धवोद्धुरखुरोद्धता धूलयः ।
नृपस्य युधि धक्ष्यतो बहलवैरिवंशाटवीं
प्रतापशिखिनो बभुः प्रपिशुनाः सुधूमा इव ॥ १२९ ॥

अथाऽनु परभूभृतः[1] प्रवरशस्त्रधाराभरं
परं विकरिषावहो महति तद्बलौघाम्बुदे ।
अकाण्डरिपुनाशकृद्विकटकोटिशक्तिद्युति-
च्छटा तडिदिवोद्भटा प्रददृशे सुदूराद् भटैः ॥ १३० ॥

घटोद्भव इवोद्भटो युधि भटः स रोषाञ्जलौ
विधित्सुररिवारिधिं जयरसातितृष्णन्नृपः ॥[2]
जगद्विघसघस्मरप्रलयकालकालानल-
प्रचण्डभुजविक्रमः समरसीम्नि रेजेतमाम् ॥ १३१ ॥

अथाऽस्य समराङ्गणे परभटैर्विचिक्रीडिषोः
प्रचण्डपरिपन्थिसत्प्रलयकालकर्णेजपाम् ।
दृशं सपदि शिश्रिये दरवशादिव द्वेषण-
व्रजीयहरिणीदृशामधररागकान्तिच्छटाः ॥ १३२ ॥

संस्फोटस्फायमानस्फुरदतिरभसौत्कण्ठचकण्ठीरवोच्च-
ध्वानव्याजात् स्वनन्तौ प्रविततविलसच्चित्रकोदण्डचण्डौ ।
शम्पासम्पातभीमप्रहरणनिकरज्वालजालोज्जटालौ
सञ्जग्माते मिथस्तौ प्रलयजलधरौ **रत्नदिल्लीशपुत्रौ** ॥ १३३ ॥

संख्यासंख्यातरोषप्रबलबलयुगप्रौढदोव्यत्प्रतापे
मध्येसङ्ग्रामरङ्गं प्रतपति परितः क्रूरमार्तण्डचण्डे ।
कल्पान्तव्यात्तकालानलनिभनलिका धीरधीरं ध्वनन्त्यो
दग्धुं युद्धे विदग्धान् रविदृषद इव प्रावमन्नग्निमुच्चैः ॥ १३४ ॥

---

1 The ms. has earlier reading as परभूभृतां (genetive pl.) corrected to भूभृतः (Accu. pl.) which is more correct as object of अनु ।

2 Ms. reading is जयरसातितृष्णङ्नृपः ।

दोर्दण्डोद्दण्डकण्डूविकटभटघटागाढसङ्घट्टनिर्यन्-
निर्मर्यादार्यवीर्यज्वलदनललसत्सत्स्फुलिङ्गप्रचण्डाः ।
कल्पान्तोच्चण्डचण्डीपरिवृढकुटिलप्रौढलालाटचक्षुः-
स्फोटस्फीता विरेजुर्महति बलयुगे नालिकोत्था हुताशाः ।। १३५ ।।

सारासारैः शराणामभिकसुरवधूकान्तसम्मेलकारै-
राकर्षद्भिः परेषामनवरतमयस्कान्तवद् गर्वलोहम् ।
द्यावाभूमी स्तृणद्भिर्विमतभटवधूवर्गवैधव्यदीक्षा-
शिक्षाचार्यैर्व्यरंसीत् क्षणमथ नलिकायन्त्रजो जातवेदाः ।। १३६ ।।

ओङ्कारोऽथ रणश्रुतेर्घनरवस्त्रैलोक्यकाल्पान्तिकः
[1]प्रत्यर्थिक्षितिपालकालनकलासन्नाटयनान्दीध्वनिः ।
आयास्यज्जयकुञ्जरेन्द्रविलसद्घण्टाप्रचण्डस्वनो
रेजे तद्रणकार्मकार्मुकभवः रू ङ्कार उच्चैस्तमाम् ।। १३७ ।।

तूर्णं कर्णान्तकृष्टोद्भटरटदटनिप्रौढकोदण्डमुक्तैः
श्रोरत्नीयैः पृषत्कैः खरतरखुरुमोद्दण्डयोधाः सुविद्धाः ।
खण्डीभूताङ्गयष्टिस्रवदसकृदसृक्सान्द्रधाराभिरङ्गे
सद्दिव्यस्त्रैणपाणिग्रहण इव दधुः कान्तकाश्मीरलेपम् ।। १३८ ।।

गर्जन्ति स्माऽञ्जसाऽऽजौ पटुतरपटहोद्दामगम्भीरमेघाः
क्रूरा नाराचधारा रविकुलजधनुर्वर्षति स्म प्रकर्षात् ।।
सिक्ता रक्तैः क्षरद्भिः परभटवपुषां भूमिरामूलमेषा
दिव्यानां कामुकीनां मनसिजसुलताः साङ्कुराश्चित्रमासन् ।। १३९ ।।

युद्धक्रीडावृषस्यच्चटुलभटघटाकण्ठपीठानि गृह्णन्
मृद्नन् निर्मन्दमादयदद्विपततियुवतेः सत्कुचावुच्चकुम्भान् ।।
मध्याह्लद्योतमानद्युमणिवररुचावत्र सन्त्रासहेतौ
दुष्टानां राज्ञि तिष्ठत्यपि तदिषुमहाषिङ्गकोऽक्रीडदुच्चैः ।। १४० ।।

संस्फूर्जच्छाहजांह(:)प्रवरजयरुषाऽमुष्य राज्ञो रिरंसोः
स्पर्धाबन्धादिवोच्चैः समररतिगृहे प्रस्फुरद्बाणकन्राः ।

---

1 The ms. has a wrong reading as प्रत्यर्थीक्षितिपालकाल etc. corrected by us as above.

सोत्कण्ठं कण्ठपालीं जगृहुरतिदृढं वर्यवामावलीनां
बिम्बोष्ठं सञ्चुचुम्बुः प्रियमिव गदितुं कर्णपालीं च जग्मुः ।। १४१ ।।

पार्थस्येवानपार्थैररिकुलजलधेरन्तरौर्वायमाणैः
क्रूरैः श्रीरत्नबाणैर्मदकलकरिणः प्राणतो विप्रयुक्ताः ।
दम्भोलिद्राग्विदीर्णक्षितिधरशिखरव्रातपातं पतन्तो
मूर्ता एकीभवन्तो बभुरिव मलिनाः खोरुमा(:) कीर्तिशैलाः ।। १४२ ।।

वर्षत्युच्चैश्चिरेण प्रवरतरपृषत्कोत्करानस्य चापे
किञ्च प्रत्यर्थिसार्थे विकिरति परितः सन्ततं जीवनौघान् ।
विद्वेषिस्त्रैणनेत्रे स्रवति च बहुशः सान्द्रबाष्पोदपूरान्
हा हन्तोच्चैरशुष्यन् कथमरिवनितापत्रवल्लीसमूहाः ।। १४३ ।।

जिह्वालज्वालजालप्रहरणकुटिलोच्चण्डसत्काण्डपृष्ठ-
प्रोदयद्दोर्दण्डकण्डूनिकषणनिकषग्रावभिः सङ्गरोग्रैः ।
तत्र श्रीरत्नबाणैः खरतरखुरुमप्रेङ्खदुत्संख्यसेना-
कण्ठग्राहप्रचण्डैः पितृपजनपदो हृष्टराष्ट्रो व्यधायि ।। १४४ ।।

इत्थं मथ्नन्तमुच्चैररिबलजलधिं वीरमुर्वीपतिं तं
दृष्ट्वा रोषप्रकर्षात् खरखुरुमचमूचण्डसत्काण्डपृष्ठाः ।
स्वाम्यर्थे प्राणमाजौ तृणमिव जहतोऽजस्रमोजायमानाः
खड्गाखड्गि प्रकामं झटिति युयुधिरे तेन धीरेण सार्धम् ।। १४५ ।।

शस्त्रज्वालाजटाभिस्त्रिभुवनभवनं दग्धुकामानथारीन्
दृष्ट्वा युद्धातिधृष्टो धरणिपरिवृढः क्रोधसक्रूरदृष्टिः ।
धौरेयोद्दामधाराजलविलसदसिप्रौढकादम्बिनी स्वां
कालीं कल्पान्तकालीमिव विमततेस्तूर्णमाविश्चकार ।। १४६ ।।

धीरध्वान्तप्रचण्डा त्रिभुवनभयकृच्छत्रुसंवर्तरात्रि-
र्व्याली व्यालीढमर्मा सपदि समुदिता कोषवल्मीकमध्यात् ।
एकीभूतारिनारीदृश इह जहती त्रासतः कज्जलाली
तेजोऽग्नेर्धूमधारा रणभुवि शुशुभे तस्य राज्ञः कृपाणी ।। १४७ ।।

उर्वीवीराऽस्थिपालान्वयभवविजयिप्रौढभूपालमाला-
प्रोन्मीलत्क्रोधहालाहलबहलता वैरिसन्दोहमोहे ।

वीरश्रेणीवुवूर्षु प्रवरसुरवधूवन्दमुक्ताऽरिकण्ठे
लग्ना नोलोत्पलानां स्रगिव युधि बभौ तस्य राज्ञः कृपाणी ।। १४८ ।।

विद्विड्लोकाशनाय[1] क्षुभिततरलसत्क्रूरकालीकटाक्ष-
श्रेण्या राज्ञः कृपाण्या रणभुवि खुरुमाऽनीकमातङ्गसङ्घाः ।
भिन्नाः कुम्भस्थलीषु क्षरदसकृदसृक्सान्द्रसिन्दूरपूर-
व्यालेपोद्दामलक्ष्मीमविभरुरचिराद्बालसूर्यांशुशोणाम् ।। १४९ ।।

सङ्ग्रामानन्तनृत्यत्प्रखरतरकरप्रौढधाम्ना सुभूम्ना
[2]दिल्लीक्ष्मापालपद्माकरवरसुहृदा दीप्यमानेऽतिमानम् ।
सूरेऽमुष्मिन् नृपाले कथमहह महत्तत् खुरूमीयसैन्यं
सम्मूढं कालरात्र्या सकलमपि जवात्प्राप निद्रां सुदीर्घाम् ।। १५० ।।

सङ्ग्रामान्तःपुरान्तर्निजकरकमलालम्बिरोलम्बमाला-
विश्रान्तिं सन्दिशन्तीं विलसदसिलतां कुर्वतोऽस्य स्वपाणौ ।
क्षोणीभर्तुः किलाग्रे रणरसविलसद्गाढरागाऽपि तूर्णं
दूना विद्वेषिसेना परममवमता चित्रमासीत् पराची ।। १५१ ।।

इत्थं श्रीरत्नराजप्रखरतरलसन्मण्डलाग्रप्रचण्ड-
व्यालीव्यालीढसैन्यः सपदि स खुरुमः प्राणसन्त्राणगृध्नुः ।
पौरैर्लोकैर्हसद्भिर्बहुविततमिथोहस्ततालैः सुदूरा-
दुच्चैराक्रुश्यमानः क्षणमपि समरे नैव तस्थौ सुधीरः ।। १५२ ।।

एतस्मिन्नन्तरेऽहो कपटपटुतरैः खौरुमै रत्नराजं
पत्या स्वेनाभियुक्तं रणभुवि निपुणं हन्त विज्ञाय सद्यः ।
स्वाम्यर्थं त्यक्तजीवैः सुमहमदतकीमुख्यनिःसंख्ययोधै-
र्मार्द्दं निर्भिद्यवप्रं द्रुतमिव विविशे शून्यतापीपुरान्तः ।१५३ ।।

खौरूमाः सारमेया इव विवरदृशस्ते विशन्तो भटौघाः
कृत्वा वश्यं चतुष्कापणमथ मुदिता आत्मने श्लाघमानाः ।

---

1 The ms. reading is विद्विड्लोकाशनाया, which is wrong as it should be in dative case meaning for 'eating the horde of enemies.

2 The earlier ms. reading is दिल्लीपालीयपद्माकर etc.

भेरीभाङ्कारघोरध्वनिपटुपटहाभ्रंलिहध्वानदूतं
पत्ये व्याख्यातुकामा इव निजविजयं प्रेषयामासुरुच्चैः ।। १५४ ।।

श्रुत्वा ताप्तीपुरीयग्रहणमुदिततद्दुन्दुभिध्वानमुच्चैः
कोपाटोपप्रचण्डोत्कटकुटिलनटद्भ्रूद्वयादभ्रभीमः ।
द्राग् विद्राव्यारिसेनां निजभुजमहसा वन्द्यवृन्दावतीशो
दर्पेणाऽऽध्मायमानो द्रुतमनु नगरं सङ्गराय व्यसेधीत् ।। १५५ ।।

कृत्वाऽग्रेऽसौ नृपाग्र्यः परबलदलनं ज्ञानबन्धुं गजेन्द्रं
गर्जड्ढक्काविरावैः सपदि बधिरयन् कर्णपालीं परेषाम् ।
कल्पान्तव्यात्तकालाननवररसनातीक्ष्णनिस्त्रिंशयष्टि-
स्फूर्जद्दोर्दण्डचण्डः पुनरपि रिपुभिः सम्प्रहारे विजह्रे ।। १५६ ।।

शत्रुव्रातीययोधै रणरसरभसादक्रमं युद्ध्यमानैः
सार्धं स्पर्धिष्णुरुर्वीवलयपरिवृढो रोषरौद्रांक्षिकोणः ।
उच्चैः श्येनातिपातं प्रसभमभिपतन् सङ्गराऽऽखेटचण्डः
शक्तीशक्ति प्रकामं विलसदसिलतः क्रूरमक्रीडदेषः ।। १५७ ।।

बाणैः प्राणान्तकारैरसिभिरपि शतैः शक्तिभिर्मर्मभेदे
शक्ताभिर्दुर्विगाहे महति परबले योद्धुमभ्युद्यतेऽस्मिन् ।
निर्मन्दस्यन्दमानस्वमदपरिमलत्रस्तविद्वेषिनाग-
व्रचक्रेऽस्य ज्ञानबन्धुः परबलदलनं नुन्न आधोरणेन ।। १५८ ।।

दर्पादन्धंभविष्णुः परभटविलसद्वाहिनीकूलकाषं
कुर्वन् दन्तद्वयेन प्रविकटकरटोद्दण्डकण्डूप्रचण्डः ।
मूलादुन्मूलयँश्च प्रसभमरिवधूसार्थसौभाग्यवल्लीं
शुण्डादण्डेन रेजे वन इव विहरन् सङ्गरे तद्गजेन्द्रः ।। १५९ ।।

इत्थं तद्वारणेन्द्रं विलसदरिवधूवर्गवैधव्यदीक्षा-
सञ्जाताऽकीर्तिलेपादिव मलिनतनुं वीक्ष्य कालोत्करालम् ।
तूर्णं तान्ता नितान्तं सुमहमदतकीमुख्यगौरूमयोधाः
प्राणत्राणाय वप्रं विविशुरपि दधुर्द्वारि चण्डं कपाटम् ।। १६० ।।

[1]क्रूर:क्रव्याशनायाऽऽज्वलदुदरदरीदारुणोद्दामवह्नि-
र्भव्याद्दैवादयत्नात्सुचिरमुपनतं यावनं प्राप्य भक्ष्यम् ।
[2]आनन्दामन्दसन्दानितहनुयुगल: किं नु कालस्तदानीं
त्रस्तैतच्छत्रुगोत्रद्रुतपिहितमुख: शाल उच्चै: शशाले ।। १६१ ।।

भास्वत्यस्मिन् प्रयाते निकटमरिभटास्तेऽथ निर्वाणकाल-
प्रौढार्चिष्का: प्रदीपा इव पुनरचिराद्गाढमोजायमाना: ।
वप्राग्रोत्तुङ्गवातायनविवरलसन्नालिकायन्त्रनिर्यद्-
गोलाज्ज्वालाकरालान् ववृषुरपि शरान् दारुणांश्चाश्मसङ्घान् ।।१६२।।

कल्पान्तक्रूरसूरोत्कटकुटिलकरोद्दामधाम्ना दिधक्षु:
क्षिप्रं प्रत्यर्थिपक्षं क्षितिपतिरचिरादेष दग्ध्वा कपाटम् ।
जीवग्राहं न्यगृह्णात् समहमदतकीन् खौरमान् योधमुख्यान्
नि:सङ्ख्यान् दाक्षिणात्यानपि भयवशत: सत्वरं न्यस्तशस्त्रान् ।।१६३।।

निन्दन्तस्तेऽत्यमन्दं स्वपतिमथ मिथोऽमन्दमन्दाक्षरूक्ष-
प्रेक्षा न्यञ्चच्छिरस्का: स्वविलसदयश:कालिमानं वहन्त: ।
उद्वृत्तोत्कृत्तगात्रक्षरदसकृदसृक्सान्द्रसिन्दूरलिप्ता
रेजुर्मूर्ता जयेभा इव सततलसच्छृङ्खलाबद्धपादा: ।। १६४ ।।

प्रचण्डब्रह्माण्डस्फुटनघटमानाऽम्बुदघटा-
सुधीरोदञ्चद्ध्वानप्रतिभटरटद्दुन्दुभिगण: ।
स्वदोर्दण्डोद्दण्डोत्कटविकटतेज:प्रशमित-
स्फुरच्छत्रुव्रातो नृपतिरथ गेहान् स समगात् ।। १६५ ।।

उच्छलत्क्षतजच्छटाविकटाऽऽसवोत्कटपानत:
शौण्डचण्डपिशाचकस्फुरदुद्भटाट्टसुहासकम् ।
व्यञ्जकं निजतेजस: स नृपो व्रजन् हरनर्तना-
ऽऽरम्भसम्भ्रमविभ्रमं समराजिरं क्षणमैक्षत ।। १६६ ।।

---

1 The ms. has also the variant reading as (क्रूरो) नव्याशनाया etc. (नव्य इत्यपि) ।

2 The variant reading in the ms is also.
'सान्द्रानन्दान्निमीलन्नयन इव यमो भीमरूपस्तदानीं' इत्यपि ।

धारावर्षं वर्षद्वर्षासमयघनघनबहलजलमदया
क्रीडन्त्योच्चैर्मत्ताक्रीडं विकटतटयुगलकषणनिपुणया ।
ताप्त्या नद्या रुद्धं भीतं **खुरुममथ** सकलजनशरणभुजः
श्रीमान् जिष्णू **रत्नो**ऽगोप्सीत्त्वरिततरबहुतरतरिवितरणैः ।। १६७ ।।

श्रीमान् **रत्नः** स इति सुचिरं **दिल्लीपाला**तपत्रं
रक्षन् बिभ्रद् रिपुजयलसत्सद्यशश्छत्रमुच्चैः ।
सङ्गोपायन् स्वभुजमहसा **पत्तनं ब्रध्नसंज्ञं**
वन्द्यां **बुन्दीं** पुनरपि ययावात्मवंश्यप्रतिष्ठाम् ।। १६८ ।।

दिवमुपगते **दिल्लीनाथे चकत्तकुलोद्भवे**
[1]**सुरजननृपा**दारभ्योच्चैः स्मरन्निजसख्यकम् ।
स्वरिपुमपि तं **दिल्लीपालं** द्रुतं शरणागतं
खुरुममकरोन्नत्या क्रोधं त्यजन्ति हि साधवः ।। १६९ ।।

श्री**रत्नक्षिति**पालनिर्मलयशःक्षीराम्बुधेर्भूयसो
भव्योऽयं **खुरुमः** सुधांशुरमलो मन्ये समुज्जृम्भितः ।
आरोहन् स यथा यथा समुदयं यस्मादनन्ताङ्गणं
धाम्ना स्वेन तथा तथोपचिनुते **मे**दांसि तस्योच्चकैः ।। १७० ।।

तौरुष्कं विषमं व्रतं प्रथयतो भूमौ **खुरूमा**-त्ततो
रक्षित्वा स गवां गणं स्वयशसा दिक्चक्रमुदभासयन् ।
भूयिष्ठं धरणीभरं निजमपि **श्रीशत्रुशल्याभिधे**
कृत्वा नप्तरि नीलनीरदनिभं धामाऽभिरामं ययौ ।। १७१ ।।

योन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवैद्यनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्री नृपशत्रुशल्यचरिते श्रीरत्नराजः स्तुतः ।। १७२ ।।

।। इति श्रीमहाकाव्ये विश्वनाथकृते श्रीशत्रुशल्यचरिते रत्नराजवर्णनं
नाम एकादशः सर्गः ।।[2]

---

1 The variant reading in the ms. is सुरजननृपं प्रारभ्योच्चैः ।

2 The colopon of this canto is as follows :
इ श्री हा व्ये वि ना कृ श्री० त्रुचरिते रत्नराजवर्णनं नाम एकादशः सर्गः (।।)

।। द्वादशः सर्गः ।।

श्रीमद्रत्नक्षितिपालस्य नप्ता गोपीनाथादथ लब्धावतारः ।
सम्प्रत्युच्चैः प्रथितः सर्वलोके मुख्यो वीरो जयताच्छत्रुशल्यः ।। १ ।।

दुर्दान्तानां द्रुतमेतस्य जिष्णोर्दोष्णोर्धाम्ना जगतां पालकेन ।
विष्णोर्ध्वस्तत्रिजगत्त्राणचिन्ताद् गोपीनाथेः कुशलान्यस्य नाथे ।। २ ।।

पापे तिष्येऽत्र युगे धर्मसत्यस्वीयस्वर्चाकरुणासख्यकानाम् ।
व्यस्तस्थित्यां स्थितियोग्यं पराचां योऽमुं चक्रे स हरिः स्तान्मुदेऽस्य ।। ३ ।।

यस्तां गौरीं जठरेऽमुं वहन्तीं शेषोदञ्चत्सुफणौघातपत्रम् ।
स्वप्ने मौलावददर्शत् (वदर्शयत्) स्वचिह्नं - - - ध्रुवमीशो विधत्ताम् ।। ४ ।।

अग्रे धावच्छतचिन्तामणिश्रीतद्दृक्पातोल्लसदिश्यद्विजानाम् ।
इष्टापूर्तैः सुहिता मेदुराङ्गा गीर्वाणौघा मुदमस्मै दिशन्तु ।। ५ ।।

निःसंख्येयान् परमेतद्गुणौघान् संख्यावान् को भुवि संख्यातुमीष्टे ।
किं त्वद्यैतद्गुणपीयूषवार्धेबिन्दुं लब्धुं तरला मे रसज्ञा ।। ६ ।।

लीलागारं त्रिजगज्जैत्रलक्ष्म्याः सद्विद्याया अपि विश्रान्तिगेहम् ।
सीमाभूमिः परमा क्षत्ररीतेरौदार्यादिगुंरुरादिगुंणस्य ।। ७ ।।

आनन्दानां प्रभवः सत्प्रजानां चन्द्रो विद्वत्सुमनःकैरविण्याः ।
र(त्न)क्षोणिपतिवंशैकमुक्ता सोऽयं राजत्युदितः शत्रुशल्यः ।। ८ ।।
(युग्मम्)

इन्द्रोऽप्युच्चैः शतमन्युप्रहर्त्ता तापं हर्त्ता सततं पावकोऽपि ।
धर्मेशोऽपि त्रिजगद्दत्तजीवो भूमीरक्षोऽप्ययमुत्फुल्लरामः ।। ९ ।।

गोत्रद्वेषी मघवा कृष्णवर्म्मा वह्निः प्रेताधिपतिश्चण्डदण्डः ।
रात्रौ क्रूरं विचरन्नैऋतोऽपि ख्यातो लोके जडराजः प्रचेताः ।। १० ।।

वायुर्लोलप्रकृतिः किन्नराणामीशोऽन्वर्थो विषमाक्षो विषादी ।
आशापाला इति सर्वे कथं वा भूमीभर्तुर्बिभृयुस्त्वस्य साम्यम् ।। ११ ।।
(युग्मम्)

यदद्यप्यस्मिन् रविवंशे प्रभूता अत्युत्कृष्टा भुवि भूपा अभूवन् ।
किन्तु क्षोणी ननु राजवन्ती यत् राजत्येषां मुकुटं शत्रुशल्यः ॥ १२ ॥

व्यूढोरस्कः परमाजानुबाहुः शालप्रांशुर्घनसंश्लिष्टसन्धिः ।
अम्भोजाक्षो नवचाम्पेयगौरः क्षात्रो धर्मः किमयं देहधारी ॥ १३ ॥

एतस्याहो घनधम्मि[1]ल्लवेल्लल्लक्ष्म्या क्षिप्रं निकृतः सैंहिकेयः ।
एतद्वक्त्रच्छविलेशेन तुल्यं नूनं मन्ये मुहुरिन्दुर्नोति ॥ १४ ॥

मित्रानन्दी गुणदुग्धं विचिन्वन् दोषाम्भस्तः किमु हंसोऽद्य सोयम् ।
वक्रश्यामालिकलग्नालकानां स्नैग्धे लुभ्यन्यददान्मूर्ध्निवासम् ॥ १५ ॥

[2]ऊर्ध्वं तावद्वितनं वृत्तमुच्चैर्भूमीभर्तुश्शिर एतस्य रम्यम् ।
सोमाहीनक्षितिसाम्राज्यदूतीं धत्ते नित्यं सहजच्छत्रलक्ष्मीम् ॥ १६ ॥

अस्मिन्नुच्चैरनुरागं वहन्त्याः स्वाभिप्रायामृतसंवावदूकम्[3] ।
देव्या भूमेः स्मरलेखीयपत्रमेतस्याहो अलिकं तर्कयामि ॥ १७ ॥

पातिव्र(त्य) श्रिय उच्चैर्धरित्र्या दुर्दान्तानामपि जैत्रीयलक्ष्म्याः ।
त्रैलोक्येऽस्मिन् प्रसरन्त्याश्च (मू)र्तेः सीमारेखा इव तिस्रो विचित्राः ॥१८॥

व्यस्ताँल्लोके सृजता सद्गुणौघानेकत्राऽमून् रचितुं कामुकेन ।
कुर्वाणेन द्रुहिणेनामुमुच्चैर्भान्ति न्यस्तावलयोऽद्याऽलिकेऽस्य ॥ १९ ॥

(युग्मम्)

श्रीमत्कण्ठो वरदुर्गोऽयमीशो बिभ्रद्द्वाभ्यामधिकां शास्त्रदृष्टिम् ।
भूत्याश्लिष्टः सुललाटार्धचन्द्रस्त्रैलोक्येऽस्मिञ्छिवरूपो विभाति ॥ २० ॥

मन्वानोऽल्पं स्वकशिल्पं शशाङ्कं कुर्वन्वेधा नवमेवान्यमिन्दुम् ।
त्रैलोक्येऽस्मिन्नुभयोरीशनाम्नोर्गौपीनाथिस्मरहर्त्रोः प्रियाय ॥ २१ ॥

---

1 Ms. reading is धमिल्ल, corrected by us to धम्मिल्ल ।

2 Ms. reading is उर्ध्वं, corrected by us to ऊर्ध्वं ।

3 Ms. reading is मृतसवावदूकं ।

शम्भोर्मूर्ध्नि प्रणिधायैकमर्धं चांद्रं चन्द्रोज्ज्वलकीर्तविथान्यम् ।
भूमीपालप्रवरैतल्ललाटच्छद्मोन्नेयं ध्रुवमस्मिन् न्यधत्त ।। २२ ।।
(युग्मम्)

सूतेऽन्यं चेत्सुभटं सैंहिकेयं सिंही योऽङ्कं मृगमिन्दोः प्रमृज्यात् ।
किं चायं न क्षयमेयात्तदाऽसौ कामं शोभामिदमास्यस्य धत्ताम् ।। २३ ।।

एतस्याऽस्यं सकलाभिः कलाभिर्बिभ्रद् भव्यां सुषमां काञ्चिदस्य ।
दूरात्ताभ्यो विमुखेनेह तुल्यं विद्वान् को वा वदतां पङ्कजेन ।। २४ ।।

मध्ये नीरं धृतरोलम्बमालासद्रुद्राक्षं चिरमेकाङ्घ्रिनालम् ।
तिष्ठत् पद्मं भजते यद्दिनेशं तत्तद्वक्त्रच्छविमाप्तुं नु मन्ये ।। २५ ।।

कामं सूर्यं भजतामद्य लक्ष्म्या उत्कोचं वा पदमुच्चैर्ददातु ।
एतत् पद्मं न तु तद्भूरिभास्वद्वक्त्रौपम्यं लभते हा तथाऽपि ।। २६ ।।

संजीवातुप्रभविष्णोस्तु विष्णोः पातुं नाम्नाममृतं चेतसोऽद्य ।
आविर्भूतं प्रसृती चारू कर्णौ भास्वद्वर्णौ निपुणं तर्कयामि ।। २७ ।।

मान्यस्याऽस्याऽखिलराजन्यवृन्दे कर्णद्वन्द्वच्छलतोऽयं नवाङ्कः ।
सद्द्वीपानां द्विनवानाममुष्य व्याख्यातीव प्रसभं जैत्रलक्ष्मीम् ।। २८ ।।

त्रैलोक्याधिं सुचिरं बाधमानो यद्दोर्दण्डः परमस्य व्यधत्त ।
प्रत्यर्थिस्त्रीजनवैधव्यदीक्षां दारिद्र्यस्याप्यथ दारिद्र्यमुच्चैः ।। २९ ।।

एतज्जन्मापयशोद्वैधमद्धा संप्राप्योपश्रुति सम्प्रत्यमुष्य ।
वक्त्रश्यामालकपट्टापदेशाद्भूमीभर्तुं ध्रुवमुच्चैर्विभाति ।। ३० ।।
(युग्मम्)

एतन्नेत्रच्छविकासारपूरे मग्नस्याहो नियतं खञ्जनस्य ।
सुभ्रूयुग्मच्छलतोऽस्याऽद्य राज्ञः पक्षौ भातः कुटिलश्यामरूपौ ।। ३१ ।।

एतद्भास्वत्सरलोदारनासारूपावातस्थलदीपस्य तावत् ।
द्वैधीभूतां कज्जलश्रेणिरेखां मन्येऽमुष्य भ्रुवमुच्चैरराला‌म् ।। ३२ ।।

एतन्नेत्रच्छविपूरातिभीतः संतस्थे यन्मृगकोयं मृगाङ्के ।
इन्दोरेतन्मुखभासा जयस्तत् किं नो दृष्टः पशुनाऽनेन शङ्के ।। ३३ ।।

अश्रान्तं चेत्सुपुमानेष मित्रः स्वोदयद्भासामनुगृह्णाति वृन्दैः ।
रक्ताम्भोजं तरुणं तर्हि जातु श्रीमन्नेत्रच्छविमस्याऽद्य धत्ताम् ।। ३४ ।।

जन्मक्षेत्रं शतचिन्तामणीनां साहस्राणां द्युतरूणां च बीजम् ।
यद्दृक्पातः प्रथितस्तत् किलास्य क्षोणीभर्तुर्नयनं केन तुल्यम् ।। ३५ ।।

अन्योन्यस्य श्रुतिदेशाक्रमार्थमेतन्नेत्रे कलहं कर्तुकामे ।
संभाव्येव द्रुहिणेनास्य नासा सीमादण्डो निरमाय्येतयोः किम् ।। ३६ ।।

पीनौ पूर्णौ परमेतत्कपोलौ वृत्तौ चञ्चन्नवचाम्पेयचारू ।
एतद्वक्त्रश्रिय इन्दुं जिगीषोरारोहार्थं रथचक्रेऽनुभातः ।। ३७ ।।

सच्छृङ्गारामृतसिक्ताङ्कुरस्य सौंदर्यश्रीवरसद्दाडिमस्य ।
बालादित्यप्रतिमैतत्कपोलव्याजाल्लग्नं फलयुग्मं नु पक्वम् ।। ३८ ।।

क्रोधाम्भोभिः सततं सिक्तभूमेः क्षात्रं धर्मद्रुममालम्बितायाः[1] ।
आविर्भूताः परमं मानवल्ल्याः श्मश्रूण्यत्र प्रतिभान्त्यङ्कुराः किम् ।। ३९ ।।

चापं श्मश्रु ध्रुवमानङ्गमेतत् स्त्रैणं मानं निजिघांसोरमुष्य ।
नालीकानां नलिके अस्य नासा रन्ध्रव्याजादनिशं राजतो यत् ।। ४० ।।

स्मारो लेखस्त्रिजगज्जैत्रलक्ष्म्या दुर्वारौजोदवसन्मेघलेखा ।
वक्त्रश्वासस्फुरदामोदसङ्गा भृङ्गालीयं श्मश्रुपङ्क्तिः किमस्य ।। ४१ ।।

कुन्दं मन्दं रचयन्तोऽस्य दन्ता हीरं धीरं मणिमुच्चैर्हरन्तः ।
एतद्वक्त्रे ससुखं संवसन्त्या वाचां देव्याः कलिकाः किं स्मितस्य ।। ४२ ।।

सद्वीपानां पृथगष्टादशानां लोकानाञ्चाधिचतुःसद्दशानाम् ।
एतद्दन्तद्वयधिकत्रिंशदेषा व्याख्यातीव प्रततं जैत्रकीर्तिम् ।। ४३ ।।

रक्ताम्भोजच्छदतुल्या रसज्ञा राज्ञोऽमुष्य ध्रुवमष्टादशापि ।
विद्याम्भोधीन् गहनान् पारयन्त्या एतद्बुद्धेर्वरनावः पताका ।। ४४ ।।

कल्पानल्पद्रुमसत्पल्लवाभा[2] राज्ञोऽमुष्य ध्रुवमेषा रसज्ञा ।
पारं प्राप्ता सकलानां कलानां नर्तक्युच्चै रससङ्गीतकस्य ।। ४५ ।।

एतस्यौष्ठौ वरबिम्बीफलाभौ दीर्घौ पीनौ विलसत्सृक्करम्यौ ।
स्त्रीणामन्तःकरणस्थानुरागव्यालिप्ताङ्गाविव रक्तौ विभातः ।। ४६ ।।

---

1 Varient reading आलम्बिन्याः क्षात्रधर्मद्रुमस्य ।
2 Varient reading देवोद्यानद्रुमसत्पल्लवानां ।

नारङ्गीयां छविमेतस्य बिभ्रत् पीनं चिबुकं चारुकूर्चम् ।
खेलद् हद्युतिलक्ष्म्याः सशोणैर्नीलै रत्नैः खचितः कन्दुकःकिम् ।। ४७ ।।

एतत्कण्ठस्त्रिवलिभ्राजमानः कम्बुस्पर्धी घनसंश्लिष्टमांसः ।
सौवर्णेतन्मुखपद्मोरुनालो राजत्युच्चैः रसकुल्याप्रणालः ।। ४८ ।।

वीणानादं परुषं कुर्वतोऽस्य क्षोणीभर्तुर्मधुरस्य स्वरस्य ।
इच्छत्युच्चैः परपुष्टोपमां योनाऽमुष्यस्याच्छतधा हन्त जिह्वा ।। ४९ ।।

सिद्धोमन्त्रः प्रमदाचित्तमोहे मूलं यन्त्रं सकलानां कलानाम् ।
फेङ्कारोऽथ स्मरचापस्य चारुर्मञ्जुध्वानः स्वर एतस्य मन्ये ।। ५० ।।

मादयत्स्तम्बेरमकुम्भप्रभेदप्रव्याख्यातोद्धतसिंहानुभावः ।
वीरो युद्धे विदधाति स्वरं स्वं स्निग्धाम्भोदस्तनितोदारमारात् ।। ५१ ।।

ग्रीवा पीवा[1] परमं वर्तुलाऽस्य सप्ताम्भोधिस्फुरदुर्वीभरस्य ।
सौवर्णीयं रचिता लोकशिल्पं तन्वानेन द्रुहिणेन ध्रुवं धूः ।। ५२ ।।

एतच्चित्ते कलिकालाकुलोऽयं धर्मो लीनो वृषरूपी किमद्य ।
यस्मादेतद्विपुलस्कन्धलक्ष्यादुच्चैः पीनं ककुदं लक्ष्यतेऽस्य ।। ५३ ।।

एतद्बाहू रुचिरौ वृत्तपीनौ वामावर्त्तौ गजहस्तोपमानौ ।
शङ्के जानुप्रणयौ ज्याकिणाङ्कौ साम्राज्यश्रीलसदालम्बदण्डौ ।। ५४ ।।

कीर्तिस्फूर्जत्पटवेमोरुदण्डौ शत्रुप्राणाशनसर्पप्रचण्डौ ।
विद्वत्कामाभरवृक्षावरोहावेतद्बाहू तुलनां कस्य धत्ताम् ।। ५५ ।।

प्रत्यर्थिश्रीप्रतिहारार्गलाभावेतद्बाहू त्रिजगत्त्राणदक्षौ ।
वृत्तश्यामप्रततज्याकिणाङ्कव्याजाच्छून्यं वदतो वैरिवृन्दम् ।। ५६ ।।

भाति श्लिष्टो मणिबन्धोऽस्य राज्ञः पाणिस्फूर्जत्सुरवृक्षालवालः ।
यः प्रोन्मीलद्वरमालां बिभर्ति क्षोणीपाणिग्रहसत्कङ्कणाभाम् ।। ५७ ।।

कासारः किं तनुलावण्यलक्ष्म्या एतत्पाणिर्नवरक्तोत्पलाभः ।
यस्मादस्मिँल्लसदम्भोजशङ्काः संलक्ष्यन्ते समृणालोरुमीनाः ।। ५८ ।।

---

1 Varient reading ग्रीवा पीना etc.

एषोऽङ्गश्रीवरदर्पेण मन्ये कन्दर्पं तं समलुण्ठदचददच ।
मीनं केतुं प्रवरञ्चातपत्रं तद्राज्यस्य स्वकरे लक्ष्म धत्ते ।। ५९ ।।

शोणप्रेङ्खन्नखसत्कुड्मलाग्रा अङ्गुल्योऽस्य स्फुटरूपाः सुशोणाः ।
पञ्च स्फूर्जत्सुरवृक्षोपमैतद्दोःकाण्डीयाः किमु भान्त्यदच शाखाः ।। ६० ।।

एतद्वक्षो विपुलं चारु पीनं लीलागारं जयलक्ष्म्यङ्गनायाः ।
दृप्यद्द्विद्विण्णगरीलुण्ठने[1]ऽह्नो मन्येऽगृह्णत्सुकपाटस्य शोभाम् ।। ६१ ।।

सौवर्णोऽयं जयपट्टो धरित्र्याः सौन्दर्यश्रीसुविहारैकभूमिः ।
मूलं पीठं भगवद्भक्तिदेव्या वक्षः क्षोभं द्विषतामस्य धत्त ।। ६२ ।।

फुल्लाम्भोज विलसत्सौरभं यत् कर्षत्युच्चैर्भ्रमरं नात्र चित्रम् ।
हृद्रोलम्बो हरिपादारविन्दं कर्षन्नस्य प्रतनोत्यद्भुत नः ।। ६३ ।।

पीनस्निग्धैतकदुद्दामपृष्ठं रम्भायास्तत्सुचिरं भाति पत्रम् ।
युष्मच्छत्रून् परिरम्भार्थमीहे शूरानित्थं लिखितं तत्र तावत् ।। ६४ ।।

शासत्यस्मिँश्चतुरम्भोधिवप्रामुर्वीं गुर्वीं चरितैः स्वैर्विचित्रैः ।
राजा नान्यो बलिभागित्थमुच्चैराख्यात्येतज्जठरं निर्वलिश्रि ।। ६५ ।।

एतन्नाभिः सुगभीरोपसव्यावृत्तो वृत्तः किमु लावण्यवापी ।
रोमालीयं जलनीली यदेषा भृङ्गश्रेणी मलिना लक्ष्यतेऽस्याः ।। ६६ ।।

दिक्पालाँस्तान् विदधद्ग्रामटीशान् यस्याऽसौ सहते राजशब्दम् ।
कान्तारस्थादपि राज्ञो मृगाणां गृह्णात्युच्चैर्यदयं मध्यलक्ष्मीम् ।। ६७ ।।

रम्भाकाण्डं सततं भासयन्तावेतस्योरू करभाभां हरन्तौ ।
लावण्यश्रीवरहिन्दोलवेल्लल्लीलास्तम्भभ्रममुच्चैर्विधत्तः ।। ६८ ।।

एतस्याहो महती जानुनी द्वे वृत्ते पीने सुसमे सन्धिगूढे ।
लावण्याश्रीप्रवरोदयानजाते जम्बीरीये रुचिरे द्वे फले किम् ।। ६९ ।।

दिव्योदयानोद्भवजाम्बूनदीयरम्भास्तम्भश्रियमुच्चैर्जिघांसू ।
एतज्जङ्घे करिणां कर्कशस्य साम्यंधत्तां कथमुच्चैः करस्य ।। ७० ।।

---

1 The ms. has spelt it as द्विणनगरी ।

गुल्फौ तावन्नृपतेरस्य वलच्चञ्चच्चामीकरजम्बूपमानौ ।
उच्चैरेताच्छ्रितसर्वार्थदाङ्घ्रिस्फूर्जत्कल्पद्रुमलग्ने फले किम् ।। ७३ ।।

कूर्मोन्नम्रावरुणौ गूढगुल्फौ स्निग्धौ पीनावशिरावूष्मयुक्तौ ।
एतस्याङ्घ्री जयतो यत्सरोजं तत्स्थां लक्ष्मीं ध्रुवमादातुमेतत् ।। ७४ ।।

भास्वत्पार्ष्णी मृदुलग्नाङ्गुलीकौ शोणप्रेङ्खन्नखकांती तदङ्घ्री ।
त्यक्तस्वेदौ स्पृशतो यन्न भूमिं[1] तत्स्वदेवावतरत्वं वक्तुम् ।। ७५ ।।

ऊर्ध्वां रेखां चरणावेतदीयौ धत्तो दीर्घां यदहो पद्मरम्यौ ।
राज्ञां लोके विलसच्चारुचूडान्मूर्ध्नोधस्ताद्रचिताञ्छंसतस्तत् ।। ७६ ।।

एतस्याहो मुखशोभाभिभूतो भीतो मन्ये द्विजराजोऽयमद्य ।
एतत्प्रेङ्खन्नखसङ्घैः कलाभिर्मन्ये प्राप्तः शरणं पादपद्मम् ।। ७७ ।।

एतस्याङ्घ्र्योर्गतिरेषाऽतिमन्दा सद्योमादद्यद्द्विरदेन्द्रोपमाना ।
राज्ञामाज्ञामितरेषां जगत्सु मन्दीभूतां सततं शंसतीव ।। ७८ ।।

एतस्येत्थं विलसल्लक्षणाली शंसत्युच्चैः स्फुरदोजःप्रकर्षम् ।
शत्रुव्रातं शतधा संविधत्ते वातोर्मीव प्रसभ मेघसङ्घम् ।। ७९ ।।

कूपैकाङ्गरुहः प्रदक्षिणवलद्धाराद्वयप्रस्रुति-
र्निम्नत्रिर्नवनीलनीरदचतुर्दीर्घः स्फुरत्पञ्चकः ।
षट्सूच्चो बहुशोणसप्तकयुतोऽष्टाशाविजेता नव-
द्वीपेशः कमलोपमानदशकः सम्राडयं राजते ।। ८० ।।

इदानीं दानीयद्विजनिकरदारिद्र्यदलने
सदाऽनल्पं कल्पद्रुममपि सुमन्दं विरचयन् ।
असौ वीरो धैर्ये धरणिधरधौरेयमपि तं
लघूकुर्वन् मेरुं प्रवरतरबुन्दद्यां विजयते ।। ८१ ।।

पशुरथ सुरधेनुः स्थावरः कल्पवृक्षो
बलिरपि बुधशत्रुः शापदग्धश्च कर्णः ।

---

1 V.R. स्पृशतो यत्र भूमिं etc.

दुरुपलगणनीयो हन्त चिन्तामणिर्वा
कथमहह लभन्तां शत्रुशल्यस्य साम्यम् ।। ८२ ।।[1]

योन्तर्वाणिशिरोमणेर्वरभिषग्वंशैकमुक्तामणेः
साहित्याम्बुरुहाकरैकतरणेः श्रीवंद्यनारायणात् ।
रुक्मिण्यामुदभूदमुष्य सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य सत्-
काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते सामुद्रिकं वर्णनम् ।। ८३ ।।

"इति श्रीविश्वनाथकृते महाकाव्ये महाराजश्रीशत्रु-
शल्यचरिते सामुद्रिकवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ।।

---

1 Earlier reading in the ms. is लभंतामस्य भूपस्य साम्यम् ।

।। श्रीः ।।

अथ श्रीशत्रुशल्यचरितविद्योतिनी प्रारभ्यते

।। प्रथमः सर्गः ।।

गङ्गासहायविदुषः किल लब्धविद्यो
बुन्द्यां गुरुर्नृपकुलस्य विदां वरिष्ठः ।।
व्यासान्वये सकलशास्त्रविचारचुञ्चु-
र्गोवर्धनो विजयते स पितामहो नः ।। 1 ।।

बुन्दीशेश्वररिसिंहमौलिमणिभी राजत्पदाम्भोरुहो,
विद्वद्वर्यसभास्रजां सुविमलः सन्नायको भास्वरः ।।
श्रीगोवर्धनपण्डितः समभवत् पौत्रेण तस्याऽधुना
व्याख्याते नृपशत्रुशल्यचरिते विद्योतिनी द्योतताम् ।। 2 ।।

मग्नां दीर्घतमःसु हा कथमपि व्याख्यां पुराणीं समु-
द्धर्तुं न प्रभुरस्म्यहं बुधवरैर्गङ्गासहायैः कृताम् ।।
भागे श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते पूर्वेऽत्र नव्यामिमां
भोलाशङ्कर एष संरचयति व्याख्यां स्फुटार्थोज्ज्वलाम् ।। 3 ।।

श्रीमल्लिनाथनारायणसुपथैः क्लिष्टकाव्यदुर्गेषु ।।
सञ्चरता व्यासेन व्याख्या विमला वितन्यतेऽभिनवा ।। 4 ।।

अथ तत्रभवान् नारायणसूनुर्विश्वनाथकविः शत्रुशल्यचरिताख्यं महाकाव्यं विधित्सुः चिकीर्षिता निर्विघ्नपरिसमाप्तये 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुख'मिति नमस्क्रियारूपं मङ्गलाचरणं काव्यादौ निबध्नन् स्वेष्टदेवतारूपं श्रीराधामाधवयुगलस्वरूपमभिष्टौति ।

1 श्रीराधेति । श्रीराधाया वृषभानुजाया अतिगौरे कुचकलशद्वये स्तनघटयुगले संसर्पी संसक्तिमान् । नवश्चासौ जलदो मेघस्तद्वत् उद्धुरः शोभन इति यावत् । कस्तूर्या मृगमदस्य ललितो रमणीयो घनो निबिडो योऽङ्गरागः

तस्य माला अस्यास्तीति माली। एतादृशो मुरारेर्विष्णोर्वपुःप्रभासमूहो वपुषो देहस्य प्रभायाः कान्तेः समूहः। आश्लेषे आलिङ्गनसमये। जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। तेन तं प्रति नमस्क्रिया आक्षिप्यते। अत्र मुरारेर्मेघ-सादृश्येन राधाया विद्युत्सादृश्यं ध्वन्यते। देवतादिविषयकरतिरूपो भाव-ध्वनिश्च। प्रहर्षिणीछन्दः। "त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्" इति लक्षणात्।

2 वन्दार्विति। वन्दारवो वन्दनशीलाः, 'शृवन्द्योरारुः' (पा. 3.2.173) इति आरुप्रत्ययः। ये वृन्दारका देवाः, वृन्दमस्यास्तीति, 'शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन् वक्तव्यः' इति वार्तिकोक्त्या आरकन्।' 'वृन्दारका देवा इत्यमरः। तेषां सतां शोभनानां किरीटानां मुकुटानां खचितरत्नानां प्रभाभी रञ्जितं पादपीठं, यस्य सः। श्रीरुक्मिण्या भैम्याः केलिकलाया विलासलीलायाः निधानमा-स्पदं। सप्रसिद्धः पुराणः पुरुषः कृष्णस्वरूपो भगवान् विष्णुः। सदा सर्वदा जीयात् सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्। अत्र मङ्गलाचरणादिमपदद्वये काव्यना-यकनायिकयोः श्रीशत्रुशल्य-श्यामकुमारिकयोः शृङ्गाररूपं वस्त्वपि व्यज्यत इति दिक्। छेकानुप्रासः। उपजातिच्छन्दः। "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः" इति लक्षणादत्रादिमेषु त्रिषु चरणेष्विन्द्रव-ज्राऽन्तिमे चोपेन्द्रवज्रेति तयोर्मिश्रणेनोपजातिः।

3 यस्मिन्निति। हरेर्विष्णोः स पादप्रयागश्चरणरूपि प्रयागतीर्थं पुनातु पवि-त्रीकरोतु। अस्मानिति शेषः। यस्मिन् यत्र पादप्रयागे। इयं सुरापगा सुराणां देवानामापगा नदी गङ्गा विष्णुपादोदकनिर्गता सती। नमन्तो ये नाकिनो स्वर्गनिवासिनो देवास्तेषां किरीटानां मुकुटानां कोटिष्वग्रभागेषु खचितानि यानि वैदूर्याणि माणिक्यानि च रत्नानि तेषां लसन्तो ये मयूखाः किरणाः तैर्हेतुभिरुपलक्षिता त्रिवेणीव यमुनासरस्वतीस्रोतोभ्यां मिश्रितेवाऽभूत्। तद्गुणो वस्तूत्प्रेक्षा च। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृ-ष्टगुणग्रहः' इति लक्षणात्। अत्र विष्णोः पादोदकसम्भूता गङ्गा तत्रैव विष्णुपादे (न तु वास्तविके प्रयागे) त्रिवेणीरूपेण सम्भावितेत्युत्प्रेक्षा। "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा" इति। वैदूर्याणां नीलच्छायया माणिक्यानाञ्चा-रुणकान्त्या मिश्रिता सती सा त्रिवर्णरञ्जिता सितगङ्गा-कृष्णकालिन्दय-रुणसरस्वतीमिश्रणभूता त्रिवेणी जायत इति कविप्रतिमोत्थापितस्तद्ग-

णालङ्कारोऽङ्गत्वेनाऽङ्गिनमुत्प्रेक्षालङ्कारमेव पुष्णातीति अङ्गाङ्गिभावरूपः सङ्कर इति दिक्।

4 पद्मालयेति। यत् पद्मालयाचारुमुखारविंदं इति 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्' अग्रेणान्वयः। मुरारेर्मुरदैत्यस्य अरेः शत्रोर्भगवतो विष्णोर्नेत्रायितौ नेत्रवत् आचरितौ, नेत्रे इवाचरति इति नेत्रायितौ इति क्यङ्, नेत्रभूतौ यौ पुष्पवन्तौ सूर्यचन्द्रमसौ, पुष्पः विकासः अस्त्यनयोरिति मतुप्, मस्य वः; "पुष्पवन्तौ चन्द्रसूर्यौ" इत्यमरः। ताभ्यां हेतुभ्यां आलोकयद्भ्यामिव पश्यद्भ्यामिव प्रफुल्लं विकसितं जायत इति भावः। तत् अचिन्त्यतरं अतिरमणीयं, पद्ममेवालयो निवासस्थानं यस्याः सा पद्मालया लक्ष्मीस्तस्याश्चारु मनोहरं मुखमेवारविन्दं कमलं कर्म चिरेण वन्दामहे नमस्कुर्महे। वयमिति शेषः। मुखारविन्दमिति रूपकम्। नेत्रायितपुष्पवद्भ्यामित्यत्र लुप्तोपमा। आलोकयद्भ्यामिवेति सम्भावनावाचीवशब्दःउत्प्रेक्षां परिपुष्णाति। अन्यदरविन्दं सूर्येणैव प्रफुल्लं भवति, एतत् लक्ष्मीमुखारविन्दन्तु सूर्यचन्द्राभ्यां द्वाभ्यामेव प्रफुल्लं भवतोति व्यतिरेकध्वनिः। विष्णोर्भगवतो दक्षिणनेत्रं सूर्यः, वामनेत्रञ्च चन्द्रः इति पुराणप्रसिद्धमेव। अत्र पद्ये "वन्दामहे 'चित्रतर' मिति पाठे आश्चर्यतरं अतिरमणीयमिति भावः।

5 यन्नामेति। यस्य नाम्नो मन्त्राक्षरं मन्त्राक्षराणि वा तदेव वैनतेयो, विनताया अपत्यं पुमान् गरुडः, तस्माद् भीता इति भावः। उदग्रं यत् पापत्रयं भौतिकमानसिकात्मिकानां पापानां त्रयं तदेव काद्रवेयाः, कद्रोरपत्यं पुमान् काद्रवेयः ते सर्पाः। कान्दिशीकाः भययुक्ताःसन्तः। कां दिशं यामीति इति विग्रहे ठकि पृषोदरादित्वात्साधुः। दूरे प्रयान्ति अपसरन्ति, भयात् पलायन्ते। किलेति निश्चयेन। तं पितरं कविजनकं नारायणपण्डितं, पक्षे जगज्जनकं नारायणं विष्णुमपि। नमामः नमस्कुर्मः। वयमिति शेषः। परम्परितरूपकम्।

6 उर्व्वीभृतामिति। उर्व्वीं बिभ्रति इति उर्व्वीभृतः पर्वतास्तेषां मूर्धनि शिखरेषु, 'जातावेकवचनम्', दत्ताः पादाः किरणाः येन सः। एतादृशः सूर्यः। क्षणात् उदयकाल एव समुल्लासितो वेदानां श्रुतिमन्त्राणां नादो ध्वनिर्येन सः। अध्वन्याः पथिकाः मार्गसञ्चरणशीला ये लोका जनास्तेभ्यस्तैर्वा-

ऽऽहितः साधुवादो येन सः । हतो ध्वस्तः पद्मानां कमलानां सादो विषादः क्लेशो वा येन सः । पद्मविकासकारित्वात् । भगवान् भास्करः । अपायात् विनाशात् दुःखादिति भावः । पायात् रक्षेत् । अस्मानिति शेषः । अत्र विशेषणवर्णनेनैव विशेष्यस्य सूर्यस्याक्षेपः कर्तुं शक्यः । पुनश्च विशेषणानां श्लिष्टप्रयोगात् काव्योपवर्णितस्य सूर्यवंशस्य तद्वंशजस्य नायकस्य शत्रु-शल्यस्य च संस्तुतिरपि कवेरभीष्टेति श्लेषः, न तु समासोक्तिः, सूर्यनायक-योरुभयोरपि प्राकरणिकत्वात् । अतोऽत्र शब्दशक्तिमूलको ध्वनिः । नृप-निष्ठार्थे तु, उर्वीभृतां राज्ञां मूर्धनि मौलिषु दत्तौ पादौ चरणौ येन स नृपः शत्रुशल्यः, चक्रवर्तित्वात् । समुल्लासितो विकासितो वेदानां श्रुतीनां नादो मन्त्रोच्चारणं येन सः । विधर्मियवनत्रासमपाकुर्वन्नयं वेदोच्चारणस्य प्रचा-रणं व्यधादिति भावः । अध्वन्यलोकाः श्रुतिस्मृतिमार्गानुयायिनस्तेभ्यस्तै-र्वाऽऽहितः साधुवादो येन सः । हतो नष्टः पद्मानां लक्षणया प्रजाहृत्कम-लानां सादः क्लेशो येन सः । इत्थं यथासङ्गति योजनीयमिति दिक् अनया-नुप्रासयोजना । 'पायादपायाद्' इत्यत्र च यमकम् ।

7 देव इति । स प्रसिद्धो देवः प्रकाशशीलो देवतात्मा रविः, व्यङ्ग्यार्थे देवो नृपः सूर्यकुलोत्पन्नः शत्रुशल्यः । मे कवेर्दृशं नेत्रं आलोकनशक्ति, बुद्धि-रूपामन्तर्दृष्टिञ्च द्रुतं शीघ्रं विमलां निर्मलां कुर्यात् विदध्यात् । कथम्भूतः सः । पद्मानां कमलानां वनी वाटिका कमलाकर इति यावत्, तस्याः वतंसः अवतंसः कर्णभूषणम् । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवद्योरुपसर्गयो'रिति अल्लोपः । पुनः कथम्भूतः । परमत्यधिकं समुल्लासिता आनन्दिता राज-हंसाः मानसनिवासिनो मराला येन सः, पक्षे आनन्दिता राजान एव हंसाः, यद्वा राजसु हंसाः श्रेष्ठा येन सः । सूर्यो नृपश्च । पुनः । अर्थानां जगत्पदा-र्थानां व्रजः समूहस्तस्य स्तेनश्चौरः पश्यतोहरः तमो नैशान्धकारस्तस्मै नृशंसः क्रूरः, सूर्यस्य नैशान्धकारध्वंसकत्वात् । पक्षे, अर्थानां प्रजाधनानां व्रजस्समूहः तस्य स्तेनो लुण्टाकः तमस्तमोवत्सर्वग्रासकारि यवनभयं कुरा-जभयं वा तस्मै नृशंसो निष्कृपः नायकः शत्रुशल्यः । अत्राऽपि पूर्ववत् प्राक-रणिकार्थद्वयनिष्ठो भावः । काव्यमङ्गलाचरणेऽत्र सूर्यनृपयोरुभयोरपि प्राकरणिकत्वात् । सूर्यनिष्ठो वाच्यार्थः, नायकनिष्ठो व्यङ्ग्यार्थ इति शब्दशक्तिमूलको ध्वनिः । रूपकान्त्यानुप्रासौ च ।

8 उद्दण्डेति। उद्दण्डा अविनीता ये वैतण्डिका वितण्डाप्रिया वादप्रियाः पण्डितम्मन्या जनाः। वितण्डा प्रिया अस्यास्तीति ठक्। तैर्दारुणं यथा-स्यात्तथा उदयन् यो दुरुक्तानां दुर्वचनानां दोषाणामाकरः खनिः समूहो वा तेन मुद्रितानि तिरोहितानि अङ्गानि सल्लक्षणानि यस्यास्तां मे कवेर्गिरं काव्यरूपां वाणीं। जडौघेषु जडानामविदुषामोघेषु वृन्देषु मग्नां मज्जितां, मे गिरं अम्बुजिनीमिव कमलिनीमिव अयं सूर्यो नायकोऽपि कथं नोद्भासयेत् प्रकाशयेद्विकासयेद्वा, अपितु उद्भासयेदेवेति काकुः। पक्षे कथम्भूताम्बुजिनीं। उद्दण्डवैतण्डिकदारुणोदयद्दुरुक्त दोषाकरश्चन्द्र इव तेन मुद्रिताङ्गां निमीलितां। रात्रौ दोषाकरोदयेन पद्मिन्यो निमीलिता भवन्तीति जातिः। पुनः जडौघेषु जलसमूहेषु तडागादिषु मग्नां निमज्जितां, जलोत्पन्नत्वात्। 'जड-जले' त्यत्र 'डलयोरभेदात्' यथा माघे—"दानं ददत्यपि जलैः सहसाधिरूढे को विद्यमानमतिरासितुमुत्सहेत" इति। श्लेष उपमा च। अत्र 'दुरुक्तदोषाकर' इतिपदे 'दुरुक्त दोषाकर' इवेति समासविग्रहो विधेयः, उपमितसमासस्यैव सङ्गतेः। न तु 'दुरुक्तमेव दोषाकर "इति विग्रहेण रूपकालङ्कारः स्वीकर्तव्यः। "जडौघेषु" इत्यत्रापि 'जडौघेषु जलौघेषु इव मग्नामम्बुजिनीमिव मे गिरं' इति बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपगीरम्बुजिनीनिष्ठसाधारणधर्मतास्वीकरणेन मुखत इवेति वाचकपदप्रयोगात् पूर्णोपमेव, न तु उपमारूपकयोः सङ्कर इति दिक्।

9 विधुमिति। विधुं चन्द्रं स्वकरेण निजपाणिना ग्रहीतुमादातुं, पुनश्च भुजद्वयेन बाहुयुगलेन सिन्धुं दुस्तरं समुद्रं तरीतुं पारं गन्तुं, पद्भ्यां चरणाभ्यां मेरुं दुर्लङ्घ्यं सुमेरुपर्वतं समुल्लङ्घयितुमारोढुं च। गिरा मदीयया असमर्थया वाण्या। अर्कवंशं सूर्यकुलं सूर्यवंशोत्पन्नानां राज्ञां वंशं स्तोतुं वर्णयितुं व्यवस्यामि प्रयत्नं करोमि। अहमित्याक्षिप्यते। यथा, सुर्जनचरितेऽपि—

"राज्ञामपारगुणसारधुरन्धराणां
वंशानहं कृशमतिप्रसरो विवक्षुः।
पद्भ्यामुदग्रगिरिशेखरमारुरुक्षोः
पङ्गोर्विवेकविकलः पदवीं प्रपन्नः॥

(1.6) इति।

अत्र मालानिदर्शनालङ्कारः। "अभवन्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः" इति मम्मटः। काव्यप्रकाशे तदुदाहरणस्यैव कविना पद्येऽत्र च्छाया गृहीता वर्तते। यथा—

"दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्ग-
मादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम्॥
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव,
यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति।"

इति।

10 लोकमिति। द्युलोकात् स्वर्गादमुं लोकं भूलोकमायियासोः आगन्तुमिच्छोः। सन्नन्तादुः। देव्या गिरो भगवत्याः सरस्वत्याः खेदविनोदशाखी खेदस्य मार्गजनितश्रमस्य विनोदस्य परिहारस्य शाखी शीतलच्छायो वृक्षः। शाखा अस्य सन्तीति शाखी। स्वतः सहजतया स्फुरत् आविर्भवत् वाङ्मयं रामायणरूपं महाकाव्यं यस्य सः। एतादृश एष प्रसिद्धवल्मीकजन्मा महामुनिर्भगवान् वाल्मीकिरपि, किम्पुनः कालिदासभवभूत्यादयः। सूर्यवंशस्य "वाचालतां मे स दिनेशवंश "इति त्रयोदशतमपद्ये "स" इति पदेन निर्दिष्टस्य कुलस्य बन्दी स्तुतिगायको मागधश्चारणो वा बभूव। अतो मादृशस्य कवेस्तद्वचस्तवने स्पृहा कथ न भवेदिति भावः। 'खेदविनोदशाखी'ति रूपकम्। अत्र मुनेर्निषादविद्धाण्डजद्वन्द्वैकव्यसनजनितशोक एव स्वतो "मा निषादे"ति काव्यरूपेण परिणत इति पुराणकथा सङ्केतिता, यदुक्तं कालिदासेन-"निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः" इति।

11 यदुत्थितानामिति। यस्मिन् यस्मात् वा सूर्यवंशे सूर्यवंशाद् वोत्थितानामुत्पन्नानां वराः श्रेष्ठाः पार्थिवा राजानस्तेषां क्रमशः सिन्धुः सागरः, इन्द्रापहृततुरगान्वेषणतत्परैस्सगरपुत्रैरुत्खातः पयोधिः। सुराणां तटिनी देवनदी, भगीरथेन स्वर्गात् पृथ्वीलोकमानीता तत्तपःपुण्यफलभूता भागीरथी। तथा स प्रसिद्धो दाशरथे रामस्य भ्रूभङ्गजनितः, पुनश्च रक्षसां निशाचराणां अन्वयस्य कुलस्य धूमकेतुर्विनाशपिशुनः सेतुः सीताजानिना समुद्रोपरि बद्धो निर्माणविशेषः एतत् सर्वं पूर्वोक्तानां राज्ञां पूर्तं धर्मानुष्ठा-

न कार्यम् । वर्तत इति शेषः । धर्मशास्त्रे खातादिकर्म पूर्त्तमित्युच्यते, यथा—"पुष्करिण्यः समा वापीदेवतायतनानि च । आरामञ्च विशेषेण पूर्त्तं कर्म विनिर्दिशेत् ।" इति । रूपकालङ्कारः । अत्र कविना श्रीहर्षस्य नैषधीयचरितपद्यच्छाया गृहीता वर्तते, यथा—

"अखानि सिन्धुः समपूरि गङ्गया,
कुले किलास्य प्रसभं स भन्त्स्यते ।
विलङ्घ्यते चास्य यशःशतैरहो
सतां महत्सम्मुखधावि पौरुषम् ॥

(12.8)" इति ।

12 किञ्चेति । किम्पुनः तदन्वयोत्पन्नस्य दाशरथेः अङ्घ्री चरणावेव पङ्केरुहे कमले । पङ्के रोहतीति पङ्केरुहं, इगुपधेति कः', 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक् । तयो रामचरणकमलयोर्धूलितीर्थे पांसुपरागपवित्रे जलाशयरूपे स्थाने गाहमाना मज्जनक्रियां कुर्वती सा पुराणप्रसिद्धा मुनेर्गौतमस्य धर्मपत्नी अहल्या, माघवनस्य मघवत इन्द्रस्य असौ माघवनःइन्द्रसम्बन्धी अभिसारो व्यभिचारः तस्माद्धेतोः चिरं शाश्वतं स्थास्नुं स्थितिमयीं शैलीं शिलामयीं स्वां तनूं निजमूर्ति क्षणेनाचिरादेव व्यहासीत् त्यक्तवती । ओहाक् त्यागे । अङ्घ्रि पङ्केरुहेति रूपकम् ।

13 धियमिति । सुमन्दां अत्यल्पामतिमूर्खां वा धियं मन्दबुद्धिं निपुणां सुष्ठु निरूप्य आलोच्य वाचंयमीयं मौनरूपं नियमं व्रतं विधास्यम् आचरिष्यम् । अहमिति शेषः । वाचो यच्छति विरमतीति वाचंयमः, यम उपरमे, वाचियमो व्रते' इति खच् । वाचंयमस्येदं वाचंयमीयं इति छः । तर्हि किमर्थं भवता वाचंयमता नाङ्गीकृता इति उत्तरयन् हेतुरूपं वाक्यं प्रस्तौति कविः । यदि सतां सूर्यवंशोद्भवानां सज्जनानां राज्ञां प्रशस्तौ वर्णने वाचालतां वावदूकतां, मे इत्यनेन सहान्वेति । स पूर्वोक्तपद्यत्रये वर्णितः दिनस्येशः सूर्यस्तस्य वंशोऽन्वयः उच्चैरत्यधिकं अधास्यत् न प्रैरयिष्यत् । अत्र हेतुहेतुमद्भावे लृङ् । काव्यलिङ्गमलङ्कारः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यत' इति लक्षणात् ।

14 सुधीति । सुधीवरैः पण्डितैः । कविभिः वाल्मीकि-कालिदास-भट्टि-भव-

भूति-मुरारि-राजशेखर-जयानक-नयचंद्रसूरि-चन्द्रशेखराद्यैरनेकैर्यदद्यपि सूरस्य सूर्यस्य वेदं सौरं तच्च कुलं तदेवाम्बूनां राशिः समुद्रः तस्मात् कीर्तीनां (कीर्तेर्वा) रत्नं, एतद्वंशजानां राज्ञामितिभावः, समुद्धृतम् । तथापि रसज्ञाने समर्था मम कवे रसज्ञा रसना जिह्वा वाणी च श्रीशत्रुशल्य स्येदं शत्रुशल्योयं यशः कोर्तिस्तदेव सुधाऽमृतं तस्यं अर्थात् तां उद्धर्तुं स्पृहां इच्छां किं न धत्ते, अपितु धत्त एवेति काकुः । अयं भावः—यदद्यप्यनेकैः कविभिरेतद्वंशवर्णनं कृतं, तथापि तत्तु समुद्रादन्यत्रयोदशरत्नसमुद्धरण-वदेव, मत्काव्येन तु सुधाया उद्धरणं विधीयत इति कवेः प्रौढोक्तिः । परम्प-रितरूपकम् । 'रसज्ञा' इत्यत्र प्राचां मते परिकरालङ्कारः, नव्यानाम्मते तु साभिप्रायविशेष्यत्वात् परिकराङ्कुरः—"साभिप्रायविशेष्ये तु भवेत्प-रिकराङ्कुरः" इति कुवलयानन्दः ।

15 देव इति । लोकानां विधानं निर्माणं तस्य शिल्पी स्थपतिर्देवो विधिभंग-वान् ब्रह्मा चित्तात् स्वमनस एव यान् ऋषीन् दशसङ्ख्यकान् मन्त्रद्रष्ट्रन् 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' इत्यमरः । जनयाञ्चकार उत्पादयामास । तेषामृ-षीणां तपसा वरिष्ठः श्रेष्ठः स वशिष्ठः तरणेः सूर्यस्य कुलस्य वंशस्य पुरोहितः पुरोधा अस्ति इति शेषः । ब्रह्मणा ऋषीणां या मानसी सृष्टि-र्विहिता, तत्र वशिष्ठः ब्रह्मप्राणादुद्भूतत्वेन वरिष्ठोऽभूत् । उक्तञ्च-श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे—

"अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ।।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ।।" इति
"प्राणाद् वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः" इति च ।
वशिष्ठो वशवतां वशिनां श्रेष्ठः, इति
इष्ठन् । वसिष्ठ इत्यपि पृषोदरादित्वात्साधुः ।

16 अरुन्धतीति । स प्रसिद्धो द्विजेन्द्रो ब्रह्मर्षिर्वशिष्ठः । अरुन्धती एतन्नाम्नी तद्धर्मपत्नी तद्रूपमुग्रं प्रबलं पातिव्रत्यरूपि तेजः, स्वं निजं ब्रह्मण इदं ब्राह्मं ब्राह्मणसम्बन्धि तेजश्च बिभ्रत् धारयन् सन् । कथम्भूते तेजसी

मिथः परस्परं ज्वलन्ती देदीप्यमाने, अरुन्धतीपातिव्रत्यतेजसा वशिष्ठस्य ब्रह्मर्षित्वं दीप्यते, तद् ब्राह्मतेजसा चारुन्धती पातिव्रत्यं दीप्यत इति मिथ-शब्दस्य भावः। मिथो ज्वलन्ती रवीन्दुरूपे सूर्यचन्द्ररूपिणी दक्षिणवामनेत्रे बिभ्रत् दधत् दैतेयवैरीव, दित्या अपत्यं दैतेयः ते दैतेयाः दैत्याः पूर्वदेवास्तेषां वैरी शत्रुर्विष्णुः स इव जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। उपमालङ्कारः।

17 उर्वीमिति। अग्रिमपद्येन सहान्वयो विधेयः। स वशिष्ठो ध्यानधुरीणा या दृष्टिस्तया ध्यानयोगेन। सुदुर्वीरा अतिदुष्टा ये वीरा दुर्नृपास्तेषाम्भारेणातिगुर्वीं महद्भारयुक्तां गुर्वीं पृथ्वीं। दर्वीकरस्सर्पः तेषामिन्द्रेण भगवता शेषेण कथञ्चित् महता प्रयत्नेन धृतां। कलिप्रयुक्तां कलिना युगेन समुत्पादितां धर्मस्य सुकृतस्य अभिभूतिं पराभवञ्च विलोक्य समालोच्येति अग्रेणान्वयः। अनुप्रासयोजना।

18 वृद्धिमिति। स मुनिप्रवीरो मुनिश्रेष्ठो वशिष्ठः। निजं स्वीयं यद् याज्यं, इज्यते इति यजतेः कर्मणि ण्यत्, यज्ञः तेन वीज्यान् व्यजनक्रियाजन्यान् राजन्यान् वीरान् क्षत्रियान् राजपुत्रानिति भावः, वृद्धिं निनीषुः वर्धयितुमिच्छुः उत्पादयितुमनाः कुण्डे हवनवेद्यां हवनकुण्डे वा ज्वलन्तं समिद्धं ज्वलनं हुतवहं प्रणीय अरणिमन्थनेन ज्वालयित्वा श्रुत्युक्तमन्त्रैः श्रुतिषु वेदेषु उक्ताः प्रसिद्धाः मन्त्रा अथर्वमन्त्राः तैर्जुहुवाम्बवम् जुहोति स्म, हव्यद्रव्यमिति शेषः।

19 तस्मिन्निति। अथ अथर्वविदामभिचारमन्त्रज्ञानामृषीणां ऋत्विजां वा वरिष्ठः श्रेष्ठः स वशिष्ठः शरैः शरतृणैर्बाणैर्वा वेदीं हवनवेदिकां परिस्तीर्य परित आच्छादय। सिद्धार्थः सर्षपं 'सरसों' इति भाषायां प्रसिद्धो द्रव्यविशेषः, मधु क्षौद्रं, आज्यं घृतं तिलञ्चेत्यादिमिश्रितं हविर्द्रव्यं तस्मिन् पूर्वोक्ते हुताशे, हुतं होमद्रव्यं अश्नातीति हुताशः अग्निस्तस्मिन् वषट्चकार वषडिति मन्त्रेण देवोद्देश्यकयजनमकार्षीत्।

20 तस्मादिति। अथ तदनन्तरं तस्मात् पूर्वोक्तात् वह्निकुण्डात् यज्ञाग्निकुण्डात् चण्ड्रांशुः सूर्यः तद्वत् चण्डरूपो भयङ्करो भीमो दुर्दान्तो भासुराणां जाज्वल्यमानानां भूरीणां बह्वीनां भासां प्रभाणां समूह ओघः। द्रुतं शीघ्रमेव। कृतान्ततुण्डादिव, कृतान्तो यमस्तस्य तुण्डाद्वक्रात् इवाविरा-

सीत् प्रकटीबभूव । चण्डांशुत्रदित्युपमा । कृतान्ततुण्डादिवेत्युत्प्रेक्षा । वह्निकुण्डस्य प्रस्तुतस्य कृतान्ततुण्डेनाप्रस्तुतेन साध्याध्यवसायरूपायां सम्भावनायां चमत्कारबीजम् ।

21-22 किमिति । अग्निमेण पदचे न सहान्वय इति युग्मम् । किमसौ पूर्वोक्तो भासां समूहो द्वादशात्मा सूर्यः, किन्तु स भूविहारी न । किमसौ जातवेदा अग्निः, किन्तु स दिक्षु प्रसारः प्रसरणं अस्यास्तीति दिक्प्रसारी न, अग्नेरूर्ध्वज्वलनवत्वात्, यथा माघे —"प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः" इति । किमसौ कल्पान्तस्य प्रलयस्य कालः समय', यद्वा कल्पस्य युगस्य अन्तकालो मृत्युः स एवातिकरालं भोषणं कर्म यस्य सः, अतिकरालकर्मा यमो यमराजः, किन्तु स दीप्तं भास्वरं वर्ष्म वपुर्यस्य स दीप्रवर्ष्मा न, यमस्यातिकृष्णवर्णत्वात् । इति वितर्कः । अत्र प्रकृते कविप्रतिभोत्थापितानामप्रकृतानां सन्देह इति सन्देहालङ्कारः ।

दीव्यदिति । इत्थं पूर्वोक्तरीत्या वितर्के समुपस्थिते सति । दीव्यत् राजत् यत् प्रभाया मण्डलं तेन मण्डितं विभूषितं अङ्गं मण्डितानि वाङ्गानि यस्य सः । स्फुरन् दीप्यमानो निषङ्गस्तूणीरं यस्य सः । कवचेन वर्मणा आवृतं आच्छन्नं अङ्गं यस्य सः, वर्मावृतशरोरः । कोदण्डो धनुः, शक्तिश्च इषुर्बाणश्च कृपाणश्चेति धनुर्भल्लबाणखड्गः पाणिषु यस्य सः । तस्य चतुर्भुजत्वात् । एतच्छस्त्रास्त्रसज्जितः स चाहुवानो जनैर्लोकैः श्रीचक्रपाणिः चक्रं पाणौ यस्य स सुदर्शनधारो विष्णुरेवेति अभाणि निश्चयेन कथितः । अत्रापि भेदेऽभेदाध्यवसायरूपाऽतिशयोक्तिः । प्रभासमूहस्य (प्रस्तुतस्य चाहुवानस्य) अप्रस्तुतेन चक्रपाणिना निगीर्णत्वात् । अतः सन्देहपरिपुष्टेयं अतिशयोक्तिरित्यङ्गाङ्गिभावसङ्करः । अन्त्यानुप्रासोऽपि ।

23 रोषेति । ततोऽग्निकुण्डादित्यर्थः । रोषस्यामर्षस्य क्रोधस्य वा यः प्रकर्षो वेगातिशयस्तेनाऽरुणौ कोणौ ययोस्ते नेत्रे अक्षिणी यस्य सः । स्फुरन्ती देदीप्यमाना तनोः शरीरस्य श्रीःशोभा यस्य स स्फुरत्तनुश्रीः इति पदच्छेदः । यद्वा पदमेतत् रिपुवृन्दजैत्र इत्यनेन सह समस्यते । स्फुरन्त्या तनुश्रिया रिपूणां शत्रूणां वृन्दस्य समूहस्य जैत्रो जयशीलः । जयतीति जेता इति तृच्, जेता एव जैत्र इति प्रज्ञादित्वादण् । आजानु जानुपर्यन्तं लम्बौ आयतौ उद्धतौ प्रचण्डौ बाह्वोर्भुजयोर्दण्डौ यस्य सः । एतादृशोऽति-

चण्डोऽतिभीषणः पुमान् पुरुषमूर्तिः कश्चित् प्रादुः आस प्रादुरभवत् । अन्त्यानुप्रासः । 'प्रादुः पुमानास' इति प्रयोगे उपसर्गत्रयस्य धातोः विश्लिष्टत्वात् व्याकरणच्युतिरिति केषाञ्चिन्मते दोषः । किन्तु महाकविभिरीदृशप्रयोगस्वीकरणात्, यथा 'प्रभ्रंशयां यो नहुषञ्चकार' इतिवत् कालिदासप्रयोगेण पुष्टत्वात् च प्रयोगोऽयं यथाकथञ्चित् साधीयान् । शरणदेवेन दुर्घटवृत्तौ एतादृक्प्रयोगस्य व्याकरणदृष्ट्याऽपि निर्दुष्टत्वं घोषितमेव ।

24 वाष्पायमानेति । वाष्पायमानोऽश्रुप्लुत उद्धतो दृशोरक्ष्णोस्तरङ्गो यस्य सः । पक्षे, वाष्पायमाना वाष्पयुक्ताः उद्धतास्तरङ्गा वीचयो यस्य स सिन्धुः । सद्यो हवनकुण्डोत्थितपुरुषदर्शनादविलम्बमेव समुद्यन् प्रकटीभवन् यः पुलको रोमाञ्चस्तेन आकुलानि अङ्गानि यस्य स मुनिर्वशिष्ठः । अमृतं अंशुषु किरणेषु यस्य सः, यद्वा अमृतमेवांशवो यस्य सः चन्द्रः । तस्य अमृतांशोरिव दर्शः दर्शनं, भावे घञ्, यस्य तं पुमांसं दृष्ट्वा विलोक्य सिन्धुप्रहर्षं सिन्धोः समुद्रस्य पूर्णचन्द्रोदयदर्शनात् प्रहर्षं उल्लासः यथा स्यात् तथेति अव्ययीभावपदम् । जहर्ष अहृषत् आनन्दितो बभूव । 'दृक्तरङ्ग' इत्यत्र रूपकम् । अमृतांशुदर्शं सिन्धुप्रहर्षञ्चेति उपमा । अमृतांशुमिव दर्शो दर्शनं इत्यत्र, सिन्धोरिव प्रहर्षो यथास्यात् तथा, इत्यत्र च 'कर्मकर्त्रोर्णमुलि' इति लुप्तोपमा ।

25 निर्मन्थितेति । यस्माद्धेतोरयं पुमान् मुनिपुङ्गवस्य मुनिश्रेष्ठस्य वशिष्ठस्य स्वयं तपस्यानल एव, तपस्याया नियमवृत्तेः, तपश्चरतीति तपस्या, 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः इति क्यङ्, अ प्रत्ययात् इति अः तपस्यः, 'स्त्रियां टाप्' इति तपस्या, तस्याः अनलस्तेजःस्वरूपो वह्निरेव । निर्मन्थिताया अथर्ववरारणी तस्याः हेतोः, अथर्वाणो वेदज्ञा ब्राह्मणास्तेषु वरः श्रेष्ठः तस्य अरणी यज्ञाग्न्युत्पादनकाष्ठं तस्याः 'पञ्चम्यास्तसिल्' । प्रादुर्बभूव प्रकटितोऽभवत् । तस्मात् सं पुमाननलाभिधान आसीत् । अनेनैव कारणेन तस्य 'अनल' इति नाम प्रसिद्धं बभूव । काव्यलिङ्गम् ।

26 दोर्दण्डेति । हन्तेति हर्षे । दोष्णां ये दण्डाः, दोष्णोर्यौ दण्डौ वा, तेषां तयोर्वा या कण्डूः खज्जुस्तया उन्मदा उद्धताः प्रगल्भा ये दुष्टाः भूपा

राजान: तेषां भर भारं, भुव: पृथिव्या: भरं निराकरिष्णून् अपाकर्तुं समर्थान्, इष्णुच् प्रत्यय: । चतुर: चतु:सङ्ख्यकान् दोष्प: भुजान् बिभ्रत् दधत् अत्र भुवि अवतीर्ण: । तस्मात् चाहुवान इति ख्यात: प्रसिद्धो जात इति शेष: । असौ चतुर्भुज आसीदिति सुर्जनचरिते वर्णितम्—

"बाणासनं सज्यमसिं सशक्ति
महेषुधी मार्गणपूगपूर्णौ
बिभ्रच्चतुर्बाहुरवार्यवीर्यो
वधं विधास्यन् मखबाधकानाम् ।।

ध्रुवं चतुर्बाहुरितिप्रसिद्धः
स चाहुवाण: किल लौकिकोक्त्या ।
वंशस्य कर्ता भवतां बभूव
संरक्षितोऽधिक्षिति विश्वधात्रा ।।"

(७.५९-६०) इति ।

हम्मीरमहाकाव्यानुसारं चाहुवानोऽसौ ब्रह्मणो हस्तात् पतितात् पुष्करात् निर्मिते पुष्करतीर्थे सूर्यमण्डलादवतीर्ण इति तदुत्पत्तिविषये भिन्ना कथा वर्तते ।

"अवातरन्मण्डलतोऽथ भासां पत्यु: पुमानुदचतमण्डलाग्र: ।
तत्राभिषिच्याश्वदसीयरक्षाविधौ व्यधादेष मखं सुखेन ।।
पपात यत्पुष्करमत्र पाणे: ख्यातं तत: पुष्करतीर्थमेतत् ।
यच्चायमागादथ चाहमान: पुमानतोऽख्यायि स चाहमान: ।।
(१.१६-१७) इति ।

सुर्जनचरिते हम्मीरमहाकाव्यवदेव चाहुवानस्योत्पत्तिर्ब्रह्मणा विहिते यज्ञे सूर्यमण्डलाद्वर्णिता वर्तते, न तु वशिष्ठस्य यज्ञे वह्निकुण्डात्, इति भेद: । यथा—

"इत्थं वितन्वन् विधिवद्वितान-
मुत्प्रेक्ष्य विघ्नस्य पुरोऽवतारम् ।
विधिर्विधित्सु: प्रतिकारमस्य
दिदेश दृष्टिं दिवसाधिनाथे ।।

बिम्बादथाम्भोजवनस्य बन्धोः
स्वधामसन्दोहनिगूढदेहः ।
अवातरद् वातरयेण कश्चित्
पुमान् पुरस्तात् परमेष्ठिनोऽस्य ॥"

(७.५७-५८) इति ।

तथा च पृथ्वीराजविजये यत्र ब्रह्मणा म्लेच्छविनाशार्थं स्तुतस्य विष्णोः-प्रेरणया सूर्यबिम्बात् चाहमानस्य पृथ्व्यामवतरणम्, इति कथायास्तृतीयं रूपम् ।

"अथांशुभिः सूर्यमस्य चक्षुषः
स सूर्यकान्तादिव सूर्यमण्डलात् ।
जवादवारोहदखण्डचण्डिमा
वसुन्धरासम्मुखमर्चिषां चयः ॥

(पृथ्वीराजविजये २.१) इति ।

27 शुभ इति । अथ स मुनिर्वशिष्ठः शुभे मङ्गलमये मुहूर्ते समये तीर्थानां पवित्र-जलाशयानां प्रयागपुष्करादीनां सार्थः समूहस्तस्मादाहृताभिरानीताभि र्विमलाभिर्निर्मलाभिः सत्पावनीभिः पवित्राभिः श्रुतिभिर्वेदमन्त्रैर्मन्त्रिताभिः सुसंस्कृताभिः । अद्भिर्वार्भिर्जलैः । तमनलोपनामकं चाहुवानं द्रुतमवि-लम्बमेव भुवः पृथिव्या राज्ये अभ्यषिञ्चत् शास्त्रविधिना राज्याभिषेक-क्रियया सिंहासने स्थापयति स्म । 'मन्त्रिताभी राज्ये' इति ढ्लोपे पूर्वस्य च दीर्घोऽणः' ।

28 आनन्देति । स मैत्रावरुणिः मित्रावरुणस्य (मित्रावरुणयोर्वा) अपत्यं पुमान् वशिष्ठः । दिननाथवंशे सूर्यकुले एकं एकाकिनं श्रेष्ठं शूरं वीरं तं चाहुवानं । आनन्दो हर्षः स एव सान्द्रं घनं यदमृतं पीयूषं तेन पूर्णे नेत्रे यथा स्यात्तथा हर्षोत्फुल्लनेत्रं विचित्रं सौत्सुक्यं च पश्यन् विलोकयन् । तं 'रिपून् शत्रून् जय विजयस्व' इति द्रुतं शीघ्रमेव आशशंसे आशीर्वचोभि-रभ्यनन्दत् ।

29 'निश्शेषेति' । निश्शेषाः सकला ये मन्त्राः वेदास्तेषां अर्थविदा तत्त्वज्ञेन

द्विजेन वशिष्ठेन धराया भूमेरधिराज्ये चक्रवर्तित्वेऽभिषिक्तस्य प्रतिष्ठापितस्यास्य चाहुवानस्य सुभीमं शत्रुभयकरं क्षात्रं तेजः ओजः यन्त्रोदधृतस्य शाणोल्लीढस्य मणेः सुरत्नस्य तेज इव अधिकमुच्चैर्दिदीपे जज्वाल । उपमालङ्कारः ।

30 धर्म इति । स नृपः चाहुवानो नूनं निश्चयेन धर्मो धर्मराजो धर्मात्मा च, किन्तु स कठोरो दण्डो यस्य स निष्कृपदण्डो वा नास्ति । धर्मराजो यमस्तु कठोरदण्डः, एष तु नैतादृशः । स नृपो भीमः शत्रूणां भयकरः भीमसेनो मध्यमपाण्डवश्च, किन्तु एष मागधानां राजस्तुतिगायकानां चारणानां शत्रुर्न । भीमसेनस्तु मागधस्य मगधराजस्य जरासन्धस्यारिः, तस्य हन्तृत्वात् । एष वीरः किरीटी राजचिह्नमुकुटधारी, किरीटिपर्यायेण महाभारते प्रसिद्धः तृतीयः पाण्डवोऽर्जुनश्च । किन्त्वेष कृपादीनां दयादिसद्गुणानां शत्रुर्न । अर्जुनस्तु महाभारतयुद्धे दुर्योधनपक्षधराणां कृपादीनां शत्रुरासीत् । एष चाहुवानो नाम्नाऽभिधानेनाऽनलः अनलोपनामक इति, पक्षे नाम्ना नलः पुराणप्रसिद्धो वीरसेनपुत्रो दमयन्तीजानिर्भूपतिः । किन्तु एषोऽनलः चाहुवानो नृपः कलेः कलहस्य कलियुगस्य वा वश्यो नास्ति, नलस्तु कलिना वश्यः कृतः । उक्तं हि नैषधीये श्रीहर्षेण—

"कारिष्यते परिभवः कलिना नलेन
तां द्वापरस्तु सुतनूमदुनोत्पुरस्तात् ।
भैमीनलोपयमनं पिशुनो सेहते
न द्वारः किल कलिश्च युगे जगत्याम् ।।
(१३०३६)" इति ।

श्लेषः । मालारूपकञ्च । ताभ्यामलङ्कराभ्यां पुनर्व्यतिरेको व्यज्यते ।

३१ नाम्नेति । नाम्नाऽभिधानेन अनलोऽपि वह्निपर्यायोऽपि, अतो दाहकत्वयुक्तोऽपि स नृपः । दुर्नयो दुर्नीतिरसदाचरणं, यवनराज्ञामिति भावः, स एव दावोऽरण्याग्निस्तेन दग्धां ज्वालितां । उग्रकरैरतिशयैः 'जजिया'—दिकरैरभितप्तां प्रतापितां, पक्षे प्रचण्डाग्निज्वालातापितां यद्वा चण्डांशुकिरणतापितां । सञ्जातमूर्च्छामिव सञ्जाता मूर्च्छा संज्ञाहीनता यस्यास्तां, इवेति उत्प्रेक्षावाची । एतादृशीं इमां क्षोणीं भारतभूमिं मुहुः पौनः-

पुण्येन वितीर्णानि यानि जीवनानि प्राणाधारभूतानि जलानि च तेषामोघैः समूहैर्जलवेगैश्च सिञ्चति स्म असिञ्चत्। यदप्ययं नाम्ना दाहकगुणवान् अनलस्तथापि प्रतप्तां प्रदग्धाञ्च महीं जलौघेन सिञ्चति स्मेति विरोधः। 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादिवाक्यवत् आपाततः कविभणितौ सेचनक्रियायोग्यताऽभावो दरीदृश्यते। अतो विरोधाभासालङ्कारः, स चोत्प्रेक्षया, श्लेषेण, रूपकेण च परिपुष्ट इति सङ्करः। समासोक्तिश्च। अन्योऽपि कश्चित् सूर्यताप-वह्निज्वाला-तप्तां काञ्चित् सञ्जातमूर्च्छां शीतलजलैः सिञ्चत्येवेति प्रस्तुते राजव्यवहारे अप्रस्तुतस्य नायकादेर्व्यवहारसमारोप इति दिक्। "समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।" इति लक्षणात्।

32 अधर्महेतुमिति। तरस्वी वेगवान् बलवान् स नृपः। अधर्मस्य पापस्य हेतुं कारणभूतं दनुजं दैत्यं धूम्रकेतुनामानं तरसैव वेगेनैव हत्वा निहत्य। त्रैलोक्य लोकत्रयस्य रक्षायां त्राणे क्षमाणां बाहूनां दण्डाः (चाहुवानस्य चतुर्भुजत्वात्) यस्य सः। दर्पेण मिथ्याभिमानेन उद्धतमविनीतं जम्भकेतुनामानमपरं दनुजं जघान व्यापादयति स्म।

33 उत्तङ्केति। स नृपोऽर्बुदपर्वतेऽवात्सीत्। पूर्वमर्बुदपर्वतोत्पत्तिवर्णनं षड्भिः पद्यैः पुराणानुसारं कृत्वा तदनन्तरं पञ्चभिस्तस्य शोभातिशयवर्णनं विधास्यते।

गुरुदक्षिणार्थी गुरोराचार्यस्य दक्षिणा विद्याशुल्करूपं द्रव्यं तदर्थी तद्याचकः उत्तङ्कनामा महाभारते आदिपर्वणि वर्णितो धौम्यशिष्य ऋषिकुमारो गुरुपत्न्यर्थं मघोन इन्द्रात् इन्द्रस्य वा ते श्रेष्ठे कुण्डले कर्णभूषणद्वयं प्राप्य आदाय परावर्तमानः, गुरुपत्न्यै दातुं कुण्डलयुगलमानयन्नयं तक्षकेण सर्पराजेन अध्वनि मार्गे कृतोऽन्तरायो विघ्नं यस्य सः, तक्षकद्वाराऽपहृतकुण्डलः हरिं इन्द्रमेव दध्यौ ध्यायति स्म।

34 तत इति। ततस्तदनन्तरं तदीय उत्तङ्ककृतो यः स्तवः स्तुतिर्ध्यानं वा तेन जात उत्पन्नस्तोषः प्रसादः तस्माद्धेतोः। स वज्री, वज्रमायुधमस्यास्तीति इन्द्रः। तक्षकस्य नागराजस्य तक्षणाय कर्तनाय, अथ औत्तङ्कं

उत्तङ्कसम्बन्धिनमातङ्कं भयमपि हातुं निराकर्तुं च रसातले पाताले नागलोके घोरं भीषणं वज्रं निजायुधं प्रहिणोति स्म चिक्षेप ।

35 दुन्वन्निति । गरिष्ठं अतिगुरुं । 'प्रियस्थिरेति इष्ठन् गरादेशश्च । वरो यः कूर्मः कच्छपावतारः तस्य पृष्ठं दुन्वन् पीडयन् । अशेषानपि सकलानपि शेषमूर्ध्नः शेषनागफणान् धुन्वन् प्रकम्पयन् स इन्द्रप्रेरितो वज्रपातः कुलिशाघातः सहसैव झटिति भूमिं भित्त्वा विदीर्य तं सर्पं तक्षकं अत्रासयत् अबीभयत् भाययति स्म ।

36 बिलेशय इति । बत इति हर्षे । असौ बिलेशयः सर्पः, बिले शेते इति सप्तम्या अलुक् । स्वरुः वज्रं तस्य प्रपातात् पतनात् वेपमानः कम्पमानो भीतः । अतएव गलितोरुमानः गलितो नष्ट उरुर्महान् मानो दर्पो यस्य सः । कृतोऽञ्जलिर्येन स बद्धाञ्जलिः सन् । द्विजेन्द्राय ब्राह्मणश्रेष्ठायोत्तङ्काय ते अनर्घ्ये महार्घे अमूल्ये ऐन्द्रे इन्द्रसम्बन्धिनी वरकुण्डले सुन्दरकर्णाभूषणे ददौ अदात् उपाहरत् । 'ऐन्द्रे अनर्घ्ये' इत्यत्र 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यमिति' ऐन्द्रे इत्यस्य प्रगृह्यत्वात् सन्ध्यभावः ।

37 वज्रेति । तस्मिन् पूर्ववर्णिते वज्रप्रभावात् कुलिशपातात् उद्भव उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् भूमिगर्ते पृथ्वीरन्ध्रे अवटे चरन्ती भ्रमन्ती तृणादिकमश्नन्ती च मैत्रावरुणेर्वशिष्ठस्य वरहोमधेनुः कामधेनुः पपात न्यपप्तत् । ततस्तदनन्तरमसौ ऋषिस्तां धेनुं मन्त्रप्रभावात् मन्त्रशक्त्यैव ततो गर्तात् उददीधरत् उज्जहार ।

38 हितायेति । लोकस्य विश्वस्य हिताय कल्याणाय परं अत्यधिकं दयालुः कृपावान् । दयत इति 'स्पृहिगृहो'ति आलुच् प्रत्ययः । स मुनिर्वशिष्ठः आशु शीघ्रमेव गौर्याः पार्वत्याः गुरुः पिता तं हिमालयं गत्वा ततो हिमालयात् अर्बुदाख्यं अर्बुदनामानं 'आबू' इति प्रसिद्धं शृङ्गं शिखरं समानीय आदाय तेन शृङ्गेण पूर्वोक्तं गर्तं गह्वरं इन्द्रवज्रपातनिर्मितं अपूरयत् पूरयामास ।

39 विन्ध्योऽपि । सीमानमुल्लङ्घ्य अतिक्रम्य दिवमाकाशं गतायां आकाशस्पर्शिन्यां तुङ्गतायां उच्चतायां तेन अर्बुदनेति शेषः । यद्वा तस्येति शेषः । शृङ्गस्य एतादृश्यां सत्यामिति सति सप्तमी । विन्ध्यस्तन्नामा पर्वतोऽपि

वन्ध्यो निष्फलो निरर्थकः अजनि जातः। तस्य एतदयेक्षमाऽनतितुङ्गत्वात्। अर्बुदनामकस्यास्य गिरेः पर्वतस्य स्तवे वर्णने वस्य नाम व वैविदुषो वा गीर्वाणी कुण्टिताऽकर्मण्या मन्दा वा न भवति भवेद्वेति शेषः। तुङ्गतायां—गतायां' 'नामकस्य नाम कस्य' इत्यत्र पातान्तं यमकम्। प्रथम द्वितीयपादयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च क्रमशो भिन्ना यमकयोजना। "अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। यमकम्॥" इति मम्मटः।

40 य इति। यः पर्वतः चतुश्चत्वारिंशत्तमपदद्येन सहान्वयः। पञ्चभिः कुलकम्। प्रस्थवान् प्रस्थः परिमाणविशेषः, 'तौल' इति भाषा, तद्वान् अर्थात् परिमाणयुक्तः परिमातुं शक्योऽपि अतिमानः मानमतिक्रान्तो मातुमशक्यः कायो देहो यस्य स इति विरोधः। परिहारे तु, प्रस्थः सानुः अद्रेः समभूभागः तद्वान्। प्रस्थः सानुः यथा कालिदासे—"प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिरम्यं किञ्चित्क्वणत्किन्नरमध्युवास" इति। सतो वंशस्य कुलस्य लक्ष्मीः शोभा यस्य सः, सत्कुलोत्पन्नोऽपि कुलीनः सद्वंश नो नास्ति इति विरोधः। परिहारे तु, सतां वंशानां वेणूनां कीचकानाञ्च लक्ष्मीः शोभायस्य यत्र वा स पर्वतः, पुनश्च कौ पृथिव्यां लीनः पृथ्वीनिविष्टो न, असमत्वात् तुङ्गशिखरत्वाच्च। प्रवृद्धो गुल्म उदररोगविशेषो यस्य सः, गुडति वेष्टयति गुडचते वेष्टचते इति गुडधातोर्बाहुलकात् मक्, डलयोरभेदात् डस्य लः। एतादृशोऽपि धृतोरुधातुः धृता उरवो विपुला धातवः येन सः। शरीरधारक वस्तूनि कफवातपित्तानि त्रीणि, यद्वा रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि सप्त धातवः। आयुर्वेदानुसारं एतेषां धातूनां क्षीणतया गुल्मवृद्धिर्भवति। एष तु तान् धातून् विपुलान् बिभर्ति तथापि गुल्मवृद्धिरिति विरोधः। परिहारे तु, प्रवृद्धा गुल्मा एकमूलाः सङ्घातजाता वनस्पतयः यत्र स पर्वतः, धृतोरुधातुः धृता उरवो विपुला बहुला धातवः खनिषु स्वर्णादिधातवः, गैरिकादिधातवो वा येन सः। पुनश्च। उल्लसितस्य अभयस्य भयराहित्यस्य ओघः समूहो यत्र, गिरिरयं भय करोतीति विरोधः। परिहारे तु निर्जनत्वात् तुङ्गत्वाच्च दर्शनेन भयं वितरति। यद्वा, अभया हरीतकी तदीयविटपानां ओघः समूहो यत्र। "अभया त्वव्यथा पथ्या" इत्यमरः। श्लेषेण परिपुष्टो विरोधालङ्कारः। "विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः" इति काव्यप्रकाशे।

41 यत्तुङ्गेति । यत् यस्य तुङ्गानि अत्युच्चानि यानि शिखराणि तत्रोद्भूतानां असितरत्नानां नीलमणीनां मरकतानां गारुत्मतानां वा कान्त्या प्रभया दूर्वायाः घासस्य भ्रमात् भ्रान्तेः न्यञ्चत् नीचीभवत् उदारं वक्रं मुखं यस्य सः । चान्द्रः चन्द्रस्यायं शशिनः कुरङ्गश्चन्द्रवाहनं मृगः । भटानां वीराणां, तत्र निवसतां ये शावका बालास्तेषां मृगव्यस्य आखेटस्य या केली क्रीडा तासु शरव्यं लक्ष्यं आसीत् बभूव । भ्रान्तिमानतिशयोक्तिश्च । अत्र कविप्रतिभया विषये मरकतकान्तौ चान्द्रमृगस्य दूर्वाभ्रान्तिस्तदुभयसादृश्याहार्यत्वेन वर्णितेति भ्रान्तिमान् । यदुक्तं दीक्षितैश्चित्रमीमांसायाम्—"कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि । आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः ।।" इति । पर्वते रत्नवर्णने चोदात्तालङ्कारः । "उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।"इति कुवलयानन्दे ।

42 समुल्लसदिति । यस्य कटके नितम्बे मध्यभागे अवलम्बो लम्बनं यस्याः सा, पर्वतमध्यलम्बिनी । समुल्लसत् शोभमानं स्वादु मधुरं पयो जलं तेषां स्वादुपयसां कदम्बं समूहो यस्याः सा । कादम्बिनी मेघपङ्क्तिः, 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमरः । ऊर्ध्वगचातकस्य ऊर्ध्वमुड्डीयमानस्य चातकपक्षिणः, जातौ एकवचनम्, समुन्नतास्यं उन्नतं मुखं चञ्चु यस्मिन् तत् व्रतं अम्बुपानव्रतं स्वातिजलबिन्दुपाननियमं चिरं दीर्घकालं बभञ्ज अभाङ्क्षीत् त्रोटयति स्म तत्र सुखेन मेघजळलाभात् ।

43 गभीरेति । गभीरा अतिगहना यत्कन्दराः पर्वतगुहाः त एव मन्दिराणि वासभवनानि तेषामन्तर्मध्ये । कन्दरेति पुंसि प्रयोगः । दृढानुरागाः दृढोऽनुरागः प्रेयांसं प्रति प्रेम यासां ताः । विद्याधरीणां देवयोनिविशेषोत्पन्नानां कामिनीनां असूर्यंपश्याः निवहाः समूहाः । सूर्यमपि न पश्यति या इति खश्, 'अरुद्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । तत्र गुहासु सूर्यप्रकाशाभावाद्विद्याधरीणामसूर्यंपश्यात्वम् । दिनेऽपि अन्धकारं दृष्ट्वा रात्रिभ्रान्त्येति भावः । निजवल्लभेन स्व-स्वप्रेयोभिः 'जातौ एकवचनम्' । सह इति शेषः । विजह्रुः रमन्ते स्म । यद्यपि शास्त्रेषु दिवससुरतं निषिद्धं तथापि भ्रान्त्या रात्रिरियं न तु दिवस इति भावनया विजह्रुः । अत्र भ्रान्तिमतोऽलङ्कारस्य ध्वनिः ।

44 स इति । एतादृशं पूर्वोक्तमर्बुदं पर्वतं स श्रीचाहुवानोऽध्यवात्सीत् अधिवसति स्म । 'उपान्वध्याङ्वस:' इति द्वितीया । कथम्भूत: स: । विलसन् देदीप्यमान: कृपाणोऽसिर्यस्य स: । कथम्भूतं पर्वतं । शिखरै: शृङ्गैरदभ्रं न दभ्रं अल्पं अनल्पं अत्युच्चं, अतएव अभ्रंलिहं अपो बिभर्तीति अभ्रं, कप्रत्यय:, मेघ: आकाशञ्च तं तत् वा लेढि लक्षणया इति अभ्रलिहस्तं । लिह् धातो: कर्तरि खश मुमागमश्च । कि कृत्वा । धर्मशत्रून् धर्मध्वंसकान् पापान् दैत्यान् म्लेच्छान् वा पूर्वोक्तधूम्रकेतुजम्भकेतुप्रमुखान् विनिहत्य निपात्य तत्र पर्वते निवसति स्म ।

45 जगदिति । जगतां त्रयस्य त्रिलोकस्य अभयलग्नक: अभयदानपरायण: अभयप्रतिभूर्वा अयं वीर: शूर: चाहुवान: प्रजा: जनता: धर्मस्य पथिषु मार्गेषु इति धर्मपथेषु । 'ऋक्पूरब्धू: पथामानक्षे' इति अच् । युञ्जन् योजयन् प्रेरयन् । सामन्तसंज्ञं सामन्तनामानं तनूजं पुत्रमाशु सुषुवे उत्पादयामास । कथम्भूतम् । क्षात्रं क्षत्रसम्बन्धि परं उत्कृष्टं तेज: ओज: इव शूरं शौर्ययुक्तं वीरं । उपमा । लग्नक: प्रतिभू: 'जामिन' इति हिन्दीभाषायां, 'स्युर्लग्नका: प्रतिभुव:' इत्यमर: । सामन्तसिंहोऽयं नयचन्द्रचन्द्रशेखरानुसारं वासुदेवदीक्षितस्य पौत्रस्य चन्द्रराजस्य प्रपौत्र आसीदिति शत्रुशल्यचरिते चाहुवानवंशवर्णने सर्वथा भिन्न: क्रम: । यथा—

'सामन्तसिंहो नृपतिस्ततोऽभात्
मत्तारिदन्तावलवीरसिंह: ।
यस्य प्रतापैर्जयतोऽरिचक्रं
बभूव भूषैव कृपाणदण्ड: ।।"
(हम्मीरमहाकाव्ये 1.58)

"सामन्तसिंह इति तस्य सुत: प्रतीत:
सिंहासनं निजकुलोचितमारुरुक्षु: ।
सामन्तवीरतरुणान् तरसा रिपूणां
व्यद्रावयद् द्विपगणानिव दृप्तसिंह: ।।
(सुर्जनचरितमहाकाव्ये 1.24)

46 सद्य इति। सद्योऽचिरादेव महीभृतां राज्ञां यानि कुलानि वंशास्तेषां मूर्धसु मस्तकेषु दत्तो निहितः पादयोश्चरणयोः प्रभारः प्रकृष्टो भारो यथा स्यात् तथेति अव्ययिभावपदम्। सूर्यपक्षे, महीभृतां पर्वतानां कुलानां समूहानां मूर्धसु शिखरेषु दत्तो निहितः पादानां किरणानां प्रभारो यथा स्यात्तथा। पुनः। जिता दिशां मुखश्रीः मुखशोभा येन सः, यद्वा जिताः दिशः यया सा जितदिक् चासौ मुखश्रीर्वदनकान्तिर्यस्य स, इत्युभयत्र योज्यम्। यद्वा राजपक्षे, जिता दिङ्मुखानां श्रीः राज्यलक्ष्मीः, दिग्विजयेन शत्रुराज्ञामिति भावः, येन सः। पुनश्च। स्फुरन्तौ देदीप्यमानौ यौ करौ तयोः उद्भासितं प्रकाशितं चारु मनोहरं पद्मं सामुद्रिकशास्त्रोक्तहस्तरेखालक्षणं चक्रवर्तित्वसूचकं पद्मचिह्नं यस्य सः। यद्वा स्फुरन् यः करः षष्ठांशरूपराजस्वग्रहणं तेन उद्भासिता उल्लासिता वर्धिता चारुर्मनोहारिणी लक्ष्मीः राज्यकोषसम्पत्तिर्येन सः। सूर्यपक्षे, स्फुरन्तो देदीप्यमानाः ये करा मयूखास्तैरुद्भासितानि विकासितानि चारूणि पद्मानि कमलानि येन सः, यद्वा सूर्यध्याने "धृतपद्मद्वयंभानु" मिति स्मरणात् सूर्यस्य सपद्मकरत्त्वम्। एतादृशः स सामन्तनामा नृपः सत्यं निश्चयमेव भास्वान् सूर्यः, इति किन्तु इति वितर्के। विद्मः जानीमः वयमिति शेषः। निश्चयन्त भेदः संशयापरनामासन्देहालङ्कारः। केषाञ्चिन्मतेऽत्र वितर्काभिधानो भिन्नोऽलङ्कारः। किन्तु वितर्कस्य सन्देह एवान्तर्भुक्तत्वात्। उक्तं हि भोजराजेन सरस्वतीकण्ठाभरणे— "तेन वितर्क्योक्त्यादयोऽपि संशयोक्त्यावेव द्रष्टव्याः।........ कः पुनर्वितर्कसंशययोर्विशेषः। उच्यते। निर्णयासन्नो वितर्कः। वितर्कासन्नश्च संशयः संशयान्तो हि वितर्कस्य कोटिमारुह्य ततो विभ्रष्टस्तत्त्वमभिनिविशते" इति। श्लेषश्च सन्देहस्याङ्गभूतः यद्वासन्देह उत्प्रेक्षायोश्चः सङ्करः।

47 अस्मादिति। परस्मात् एतदनन्तरं अस्मात् सामन्तात् श्रीमान् शोभावान् लक्ष्मीवान् वा महादेव इति नृपालः, नॄन् पालयतीति, क्षितीशो महीभर्ता राजाऽभूत् बभूव। कथम्भूतः। सतां कामानामभिलाषाणां दानेन वितरणेन पूरणेन उद्धतयोर्दृशौर्नेत्रयोर्विलासो लीला यस्य सः। याचकेच्छापरिपूरणेन हर्षोत्फुल्लनेत्रः। पुनर्लीलाया राज्यपालनक्रीडायाः रसेन आमोदितः सुगन्धितः आनन्दितश्च साधूनां सज्जनानां वर्गः समूहो येन सः। सम्यक प्रजापालनेनानन्दितसज्जनवृन्दः।

48 तेजःप्रकर्षेति । अस्य महादेवस्य कुमारकल्पः कार्तिकेयसदृशः कुमारः पुत्रो जज्ञे प्रादुरभवत् । कथम्भूतः सः । अत्र विशेषणपदानि उभयपक्षे व्याख्येयानि । यथा, तेजसः ओजसः प्रकर्षेण अद्भुतं यथा स्यात् तथा नन्दित आर्यः पिता येन स राजकुमारः, पक्षे नन्दिता आर्या माता पार्वती येन स कार्तिकेयः । स्फुरन्ती शस्त्रैर्दीप्यमाना महती सेना यस्य सः, पक्षे स्फुरँश्चासौ महासेन इति स्कन्दपर्यायः । पुनः । उदारा शक्तिः सामर्थ्यं यस्य सः, यद्वा उदाराः शक्तयः प्रभावोत्साहमन्त्राख्या यस्य स राजकुमारः । स्कन्दपक्षे उदारा शक्तिः शस्त्रविशेषो यस्य सः । कार्तिकेयस्य पुराणेषु शक्तिधरत्वं प्रसिद्धमेव । वसुधाया आदिदेवो राजा देवश्रेष्ठश्च । महस स्तेजसोऽन्तदेवः । अन्ते देवस्य महः यस्य सः श्लेषपरिपुष्टोपमा ।

49 त्रैलोक्येति । ततस्तदनन्तरं बिन्दुसारनामा भूपतिर्नृपोऽभूत् बभूव । त्रैलोक्ये जङ्घालौ अतिवेगवन्तौ भुजौ तयोः प्रसारो यस्य सः । जङ्घायाः लच् । "सिध्मादिभ्यश्च" इति लच् । सङ्ख्ये सङ्ग्रामे अतिसङ्ख्यानां असङ्ख्यानां शत्रुवीराणामाहतिभिस्ताडनैर्दुःखेन निवारयितुं शक्य इति दुर्निवारः । धर्मैककर्मणि अभिलषन् शोभमानः काम्यमानो वा विचारो यस्य सः अन्त्यानुप्रासः ।

50 अबिन्दुनिन्दाकरेति । यत् अस्य नृपस्य सारो वीर्यं शौर्यं रणे युद्धे वैरिणां शत्रूणां बलौघस्य सैन्यसमूहस्य वार्धिं समुद्रं बिन्दुकल्पं बिन्दुवदल्पं नगण्यं चकार । कथम्भूतस्य नृपस्य । अबिन्दुश्चासौ निन्दाऽबिन्दुनिन्दा निन्दा-लेशमात्ररहितता तस्या आकरस्तेन कान्ता कीर्तिर्यस्य सः । यद्वा अप्सु जलेषु प्रतिबिम्बितः इन्दुः अबिन्दुः तस्य निन्दाकरी कान्ता कीर्तिर्यस्य । ततः तस्याद्धेतोरयं नृपो भुवि पृथिव्यां बिन्दुसार इति अन्वर्थनामधेय आसीत् । काव्यलिङ्गं निरुक्तञ्च ।

51 अतन्द्रेति । अतो बिन्दुसारात् उदारहारस्तन्नामा पुत्रो बभूव । कथम्भूतः । अतन्द्रः अनलसो द्युतिमान् यः चन्द्रः स एव उद्धतं प्रकृष्टं मध्यरत्नं नायकापरपर्यायो हारमध्यमणिर्यस्य तं, लसद्गुणं लसन्तो गुणा औदार्यादयः, पक्षे दोरकाः सूत्राणि वा यस्य तं । एतादृशं चिरत्नं पुरातनं कुलपरम्परा-प्राप्तं कीर्तेर्यशसो हारं कण्ठाभूषणं दधत् । अत एव तस्य उदारहार इति अन्वर्थसंज्ञा । 'लसद्गुण' मिति श्लेषः । परम्परितरूपकम् ।

52 तस्मादिति । तस्मादुदारहारात् श्रीपः श्रियं राज्यलक्ष्मीं पातीति नृपः अशोकनामा कुमारः पुत्रो जातोऽजनि । कस्मात् । सुविस्मापनं शोभनाश्चर्यं तत्कारिणी कीर्तिर्यस्य तस्मात्, उदारहारान्नृपात् । कथम्भूतः कुमारः । स्मरवत् कामदेववत् चार्वी सुन्दरा मूर्तिर्यस्य सः । पुनः समुन्मूलितो मूलादुत्खातो लोकानां प्रजाजनानां शोको येन सः । किं कुर्वन् । परान् रिपून् निरस्यन्नपाकुर्वन् विनाशयन्निति भावः । उपमा ।

53 शकाविदार इति । अमुष्मात् अशोकात् । शकाविदारः शकान् म्लेच्छान् आसमन्तात् विदारयति नाशयति इत्यन्वर्थनामा पुत्रः समभूत सम्बभूव । यो विजयश्रियां जयलक्ष्मीनां विश्रान्तिभूमिः विश्रमस्थानं आसीदिति शेषः । स पुनः श्रीवीरसिंहं पुत्रं सुषुवे जनयामास । कथम्भूतम् । परं अत्यधिकं समुत्रासितं भायितं शत्रूणां गोत्रं कुलं गोत्राणि कुलानि वा येन तं । विजयिश्रियां विश्रान्तिभूमिरिति रूपकम् ।

54 स इति । वैरिणां रिपूणामेव गजानां करिणामोघस्य ओघाय समूहस्य समूहाय वा सिंहः सिंहरूपी स वीरसिंहः वरसिंहदेवनामानं पुत्रमजीजनत् । जनयाञ्चकार । कथम्भूतम् । शक्र एव उपमानं यस्य तमिन्द्रसदृशं । यदीयः पाणिः करः इन्द्रस्येव शतकोटिदानैः शतं कोटयः शतकोटिस्वर्णमुद्रास्तासां दानैर्याचकेभ्यो वितरणैः, पक्षे शतकोटिना वज्रेण शतकोटेर्वज्रस्य वा दानैः पातैः खण्डनैर्वा 'दो अवखण्डने' इत्यस्य रूपम् । उद्दामञ्चैतत् दारिद्र्यं अतिशयधनराहित्यं याचकानां तस्य बलं प्रकर्षं, पक्षे दारिद्र्यं बल इव बलनामा दैत्यस्तमिव । जघान अहनत् । उपमालङ्कारः, न तु रूपकम् । 'वैरिगजौघसिंह इत्यत्र तु रूपकमेव । तयोः संसृष्टिः ।

55 प्रौढेति । अस्य वरसिंहदेवस्य । प्रौढेन परिपुष्टेन प्रतापेन आहितोऽर्पितः वैरिभ्यः शत्रुभ्यो दण्डो येन सः । वीरदण्डनामा सुतोऽभवत् । यः प्रत्यर्थिनां रिपूणां संहारको नाशको नाम्नो मन्त्रो यस्य सः । तमेतादृशं अरिमन्त्रं तदभिधानमन्वर्थं पुत्रं असूत सुषुवे । अन्त्यानुप्रासः ।

56 माणिक्यराज इति अथ तदनन्तरमरिमन्त्रनाम्नो नृपात् रणेषु युद्धेषु धीरो धैर्यशाली माणिक्यराजः एतदभिधानः क्षितिपः, क्षितिं पातीति, राजा प्रादुर्बभूव अजायत । सोऽपि दशसङ्ख्यकान् चित्रानद्भुतचरित्रान् पुत्रान्

उत्पादय प्रसूय अमीभिः पुत्रैर्भू मिधुरां पृथिवीभारं अवीवहत् वाहयति स्म, णिजन्तस्य लुङि रूपम्। "नीवहजोर्न। नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः" इति वार्तिकानुसारं 'पुत्रै' रित्यत्र तृतीया, न तु 'तथा स्यान्नीह्वीकृष्वहाम्' इत्यनुसारं द्वितीया। चाहुवानवंशेतिहासानुसारं माणिक्यराजोऽसौ सोमेश्वरस्य पुत्रः पृथ्वीराजतृतीयस्य कनीयान् भ्राता चासीत्। यथा सुर्जनचरिते—

"असूयताऽसौ सुतनुस्तनूजौ
जयप्रभावाविव विक्रमर्द्धिः।
नृपस्तयोः पूर्वजमाह पृथ्वी-
राजं स माणिक्यमथानुजातम्॥
(10.7)," इति,

"पृथ्वीराजस्य तस्यैव समो भ्राता जयत्यजः।
माणिक्यराजो मतिमानंशेन बुभुजे महीम्॥
(13.2)" इति च।

57 स इति। भूपजातिः भूपानां नृपाणां, भुवं पान्तीति, तेषां जातिः कुलं तस्याः प्रणतानां चरणनतानामुत्तमाङ्गानां शिरसां ये मणयः मुकुट-जटितानि रत्नानि तेषां प्रभया कान्त्या घृष्टा घर्षिता पदाम्बुजयोश्चरण-कमलयोः श्रीः शोभा यस्य सः। स माणिक्यराजः। चञ्चन् देदीप्यमानो यः शरदः शरदृतुसम्बन्धी चन्द्रः शशी तस्य ये मरीचयः किरणास्तद्वत् गौरं श्वेतं कीर्तेः आतपत्रं छत्रं कीर्तिरेव आतपत्रं वा कलयाम्बभूव। 'कल सङ्ख्याने' इति चुरादिकल्-धातोः परोक्षे लिट्। 'पदाम्बुजं', 'कीर्त्यातपत्र' मिति रूपकद्वयसंसृष्टिः।

58 यस्यामिति। यस्यामन्तर्वेद्यां इयं त्रिवेणी प्रयागे यमुना-सरस्वती-सङ्गता गङ्गा चतुरोऽप्यर्थान् धर्मार्थकाममोक्षलक्षणान् उच्चैरतिशयेन दिशति ददाति। साऽन्तर्वेदिः गङ्गायमुनयोर्मध्यवर्तिनी भूमिः। भुवि पृथ्वीतले विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते। 'विपराभ्यां जेः इत्यात्मनेपदि-त्वम्। कथम्भूता सा। मुक्तेः सङ्केतभूमिः मुक्तिरूपिण्या नायिकाया अभि-सारस्थलमिति रूपकम्। अत्र अस्यामन्तर्वेद्यां निजभुजयोर्यद् यशस्तदेव स्तम्भो यस्य तं भूमिग्रामं अधितिष्ठन् अधिवसन्। 'अधिशीङ्स्थासां कर्म'

इति द्वितोया । स माणिक्यराजो जरसा वार्धक्येन मन्दाक्रान्तो शनैराक्रांतः । निर्जरौघान् निर्गता जरा येषां ते निर्जरा देवाः 'अमरा निर्जरा देवाः'' इत्यमरः, तेषां ओघान् समूहान् इयाज यजति स्म । किलेति वाक्यालङ्कारे । यशःस्तम्भमिति रूपकम् । 'स्वयं जरसा मन्दमाक्रान्तः सन् निर्जरान् यजति स्म' इति 'निर्जर' पदप्रयोगे परिकराङ्कुरालङ्कारः, वाक्ये च विरोधालङ्कारः । अत्र 'मन्दाक्रान्त' इति पदेन 'मंदाक्रान्ताछन्दसोऽपि निर्देशान् मुद्रालङ्कारः । ''सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः'' इति लक्षणात् । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् । ''मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्'' इति लक्षणात् ।

59 एतदिति । तदनन्तरं । एतस्य माणिक्यराजस्य वंशे अवतंसः कर्णाभूषणमिव । प्रराजः प्रकृष्टो राजा, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' । लौहराजस्तन्नामा नृपोऽजनि जातः । कथंभूत इति जनितेति समस्तपदं विशेषणम् । जनिता उत्पादिता या जगतां जैत्रवैचित्र्यकेली, जैत्रस्य जयशीलस्य वैचित्र्यं यस्यां सा केली क्रीडा, तया संरम्भेण वेगेन आश्लिष्टौ आलिङ्गितौ चञ्चन्तौ स्फुरणशीलौ यौ भुजौ तयोर्युगमेव परिघोऽर्गला दण्डो यस्य सः । एतादृशो यो लोहराजः अवनौ पृथिव्यां अविरतं निरन्तरं धर्माणि पुण्यानि कर्माणि निर्मान् आचरन् चर्मशर्मासुरं नाम कमपि दनुजं म्लेच्छं वा हत्वा । तस्य मांसमेदोमयेन मांसमामिषं मेदो वसा च तन्मयेन बहलेन पुष्कलेन बलिना पूजोपहारेण खड्गकालीं भगवतीं कालिकामताप्सीत् तर्पयामास । 'भुजयुगपरिघ' इति रूपकम् । गाढबन्धः सानुप्रासिकवर्णविन्यासवक्रतानिष्ठो विचित्रो मार्गः, स एव वामनादौ गौडीतिप्रसिद्धा रीतिः । स्रग्धरा छन्दः । ''अभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्'' इति लक्षणात् ।

60 योऽन्तर्वाणीति । सर्गान्तपुष्पिकापद्यमेतत् । यः श्रीविश्वनाथः कविः । अन्तर्वाणि भगवत्याः सरस्वत्याः शिरोमणेः शिरोराभात् । वरः श्रेष्ठो यो भिषजां वैद्यानां वंश एव वंशः कुलमेव वेणुवृक्षः तस्य मुक्तामणेः तदुत्पन्नमुक्ताफलात् । साहित्यमेव, अम्बुरुहाणि पद्मानि तेषामाकरः साहित्यसरोवर यद्वा साहित्यकमलसमूहः तस्य एकतरणेः एकमात्र-

सूर्यात्, साहित्यपद्माकर विकासकारिणः । श्रीवैद्यनारायणात् जनकात् रुक्मिण्यां तदभिधानायां जनन्यां अभूत् जातः । अमुष्य अस्य सुकवेर्विश्वनाथस्य सत्काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते श्रीचाहुवानोद्भवः तच्छीर्षकः प्रथमः सर्गः समाप्तिमगादिति शेषः ।

"इति शत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यां प्रथमः सर्गः ।

॥ द्वितीयः सर्गः ॥

1 औदार्येति । औदार्यं दाक्षिण्यं शौर्यं वीर्यञ्चेत्यादि-गुणानामेकभाण्डे एक-मात्रपात्रे तस्य चाहुवानस्यान्ववाये वंशे । अम्बूनां निधिः समुद्रस्तस्मिन्निन्दुरिव चन्द्र इव । वसुधायाः पृथिव्याः आदिदेवः प्रधानदेवो राजा, यद्वा जात्या ब्राह्मणः । सम्पूजितो वासुदेवो विष्णुर्येन सः । श्रीवासुदेवनामा नृपः प्रासोष्टाऽजनि । उपमालङ्कारः । सर्गेऽस्मिन् प्रायशः इन्द्रवज्रा-वृत्तम् । "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः" इति लक्षणात् ।

वासुदेवोऽयं इतिहासानुसारं जयानक-नयचन्द्रसूरिचन्द्रशेखरकविकृतमहाकाव्यानुसारञ्च चाहुवानवंशीयानामादिपुरुषः । स च नवीनैतिहासिकशोधानुसारं वत्सगोत्रीयो ब्राह्मण आसीदिति डाक्टरदशरथ-शर्मणां मतम् । अस्य राज्ञः नामाङ्किताः मुद्राः पश्चिमोत्तरसीमान्त-प्रदेशाल्लब्धाः । एष एव सपादलक्षप्रदेशमागत्य स्वं राज्यं स्थापयामास इति चाहुवानराजपुत्रेतिहासविदां मतम् ।

2 नीलोत्पलेति । नीलोत्पलमिन्दोवरं तद्वच्छ्यामला श्यामवर्णा कायस्य देहस्य कान्तिश्शोभा यस्य सः । दर्पभरैः स्वाभिमानैर्जगन्ति विश्वं सम्मोहयन्नावर्जयन् । आ समन्तात् पोवरौ पुष्टावंसौ स्कन्धौ यस्य सः । पृथु विशालं पीनं परिपुष्टं वक्षो यस्य सः पीवरोरःस्थलः । स वासुदेवो नृपः । वीरोऽपि वीररसोऽपि साक्षात् शृङ्गाररसः, इति विरोधः । परिहारे वीरोऽपि शौर्ययुक्तोऽपि शृङ्गाररसः शृङ्गाररसवन् मोहनः । उपमाविरोधयोः संसृष्टिः ।

3 कान्तिरिति तस्य राज्ञः कान्ति शोभा मूर्तिराकृतिरिव परोत्कृष्टा । मूर्तिश्च वाक् वाणीव मृदीयसी कोमला । वाचोमाधुरी वाङ्माधुरी बुद्धिर्मतिरिवागाधा गम्भीरा । तद्बुद्धिश्च फलैरनुमेया सफलत्वात् । अस्तीति शेषः । रशनोपमालङ्कारः ।

4 वीरानिति । स वासुदेवः सौवान् स्वस्य इमे सौवा तान् आत्मीयान् वीरान् भटान् सखीयति सखीन् वयस्यानिवाचरति । 'उपमानादाचारे'

इति कर्मणि क्यच्। मित्राणि सखीन् सन्ततं निरन्तरं बन्धूयति बान्धवानिवाचरति। बन्धून् आत्मीयति आत्मानमिवाचरति। आत्मानञ्च सम्पदा इन्द्रीयति इन्द्रमिवाचरति। अस्मिन् पद्ये सर्वाण्यपि क्रियापदानि क्यच्प्रत्ययजनितानि नामधातुजानि इति कवेरिमे प्रयोगास्तस्य वैयाकरणतल्लजत्वं प्रकटीकुर्वन्ति। अत्र कविना भारवेः किरातार्जुनीय पद्यच्छाया गृहीता वर्तते—

"सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः
समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः
कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥"
(1.10) इति

लुप्तोपमा।

5 यस्यैष इति। यस्य राज्ञः एष पाणिः करः कल्पवृक्षः, कामदत्वात्। कृपायाः दयायाः कटाक्षोदृक्पातश्चिन्तामणिश्चिन्तितार्थप्रदत्वात्। यस्य वाचोमाधुरी कामधेनु स्वर्गोः मनोभिलषितप्रसवित्रीत्वात् अतः स सतां काममभिलाषं कथं न कुर्यात् न प्रपूरयेत्। रूपकालङ्कारः।

6 चित्रामिति। नृसिंहो नृषु सिंहः श्रेष्ठः, यद्वा ना दासौ सिंहश्चैष राजा वासुदेवः। सिंहोऽपि सन् प्रियसद्द्विपेन्द्रः, सिंहस्तु गजानां शत्रुरिति विरोधः, परिहारे प्रियाः सन्तः सुजातीयाः भद्रादयो हस्तिनोय यस्य सः। जिष्णुर्जयशीलः इन्द्रश्च। राजपक्षे, बलेभ्यः सैन्येभ्यो दत्ता मुद्रा वेतनादिर्येन सः। इन्द्रपक्षे बलाय तन्नाम्ने दैत्याय दत्ता मुद्रा मुद्रणं तच्छौर्यावरोधो येन सः। ईशो राजा शिवश्च। राजपक्षे, कामानभिलाषान् ददातीति कामदं सत् चैतच्चरित्रं यस्य सः। शिवपक्षे, कामं मदनं दयति खण्डयति इति कामदं सत् चरित्रं यस्य सः। श्रीशो राज्यलक्ष्मीपतिर्विष्णुश्च। उभयपक्षे, आयते चारुणां च नेत्रे दृशौ यस्य सः। श्लेषपुष्टं मालारूपकम्।

7 श्रीश इति। पुरुषोत्तमो नरश्रेष्ठो राजा, विष्णुश्च। पूर्वदेवा दैत्या विष्णुना समुत्सारितः अतोऽसौ समुत्सारिताः उत्खातिता पूर्वदेवा येन सः। असौ नृपस्तु समुत्सारितपूर्वदेवः न, अनेन जनैः पूर्वं स्वीकृता देवा नोत्सा-

रिताः । एष नृपः देवः कामोऽपि कामदेवोऽपि, सर्वातिशायिसौन्दर्यशालित्वात् । सर्वशत्रुर्न सर्वेषां रिपुः न । कामदेवस्तु सर्वशत्रुः सर्वाञ्जनान् स्वबाणैर्विध्यति, यद्वा 'सशोरभेदात्' शर्वस्य शिवस्य रिपुः शर्वशत्रुः । श्रीदो राजा लक्ष्मीप्रदत्वात्, कुबेरश्च । विषमेक्षणस्य असमबुद्धे कुटिलदृष्टेः मित्रं न । कुबेरस्तु विषमेक्षस्य त्रिनेत्रस्य शिवस्य मित्रं सखा । पुराणानुसारम् कुबेरस्तु शिवस्य सखा वर्तते । उक्तं हि मेघदूते महाकविभि कालिदासैः—

"मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद् वसन्तं,
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ॥
सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥
(उत्तरमेघे 10)" इति ।

श्लेषानुप्राणितो व्यतिरेकालङ्कारः ।

8 यस्मिन्निति । यस्मिन् नृपे शौर्यभरं शौर्यातिशयं दधाने सति । शाकम्भरीभूः सपादलक्षोपनामकः प्रदेशः । प्रबरीभरीति अतिशयेन बिभर्ति । यङ्लुङन्तरूपम् । गोत्रान्, गां पृथिवीं त्रायन्त इति तान् पर्वतान् भिनत्तीति गोत्रभित् क्विप् । स एव नाथोऽस्या अस्तीति गोत्रभिन्नाथवती गोत्रभित्स्वामिकां तां द्यां स्वर्भूमिम् । अतिशायिनीं सौभाग्यलक्ष्मीं सम्पत्तिसमृद्धिं हसन्तीं उपहासपात्रं विदधतीं । गोत्रं कुलं भिनत्ति नाशयतीति श्लिष्टार्थग्रहणात् दिवः पतिरिन्द्रः स्वकुलस्य नाशयिता, नैतादृशः शाकम्भरीभूपो वासुदेव इति हासस्य कारणम् । श्लेषः, प्रतीपालङ्कारश्च । शाकम्भरीप्रदेशे चाहुवानकुलजानां कुलदेव्या भगवत्याः शाकम्भर्या देवायतनं विद्यते । तस्या एव नाम्ना प्रदेशोऽयं शाकम्भरीप्रदेशः कथ्यते । स च भाषायां 'साँभर' इति प्रसिद्धः । कविना चन्द्रशेखरेण सुर्जनचरिते शाकम्भर्या स्तुतिर्मङ्गलाचरणे विहिता ।

"शुम्भादिदैत्यदलनेन विजृम्भमाण-
शम्भुप्रमोदभरपल्लवितप्रभावाम् ।
सम्भाविता नुतिभिरम्बुजसम्भवाद्यैः
शाकम्भरीं भगवतीमनिशं भजामः ॥" (1.3)

9 ह्रास इति। यस्य नृपस्य राज्ये प्रजानां कलानां शिल्पादीनां ह्रासो नास्ति, किन्च दोषाकरस्य चन्द्रस्यैव कलानां ह्रासोऽस्ति। यत्र प्रजानां नीचानुगत्वमसज्जनानुगामित्वं दुष्टसङ्गतिर्नास्ति, केवलं तस्यैव नीचानुगत्वमधःप्रवहणत्वं लक्ष्यतेस्म। यत्र प्रजानां जडैकसङ्गो मूर्खसङ्गतिर्नास्ति, केवलं पङ्केरुहाणां पद्मानामेव जडैकसङ्गः जलैकसङ्गः पयःसङ्गति तोयोत्पत्तिर्दृश्यते, 'डलयोरभेदात्'। श्लेषपुष्टा परिसङ्ख्या। किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते। तादृगन्यव्यपोहाय परिसङ्ख्या तु सा स्मृता॥" इति लक्षणात्।

10 लोलत्वमिति। यस्य राज्ये लोलत्वं वक्रिमा चञ्चलप्रकृतित्वञ्च मदिरेक्षणानां मदशालिदृशां कामिनीनामक्ष्णोर्दृशोरेवाऽवर्तत न तु प्रजानाम्। श्रुतिलङ्घनत्वं वेदमार्गत्यागो नेत्रपक्षे कर्णान्तिगामिताऽपि कामिन्यक्ष्णोरेवं न तु प्रजानाम्। जिह्मनुगत्वं दुष्टजनानुगामित्वं, वक्रता च भ्रुकुटिद्वयस्यैव न तु प्रजाजनस्य। गोत्रस्खलनं कुला'कुलधर्माद् वा प्रच्यवनं प्रजानां नासीत्, अपितु नायकयोः क्रीडासु नायिकासविधे नायकेन सपत्नीनाम्नाऽन्यसम्बोधन एव गोत्रस्खलितं दृश्यते स्म। श्लेषपरिपुष्टा परिसङ्ख्या।

11 स्फोट इति। यत्र प्रजानां स्फोटः स्फोटकपीडा नासीत्, अपितु शाब्दिकानां पाणिनिव्याकरणानुयायिनां वैयाकरणानां भर्तृहर्यादीनामेव मते ध्वनेः स्फोटः स्फोटराद्धान्तो दृश्यते स्म। वैयाकरणैर्वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोटत्वेन परिभाषितः। यथा-वाक्यपदीये--

"द्वावुपादानशब्दस्य शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥"

(1.44) इति, "प्रतिबिम्बं यथाऽन्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः॥

(1.49)" इति च। एष च स्फोटो वर्ण-पदवाक्यरूपस्त्रिधा। यत्र राज्ये प्रजाजनस्य छलस्य प्रतारणस्य वादस्य विवादस्य च भाषा नासीत्। अपितु नैयायिकानां तार्किकानामेव सिद्धान्ते छलादीनां भाषा शास्त्रार्थे

प्रयुक्ताऽऽसीत् । न्यायदर्शनानुसारं "प्रमाणप्रमेयसंशयदृष्टान्त·········छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इति गौतमसूत्रम् । यत्र प्रजाजनानां नेशचर्चा ईश्वरसत्तानिषेधः, यद्वा ईशस्य स्वामिनो-राज्ञश्चर्चा निषेधो नास्ति, प्रजास्तु ईश्वरभक्ता राजभक्ताश्चासन् । किन्तु तौतातिकानां मीमांसकानां, तुतातेन निवृत्त इति ठक् । तेषामीशचर्चा संसारोपादाननिमित्तकारणभूतेश्वरविषये विवादो वर्तते । मीमांसकानां सिद्धान्ते कर्मैव प्रधानमपूर्वरूपं स्वर्गप्राप्त्यादिकारणम् । मीमांसकास्तु वेदानुयायिनोऽप्यनीश्वरवादिनः सन्ति । वेदान्तिनां शाङ्कराद्वैतवादिनां दार्शनिकानामेव न तु प्रजानां, अखिलाऽनृतोक्तिः समस्तमिथ्याभाषणं, तासां सर्वदा सत्यवादित्वात् । वेदान्तिनान्तु समस्तं जगदनृतं मिथ्येति जगन्मिथ्यात्वसिद्धान्तः, "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" इति । पूर्ववदेव श्लेषपुष्टा परिसङ्ख्या ।

12 नक्षत्रेति । तस्य भटानां क्षत्रियाणां त्रिशङ्कोरिव तन्नाम्नो राज्ञ एव नक्षत्रमार्गस्खलनं क्षत्रमार्गात् क्षात्रमर्यादायाः स्खलनं पतनं च्युति र्नासीत् । त्रिशङ्कोर्नक्षत्रमार्गादाकाशाच्च्युतिरभवदिति पुराणकथाऽनु-सन्धेया । सभङ्गश्लेषपुष्टो व्यतिरेकालङ्कारः । एतादृश : स राजा वासु-देवो वाशिष्ठमन्त्रप्रकरेण वाशिष्ठस्य मन्त्रसमूहेन द्विरुक्ताऽऽम्रेडिता दर्पोद्धुरा श्रीः शोभा राज्यलक्ष्मीर्यस्य सः । बभूव ।

13 आधार इति । जीवनानां प्राणानां जलानाञ्च आधारः । लक्ष्म्याः श्रियः प्रभवस्य मूलं, सम्पत्तेः राज्यलक्ष्या वा कारणम्, समुद्रपक्षे लक्ष्म्याः श्रियः प्रभवस्य उत्पत्तेर्मूलं कारणं, जनकत्वात् । वाहिनीनां सेनानां, पक्षे नदीनां सङ्घं समूहं समुद्र इव सरस्वान् दध्रे धारयति स्म । पुनः कीदृशो वासुदेवो नृपः सरस्वाँश्च । अन्तर्देदीप्यमानं वाडववत् चण्डं भीषणं तेजो यस्य स नृपः, पक्षे वाडवस्य समुद्राग्नेः चण्डं तेजो यस्य सः । श्लेषानुप्राणितोपमा ।

14 देव इति । सुधर्माचरणे धर्मकर्मानुष्ठाने दक्षः कुशलो नृपः, पक्षे सुधर्मायां देवसभायामाचरणचतुरः शक्रः । कृत्ताश्छिन्नाः परेषां शत्रूणां गोत्राणां कुलानां पक्षाः सहायाः येन स नृपः, पक्षे कृत्ताः परगोत्रा-णामुत्कृष्टपर्वतानां पक्षा गुरुतो येन स इन्द्रः । पुनः कीदृशः । विजयस्य

एकमात्रेण हेतुना कारणेन त्रिलोक्यां ख्यातः प्रसिद्धः साधुः सच्चरितः स राजा यथा मघवा इंद्रः द्यां बभ्रे तथैव भुवं स्वनिर्जितां पृथ्वीं बभ्रे अबिभ्रत् ॥१४॥

15 सद्य इति। ऋग्वेदादिषु परमेष्ठिनः विष्णोः त्रिधा संक्रमणं प्रसिद्धं ननु। तच्च त्रिविक्रमादिपदैः पुराणेषु अपि श्रूयते। तद्भगवत विष्णोः साम्यं राजनि वासुदेवे प्रतीयत इति कवेराशयः। (यथा) त्रिभिर्पदैः त्रिजगतीं व्याप्नुवन् बलिनामानं दैत्यं रसातले पाताले बध्नन् विष्णु त्रैविक्रमीं त्रयः विक्रमा यस्यासौ त्रिविक्रमः तस्य संवधिनीं (स्वपत्नीं) लक्ष्मीं धारयन् शोभायमानोऽभूत् (तथा) स्वपराक्रमेण बाहुबलेन वा जगत्त्रयीं विजित्योपद्रवकर्तु कामान् शत्रून् समूलं विनश्य यज्ञशालां प्रविशन् स (वासुदेवः) लक्ष्मीं विजयश्रियः शोभां तेजः धारयामास। अन्यत् स्पष्टम् ॥१५॥

16 तस्येति। यज्ञशालां प्रविशतः वासुदेवराज्ञः शस्त्राणां वर्णने प्रवृत्तः कविः प्रथमतः तस्य बाणं प्रशंसते। तस्य राज्ञः वासुदेवस्य बाणः शुशुभे शोभितवान् बभूव। कीदृश बाणः ? अतिघोरः अतिभयानकः। पुनः कीदृशः परमर्मभेदी परेषां यानि मर्माणि मर्मस्थानानि पीडां सोढुं कथमपि न समर्थानि तेषां भेत्ता। पुनश्च तमेव प्रशंसते लक्ष्यैकगृध्नुः एकं च तल्लक्ष्यं तस्य गृध्नुः भक्षयिता। लक्ष्य एव बाणैर्भिद्यते न त्वन्यत्स्थानमपि स्पृश्यत इत्यर्थः। बाणं बाणवृष्टिं वा प्रशस्य कृपाणमभिधत्ते। कृपाणः कीदृशः अकृपः कृपाविहीनः केषां कृते दस्युसदः दस्युभिः शत्रुभिः सह सीदति तस्य दस्युसदः। शत्रुकृते अकृपः दयाभावशून्यः। सुगाढमुष्टिप्रबन्धः सुतरां गाढा च या मुष्टिः तस्यां प्रबन्धः एतादृशः : कृपाण। दोषं श्रितः दोषयुक्तः कथं हननप्रवृत्ते रित्यर्थः ॥१६॥

17 एतस्येति। एतस्य नृपस्य संसत् सभा सुधर्मायाः देवसभाया अभिनवं पराजयं विधत्ते करोति, देवसभां विजयत इत्यर्थः। नृपसभापक्षे, द्विजराज ब्राह्मश्रेष्ठाः, शौरिणो वीरा राजन्याः, दुर्गेशाः दुर्गपतयः, शक्तिधरा भल्लधारिणश्च तैराश्रिता। सुधर्मापक्षे, द्विजराजश्चन्द्रः, शौरिर्विष्णुः, दुर्गा पार्वती, ईशःशिवः, शक्तिधरः कार्तिकेयस्तैराश्रिता। ब्रह्मेति पदे, ब्रह्मर्षिः वशिष्ठरतेन, पक्षे ब्रह्मा च ऋषयश्च तैर्यद्वा ब्रह्मर्षिभिनरिदाद्यैर्निर्दिष्टो लसँश्च सुधर्मा

यस्यां यस्या वा देवसभा नृपसभा च। श्लेषयमकालङ्कारौ, प्रतीपञ्च, तेषां सङ्करः। 'लसत्सुधर्माऽपि सुधर्माभिभवं विधत्त' इत्यत्र विरोधाभासश्च।

18 विन्ध्यावनीति। तस्य नृपस्य गेहदेहलीप्रासादद्वारं विन्ध्यावनी विन्ध्यभूमिरिव गजानां हस्तिनां आकरभूरुत्पत्तिस्थानं खनिः। सिन्धुस्थली सिन्धुदेशभूमिरिव हयानां तुरगाणां प्रभव उत्पत्तिहेतुः, सैन्धवानां हयानां प्रसिद्धत्वात्। पुनः। नृपपुङ्गवानां राजश्रेष्ठानां विश्रान्तिभूमिः विश्रमस्थानमेषा नृपगेहदेहली अमरावती शक्रराजधानीवास्ति।

19 नासीदिति। तस्य नृपस्य स दृष्टिपातः कृपाकटाक्षः नासीद्यो प्रजाभ्य जनताभ्यः प्रसादं अनुग्रहं न दिशति न वितरति। अस्य ताः प्रजा न, या समृद्धाः समृद्धिशालिन्यो न। तासामसौ समृद्धिर्न, या परार्थकृत् परोपकारनिरता न। एकावल्यलङ्कारः।

20 प्रौढेति। प्रौढः प्रवृद्धः प्रताप एवानलो विवाहाग्निः तस्य साक्ष्यमेव साक्ष्यं यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणम्। तं साक्ष्यं कृत्वेति भावः। साक्षिणो [भावः कर्म वा साक्ष्यमिति ष्यञ्. यद्वा साक्षिणि भव] "दिगादिभ्यो यत्" (४.३.५४) इति यत्। स नृपो वासुदेवः। रमणीं पत्नीमिव उर्वीं पृथिवीं पाणौ चक्रे स्वायत्तीचकार, परिणीतवांश्च। सा सती पतिव्रता पृथिव्यपिपत्न्यपि चामुना पत्या नृपेण वोढ्रा च स्वमात्मानं बहुं सौभाग्यशालिनं नृपस्य सम्मन्यमानाऽस्य कामानभिलाषान् सुषुवे प्रसूतवती पूरितवतीत्यर्थः। उपमा।

21 शेषस्येति। शेषस्यानन्तस्य निःशेषशिरोभिः सहस्रमूर्धभिरूह्यं भुवः पृथिव्या भारं धुरं बिभ्रत् वहन्नयं नृषु वीरः नृश्रेष्ठो राजा। स्फूर्जन्तो देदीप्यमाना ये मणयो रत्नानि तेषां श्रेणयो येषां तानि किरीटानि भजन्ति इति भाञ्जि नपुंसकबहुवचनान्तरूपम्। रत्नश्रेणिमुक्तानि वैरिणां शत्रुनृपाणां शिरांसि मूर्ध्नः प्राणीनमत् प्रकर्षेण नमयाञ्चकार। असङ्गतिरलङ्कारः।

22 वीर इति। कदाचित् स वीरो वासुदेवः। स्वकीयैर्निजैः सचिवैर्मन्त्रिभिः सह तिस्रोऽपि प्रभुमन्त्रोत्साहरूपाः शक्तीः, चतुरः सामदामदण्डभेदरूपानुपायाँश्च सम्यक् सुष्ठु सम्मन्त्र्य विचार्य यियक्षमाणः, यजितुमिच्छतीति

यियक्षते, सन्नन्ताच्छानच्, यज्ञंकर्तुमिच्छन् क्षोणीतलं पृथिवीं अजस्रं निरन्तरं जेतुं विजेतुमायत्तीकर्तुमैच्छत् चकमे ।

23 भव्य इति । अथ तदनन्तरं वरैः श्रेष्ठै द्विजेन्द्रैर्ब्राह्मणै सम्यक् कृतस्वरुध्वनः कृतमङ्गलविधिः स वीरो नृपो भव्ये शुभे मुहूर्ते जैत्रस्य विजयार्थं आक्रमणस्य प्रयाणाय नितान्तमत्यधिकमुत्क उत्सुकः समेतानेकत्रितान् स्वान् सचिवानमात्यान् आजिज्ञपत् आज्ञापयामास ।

24 तस्येति । अथ तस्य राज्ञःश्चतुरङ्गयुक्तं हस्तिरथाश्वपादातियुक्तं सैन्यं, सेना एव सैन्यं, ष्यञ् । तेऽमात्याः सज्जयाञ्चक्रुः सज्जितवन्तः । कीदृशास्ते । उदारं सत्त्वं बलं चरित्रं वा येषां ते । पुनः । तत्तत्स्थलेषु वैरिदेशेषु प्रेषिता ये चाराः स्पशाः तेषा चारः पर्यटनं तस्य प्रोत्साहनेनाऽऽम्रेडितो द्विगुणीकृतः प्रभावो येषां ते । 'चार-चार' इति यमकम् ।

25 रुन्धन्निति । अथ श्रुतोः श्रवणेन्द्रियाणि रुन्धन्, ब्रह्माण्डस्य भाण्डं मृत्पात्रं भिन्दन् ध्वंसयन्, हरितो दिशः विलुम्पन् । अष्टविधः आहतानां दुन्दुभीनां ध्वानो नादः । तस्मात् नृपसम्बन्धिनः सैन्यमेव वार्धिः समुद्रस्तस्मात् अकस्मात् बभूव प्रादुरभवत् । रूपकमत्युक्तिश्च ।

26 पर्यारुरुक्षोरिति । प्रवरं श्रेष्ठं शताङ्गं रथं 'शताङ्गो रथ' इत्यमरः । पर्यारुरुक्षोः आरोढुमिच्छोः, सन्नन्तादुः । तस्य नृपस्य उत्तमाङ्गे मूर्धनि ते नरपुङ्गवाः सामन्ता मन्त्रिणश्च कुन्दं माध्यपुष्पं इन्दुश्चन्द्रश्च तद्वद्गौर श्वेतं, सुयशसः नृपस्य कीर्तेरनुमूर्त्तं तद्रूपं तत्तुल्यं श्वेतातपत्रं राजचिह्नं छत्रं बिभराम्बभूवुर्धारयामासुः ।

27 चञ्चदिति । चञ्चता दीप्यमानेन चलताऽऽन्दोलितेन चामरेण चामराभ्यां वा वीज्यमानः । शूरैः वीरसामन्तैः स्वमूर्ध्ना स्वैर्नतशिरोभिः, जातावेकवचनम् । परिपूज्यमानः । धन्वी धनुर्धरः । निषङ्गी निषङ्गवान् इषुधियुक्तः । विलसन् शोभमानः कृपाणोऽसिर्यस्य सः । शक्तिधरः कुन्तधारी नृपो वासुदेवः सद्यो झगिति प्रतस्थे । 'समप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदित्वम् । विजयाय बहिर्जगाम ।

28 सौरीति । तदानीं तस्मिन् समये अस्य नृपस्य पुरोऽग्रे उच्चैः पताका ध्वजा सौरी सूरस्य सूर्यस्येयं प्रभाकान्तिरिव, अरय शत्रव एव तमोऽन्धकारः तस्य निहन्त्री नाशयित्री । साक्षात् जयश्रीः जयलक्ष्मीरिव दीप्यमाना प्रकाशमाना । विष्णोः पीताम्बरा मूर्तिरिव, पीतमम्बरं वस्त्रं यस्याः सा पीतपटनिर्मिता पताका, पीताम्बरधारिणी विष्णुमूर्तिश्च । आस बभूव । मालोपमा ।

29 प्रौढ इति । अस्य राज्ञः पुरोऽग्रे प्रौढः प्रवृद्धः प्रतापः तेजः स्वयं साक्षात् नासीर-वीर एव नासीरः सेनामुखं तस्य वीरोऽग्रेसरः सेनापतिः तद्रूपः चकासे रेजे । आग्नेयं अस्त्रं 'बन्दूकेतिप्रसिद्धं ज्वलनास्त्रं दधतो बहन्तः परः सहस्राः सहस्राधिकाः, कृतानि अस्त्राणि यैस्ते अस्त्रयुक्ता बन्दूकची'-सैनिकाः अन्वाविरासुः पश्चात् प्रकटीबभूवुः अनुजग्मुरितिभावः । अतिशयोक्तिः । 'प्रतापोऽग्रस्ततः शब्द' इति कालिदासोक्तिः ।

30 तस्येति । तस्य राज्ञोऽनु पश्चात् माद्यन्तो मदशालिनो द्विरदेन्द्राः श्रेष्ठगजास्तेषां यूथः समूहः, तद्रक्षकः गजरक्षकः भटौघो योधसमूहश्चानुययौ अनुजगाम । तस्य सैन्यसमूहस्य मध्येऽरीणां शत्रूणां कुलानां वंशानामन्तकारी नाशयिता स वीरो वासुदेवः वलगन्त प्लुतगतियुक्तास्तुरङ्गा अश्वा यस्य तेन रथेन स्यन्दनेन ययौ आक्रमणार्थं जगाम ।

31 तस्येति । तस्य राज्ञोऽनुपृष्ठं पृष्ठे । प्रहारयोधाः प्रहरणे आक्रमणे कुशला भटा अतीव दर्पात् अतिशयगर्वेण क्षिप्रं शीघ्रं समाजग्मुः समागच्छन् । कीदृशाः । शस्त्रावल्या शस्त्रसमूहेन त्रासितो भायितः शत्रूणां रिपूणां सङ्घः समूहो यैस्ते । पुनः कीदृशाः । जयकुञ्जरस्य जयहस्तिनः आलानभूताः गज-बन्धनयूपरूपाः । रूपकम् ।

32 गाम्भीर्यमिति । प्राक् एते अब्धिगिरिकल्पवृक्षा जययात्रार्थं प्रयास्येत नृपाय क्रमशो गाम्भीर्यगौरव-कल्पितवस्तुदातृत्वं उपायनानि उपायनभूतानि वस्तूनि आनिन्युरानीतवन्तः । इत्यनेन तेषामपि करदत्वमभिहितं, किम्पुनः राज्ञाम् । प्रौढोक्तिरलङ्कारः ।

23 सद्य इति । परेषां शत्रूणां प्राणा एव धनानि तेषां चोरः पश्यतोहरः स्तेन । तस्य सैन्यस्य सेनायाः सङ्घः समूहः । रजांसि स्वपदाघातैः रजांसि धूलीसमूहं

प्रकिरन् समुत्क्षिपन् परेषां रिपूणां लोचनानि नेत्राणि अन्धीकरिष्यन् भविष्यति काले नेत्रशक्तिरहितानि विधास्यन्, इति शतृप्रत्ययान्तरूपम् । सर्वेषां लोकानां अक्ष्णां नेत्राणां दीपं दीपकरूपं प्रकाशहेतुं तरणिं सूर्यं लुलोप लोपयति स्म आच्छादयति स्म । रूपकम् ।

34 काममिति । तस्य नृपस्य सघनोऽपि निबिडोऽपि, पक्षे घनः मेघोऽपि स बलौघः सेनासमूहः अतिशयेन चकासन्तीनां दीप्यमानानां तरवारीणां असीनां धारास्ताः वर्षतीति, पक्षे चकासत्तराणां वारीणां जलानां धारास्ताः वर्षतीति । पश्चात् दिग्दन्तिनां दिशागजानां गण्डमदेन कपोलमदजलेन स्रवन्तीः स्यन्दमानाः मार्गनदीध्वसरितः प्राशूशुषत् प्रकर्षेण शोषयति स्म । 'तरवारि' इति पदे श्लेषः, यथा नैषधे—"एतस्य भूरितरवारिनिधिश्चमूः सा यस्याः प्रतीतिविषयः परतो न रोध" (१३-२१) इति, 'सघनः—स घनः । इति सभङ्गश्लेषरूपकयोरेकवाचकानुप्रवेशसङ्करः । विरोधाभासश्च, मेघः सरितः जलौघयुक्ता विधत्ते नतु शोषयति, एष सैन्यमेघस्तु दिग्गजानां दाननदीः शोषयाञ्चकारेति विरोधः ।

35 भिन्दन्निति । सैन्यस्य नागाः हस्तिनस्तैस्सहितः स वासुदेवः परिपन्थिनां शत्रूणां सेतुं अवरोधहेतुं अमन्दं वेगेन भिन्दन् त्रोटयन् । परेषां रिपूणां अहङ्कारस्य गर्वस्य वनीं वाटिकामटवीं क्षुन्दन् पदादलन् । प्रचण्डा भीषणा आनकास्तेषां भीमैर्भयङ्करैर्घोषैर्नादैर्गर्जन् प्रतीचीं पश्चिमां दिशं ययौ जगाम । 'अहङ्कारवनी' मिति रूपकम् ।

36 तत्रेति । अथ तदनन्तरं तत्र विलसन्तो निषङ्गास्तूणीरा येषां तान् कश्मीरादिदेशवासिनो भटान् भुजङ्गान् सर्पान् तार्क्ष्यो गरुड इव चण्डा भीषणा बाणाः शरा यस्य सः, स नृपवासुदेवः प्रत्यगृह्णात् प्रतिजग्राह । उपमानुप्रासौ ।

37 आसेदुषामिति । स नृपो युद्धमहीं समरभूमिमासेदुषां प्राप्तवतां, सन्मण्डलीभूतानि आकृष्टानि शरासनानि धनूंषी येषां तेषां अमीषां शत्रुनृपाणां तद्योधानाञ्च शरदुर्दिनं वाणवर्षं तरसा वेगेन कोदण्डात् धनुषो मुक्तैः क्षिप्तैराशुगौघैः स्वबाणसमूहैश्चिच्छेद छिनत्ति स्म । रूपकम् ।

38 दोर्दण्डेति । ते शत्रुसैनिकाः अस्य वासुदेवस्य दोष्णो भुजयोर्यौ दण्डौ तयौ काण्डौ तावेवारणिर्यज्ञाग्निमन्थनकाष्ठद्वयं तेन सम्भृते प्रज्वालिते वीर्यानले शौर्याग्नौ प्रस्फीतं प्रवृद्धं यद् युद्धं तदेवाध्वरो यज्ञः तस्मिन् तदर्थं वा दीक्षिता गृहीतव्रताः सन्तः । स्वाराज्ये कामोऽभिलाषो येषां ते । स्वाराज्यमात्मनः समृद्धिशालि राज्यं, पक्षे स्वर्गस्य राज्यं । निजान् प्राणानेव होमद्रव्यवत् जुहुवाम्बभूवुः जुह्वति स्म । परम्परितरूपकम् ।

39 दोषंश्रिता । दोषं भुजं श्रिता आश्रिता करे गृहीता, पक्षे दोषवती कामुकी स्त्री । अस्य नृपस्य खड्गलता । कीदृशी । रक्ता शोणितारुणा, पक्षे अनुरागवती कामुकी । हठेन बलात् तथैव स्वयमेव विपक्षान् शत्रून् कण्ठे जगृहे, तेषां कण्ठान् कृत्तवती, पक्षे कण्ठे आलिङ्गितवती । यथा जयश्रीर्जयलक्ष्मीरपि तं वासुदेवं नृपं सानन्दं आनन्देनोल्लासेन सहितं यथा स्यात् तथा तूर्णं शीघ्रं आलिङ्गति स्म आश्लिष्यति स्म । उपमा । तुल्ययोगिताध्वनिः । समासोक्तिश्च ।

40 क्रय्यानिति । निजान् प्राणगणान् प्राणान् क्रय्यात् क्रेतुं योग्यान् क्रय्यवस्तूनीव विधाय कृत्वा युद्धापणेषु युद्धरूपिषु हट्टेषु प्रसभं स्थितान् योद्धुं प्राणान् विक्रेतुञ्चागतान् । धर्मेण प्रणाय्यान् प्रकर्षेण नेतुं योग्यान् क्षय्यान् नाशयितुं योग्यान्, जय्यान् जेतुं योग्यान् तान् शत्रून् सः बाणवर्षैः शरवृष्टिभिः दिवं स्वर्गमनयत् नयति स्म । अवधीदिति भावः । 'अय्यानित्यादिषु पदेषु' 'अचोयत्' इति यत् प्रत्ययः ।

41 उच्छिद्येति । सद्यः झगिति परवृन्दं शत्रुसमूहमुच्चैरतिशयेनोच्छिदय छित्वा तां वारुणीं प्रतीचीं दिशं अह्नाय शीघ्रमेव गृह्णन् स्वायत्तीकुर्वन्नपि । परकण्ठसक्तां परेषां शत्रूणां कण्ठेषु सक्तां रक्तामनुरागवतीं कृपाणीं असिपुत्रिकां बिभ्रत् दधत् स वीरो वासुदेवः पुण्यजनानां यक्षाणामीशः कुबेरस्तस्य काष्ठां दिशामुत्तरां ययौ जेतुं जगाम । समासोक्तिः ।

42 तस्मिन्निति । तस्मिन् राज्ञि उदीचीमुत्तरां दिशं प्रगते सति कुबेरो धनेशः मिथ्यैव राज्ञां राजा बभूव । 'राजराजः' इति कुबेरस्य पर्यायः । व्युत्पत्त्या यौगिकदृष्ट्या त्वयं वासुदेव एव राज्ञां नृपाणां राजा, कुबेरस्तु रूढ्या एव

राजराजः न तु व्युत्पत्या । किन्तु अयं कुबेरस्तस्मै नृपाय धनानां दाता अतो धनद इति नाम्ना सत्यम् ।

43 तत्रेति । सङ्ग्रामस्य युद्धस्य या लीला तस्यां सुभगम्भविष्णुः शोभनः । भविष्णुः भूधातोरिष्णुच् । विजिष्णुः विजयशीलः विजेतुं शीलमस्य । प्रत्यर्थिनां रिपूणां दोर्दण्डानां भुजदण्डानां मदस्याऽसहिष्णुरसहनशीलः । समराय उत्पतिष्णुः उत्पतनशीलः । एष नृप दर्पादिगर्वेण उत्तरान् कुरूनयासीत् तद्देशं ययौ विजेतुमितिभावः ।

44 प्रत्युद्ययुः । ते कुरुभूपाः । कीदृशाः । खुरली ? अस्त्रशस्त्राभ्यासस्तस्यां प्रवीणा कुशलाः । अस्य नृपवासुदेवस्य करप्रतप्ताः युद्धे हस्तलाघवप्रपीडिताः । सूर्यस्य करैः किरणैः प्रतप्ताः भास्वन्तः देदीप्यमानाः सूर्यकान्ताः सूर्यमणय इव स्वकीयं तेज ओज परममत्यधिकं वमन्त उद्गिलन्तः प्रत्युदययुः तं प्रति ययु युद्धार्थं जग्मुः ।

45 कण्डूलेति । स राजा । कण्डूलौ खर्ज्जू युक्तौ कण्डूरस्यास्तीति लच् । दोर्दण्डौ तयोः बलेन उन्मदिष्णून् उन्मदशीलान् तान् अमित्रान् शत्रून् कुरुभूपान् । निराकरिष्णुः निराकर्तुं पराजेतुं शीलमस्य सः संवर्ते प्रलयकाले वर्धिष्णुर्वर्धनशीलो यो हुताशो वह्निस्तद्वत् चण्डैर्भयङ्करै बाणैः शरैः सपत्राकृतवान् विद्धाँश्चकार । 'सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने । इति डाच् ।

46 कर्णान्तेति । कुरूणां प्रवराः कुरुश्रेष्ठा भूपाः उच्चैः किरणैरंशुभिः इव सन्तपन्तं ज्वलन्तं तपस्य ग्रीष्मस्य सूर्यस्य भानोस्ताप इव ताप यस्य तं; यद्वा तस्य ताप इव ताप यथा स्यात् तथेत्यव्ययीभावः । कर्णान्ते श्रवणसमीपे विश्रान्तो यः कठोरो दृढश्चापो धनुस्तस्मान्मुक्तैः पृषत्कैः बाणै- सन्तपन्तं तं नृपं वासुदेवं द्रष्टुमवलोकितुं न शेकुः समर्था न बभूवुः । उपमा ।

47 तद्बाणेति । तस्य बाणा एव काकोदराः सर्पाः, यद्वा बाणाः काकोदरा इव तेषां कालकूटेन विषेण व्यालीढानि दष्टानि गात्राणि येषां ते । अमित्राः शत्रवः । जीवातवे जीवनार्थं, जाङ्गलिकायमानं, जाङ्गलिकवत् विषवैदयवदाचरतीति जाङ्गलिकायते इति क्यङ् विषवैद्यकल्पं तच्चरणाब्जं शरणं प्रजग्मुः प्रयान्ति स्म । रूपकोपमयोः सङ्करः, यद्वा परम्परितोपमा ।

48 जित्वेति । अथ । जातमोहान् विमूढान् विदेहान् प्रचण्डान् दुर्दान्तानौड्रान् अगाधान् गम्भीरान् मगधान् विरूपान् कामरूपान् तत्तद्देशीयान् वीरानुच्चैर्जित्वा पराजित्य । अयं वासुदेवो मेरुं सुमेरुपर्वतं जयस्तम्भं विजयसूचकं स्तम्भं व्यधत्त निरमापयत् । अत्युक्तिः । "अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्योदार्यादिवर्णनम् इति ।

49 दस्यूनिति । स वासुदेवः पूषेण सूर्य इव रथेन प्राचीं पूर्वां दिशं ययौ, जेतुमिति भावः । कीदृशो नृपः सूर्यश्च । स्वकरप्रतापैः भुजौजोभिः, पक्ष किरणतापैः गाढान्धकारानिव प्रगाढतमांसीव दुष्टान् दस्यून् म्लेच्छान् चौरान् वा निरस्यन् निराकुर्वन् । पुनः कीदृशः । पद्माया राजलक्ष्म्या उरु महत् यत् शल्यं कष्टं तस्योद्धरणे निवारणे उद्धारे विज्ञः दक्षः, पक्षे पद्मानां कमलानां यत् शल्यं सङ्कोचजनितं कष्टं तस्य निवारणे कुशलः । श्लेषपुष्टोपमा ।

50 सन्ताड्यमानेति । अङ्गदेशभूभृत् अङ्गदेशनृपः, तद्देशपर्वतश्च । तं वासुदेवं घनं निबिडं मेघञ्च पर्यकार्षीत् । कथम्भूतम् । उच्चैरतिशयेन तरवारिणां खड्गानां धारा वर्षन्तं पक्षे उच्चैस्तराणां वारीणां जलानां धारा वर्षन्तं । सन्ताड्यमानानां वाद्यमानानां आनकानां दुन्दुभीनां घोरोयो गर्जो नादोऽस्या अस्तीति गर्जिनी तां, शस्त्राणामायुधानामर्चिर्ज्वाला सैवोद्यन्ती तडित् विद्युत्, तां चेति कर्मधारयसमासः । वहन्तं धारयन्तम् । श्लेषपरिपुष्टं रूपकम् श्लेषपरिपुष्टा निदर्शना वा ।

51 अङ्गाधिनाथमिति । श्रीचाहुवानस्य कुलस्य वंशस्य एक हीरः श्रेष्ठमणिर्धीरो धैर्यशाली स वीरो वासुदेवः । समदेभयूथं समदाः मदोन्मत्ता ये इभा गजास्तेषां यूथं यस्य तम् । चञ्चन्तो वल्गन्तो ये तुरङ्गा हयास्तैरुद्धता ये सादिनोऽश्वसैनिकास्तेषां सार्थः समूहो यस्य तम् । अङ्गाधिनाथं अङ्गदेशनृपं विजिग्ये जितवान् ।

52 आशीविषेभ्य इति । आशीविषेभ्यः कृष्णसर्पेभ्यो विषमैस्तीक्ष्णैः पृषत्कैर्बाणैरुत्कलभूमिपालान् उत्कलदेशनृपान् आकुलान् व्याकुलान् कृत्वा । युद्धेषु एकमल्लः श्रेष्ठयोद्धा स नृपः भल्लैः कुन्तैः सहितान् समल्लान् भिल्लान् निषादान् तज्जातीयान् वीरान् कुन्तैर्भल्लैः विचकर्त कृन्तति स्म । कीदृशः कल्याणी कीर्तिर्यशो यस्य सः । अनुप्रासः ।

53 कुन्ताग्रेति । कुन्तस्य भल्लस्य अग्रैर्मुखैः निर्भिन्नानां विपक्षपक्षाणां शत्रुसैनिकानां वक्षोभ्यः उरोभ्यः क्षरद्भिर्गलद्भिः शोणितैर्मेदुरायां परिपुष्टायां रणभूमौ इति भावः । गङ्गायाः अब्धेः समुद्रस्य च यः सङ्गः मिलनं तं न सहत इति गङ्गाब्धिसङ्गासहनः स वासुदेवः । तां सरस्वतीं रक्तवर्णां शोणितनदीं सरस्वतीनदीञ्च पत्या समुद्रेण संयोजयामास मेलयामास भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिः ।

54 पौरन्दरीति । सा पौरन्दरी पुरन्दरसम्बन्धिनी पूर्वादिक् । विषमास्तीक्ष्णा ये इषवो बाणास्तैस्तप्ता पीडिता सती, पक्षे विषमेषुः कामदेवस्तेन तप्ता पीडिता सती । तस्य लोकैकवीरस्य संसारस्य श्रेष्ठवीरस्य बरस्य पत्युः कण्ठे हठेनैव बलादेव विशालां बृहती मालामिव विशालां तन्नाम्नीं नगरीरूपां जयश्रियं राज्यलक्ष्मीं निदधे विन्यंस्तवती । उपमा ।

55 हस्त इति । सम्फुल्लो यो भास्वान् प्रकाशशीलो यो भानुः स एव सम्फुल्लमानन्देन विकसितं भास्वत् कान्तियुक्तं यद् वदनंमुखं तेनाविशेषा । हस्तेकृता स्वायत्तीकृता, पक्षे पाणिपीडनविधिना परिणीता । एषा माघवनी ऐंद्रीदिक् पूर्वा दिशा । वीरभोगीणभुजं वीरैभोगयोग्यौ भुजौ यस्य तं । भोगीणः भुज् खञ् । नृपालं वासुदेवं । कामप्रदानेनाऽभिलाषपूरणेन सुखाचकार सुखाकरोति स्म आनन्दयति स्म । सुखाचकारेति डाच् । समासोक्तिः ।

56 क्षीबेति । अथ तदनन्तरम् । क्षीबा मत्ता येऽरयःशत्रवस्तेषां पक्षाः सहयोगिनस्तेषां क्षपणे नाशे एकदक्षोऽतिकुशलः । उदारः सारो बलं यस्य सः । सङ्ख्ये सङ्ग्रामेऽतिसङ्ख्या असङ्ख्या येऽहिताः शत्रवस्तैर्दुर्निरक्ष्यो दुर्दर्शनीयः । स क्षोणीपतिर्नृपः तां प्रसिद्धां दक्षिणां दिशं तूर्णं शीघ्रं जगाम । जेतुमिति भावः । अनुप्रासः ।

57 यावदिति । यावत् रणकेलिः युद्धक्रीडा तस्याः मानी स्वाभिमानी स वीरो वासुदेवः । कार्मुकस्य धनुषः कोटिमग्रभागं उच्चैरतिशयेन नानीनमत् न नमयामास, तावत् एव विदर्भस्य तद्देशस्याधिपतेः स्वामिनोऽदभ्रं अनल्पं उन्नतमिति मूर्धानं शिरो नमयाञ्चकार नमयति स्म । यद्वा अदभ्रमिति क्रियाविशेषणम् । शिरोदऽभ्रमतिशयं नमयाञ्चकार । कारण-कार्यपौर्वापर्यविपर्ययरूपाऽतिशयोक्तिः ।

58 दानोद्धुराणामिति । अथ स विदर्भाधिपतिस्तस्मै वासुदेवाय विनयात् नम्रतया दानोद्धुराणां मदोन्मत्तानां सिन्धुराणां गजानां वल्गन्त उत्प्लवन्तः हयाः तुरगास्तेषां च परःसहस्रं सहस्राधिकं, विलसन्तो जाज्वल्यमाना घृणयः किरणा येषां तेषां मणीनां रत्नानामुच्चैरत्यधिकं पुञ्जं समूहं उपादात् उपायन-रूपानुपाहरत् । अनुप्रासः ।

59 आन्ध्रानिति । अथ राज्ञो राजभिः सह वा युद्धचत इति राजयुध्वा, क्वनिप् । एष वासुदेवः । अरिभ्य शत्रुभ्यो दत्ता तन्द्राऽऽलस्यं यैस्तैरर्धचन्द्रैः तदाकारैः शरैः सुधीरान् धैर्यशालिन आन्ध्रान् विद्ध्वा प्रचण्डानपि गोलकुण्डान् जित्वा द्रुतं देवगिरीशं देवगिरिनृपं प्रायात् जेतुं ययौ । अनुप्रासः ।

60 देवाद्रिनाथ इति । रामं दाशरथिं रुरुत्सुः रोद्धुमिच्छुः लङ्केशो रावण इवातिदृप्तः अत्यधिकमभिमानी देवाद्रिनाथ देवगिरिनृपः । नाराचाणां बाणानां या धारा तस्याः यः पवनाशपाशो नागपाशस्तं तन्वन् विस्तारयन् अहम्पूर्वं अयूयुधत् योधयति स्म । युध्-धातोर्णिचि सामान्ये लुङ् । उपमा ।

61 बाणेति । नृपवासुदेवः । रोषप्रकर्षेण अतिशयकोपेन द्विगुणोऽनुभावः शौर्यातिशयो यस्य सः । नागपाशं तूर्णं शीघ्रमाजिभूमौ रणभुवि अच्छिनत् कृन्तति स्म । कैर्हेतुभिः । पतन्तो ये पत्रिणो बाणास्तेषां श्रेष्ठाः, पक्षे पत्रिश्रेष्ठाः पक्षिश्रेष्ठाः गरुडपक्षिणस्तेषामोघस्य समूहस्य पक्षैगरुद्भिः क्लृप्ता येऽनिला वायवस्तैः । रूपकम् ।

62 एकेनेति । स देवगिरीशो वासुदेवस्य एकेनैव बाणेन चतुरङ्गो हस्त्यादिसैन्य-युक्तोऽपि पञ्चत्वमासन् मृतः सप्तहयं, सप्त हयास्तुरगा यस्य स तं सूर्यं विभिन्दन् साहस्रनेत्रंमैन्द्रं पदं स्वर्गं प्राप । उक्तं हि—"द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ" परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखोहतः । इति महा-भारते विरोधालङ्कारः ।

63 सस्नाविति । अस्यासिः खड्गः । अरय एव भूभृतः पर्वताः, यद्वाऽरिभूभृतः शत्रुराजान एव भूभृतः पर्वतास्तेषां वेतण्डा गजास्तेषां गण्डाः कपोलाः त एव गण्डशैलाः पार्वत्याः स्थूलोपलाः तेभ्यः स्रवतां गलतामस्राणां रक्तानां तीर्थे जलाशये सस्नौ स्नातिस्म । तेन हेतुना सद्यो झगिति द्विषतां वधूनां शत्रुकामिनीनां अधरः अधरोष्ठो विरागो रागरहितः, अक्षि

नेत्रद्वयञ्च धौताञ्जनं निष्कज्जलं बभूव । शत्रुरमण्यो विधवाः सञ्जाता इति भावः । पर्यायोक्तमलङ्कारः । "पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।" इति मम्मटः । पुनश्चात्र स्नानक्रिया हेतु रूपा नृपखड्गे वर्णिता, तत्कार्यं ताम्बूलादिरागक्षालनं नेत्राञ्जनधावनञ्च वैरिस्त्रीषु कल्पितमिति कविप्रौढोक्तिसमुत्थापिताऽसङ्गतिश्च । "कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गति" रिति लक्षणात् ।

64 सद्द्राविडानिति । राजसु सिंहः श्रेष्ठः, यद्वा राजा एव सिंहः स नृपः । कुरङ्गानिव मृगानिव तान् फिरङ्गान् विद्रावयति स्मेत्युत्पमा । किं कृत्वा तरसा वेगेन द्राक् झटिति द्राविडान् विजित्य जित्वा कर्णाटं च उच्चैरतिशयेन करदं अधीनस्थं राज्यं विधाय कृत्वा । अनुप्रासः । फिरङ्गा अरबतटे स्थिता वैदिशिका युरोपवासिनः ।

65 त इति । ते दाक्षिणात्या दक्षिणदेशीयाः, पक्षे दक्षिणा उदारा अपसव्याश्च । तद्वत् । वामभावं शत्रुत्वं, पक्षे सव्यत्वं । सज्जान् चापान् धनूंषि च सद्यो झगिति समुत्सृज्यत्यक्त्वा । क्षोणौ पृथिव्यां लुठन्तो मौलयः शिरांसि यथा स्यात् तथेति क्रियाविशेषणम् । तदीयपादौ वासुदेवचरणौ मूर्ध्ना शिरोभिः (जातावेकवचनम्) संस्पृश्य स्पृष्ट्वा प्रणम्येति भावः । तदाज्ञां नृपस्य वासुदेवस्य निदेशं निदधुः धारयन्ति स्म । मूर्ध्नेति देहलीदीपन्यायेनात्रापि संयोज्यम् । उपमा ।

66 बाणोद्धृतेति । असौ परिपन्थीनां शत्रूणां वार्धिः समुद्रस्तस्मै वासुदेवाय आजौ रणे कीर्तिरूपिणं चन्द्रं विजयलक्ष्मीञ्च पुराकथाप्रसङ्गे समुद्रमन्थनोत्थौ चन्द्रं लक्ष्मीञ्च व्यतारीत् वितरितवान् ददौ । कीदृशः । बाणा एवोद्धतः प्रचण्डः आशीविषाणां राजा वासुकिस्तैर्बाणैः (स्तेन वा) राजन्तौ यौ दोर्दण्डौ तावेव सन् शोभन्ते मन्दरः तन्नामा पर्वतस्तेन मन्थितः । परम्परितरूपकम् ।

67 उत्सादेचति । नृषु वीरोऽयं शुभंयुः सौभाग्यशाली नृपः अहंयून् अहङ्कारयुक्तान् शत्रून् रिपून् उत्साद्य राज्यात् उत्तराय नम्रान् विनीतांश्च पुनः पदेसंस्थाप्य तेभ्यो विनीतनृपेभ्यः उपायनानि आदाय गृहीत्वा सद्गूर्जरान् गूर्जरदेशान् अन्वगमत् आक्रमितुं जगाम । 'अहंशुभयोर्युस्' इति युः प्रत्ययः । 'अहंयुनाथः क्षितिपः शुभंयुः' इति भट्टिकाव्ये । तुलनीयमत्र कालिदासपदचम्–

"आपादपद्मप्रणता कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ।।"
(रघौ ४.३७) इति ।

68 दृप्यदिति । दृप्यन्तो मदिष्णवो ये महीपाला राजानस्तेषां जयैककर्मणि, कर्म एव कार्म तस्मिन्, यद्वा कर्मशीलं यस्य तत् कार्मं 'छत्रादित्वात्णः' कर्मशीलं एतादृक् सत् शोभनं यत् कार्मुकं धनुर्यस्य स इति बहुव्रीहिंपदम् । असौ वासुदेवः । मध्येरणं रणस्य सङ्ग्रामस्य मध्ये, 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति अव्ययीभावः । ललाटन्तपश्चासौ चण्डो भीषणो भानुः सूर्यः मध्यन्दिन-सूर्यः तस्य लक्ष्मीं शोभां बभार धारयति स्म । ललाटन्तपतीति खश्, मुमागमश्च । निदर्शना : "अभवन् वस्तुसम्बन्धः सम्भवन् वापि कुत्रचित् । यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना" इति लक्षणात् ।

69 तमिति । राज्यप्रभया राज्यशोभया निर्जितो विजितो निर्जरेन्द्रो देवराजः शक्रो येन सः । स वसुधादिदेवः पृथिव्याः श्रेष्ठराजा वासुदेवः तं गूर्जरेन्द्रं गुर्जरनृपं जर्जरीकृत्य विनाश्य दुर्बलीकृत्य व । संहृष्टं आनन्दितं राष्ट्रं राज्यं येन स एतादृशः सन् । सुराष्ट्रान् सौराष्ट्रप्रदेशं ययौ जेतुञ्जगाम । अत्र 'स गूर्जरेन्द्रं' 'स ययौ' इति प्रयोगे 'स-पदस्य' पुनरुक्तेः प्रयोगशैथिल्यं कवेः । अतः 'जर्जरीकृत्य च गूर्जरेन्द्रं' इति शोभनः पाठः ।

70 उच्चैरिति । असौ नृपः अमीषां सुराष्ट्रवीराणां भुजकण्डूः भुजयोः खर्जूः तस्याः दर्पस्य मदस्य नाडिन्धम उपतापकः, 'नाडिमुष्ट्योः खश्' । बाणप्रवर्षैं शरवृष्टिभिरतितिरोहित आच्छन्नोऽर्कः सूर्यः यस्मिन् तम् । नाम्नैवाभिधानेनेव एकविज्ञेयः परो वीरः शत्रुभटः आत्मवीर स्वपक्षभटो वा यस्मिन् तं । एतादृशं भीषणं समरं सङ्ग्रामं व्यधत्त अकार्षीत् ।

71 अन्योन्यमिति । अन्योन्यं परस्परं उच्चैरतिशयेन कलहायमाना युद्ध्यन्तः, स्वान् रदनच्छदान् ओष्ठान् दशन्तः दन्तैः कृन्तन्तः, स्वं स्वामिधर्मं स्वामिनंप्रति स्वातंत्र्यं बहु अतिशयं मानयन्त आद्रियमाणाः ते वीरास्तत्र रणे रभसा वेगेन अन्योन्यं प्रजह्रुः प्रहरन्ति स्म ।

72 प्राणानिति । प्राणान् जीवनानि तृणीकृत्य अनादृत्य । च्वि, अतृणं तृणं करोति । नियुद्धचत युद्धचमानान् । दिवं स्वर्गं आयियासून् आयातुं आगन्तु-

मिच्छून् तान् शूरान् भटान् आलोक्य दृष्ट्वा । अयं मम कान्तः प्रियः, 'अयं तव प्रियो न' इति पुरा अप्सरसां देवगणिकानां विवादः कलह आसीत् ।

73 भास्वदिति । अथ तदनन्तरं । भास्वत्कृपाणः देदीप्यमानखड्गः कठोरबाणः प्रचण्डशरो युधिरणे राजमानः नृपसम्मानितो मानेन उन्नतोऽसौ स राजा । ओजायितं ओजोयुक्तं शत्रुबलं रिपुसैन्यं विलोक्य दृष्ट्वा । रोषप्रकर्षात् अतिशयक्रोधेन अधिकं दिदीपे शुशुभे ।

74 प्रौढमिति । यावदाजौ रणे प्रौढं प्रतापं तेजो दधताऽमुना नृपेण स्वदृशोः स्वनेत्रयोः रागोऽरुणिमा क्रोधरक्तिमा नासञ्जि न संसक्तः । आङ्पूर्वकसञ्ज्धातोः कर्मणि लुङ् । तावदेव द्विषन्तः शत्रवो ये वीरा भटास्तेषां नितम्बिनिनां कामिनीनां बिम्बोष्ठानां रागस्ताम्बूलादिरागः सहसा झगिति व्यलुम्पत् लुम्पति स्म । 'बिम्बोष्ठमित्युपमा । अतिशयोक्ति परिपुष्टं पर्यायोक्तमिति सङ्करः ।

75 शीघ्रमिति । स वीरोऽशनायितानां बुभुक्षूणां शराणां बाणानां आशीविषाणां सर्पाणामिव परेषां रिपूणां प्राणैः प्राणरूपैर्वायुभिः । सर्पाणां पवनाशनत्वात् । उद्यन्तो या दया कृपा तयेवेत्युत्प्रेक्षा । सौहित्यं सुहितस्य भावः कर्म वा तत् अकरोत् चकार । उपमोत्प्रेक्षयो संसृष्टिः ।

76 कल्पान्तेति । अस्य राज्ञः कोपः क्रोधः कल्पान्तस्य प्रलयस्य कालो यमो नास्ति किल । अयं नृपस्य चापः, न तु कालस्य वक्त्रं मुखम् । एतेन दत्ताः क्षिप्ता विशिखा बाणाः, जिह्वा वक्रा कृपाणी जिह्वा च युधि रणे न लक्ष्यते स्म । शत्रुभिरिति शेषः ।

77 एतदिति । एतस्य नृपस्य कृपाणी असिपुत्रिका । किलेति सम्भावनायाम् । कालरात्रिः । सैषा अशनायितेव, अशनाया भोजनेच्छा जाता अस्येति तारकादिभ्य इतच् सा अशनायिता भोजनेच्छावतीव । अस्र रक्तमेव मधुमेरेयं तत् पीत्वा उन्मदिष्णुरुन्मादवती रिपूणां शत्रूणां प्राणान् सुचिर मांस्तेपदंशं मांसं उपदंशः यथा स्यात् तथा ऽव्ययीभावः, भुङ्क्ते स्म खादति स्म । अन्यापि बुभुक्षिता मदिरापानं कृत्वा सोपदंशं बहुकालं भोजनं करोति । उपदंशो मद्यपानरोचकभक्ष्यद्रव्यम् । उत्प्रेक्षा रूपकञ्च ।

78 संवीतवतीति। या शत्रुराजमहिला आप्रपदीनं पदाग्रं पदान्तं यावत् वासो वस्त्रं संवीतवती आवृतवती सती। अर्कं सूर्यं जातु मनागपि न पश्यति स्म। असूर्यंपश्याऽऽसीदिति भावः। बतेति खेदे। तां रिपुराजयोषामेव नृपो भयाद् ग्रामे ग्रामे धावन्तीं ग्रामीणजनैरुपहास्यमानाञ्चक्रे : अन्तपुरंत्यक्त्वाऽस्य शत्रुपत्न्यः पलायमाना ग्रामीणैरुपहसिताः। पर्यायोक्तम्।

79 एतस्येति। रणस्य रङ्गभूमियुद्धभूमिर्नाट्यभूमिश्च। अस्य नृपस्य कीर्तिं यशो गायति। कथम्भूता सा। नृत्यन्तो ये पिशाचा वेतालास्तेषामुल्लसन् योऽट्टहासो यत्र यस्या वा सा। कैर्हेतुभिः। कृत्तानि च्छिन्नानि यान्यरीणां शत्रूणां कण्ठानि तेषामुद्धुराणि यानि रन्ध्राणि विवराणि तानि भजन्तीति भाजः तेषां मारुतानामनिलानां निःस्वनैः शब्दैः, कबन्धकण्ठच्छिद्रेषु गुञ्जद्भिर्माऽरुतध्वनिभिरिति भावः। एकदेशविवर्ति रूपकम्।

80 सैन्यमिति मानग्रहिलः स्वाभिमानी स वासुदेवः सुराष्ट्राधिपतेरदीन महत् सैन्यं बलं यमस्य कालस्य निशान्तमन्तःपुरं नियंत निश्चयं नीत्वा तस्मात् दन्तावलान् हस्तिनः सिन्धुदेशोद्भवांस्तुरगांश्च जग्राह।

81 मध्येनभ इति। मध्येनभः नभस आकाशस्य मध्ये 'पारेमध्ये षष्ट्या वा' इत्यव्ययीभावपदम्। क्रीडिताः खेलिताः, प्रकाशिता इति भावः, सन्तः शोभना गभस्तय किरणा यस्य स चासौ भास्वान् सूर्य इव युधि रणे दुर्निरीक्ष्यो निरीक्षितुमयोग्यः। मध्यन्दिनसूर्यवद्दुरवलोकः। जैत्रोजयशील. स मालवभूमिपालं बलात् नियन्तुं वशीकर्तुं तरसा वेगेनोच्चैरतिशयं प्राधावत् प्रधावति स्म।

82 उष्णायमाणेति। उष्णायमाणौ उद्धतौ प्रचण्डौ दोषोभुजौ तयौ; प्रकाण्डं यस्य तं प्रशस्तभुजद्वयम्। 'प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ प्रशस्तवाचकान्यमूना' मित्यमरः। वासुदेवनृपमायान्तं श्रुत्वा। मण्डप शैलो 'माण्डु' दुर्गं तस्य स्वामी मालवेशः द्रुतं सख्यं मैत्रीं चकार। कथम्भूतः। नीतौ राजनीतौ प्रवीणः कुशलः।

83 आदायेति। परिखण्डिता विनष्टा अरयः शत्रवो येन सः सखायं मित्रं सन्मण्डपेशं माण्डुपतिं सार्धमादाय सैन्येन बलेन धरित्रीं नमयन्। स धीरो वासुदेवः धन्वप्रदेशान् मरूदेशान् जेतुं समुपाजगाम उपगच्छति स्म।

84 तैरिति । धन्वक्षितिपैः मरुदेशनृपैः सहास्योदारः दृढप्रहारः दृढाः कठोराः प्रहारा आघाताः यत्र एतादृशः सम्प्रहारो रणः जज्ञे प्रादुरभवत् । कीदृशः । अन्योन्येषां ये कोदण्डा धनूंषि तेषां कठोरा दृढायाः कोटयः तासां टङ्कारेण नादेन सम्पूरिते रोदसी द्यावापृथिवी येन सः । अनुप्रासः ।

85 अत्युज्ज्वलमिति । ते शूरा धनवीराः वर्म कवचं 'जातावेकवचनम्' परिधाय मर्मच्छिदो मर्म छिनत्तीति क्विप् तान् मर्मभेदिनो बाणान् क्षिपन्तः । प्राणान् पणीकृत्य अपणं पणं कृत्वेति च्विः । रणस्य याऽक्षवतीद्यूतक्रीडा तस्यां चिरेण दिदिवुः द्यूतं क्रीडितवन्तः 'दिव् क्रीडाया । मिति धातोः लिटि प्रथम-पुरुषबहुवचनान्तं रूपम् । रूपकमलङ्कारः ।

86 अन्योन्येति । तस्य वासुदेवस्य कृपाणी असिपुत्रिका विद्युदिव तडिदिव घने निबिडे सैन्ये, पक्षे घने मेघ इव सैन्ये परमाविरासीत् प्रकटिता बभूव । कथम्भूते सैन्ये घने च । अन्योन्येषामुभयपक्षाणां यानि शस्त्राणि तेषामोघः समूहस्तस्य विमर्दनेन सङ्घर्षणेन खाङ्कारघोरं यत् स्तनितं गर्जितं तेन भीमे भयङ्करे । उपमा ।

87 शक्तीरिति । अथ स नृपः शक्तीरस्त्रविशेषान् भल्लान् कुन्तान् कुण्ठशक्ती-र्निष्फलान् शक्तिरहितान् कुर्वन् । चन्द्रहासान् खड्गानपि सतन्द्रानलसान् कुर्वन् । चापमुक्तैर्धनुःक्षिप्तैपृषत्कैर्बाणैः शरौघानपि शत्रु बाणसमूहानपि छिन्दन् कृन्तन् । स नृपोऽतिशिश्ये शत्रुभ्योऽतिशयो बभूव ।

88 श्रीरामेति । बतेति खेदे । ते संसप्तका मरुभूमिवीराः 'रामरामेति' वदन्तः सर्वाण्यपि वाहनानि उत्सृज्य त्यक्त्वा पदातय एव सुधीरं धैर्यपूर्वकं घोर भीषणं नियुद्धं युद्धं विदधुः कृतवन्तः ।

89 हेममिति । हैमं सौवर्णं तनुत्रं कवचं परिधाय धन्ववीरा मरुदेशीया भटाः स्वर्णाद्रिकूटाः सुमेरुपर्वतशृङ्गाणि गैरिकौघं गैरिकधातुसमूहमिवास्रं रक्तं वनूः वमन्ति स्म उपमा ।

90 यस्मिन्निति । यस्मिन् देशे उदन्वान् समुद्रः स्वप्नेऽपि अम्बुबिन्दुं जलबिन्दुं न प्राप्तवान् लब्धवान् । तं मारवं मरुसम्बन्धिनं देशमसौ नृपः शत्रूणामस्त्रै रक्तै,

नदीमातृकं नद्यम्बुसिक्तप्रदेशं चक्रे। नदी मातेव पोषिका यस्य स। नदीमातृक इति कप्।

91 छिन्दन्निति। असौ नृपो वरासिना श्रेष्ठखड्गेन तद्रूपेण कुठारेण परशुना धन्वनि धुरीणा ये युवानो भटास्तेषां धैर्यरूपिणं वृक्षं तरुं छिन्दन् कृन्तन् तेषां देहेष्वव सन्तेजनयन्त्रेषु शाणेषु तं खड्गं पुनः संक्ष्णुवानस्तीक्ष्णीकुर्वन् युधि सङ्ग्रामे रेजे शुशुभे। रूपकम्। 'समः क्ष्णुवः' (१.३.६५) 'संक्ष्णुते शस्त्रं, इतिवत् संक्ष्णुवान' इति पदे आत्मनेपदित्वात् शानच्।

92 कौक्षेयकेति। कौक्षेयकः खड्गस्तेनोत्क्षिप्ता नष्टा ये विपक्षाणां शत्रूणां पक्षाः सहायाः भटास्तेषां क्षिप्रं शीघ्रं क्षरतां गलतां क्षतजानां रक्तानां ह्रदेषु नदेषु क्षोणीं पृथ्वीं स्वभार्यारूपिणीं समाप्लाव्य तेन नृपेणास्याः स्वभार्यायाः पृथ्व्याः दिव्यं गृहीत्वा जलदिव्येन परीक्षणं विधाय सतीत्वं पातिव्रत्यं अनन्यगामित्वं निरणायि निर्णीतम्। अन्योऽपि कश्चिद् भार्यायास्सतीत्वं आशङ्कमानो जलादिदिव्येन तत्पातिव्रत्यं प्रमाणयति। समासोक्तिः।

93 श्रीवासुदेव इति। परे ये वीराः शत्रुभटास्तेषां गोष्ठ्याः कल्पान्तस्य मृत्योः कर्णेजपैः सन्देशहरैः पत्रिणां बाणानां पूगैः समूहै। कर्णेजप इति 'सप्तम्यां अलुक्'। समूलपातं मूलस्य पातस्तेन सहितं यथा स्यात्तथा। धन्वक्षितीशं मरुदेशनृपं हत्वा निपात्य तस्य सुतं पदे राज्येऽभ्यषिञ्चत् प्रातिष्ठिपत्।

94 शस्त्रौघेति। तत्र रणे सुरा देवाः शस्त्राणामोघ समूहस्तेन निर्भिन्नानां कृत्तानां सुकुम्भिनां श्रेष्ठगजानां कुम्भेभ्यः कपोलेभ्यः प्रोन्मुक्तानि पतितानि यानि मुक्ताफलानि गजमुक्तास्तेषां छलेन व्याजेन। सन्ति शोभनानि पारिजातोद्भवानि स्वद्रुमजानि पुष्पाणि तेषां वर्षं वृष्टिं चिरेणचक्रुः कृतवन्तः। गजानां मुक्ताजनकत्वं प्रसिद्धमेव। यदुक्तं भावप्रकाशे—

"शङ्खो गजश्च क्रोडश्च फणी मास्यश्च दर्दुरः।
वेणुरेते समाख्यातास्तज्ज्ञैर्मौक्तिकजातयः॥" इति।

95 धीर इति। स धीरो राजयुद्ध्वा राजभि सहयुद्यत इति, नृपः संयति युद्धे धरित्रीं पृथ्वीं वसूनि धनानि दुग्ध्वा प्रदुह्य। 'दुह्याचपचरुधिपृच्छि' इत्यादिना दुहतोर्द्विकर्मकत्वम्। 'अकथितञ्चे' ति इत्यनेन धरित्रीमिति द्वितीया।

विजयरूपिणं द्विपेन्द्रं हस्तिश्रेष्ठं गुणैरौदार्यादिस्वगुणैः पक्षे रश्मिभिः स्वभुजस्तम्भे स्वभुज एव हस्तियूपेऽतिदृढं प्राध्वञ्चकार बन्धनं कृतवान्। प्राध्वो-बन्ध इति हेमचन्द्रः। 'उपसर्गादध्वनः' इति अच्। श्लेषपुष्टं रूपकम्।

96 सङ्क्रन्तत इति। सन्तः परगोत्राणां शत्रुकुलानां पक्षे श्रेष्ठपर्वतानां पक्षाः सहायाः, पक्षे गरुतः, तान् सङ्क्रन्ततः उच्छिन्दतस्तस्य नृपस्य। इन्द्रवज्रादप्यतिगैः शक्रकुलिशादप्यतिसमर्थैर्मार्गणौघैर्बाणसमूहैः त्रासात् भयात् राजा कुलीनोऽपि सत्कुलोत्पन्नोऽपि, पक्षे भूमिप्रविष्टोऽपि सशेषोऽवशिष्टो भूभृद् राजा शत्रुनृपः, पक्षे मैनाकपर्वतः। मध्येसमुद्रं समुद्रस्य मध्ये प्रविवेश प्राविशत्। मध्येसमुद्रं, 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः। शब्दशक्तिमूलको ध्वनिः। इन्द्रवज्रेतिच्छन्दोनिर्देशान्मुद्रालङ्कारः।

97 दिनकरेति। दिनकरस्य सूर्यस्य कुले हीरो वज्रमणिरिव भास्वरः प्रकाशशीलः। सर्वलोकेषु एकवीरः स नृपः शत्रुराज्ञो हत्वा चतसृषु प्राच्यादिदिशासु चतुर्णां चतुःसङ्ख्यकानां सागराणां समुद्राणां छद्मना व्याजेन द्रुतं जययूपान् विजयकीर्तिस्तम्भान् अकृत चकार। कीदृशः सः। जितं धरणेः पृथिव्याश्चक्रं मण्डलं येन सः। पुनः, तेजसौजसाऽऽक्रान्तः शक्र इन्द्रो येन सः। अपह्नुतिरनुप्रासश्च। मालिनी छन्दः। 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकै' रिति।

98 त्रिभुवन इति। स सम्राट् दीक्षितो वासुदेवः, नाम्ना वासुदेवदीक्षितः यद्वा यज्ञव्रतदीक्षितः, तूर्णं शीघ्रं क्रतुं यज्ञमकृत चकार। कीदृशः सः। त्रिभुवनं त्रयाणां भुवनानां लोकानां समाहारस्तत्र गता व्याप्ता कीर्तिर्यशो यस्य सः। पुनः, सुन्दरा उदारा च मूर्तिराकृतिर्यस्य सः। वरिवसिताः शुश्रूषिताः सुपर्वाणो देवा येन सः। पुनः, ज्यायाः प्रत्यञ्चायाः किणेन चिह्नेन क्रूरं कठोरं पर्व दक्षिणाङ्गुलिग्रन्थिर्यस्य सः। पुनरनवरतं वितीर्णो याचकेभ्य इति भावः। स्वर्णस्य वर्षो येन सः। अनुप्रासालङ्कारः।

वासुदेवोऽयं चाहुवानेतिहासे वासुदेवदीक्षितनाम्ना प्रसिद्धः। यथा हम्मीरचरितमहाकाव्ये—

"पराक्रमाक्रान्तजगत्क्रमेणाभवन्नृपो दीक्षितवासुदेवः ॥
शकासुराञ्जेतुमसावतीर्णः स्वयं धरायामिह वासुदेवः ॥"

(१.२७) इति

यथा च सुर्जनचरितमहाकाव्ये—

"चौहाणवंशभवभूमिपुरन्दराणा—
मादचो यथा तनुभृतां पुरुषः पुराणः ।
ख्यातः क्षितावजनि दीक्षितवासुदेव—
नामा स्वधर्मसुमनीकृतवासुदेवः ॥" (१.६) इति

99 प्रवितत्तेति । दीक्षितवासुदेवनृपस्य यज्ञानुष्ठानवर्णनं क्रियते । तत्र वितते विस्तृते सम्पद्यमाने सुविताने शोभने यज्ञे । वितानः विपूर्वक-तन्-श्रद्धोपकरणयोर्घञ्, यज्ञः, यथा माघे – "सोमपायिनि भविष्यते मया वाञ्छितोत्तम-वितानयाजिना' (१४.१०) इति भव्यया शोभनया पवित्रया जुह्वा, जुहोत्यनयेति जुहूः तया पलाशकाष्ठनिर्मितयज्ञपात्रेण । अविरतं निरन्तरमुच्चैर्जुह्वतामग्नौ इति भावः । ऋत्विजां ब्राह्मणानां पुरोहितानां हविर्हवनीयद्रव्यं कर्तृ रेजे शुशुभे, इति पूर्वार्धवाक्यान्वयः । ऋत्विजामिति पदं देहलीदीपन्यायेनोत्तरवाक्येऽपि योज्यम् । तेषां पुरोधसां चरमोऽन्तिमो यः सवनकालो यज्ञसमयः । सवनं यज्ञः, यथा रघुवंशे—"अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः" (८.७५) इति । सुञ् अभिषवे धातोर्ल्युट् । तस्मिन् सवनकालेऽधीता ब्राह्मणैः पठिता या याज्यानुवाक्या तस्या ध्वनिरुच्चारः । सुराणामोघः समूहस्तस्याऽऽकारणे हविर्ग्रहणार्थं निमन्त्रणे चारुदूतः शोभनः सन्देशवाहकोऽजनि जातः । याज्यानुवाक्या—अनुवाक्या प्रशास्तृपाठ्या तदभावे होतृपाठ्या देवताह्वानी ऋक् । 'अनूच्यया याज्यया जुहोति' इति श्रुतेः", इति मल्लिनाथः । यथा च माघे – "शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽनुवाक्यया । याज्यया यजनकर्मिणोऽत्यजन् द्रव्यजातमपदिश्य देवताम् ।" (१४.२०) इति । पूर्ववन्मालिनी ।

100 नमदिति । स भूपो दीक्षित वासुदेवोऽमृतमिव ऐन्द्रं प्रस्थं इन्द्रप्रस्थनगरं, स्वर्गञ्चोच्चैर्बुभुजे शशास, लब्धवांश्च । कथम्भूतः सः । नमन्तः तस्य चरणयोर्नतिशीला येऽवनिपाः नृपास्तेषां मालायाः पङ्क्तेः ये मौलयः शिरांसि लक्षणया मुकुटानि तेषां यानि माणिक्यानि खचितपद्मरागमणयः तानि एव बालातपः प्रभातसूर्यः तेन विलसन्तौ शोभमानौऽमन्दस्मेरौ पुष्टविकासहासौ पादौ एवाऽरविन्दे कमले यस्य सः । पुनः, बुधत्राभूता बुधेभ्यः विद्वद्भ्यो

दत्ता भूतिः सम्पत्तिर्येन सः । 'देये त्रः' इति बुधत्रा । पुनः, पवित्रा आकृतिर्मूर्त्तिर्यस्य सः । रूपकम् । अन्यानुप्रासश्च । पूर्ववन्मालिनी ।

101 योऽन्तर्वाणीति । स्पष्टम् । कविविश्वनाथस्य सत्काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते वासुदेवक्रतुवर्णनं नाम द्वितीय सर्गः ।

इति शत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यां द्वितीयः सर्गः ॥

॥ तृतीय सर्ग ॥

1 वंश इति । अथ तदनन्तरं अस्मिन् सर्वेषां लोकानामवतंसे कर्णाभूषणरूपे वंशे श्रीगोपालनामा नृपालः नॄन् पालयतीति राजा संप्रसूतः जातः । दस्यून् दुष्टान् मुष्णन् अपहरन् लक्षणया नाशयन् पुण्यकार्याणि पुष्णन् वर्धयन् गुर्वीं महतीं उर्वीं पृथ्वीं गां धेनुमिव उच्चैः अतिशयेन जुगोप रक्षति स्म । उपमा । शालिनीवृत्तम्—"मात्तौ गौचेच्छालिनी वेदलोकैः" इति लक्षणात् ।

2 नेत्रानन्दीति । दोषाकराय दोषयुक्ताय जनाय द्रुह्यन् । 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाना' मिति चतुर्थी । राजहंसो राजसु हंसः श्रेष्ठः, पक्षे मरालपक्षी । कथम्भूतः । संलसन्ती मानसस्य चित्तस्य, पक्षे मानससरोवरस्य श्रीः शोभा यस्य सः । राजहंसीमिव उर्वीं पृथ्वीरूपिणीं भार्यां पत्नीं पाणौ चक्रे करस्थां अधीनां, पक्षे परिणयगृहीतां चकार । उपमा ।

3 प्रोद्यदिति । प्रोद्यद्भिः सद्भिर्यशोभिः सञ्चितानां स्वैर्निजैः शौर्यादिगुणैः । यद्वा प्रोद्यदिति राज्ञां विशेषणं । तेषां मूर्ध्नि मस्तकेषु, जातौ एकवचनम् । असौ गोपालः प्राज्यं प्रचुरं प्रभूतं राज्यं प्राप्य सिंहासने राजमस्तकेषु च चक्रवर्तित्वात् । अङ्घ्रिञ्चकार चरणं निहितवान् । तुल्ययोगिता । 'नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।' इति ।

4 कोपादिति । अयं भूपान् कोपात् हेतोः ग्रामटीपानिव क्षुद्रग्रामपतीनिवेति वस्तूत्प्रेक्षा । ग्रामटी अल्पार्थे टिकच् । खर्वीकुर्वन्, अभूततद्भावे च्विः । वामनीकुर्वन् अल्पीकुर्वन् । और्वो वाडवाग्निः तद्वत् चण्डो भयंकरः प्रतापो यस्य सः । स्वान् भटौघान् सैनिकसमूहान् । कथम्भूतान् । सङ्ख्ये युद्धे सङ्ख्येयान् गणितुं योग्यान् महत्वशालिनः । धनैर्धनप्रदानै शक्रेणापि इन्द्रेणापि संस्पर्धमानान् स्पर्धयितुं योग्यान् चक्रे विदधे । उत्प्रेक्षा, उपमा च तयोः संसृष्टिः ।

5 वत्समिति । आत्मप्रतापरूपिणं वत्सं तर्णकं सत्सम्पूज्य कामधेनुं महीञ्च सुत्वा ऊधः पीडनं कृत्वा । दग्धो अरीणां रिपूणां व्रजः येन सः । असौ नृपालः

राजा। दोग्धा दोहनकर्ता। भव्यं द्रव्यं प्रदुग्ध दुदोह। अत्र 'कामधेनुं महीञ्च' इत्यत्र दीपकमेव, न तु तुल्ययोगिता कामधेनोरप्रस्तुतत्वात्। 'अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते। इति। अनुप्रासश्च। अस्मिन् पद्ये पृथुराजसम्बन्धिनीं पुराणकथां सङ्केतयता कविना राज्ञो गोपालस्य पृथुसादृश्यं व्यञ्जितम्। कुमारसम्भवस्थं पद्यमेतत् तुलनीयमत्र —

"यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं
मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च
पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्॥" (१-२) इति।

6 शासनस्येति। स्वप्रजानां निजजनतानां सुधर्मं धर्माचरणं शासनस्य नियमयतस्तस्य राज्ञः स्वप्ने श्रीसोमनाथभिधानः कासारः सरोवरः अर्थात् तदधिदेवता आविरासीत् प्रादुर्बभूव। कथम्भूतः। पारावारेण समुद्रेणैव बद्धोऽभिमानो यस्य स अर्थात् बद्धसीमः।

7 सध्रीचीनेति। सती चासौ सुधा अमृतं तस्याः सत्सुधायाः सध्रीचीना सहचरी। सह अञ्चति सा। ऋत्विगादिना क्विन्। सहस्य सध्रिरादेशः। अञ्चतेश्चोपसंख्यानमिति ङीष्। सुतारं तारस्वरं तारस्वरेण लोलोल्लोलैः लोलैश्चञ्चलैः कल्लोलैस्तरङ्गैः, उल्लोडयति इति 'पचाद्यच्'। पांथसार्थान् अध्वगसमूहान् प्रीणयन्नानन्दयन्। असौ श्रीसोमनाथः। तं नृपं स्वप्ने चारुवाचा मनोहरया गिरा। स्वायतिः सु शोभना या आयतिः उत्तरकालः भविष्यत्कालः प्रभावो वा तत्सम्बन्धिनी या प्रीतिः प्रसादः अनुग्रहस्तेन पूर्वं युक्तमिति भावः गम्भीरार्थं ऊचे कथयामास।

8 राजन्निति। हे राजन्, यावना यवनजातीयाः दुष्टभूपाः कुनृपाः गां पृथिवीं धेनुञ्च हन्तारः नाशयितारः धर्मं उन्मूलितारः उत्खातयितारः, लोकान् प्रजाश्च दण्डितारः पीडयितारः उत्पत्स्यन्ते प्रादुर्भविष्यन्ति। अतस्त्वं मेदिनीं पृथ्वीं तेभ्यो यवनेभ्यस्त्रातुं रक्षितुं अर्हसि योग्योऽसि।

9 कृत्वेति। त्वं मां शातकुम्भीयकुम्भे। शातकुम्भस्य सुवर्णस्यायं कुम्भः घटः। शातकुम्भीयः छप्रत्ययः। 'आयनेयीत्यादिना छस्य ईय्।' शतकुम्भे पर्वते

भर्वामिति शातकुम्भं । तस्मिन् घटे कृत्वा निधाय । शीघ्रं अभ्यमित्रीणः शत्रुसम्मुखीनो भूयाः । अमित्राः शत्रवस्तान् अभिगच्छतीति अभ्यमित्रीणः । सन् खन् खस्य ईन् । हन्तेति हर्षे । येन हेतुना वारुणास्त्रेण एतान् दुष्टान् यवनान् त्व हन्तासि हनिष्यसि, लृड्रूपम् । तत् वारुणास्त्रं प्रीतया ते तव ददामि वितरामि ।

10 इतीति । इति इत्थं उक्त्वाऽभिधाय तस्मै राज्ञे नृपाय साधु मन्त्रं वारुणास्त्रमंत्रं च दत्वा सोमनाथ. अन्तर्दधे अर्न्तहितोऽभूत् । स नृपश्च स्वाप्नं स्वप्नसम्बन्धिनं अर्थं चिन्तयन् सन् प्रातर्जागरामास जागर्ति स्म ।

11 ऊचुरिति । तेन राज्ञा पृष्टाः शिष्टाः सभ्या विद्वांसो द्विजाः ब्राह्मणा ऊचुः कथयामासुः । हे राजन्, असौ भवता दृष्टः स्वप्नः शुभोदर्क एव, शुभः मङ्गलमयः उदर्क उत्तरकालोद्भवफलं यस्य सः । अस्तीति शेषः । उदर्क उत्पूर्वकः-ऋच् स्तुतौ धातोः घञ् 'धातोरनेकार्थत्वात्' । एष स्वप्नस्ते तव सद्यो झगिति म्लेच्छान् यवनान् मूर्च्छयित्वा विनाश्य वशां स्वाधीनां विष्वद्रीचीं सर्वतोऽव्यापिनीं राज्यलक्ष्मीं राज्यसमृद्धि व्यनक्ति सङ्केतयति । विश्वद्रीचीति विष्वक् अञ्चतीति क्विप् । 'विश्वग्देवयोश्चेति टेः स्थाने अद्रीत्यादेशः । ङीप् च ।

12 आकर्ण्येति । कर्णपर्यन्तं विश्रान्ते विस्तृते कर्णान्तायते नेत्रे यस्य सः । असौ राजा । मन्त्रज्ञानां वेदविदां ब्राह्मणानां द्विजानां वचांसि आकर्ण्य श्रुत्वा । हर्षस्य आनन्दस्य य उत्कर्षस्तेन उल्लासयुक्तं चेतो मनो यस्य सः । यत् यत् स्वप्ने दृष्टमवलोकितं तत् तत् सर्वमाशु शीघ्रं चक्रे विहितवान् ।

13 दृष्ट्वेति । उपायान् चतुरः सामदामदण्डभेदान् नीतेः त्रिवर्गं प्रभु-मन्त्रोत्साह-रूपञ्च आशु दृष्टवा । विद्विषां विशेषेण द्वेष्टि इति विद्विट्, क्विप्, तेषां शत्रूणां प्रवृत्तिं गतिं च गुप्तैः चारैः स्पशैः दृष्ट्वा विलोक्य स वीरः सद्भिः दैवज्ञैः ज्योतिर्विद्भिः आवेदिते विज्ञापिते जैत्रयोगे विजयमुहूर्ते म्लेच्छान् विधर्मिणो रिपून् जेतुं प्रतस्थे । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इति आत्मनेपदित्वम् ।

14 दिङ्नागानामिति । अहो इति आश्चर्ये । एतस्य राज्ञः प्रौढा चासौ ढक्का रणदुन्दुभिस्तस्याः निनादो निःस्वानः, यद्वा प्रोढो गम्भीरश्चासौ ढक्कानिनादः ।

दिङ्नागानां दिशागजानां गण्डानां कपोलानां तेभ्यो विगलदितिभावः यत् दानाम्बुमदजलं तस्य वर्षायाः अवग्राहः विघातः प्रतिबन्धकोऽपि । अवोपसर्गपूर्वक ग्रहधातोर्घञ् । यं ढक्कानिनादं श्रुत्वा दिग्गजानां मदच्यवनं शुष्यतीति भावः । अपि एतादृशोऽपि ढक्कास्वनः वैरिसीमन्तिनीनां शत्रुसौभाग्यवतीनां चक्षुर्देशे नेत्रप्रदेशे बाष्पवर्षं, अश्रुवर्षणं पक्षे जलवृष्टिं, वितेने विस्तारयति स्मेति आश्चर्यम् । सत्यपि वृष्टिप्रतिबन्धकत्वे वृष्टिसत्ता इति विरोधो विभावना च । पर्यायोक्तं प्रधानोऽलङ्कारः ।

15 सङ्ग्रामेति। सङ्ग्रामस्य युद्धस्य एको मुख्यो: ग्रामणीः ग्रामं नयतीति ग्रामणीरिति क्विप् ग्रामाधिपतिर्नेता । एष कोपात् क्रोधात् । उग्रंपश्यः उग्रदर्शनः, खश् सन् । अरुन्तुदं अरूंषि मर्माणि तुदति इति खश मुमागमश्च । एतादृक् वारुणास्त्रं वरुणसम्बन्धि अस्त्रं प्रादुःकुर्वन् प्रकटयन् । देवगिरौ दृप्तान् गर्विष्ठान् म्लेच्छान् सद्यो मूर्च्छयाञ्चकार ।

16 म्लेच्छेति। म्लेच्छाः विधर्मिणो ये क्षोणीपालाः भूपाः तेषां संवर्तस्य प्रलयस्य कल्की कल्किरूपः कल्क्यवतारः स गोपालः देवगिरिं गृहीत्वा वशीकृत्य आसेरीं तन्नामकं दुर्गं स्थानञ्च प्रविश्य आशापूरां तन्नाम्नीं देवीं अमन्दं शंसन् अभिष्टुवन् ववन्दे वन्दति स्म । आशापूरेयं चौहानान्वयजानां हाडेतिशाखोद्भूतानां क्षत्रियाणां कुलदेवी । एषा बुन्दी-कोटानरेशाणां कुलाधिदेवता, यस्याः मन्दिरे तत्र राजकुले स्तः । सुर्जनचरिते श्रीचन्द्रशेखरकविना काव्यादौ कुलदेव्या एतस्या मङ्गलाचरणं कृतं यथा :—

यस्याः कृपालवसुधापरिशीलनेन,
निर्मात्यशेषमगुणोऽपि पुमान् पुराणः ।
तां मन्महे निगमसारगिरामुपास्या—
माशापुरां पुरुषकारखनिं पुरारेः ॥ (१.२) इति ।

17 आशापूरेति । आविर्भवन् कामानां अभिलाषाणां पूरो यस्याः सा आशापूरा शूराय अस्मै गोपालाय वरं वितरति स्म । शेषं सुगमम् ।

18 आशापूरेति । शत्रूणां वंशः कुलं तस्य एव कालः कालस्वरूपो नाशकर्ता । चित्ते ध्यातः स्मृतो गोपालस्य नन्दस्य बालो यद्वा गोपालश्चासौ बालश्च येन सः । कृष्णभक्त इत्यर्थः । स चन्द्रसेनं पुत्रं सद्यो जनयामास ।

19 कीर्तीति । स वीरः चन्द्रसेनः सत्यं चन्द्रः । विशेषणपदानि उभयत्र योज्यानि । कीर्तिरेव ज्योत्स्ना तया आनन्दनीयः । पक्षे कीर्तिरिव ज्योत्स्ना चन्द्रिका तया आनन्दनीयः पुनः कलावान् चतुःषष्टिकलाकुशलः, पक्ष षोडशकला-सम्पन्नः पूर्णचन्द्रः । सद्यो झटिति वैरीणां शत्रूणां या पद्मा राज्यलक्ष्मी-स्तस्याः अन्तकारी विध्वंसकः पक्षे वैरिणः स्वशत्रुभूतानि यानि पद्मानि कमलानि तेषां अन्तकारी सङ्कोचकर्ता । पुनश्च । द्विजानां राजा ब्रह्मक्षत्रविशां विप्राणां वा प्रमुखः क्षत्रियश्रेष्ठत्वात् ब्राह्मणरक्षकत्वाच्च, पक्षे द्विजानां ब्राह्मणानां राजा, द्विजराजो, राजा च इति चन्द्रमसः पर्याय-शब्दौ । इति इत्थं लोके जगति प्रसिद्धः । 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतिः श्लेषगर्भाऽतिशयोक्ति, भेदेऽप्यभेददर्शनात् ।

20 अध्यासेरि । स चन्द्रसेनस्तेजोभिः स्वप्रतापैः प्रोल्लसन् देदीप्यमानः । पुनश्च तैस्तेजोभिरिति देहलीदीपन्यायेन योज्यम् । दग्धा ज्वालिता विद्वेषिणां रिपूणां सेना चमूर्येन सः । अध्यासेरि आसेर्यां आसेरीदुर्गे अधि. तद्दुर्गे इति अव्ययी-भावः, आसेरीगिरौ वा । पुत्रं एकां कन्याञ्च असोष्ट जनयामास । कथम्भूतं पुत्रं, सुत्रामा इन्द्रः उपमानं यस्य तं इन्द्रसदृशं । उपमा ।

21 कल्पान्तेति । अयं विचित्रोऽद्भुतः चन्द्रसेनसुतः आसेरीगिरेः रमणीयोपत्य-कायां चिक्रीड क्रीडति स्म । कथम्भूतः । सहोत्थं सहजातं नैसर्गिकं कल्पान्ते प्रलयकाले उद्यतां उदयशालिनां क्रूराणां सूराणां सूर्याणां ये उत्कराः समूहा-स्तेषां तुल्यं सदृशं तेजः ओजो दधानम् । उपमा ।

22 धात्र इति । इतः परं प्रसंगेन कस्याप्यस्थिपालसंज्ञकस्य पुरुषादस्य ब्रह्मणो वरप्राप्तिकथा वर्ण्यते । युग्मेनान्वयः यः अस्थिपालः इत्यग्रेणान्वयः । तस्मै धात्रे ब्रह्मणे विरिञ्चये प्रियाकर्तुं । प्रियाकरोतीति डाच् । वर्षपूगान् वर्षसमूहान् अनेकानि वर्षाणि । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । घोरं सत्तपो तप्त्वा । तुष्टात् प्रसन्नात् अस्मात् धातुर्ब्रह्मणः सद्य. प्रार्थया-मास वरमितिशेषः । 'भुविपृथिव्यां मां कर्मभूतं मानुषो मर्त्यो नो हन्ता न हनिष्यति वधिष्यति' इति । हन्तेति हन् धातोः लृटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं पदम् ।

23 लब्ध्वेति । अथ तदनन्तरं तं पूर्वोक्तं वरं लब्ध्वा प्राप्य दृप्तो मत्तः प्रगल्भो भीमो भयंकरः अस्थिपालनामा दैत्यः तत्र आसेरीगिरौ नित्यं नव्यं नवीनं

प्रत्यग्रं मानुषं मनुष्यसम्बन्धि नव्यं मांसं अश्नन् भुञ्जानः आसीत् । कथम्भूतः सः । व्यालोले चञ्चले अक्षिणी नेत्रे यस्य सः । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इति व्यालोलाक्षः । पुनः व्यालवत् विषसर्पवत् भव्या उग्रा भयंकरा च जिह्वा यस्य सः । उपमानुप्रासौ ।

24 उत्क्रीडन्तं । पर्वतप्रान्ते क्रीडन्तं तं राजकुमारं स आततायी नृशंसो दैत्यः किङ्करेण परिचरेण दैत्येन आत्तं आनीतं जीवग्राहं गृहीत्वा, यद्वा किंकरात्तं इति पदच्छेदे पञ्चम्यन्तपदम् जीवग्राहं गृहीत्वा । क्रूरो नृशंसः केसरी सिंधुरं इव सिंहो गजमिव अभुङ्क्त खादयति स्म । उपमा ।

25 क्रीडन्तीति । भ्रातुरीदृशीं दशां दृष्ट्वा वक्षस्ताडं रुदन्ती विलपन्ती राजकन्या तत्स्वसा शोभनाभिः वाग्भिः देवीमाशापूरां स्तौति स्म । देवकन्येवेति उपमा । वक्षस्ताडं वक्षसः ताडं ताडनं यथा स्यात् तथा इति क्रियाविशेषणम् ।

26 आद्येति । सप्तभिः पद्यैराशापूरायाः स्तवनं विधीयते । हे देवि, त्वं चक्रपाणेर्विष्णोराद्या शक्ति स्मृतासि । "त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमासि मायेति" आगमादौ । वन्द्या वन्दनयोग्या सती भक्तानां कल्याणहेतुर्मङ्गलकारणम् । युष्मत् तव पादावेव अम्भोजे चरणकमले तयोर्लब्धः प्रसादः प्रसन्नता येन सः । इन्द्रोद्यां भुञ्जन् शासन् इति परस्मैपदित्वं, "पृथिवीं भुनक्ति" इतिवत् , सुखायाम्बभूव । सुखायते इत्यस्य लिटिरूपम् । "सुखादिभ्यः कर्तृवेदनाया" मिति क्यङ्, इति सुखात् नामधातुः ।

27 वारंवारमिति । हे मात हे अम्ब, यत् ते पादाम्भोरुहं इति आक्षिप्यते "यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः" । वारम्वारं वन्दमानां नमस्कुर्वन्तो येऽमरा देवा इन्द्रश्च यद्वा अमरेन्द्रः, तेषां तस्य वा प्रोद्यन्तो ये चूडायाः लक्षणया मुकुटस्य मुकुटानां वा पद्मरागाः माणिक्यमणयः तेषां प्रभाभिः कान्तिभिः हेतुभिः शोभां धत्ते शोभते । कृत्रिमं यत् अलक्तकं लाक्षाद्रवः तेन आर्द्रं रञ्जितं ते तव तत्पादाम्भोरुहं चरणकमलं पातु अस्मानिति शेष । "कृत्रिमालक्तकार्द्रं इति पाठे" एतादृशीं शोभां धत्ते इति चमत्कारातिशयोऽत्र । कृत्रिमलाक्षारसरञ्जितां शोभां धत्ते इति निदर्शनाविच्छित्तिः ।

28 जिह्वानामिति । शेषीये शेषस्य इमे शेषीये, इति छः । जिह्वानां द्वे सहस्रे ।

शेषस्य सहस्रवदनत्वात् सर्पस्य च द्विजिह्वत्वात्। वृथा निष्फले। ये त्वां कीर्तितुं वर्णयितुं स्तोतुं वा क्षमे न, असमर्थे स्तः। किन्तु अस्य सहस्रं मूर्धानः शिरांसि त्वदीये तव पादाम्भोजे चरणकमले लुठन्ति अतस्ते धन्याः इति अहं मन्ये।

29 मातरिति। हे अम्ब गौरि, तव प्रियः असौ गिरीशः शिवः। अनङ्गः कामदेवस्तस्य ध्वंसे नाशे दक्षा कुशला अक्ष्णः तृतीयनेत्रस्य सम्पत् यस्य सः। अस्तीति शेषः। तस्य शिवस्य स्पर्धया इवेति हेतूत्प्रेक्षा। त्वदीया तव दृष्टिः आशु शत्रून् रिपून् दैत्यान् अनङ्गान् अङ्गरहितान् मृतान्, पक्षे कामदेवान् विधत्ते करोतीति मन्ये इति वस्तूत्प्रेक्षा। उक्तञ्च दुर्गासप्तशत्याम्–"दृष्ट्यैव किं न भवती प्रकरोति भस्म सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम्।" इति।

30 राकेति। राकायाः पूर्णिमायाः यश्चन्द्रः तस्य द्रोहे निस्तन्द्रं अनलसं प्रयत्नवत् वक्त्रं यस्या सा। माध्वीकं मदिरा तस्या श्रीः शोभा तया तत्पानेन पाटले अरुणे उदारे च नेत्रे यस्या सा, मदिरारुणलोचना। त्वं। कल्पान्ते प्रलयकाले उद्यन् यः कालस्य यमस्य कोदण्डो धनु तद्वच्चण्डैर्भीषणैः भ्रूभङ्गैः भ्रुवोः भ्रूलतयोः आकुञ्चनैरेव दैत्यान् असुरान् निहंसि नाशयसि किम्पुनः शस्त्रास्त्रैः। अतिशयोक्तिः।

31 वंशेति। हे अम्ब हे मातः। वंशानां कुलानां क्षत्रियकुलानां इति भावः। क्षमाभृत् क्ष्मां बिभर्तीति पर्वतः अर्थात् मन्दरगिरिः, कूर्मः कच्छपावतारः, शेषः शेषनागश्च ते तद्वत् एकधुर्यः मुख्यो धूर्वहः। धुरो यत्। मे पित्र्यः पितृसम्बन्धी वंशः सर्वावतंसः सर्वेषां अवतंसः कर्णाभूषणं तद्वद्दीप्यमानो ऽस्ति इति शेषः। यद्वा सर्वावतंसः तत्कुले सर्वेषां कर्णाभूषणं असौ मे सोदर्यः सहोदरः भ्राता। घातुकेन हिंस्रेन, हन् धातोः, "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्" इति उकञ् प्रत्ययः। अस्थिपालेन तन्नामकेन दैत्येन। नाममात्रमेवावशेषो यस्य तं। नीतः प्रापितः उपमा।

32 पादाम्भोजमिति। हे मातः, यतस्त्वं त्वच्चरणकमलसमाश्रितानां भक्तानां समस्ता इच्छाः पूरयसि, अतस्तव आशापूरात्वम्। अतो हेतोर्मे भ्रातरं सहोदरं अस्थिपालहतं आशु जीवय पुनर्जीवनयुक्तं विधेहि। काव्यलिङ्गम्।

33 इत्थमिति। तस्याः कन्यायाः गद्गदो यः आलापस्तेन रम्यं विचित्रं स्तोत्रं निशम्य सा दुर्गा एनां ऊचे—"ते भ्रातुः सहोदरस्य यदङ्गं अवशिष्टं तत् आहर आनय येन तं जीवयामि" इति।

34 देव्येति। अथ सा अतिहृष्टा अतिप्रसन्ना कन्या। देव्या आशापूरया आज्ञप्ता सती। भूमौ असूनां प्राणानां शरीरस्येतिभावः तत् अङ्गम् संव्यचैषीत् संविचिनोति स्म, यत् नृशंसो हिंस्रः दैत्यः काठिन्यात् संत्यक्तवान्। सा कन्या तस्य भ्रातुः शीर्षण्यं शीर्षसम्बन्धिनं अस्थिसमूहं लेभे प्राप्तवती। शीर्षण्यं, 'शरीरावयवाच्च' इति यत्।

35 आदायेति। अतिधन्या भाग्यशालिनी सा कन्या एतच्छीर्षण्यं अस्थि आदाय। पित्र्यं वंशं पितुः कुलं वृद्धिं निनीषुर्नेतुमिच्छुः, सन्नन्तादुः। तत् देव्याः अग्रतः स्थापयित्वा। मे सहोदरं जीवयेति तां नत्वाऽऽह प्रार्थयाञ्चकार।

36 आद्येति। सा मुरारेर्विष्णोः आद्या वन्द्या वैष्णवीशक्तिः तस्याः कन्यायाः बन्धुं भ्रातरं। प्रोद्यत् यत् सान्द्रं घनं पीयूषं अमृतं तेन पूर्णैः। स्वकीयैः कटाक्षैः दृष्टिपातैः। उच्चैः अतिशयेन सिक्त्वा सेचनक्रियानिष्ठं विधाय। भूयः पुनर्जीवयामास सप्राणं व्यधात्।

37 सम्प्रीतेति। प्रसन्ना च तं वीरशावं वीरपुत्रं प्राह—हे वत्स, त्वं उत्तिष्ठ, अस्थिपालं दैत्यं प्रजहि नाशय। एनं हत्वा तस्य एव नाम संज्ञामभिधानं दध्याः धारय। त्वं अस्य वंशस्य चन्द्रसेनकुलस्य अद्य धर्ता धारको भूयाः भव।

38 तस्या इति। तस्या देव्या आशापूरायाः प्रसादात् कृपायाः स राजसु वीरः चन्द्रसेनपुत्रः कालस्य मृत्योः आस्यात् मुखात् असादात् अवलेशेनैव निर्गतः। एतेन दैत्येन्द्रेण अस्थिपालेन सह क्षिप्रं शीघ्रं मुष्टीमुष्टि युद्ध्वा। मुष्ट्या मुष्ट्या प्रवृत्तमिति मुष्टीमुष्टि। "तत्र तेनेदमिति स्वरूपे" इति सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे सबहुव्रीहिः" इति सिद्धान्तकौमुद्याम्। तं दैत्येन्द्रं शीर्षपेषं यथास्यात्तथा पिपेष अपिषत् चूर्णयामास।

39 लब्धापाय इति। स अस्थिपालनामा दैत्यः। मुनीनां अन्तरायो विघ्नरूपः। लब्धोऽपायो विनाशो येन सः, प्राप्तमृत्युरित्यर्थः। मुञ्चमुञ्चेति अमन्दं तीव्रं

दीनं सकरुणं क्रन्दन् आक्रोशन् रुदन् तस्य चन्द्रसेनपुत्रस्य जिष्णोर्जयशीलस्य दोष्णोर्बाह्वोरन्तरं मध्ये प्राप्य तस्य प्रेष्ठान् अतिशयेन प्रियान् प्राणान् असूनपि अहासीत् त्यक्तवान् ।

40 न्यञ्चदिति । हन्त इति हर्षे । शेषस्य शेषनागस्य मूर्ध्नः शिरांसि । न्यञ्चन्ती न्यञ्चन्ती पौनः पुन्येन अधोऽधः पतन्ती या भूमिः पृथ्वी तस्याः भारेण अतिभुग्नान् वक्रान् कुर्वन् । स अस्थिपालो दैत्यः । तस्य राजकुमारस्य कीर्तीनां यशसां सदेहो मूर्तिमान् केलिशैलः क्रीडापर्वतरूपः भूमौ उच्चकैः अपतत् पपात । रूपकम् ।

41 नत्वेति । चान्द्रसेनिः चन्द्रसेनस्य अपत्यं पुमान् इति इञ् । स राजकुमारः । घोरं भयङ्करं आत्मम्भरिं, आत्मानं भरतीति इन् मुमागमश्च उदरम्भरिं तं दैत्यं हत्वा । ब्राह्मणानां विप्राणां आशीर्वचांसि आशिषः अङ्गीकुर्वन् गृह्णन् । तां कुलस्य आदिदेवीं आशापूरां नत्वा प्रणम्य स्वान् गृहान् प्रायात् । गृहानिति अर्धर्चादित्वादय शब्दो विभाषया पुंसि च वर्तते । किन्तु पुंसि बहुवचनान्त-प्रयोग एव, "गृहाः पुंसि च भूम्न्येव" इत्यमरः ।

42 आलिङ्ग्येति । चन्द्रसेनो भूपती राजा अमुं पुनः प्राप्तजीवितं पुत्रं आलिङ्ग्य आश्लिष्य आशु विप्रौघेभ्यः ब्राह्मणसमूहेभ्यश्च वसूनि धनानि दत्वा वितीर्य । देव्या आशापूरया दत्तं पुनर्जीवनेनेति भावः, सच्चरित्रं चरित्रशालिनं विचित्रं अद्भुतं दैत्यवधसमर्थं पुत्रं नाम्ना अभिधानेन अस्थिपालं चक्रे । तद्दैत्यनाम्नैव अभिहितवान् ।

43 राज्य इति । अथ तदनन्तरं पित्रा जनकेन राज्ये सिंहासने अभिषिक्तः प्रतिष्ठा-पितः । शालप्रांशुः शालवृक्षवत् उन्नतः, श्लिष्टानि संधयः, अस्थीनि मांसं च तानि यस्य सः । व्यूढं पृथुलं उरो वक्षो यस्य स । समासान्ते कः इति व्यूढोरस्कः । पीवरांस-प्रदेशः पीवरः परिपुष्टः अंसयोः स्कन्धयो प्रदेशो यस्य सः । साक्षात् स्वयं देहधारी मूर्तिमान् वीरो वीररस इव रेजे शुशुभे, इति स्वरूपोत्प्रेक्षा ।

44 सप्तेति । सप्त उद्दामाः बन्धनरहिताः महान्तो वा ये अम्भोधयः समुद्राः त एव सती मेखला काञ्ची यस्यास्तस्याः भूमेः पृथिव्याः भर्ता, आसमुद्रक्षितीशः

इति भावः । वैरिणां रिपूणां संवर्तवह्निः प्रलयाग्निरूपः । सोऽस्थिपालः, अन्तर्वेद्यां नद्योः वेद्यां, चर्मण्वती-बनास-सरितोः मध्ये, यद्वा पर्वशृङ्खलयोः मध्यवर्तिन्यां वेद्यां, आडाबेलेतिप्रसिद्ध–पारियात्रपर्वत-वेदिकायां । स्वां जैत्र-लक्ष्मीं विजयश्रियमिव । स्वेन नाम्ना अस्थिनाम्ना देशीभाषायां हड्ड-हाडेतिनाम्ना पुरीं चक्रे । हाडौतीत्यभिधानां निवासभूमिं चकारेति भाव ।

45 वैरिस्त्रीणामिति । वैरिस्त्रीणां रिपुकामिनीनां वक्त्रमेव चन्द्रः तं, तान् मुखशशाङ्कान् "जातौ एकवचनं" सतन्द्रं कुर्वाणां म्लानान् विदधतीति प्रतीपम् । उच्चैरतिशयेन हारकान्तिं मुक्ताहारशोभां हरन्ती मुष्णन्तीति निदर्शना । गाढं यथास्यात्तथा उन्मन्थेन मन्थनेन क्षुब्धः, आन्दोलितो यो दुग्धाब्धिर्दुग्ध-समुद्रस्तद्वत् गौरी श्वेता इत्युपमा । तस्य अस्थिपालनृपस्य शालिनी श्लाघ्या कीर्तिर्यशोराशिर्लोके रेजे शोभते स्म । शालिनीति छन्दोनामापि । अस्मिन् सर्गे आ प्रथमात् पञ्चचत्वारिंशत्तमपद्यं यावत् शालिनीवृत्तम् । प्रतीप-निदर्शनोपमानां संसृष्टिः । मुद्रालङ्कारश्च ।

46 निजेति । स अस्थिपालो निजयोर्भुजयोर्बाह्वोर्बलतः बलात् सामर्थ्यात् हेतौ पञ्चम्यास्तसिल् । प्रदलिताः शक्तिहीनाः कृताः विमताः शत्रवः येन सः । सुरपतिना इन्द्रेण सदृशः तुल्यः । शशिवत् रुचिरं रमणीयं यशः कीर्तिमण्डलं यस्य सः । चरमे अन्तिमे वयसि वार्धक्ये परमे महसि तेजसि परमात्मनि तेजोरूपिणि ब्रह्मणि कृता मतिर्बुद्धिर्येन सः । वरं श्रेष्ठं शं कल्याणं अनिशं निरन्तरं अलभत लभते स्म, प्राप्तवानिति भावः । वार्धक्ये परमात्मनिरतो बभूव । उपमाद्वयसंसृष्टिः । प्रतिचरणं आभ्यन्तरोऽन्त्यानुप्रासः । यथा – "बलत–विमतः, सदृशः–यशाः, चरमे-परमे, अनिशं-शम्" । प्रहरणकलिका वृत्तम् । "ननभनलगिति प्रहरणकलिका" इति लक्षणात् ।

47 इक्ष्वाकोरिति । भूमण्डली तस्याः मण्डनं आभरणं इक्ष्वाकोरिव तन्नाम्नो पुराण-प्रसिद्धात् नृपादिव चाहुवानराज्ञः । अयं वंशः एतत्कुलं । अस्थिपालं नृपं तन्नामकं राजानं अवधि यावत् । तस्य चाहुवाननृपतेः अभिधां संज्ञां दधार । चाहुवानेति गोत्रसंज्ञायुक्तो बभूवेति भावः। परं तदनन्तरं ये भूमिपालाः राजानः अनघात् पुण्यात्मनः रघोरिव दिलीपपुत्रादिव अनघात् पुण्यात्मनः एतस्मात् अस्थिपालात् जज्ञिरे एतद्वंशे जाताः । ते राजानः अचिरात् लोके जगति

एतस्य अस्थिपालस्य नाम्ना प्रथां प्रसिद्धिं अभिख्याञ्च बिभराम्बभूवुः धारयाञ्चक्रुः । अर्थात् अस्थिपालादनन्तरं ये राजानस्तद्वंशे समुत्पन्नाः ते चाहुवानत्वेऽपि अस्थिशब्दपर्यायदेशज–हड्ड-हाडेति वंशगोत्रनाम्ना प्रसिद्धिं गतवन्तः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । 'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ।।" इति लक्षणात् ।

48 योऽन्तर्वाणीति । विश्वनाथस्य काव्ये अस्थिपालोद्भववर्णनं तृतीयः सर्गः । शेषं सुगमम् ।

"इति शत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यां तृतीयः सर्गः ।।"

॥ चतुर्थ सर्गः ॥

1 अस्थिपाल इति। अथ तदनन्तरं तस्मादस्थिपालनृपतेरवनीशो भूपतिश्चन्द्रराजः चन्द्रराजनामा अभूत् बभूव। पक्षयुग्मे कृष्णशुक्लपक्षद्वये महनीया श्लाघ्या मूर्तिराकृतिर्यस्य सः, यद्वा पक्षयुग्मेन शत्रुमित्रवर्गाभ्यां महनीया आदरणीया मूर्तिर्यस्य सः। यश्चन्द्रराजः चन्द्रं विधुमपि अतिशयानोऽतिक्रामन्। उदैत् उदयति स्म। व्यतिरेकालङ्कारः। "उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेक. स एव सः" इति लक्षणात्। एष पक्षद्वयमहनीयमूर्तिः, चन्द्रस्तु केवलं शुक्लपक्ष एव महनीयमूर्तिर्न तु कृष्णपक्षे इति उपमानादुपमेयस्यातिशायित्वमिति दिक्। स्वागता छन्दः। "स्वागता रनभगैर्गुरुणा च"। इति लक्षणात्।

2 आधिपत्यमिति। स चन्द्रराज आधिपत्यं राज्यस्वामित्वं अधिगत्य प्राप्य। जगतां प्रजाजनानामाधिमेव कष्टमेव प्रबबाधे बाधते स्म। कष्टं हरति स्मेति भावः। अथैष नृपो यं वा रिपुं बाधताम् तमस्य रिपुं शत्रुनृपं तु विनतं पराजितत्वात् नतिशीलं विद्महे जानीमः। वयमिति शेषः :

3 मन्मह इति। सँश्चासौ महनीयः श्लाघ्यः। वरः श्रेष्ठो विक्रमः पराक्रमो येषां ते वरविक्रमाः वीरास्तेषां बन्धुः स्वजनः। स नृपः। शक्र एव इन्द्रः स्वयमेव। इति वयं मन्महे कल्पयामः। किल इति वाक्यालङ्कारे। इन्द्रपक्षे, वरश्चासौ विक्रमो विष्णुः उपेन्द्रः तस्य बन्धुर्भ्राता। विक्रम इति विष्णोः पर्यायः, यथा विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे—"ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः" इति। किन्तु स नृपालो राजा चन्द्रराजः। पाणौ राजितुं शीलं यस्य तत् पाणिराजि। ताच्छील्ये णिनिः। तच्च शतकोटि यस्य सः। दानसमये करालङ्कृतशतकोटिमितद्रव्यमुद्रायुतः इति भावः। इन्द्रपक्षे, पाणौ राजी शतकोटिः वज्रं यस्य सः शतं कोटयोऽग्राः शिखाः यस्य स इति शतकोटिर्वज्रं। परबलस्य परेषां शत्रूणां बलस्य सैन्यस्य, पक्षे परः शत्रुरेव यो बलः बलनामा दैत्यस्तस्य। अजस्रं निरन्तरं कालकृत् विनाशकर्ता। अस्तीति शेष। अत्रातिशयोक्त्यलकारः, श्लेषेण परिपुष्ट इति अङ्गाङ्गिभावसंङ्करः,

अन्येषां मतेऽत्र किलेति वाचकपदवाच्योत्प्रेक्षा भवतु । किन्तु वयमत्र काव्येऽतिशयोक्तिमेव मन्यामहे, "शक्र एव" इति स्पष्टतोऽध्यवसायस्य सिद्धस्य विच्छित्तावेव कविसन्दर्भगोचरत्वात् । नात्र रूपकम् । "मुखं चन्द्र एव" इत्यादौ अप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य निगरणमेव, न तु "मुखमेव चन्द्रः" इत्यादिवत् प्रस्तुते विषये राज्ञि चन्द्रराजे अप्रस्तुतस्येन्द्रस्यारोप इति सुस्पष्टम् ।

4 कल्पयन्निति । स नृपः । अतिवनीयककामान् अतिशयाः अत्यधिकाः ये वनीयकाः याचकास्तेषां कामान् अभिलाषान्, यद्वा वनीयकानां कामाः वनीयककामाः अतिशयाः ये वनीयककामाः तान् । कल्पयन् प्रपूरयन् । कल्पशाखिनं कल्पवृक्षं अल्पं न्यूनं अकृत विदधाति स्म । तेभ्यो बहु ईप्सितं काङ्क्षितं वस्तु ददत् वितरन् स चन्द्रराजः चिन्तारत्नं चिन्तामणिं सचिन्तं चिन्तासहितं चकार । असौ मत्तोऽप्यधिकं काङ्क्षितं वस्तु ददत् मामतिशेते इति चिन्तामणेश्चिन्ताहेतुः । पूर्वार्धे व्यतिरेकः उत्तरार्धे तु प्रतीपम् ।

5 नन्दयन्निति । अमन्दास्तीव्राः ये गुणा औदार्यादयस्तेषामोघैः समूहैः । प्रमदाः हर्षोन्मत्ताः मेदुराः परिपुष्टाः लोकाः निवासिनो यस्यास्तां मेदिनीं पृथ्वीं स्वराज्यमिति । नन्दयन् उल्लासयन् आनन्दयन्नयं नृपश्चन्द्रराजः । आज्ञायां जनकाज्ञापालने कीर्तिर्यशो यस्य तं । आर्तिहरणं नाम अन्वर्थं सुतं पुत्रं समसौषीत् संसूते स्म जनयामास ।

6 संप्रसह्येति । तस्यार्तिहरणस्य वराज्ञा श्रेष्ठ आदेशो राज्ञां अधीनस्थनृपाणां मूर्धनि शिरःसु, "जातावेकवचनम्" । सम्प्रसह्य बलपूर्वकं झटिति शीघ्रं संस्थिता स्थितवती । तैः शीघ्रमेव तस्यादेशः स्वीकृत इति भावः । किञ्च, अपितु । अमुष्य अस्य राज्ञः शोभना कीर्तिः । चञ्चन् देदीप्यमानः अधिपर्व पर्वणि पौर्णमास्यां अधि इति अधिपर्व यः सुधांशुश्चन्द्रः स्फुरद्राकाचन्द्रः, तस्य शीर्षं मस्तकं आक्रमत् आक्राम्यति स्म । चन्द्रेणापि अस्य कीर्तिस्तदाज्ञेव सादरं मस्तके धृता । अस्ययशः पूर्णिमाचन्द्रमप्यतिशेते इति भावः प्रतीपम् ।

7 कीर्तीति । सोऽर्तिहरणो नृपो रेणुं रेणुसिंहनामानं इतिहासे देशीभाषायां "रेणसी" इति प्रसिद्धं स्वोपमानं स्वमेव उपमानं यस्य तं पुत्रं असविष्ट सूते स्म

उत्पादयामास । कथम्भूतः सः । कीर्त्या यशसा शोभितं अलङ्कृतं कुलं वंशो येन सः । पुनः, शुभं शीलं चरित्रं यस्य सः । पुनः, शोषितो नष्टः, पक्षे जलरहितः कृतोऽरीणां शत्रूणां जलधिः समुद्रो येन सः । यद्वा अरयः एव रणधीरः रणेषु युद्धेषु धीरः स्थिरो धैर्यशाली । "जलधी जलधिर्येन सः । रणधीरः" इति 'ढ्लोपे पूर्वस्य च दीर्घोऽणः' । पुनः वाडवायितः वाडववदाचरति इति वाडवायते इति क्यङ्, तद्वदाचरन् लसन् गुरुर्महांश्च कोपः क्रोधो यस्य सः । उपमा, रूपकञ्च ।

8 यच्छरण्येति । यस्य शरण्यौ शरणभूतौ चरणावेव अम्बुजे कमले तयोः रेणुर्धूलिः परागश्च । राज्ञां करदनृपाणां मस्तकेषु मुकुटीयति मुकुटमिवाचरतीति क्यच् । यस्य नृपस्य प्रदानसमये दानकाले कनकाद्रिः सुमेरुः स्वर्णपर्वतोऽपि जवात् वेगेन त्रसरेणुः त्र्यणुकवत् स्वल्पो बभूव जातः । "त्रसरेणुस्तु द्व्यणुकत्रयात्मको रेणुः", यथा–" परमाणुद्वयेनाणुस्त्र्यसरेणुस्तु ते त्रयः ।" यदाह च मनुः–" "जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः । प्रथमन्तत् प्रमाणानां त्रसरेणु प्रचक्षते ।" इति । पूर्वार्धे रूपकोपमयोः सङ्करः । यद्वा 'चरणाम्बुज" इति परिणामालङ्कारः, तयोः सङ्करः । उत्तरार्धे तु पर्यायोक्तम् ।

9 सद्गुणस्येति । पूर्वपक्षेन सहान्वय इति युग्मम् । अथ तस्य पूर्वोक्तस्य सद्गुणस्य नृपस्य रेणुसिंहस्य प्रियरणः प्रिय रणः युद्धं यस्य स. । धरणीश धरण्याः ईशो भूपतिः कोल्हनस्तन्नामा तनयः पुत्रः प्रादुरास प्रादुरभवत् । कथम्भूतः सः । दुर्मदान्धानां दुष्टं यथा स्यात् तथा मदेन दर्पेण अन्धानां अन्धवदालोचनरहितानां परिपन्थिभटानां परिपन्थिनो विपक्षिणो ये भटास्तेषां, यद्वा परिपन्थिनां शत्रुराज्ञां ये भटाः सैनिकास्तेषां विनेता अनुशासकः, दण्डदत्वात् । अनुप्रासः ।

10 गच्छतेति । अनेन राज्ञा कोल्हनेन । सुकेदाराद्रि गच्छता केदारेश्वरतीर्थयात्रां कुर्वता । ईशपदं शिवचरणौ आशु अभिवन्द्य नमस्कृत्य । तौ शिवचरणौ समपूजि पूजितौ । कैर्हेतुभिः । धीरा दृढा या भक्तिः उपासना तस्या गुणा एव गुणाः दोरकास्तैर्गुम्फितं ग्रथितं राजत् शोभमानं यत् वाङ्मयं स्तुतिरूपं काव्यं काव्यानि वा तदेव अम्बुजानां कमलानां गणः समूहस्तैः । वाङ्मयकमलैरेवेति भावः । "गुण" इति पदे श्लेषः, रूपकञ्च ।

11 आमनन्तीति । हे भगवन्, मुनयस्तत्वद्रष्टारो नारदादयास्त्वां निगमोक्त्या श्रुतिवाक्येन एकं अद्वितीयं, जगतां त्रितयं तस्य कारणं उपादाननिमित्तोभय-हेतुभूतं आमनन्ति कथयन्ति । पुनः कथम्भूतं त्वां । अंहसां पापानां जलनिधेः समुद्रस्य अन्तरायाः विघ्नास्तेषां परिवारणे निवारणे हेतुं कारणभूतं वरसेतुं श्रेष्ठं सेतुं । रूपकम् ।

12 शीतेति । हे ईश, हे ईश्वर शङ्कर । त्वं शीतशैलो हिमालयस्तस्य तनया सुता, तस्याः कुचौ कुम्भौ इव, यद्वा कुचौ एव कुम्भौ इति परिणामालङ्कारः तयोः ये कोटी अग्रभागौ तत्र यत् लेपितं कुङ्कुमं काश्मीरजद्रव्यं तस्य रजसा धूलिना परागेण वा पिशङ्गे पीताभे पार्वत्यालिङ्गनेन तत्कुचकुङ्कुमेन पीते निजे वक्षसि स्वकीये उरसि अक्षान् रुद्राक्षान् स्वरुद्राक्षमालामणीन् । चञ्चरीकाणां भ्रमराणां निकरान् समूहानिव इति स्वरूपोत्प्रेक्षा । चिरं बहुकालं धत्से धारयसि ।

13-14 एकयेति । अग्रेण पद्येन सहान्वयः । हे हर शिव, त्वं सुसमाधौ शोभने समाधौ नियमानुष्ठाने मग्नया पिहितया एकया निजदृशा एकेन लोचनेन मुनीयन् आत्मनो मुनित्वं इच्छन् । अथ अनन्तरं चण्डिकायाः पार्वत्याः यद्वदनं तदेव चन्द्रः शशी तस्मै चकोरीभूतया अचकोर्यपि चकोरीभवति इति च्विः, क्तः, टाप् च, तया । परया अन्ययाऽपि दृशेति आक्षिप्यते । गृहीयन् आत्मानं गृहिणं गृहस्थं इच्छतीति गृहीयन् ।

14 अन्ययेति । युग्मम् । विषमाः विषमसंख्यकाः पञ्च बाणाः शराः यस्य स कामदेवः तस्य या जिघत्सा हन्तुमिच्छा तया क्रूरया नृशंसया अन्यया तृतीयया भालस्थया दृशा च चिरतरं बहुकालं यमीयन् आत्मनः यमत्वं इच्छन् । मम भक्तस्य पालनाय रक्षणाय ऐन्दवीमिन्दुसम्बन्धिनीं चान्द्रीं वरकलां श्रेष्ठकलां । चन्द्रस्य षोडशांशः कला । चतुर्थीं किल तुरीयां दृशमिव इति स्वरूपोत्प्रेक्षा । धत्से बिभर्षि । किलेत्युत्प्रेक्षावाची संभावनार्थे । 'मुनीयन् गृहीयन्, यमीयन्" इति मुनीयती,गृहीयति यमीयति इत्येतेषां नामधातूनां शतृप्रत्ययान्त-रूपाणि । मुनीयतीत्यादौ "सुप आत्मनः क्यच्" इति सूत्रेण क्यच् प्रत्यय एव स्वीकार्यः, न तु 'मुनिवत् आचरति" इति व्युत्पत्तिं मत्वा क्यङ् स्वीकार्यः ।

तथात्वे आत्मनेपदित्वे "मुनीयमानः," इत्यादिरूपाणामेव साधुत्वम्, न तु "मुनीयन्" इत्यादिरूपाणाम् ।

15 रोषेति । हे शिवद शिवं कल्याण ददातीति कल्याणदः । शेषस्य क्रोधस्य यो लेशो लवस्तेन कुटिला बक्रा भ्रुकुटिः नेत्रोर्ध्वभागो यस्य सः । त्वं । हुङ्कृतेर्यो ध्वनिः हुङ्कारशब्दः तेन निरस्ता ध्वस्ता रिपूणां शत्रूणां श्रीर्लक्ष्मीर्येन सः । पिनाकं तन्नामकं निजं धनुः अद्यापि दधत् बिभ्रत् । येन सार्धं स्पर्धसे स्पर्धां कुरुषे । तं, 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः', न वेद्मि न जानाम्यहमिति शेषः ।

16 मन्थेति । हे शिव । मन्थेन मन्थनेन विलोडनेन, मन्थः मथ्नातेर्भावे घञ् । तेन घूर्णन् क्षुभ्यन् य उदधिः समुद्रः तस्य उदरस्थं अन्तःस्थितं । वाडवं वाडवाग्निसम्बन्धि अर्चिः ज्वाला । तत् तस्मात् अर्चिषोऽप्यतिचण्डमतिभयङ्करमिवेति सम्भावना । कालकूटं हालाहलं विषं त्वं जनानां संसारिणां कुशलाय मङ्गलाय निजकण्ठे स्वगले अनिशं सदैव दधासि धारयसि । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

17 त्वामिति । हे महेश, महाँश्चासौ ईशश्च तत्सम्बुद्धौ, हे महादेव । शरण्यं शरणदातारं त्वां विगणय्य अनादृत्य सुरगणान् देवसमूहान् । संयजन् यज्ञानुष्ठानेन प्रसादयन् दक्षो भवच्छ्वसुरो दक्षप्रजापतिः । किल इति वाक्यालङ्कारे । यज्वनस्तव यज्ञकर्तुर्भवतः । "सुयजोर्ङ्वनिप्" इति यजतेर्ङ्वनिप् । रोष एव कृशानुर्यज्ञाग्निस्तस्मिन् रोषकृशानौ । स दक्षः । निजदेहं स्वशरीरमेव । आशु शीघ्रं । हव्यं हवनीयद्रव्यं निदधे निचिक्षेप हुतवान् । रूपकम् ।

18 संवहन्निति । हे गिरीश गिरेः कैलासस्य ईश, शिव । किलेति वाक्यालङ्कारे । त्वं शङ्कनीयमपि अमङ्गलत्वेन शङ्कास्पदमपि यत् कपालं नरमुण्डं । गतशङ्कः सन् निर्भयः सन्देहरहितो वा भूत्वा । करे हस्ते संवहन् दधत् । असीति शेषः । तत् कपालं स्वस्य यौ चरणौ पादौ तावेव अम्बुजे तयोः भक्तस्तं जनं । नाकपालयितुं नाकस्य स्वर्गस्य पालः पालकः इन्द्रः । नाकपालमिवाचरतीति नाकपालयति, "उपमानादाचारे" इति क्यच् । नाकपालयतेर्तुमुन् । इन्द्रसदृशं विधातुं ध्रुवमिति सम्भावना । "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः । उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः ।" हेतूत्प्रेक्षालङ्कारः ।

19 त्वामिति। हे गिरिराजसुतेश, गिरीणां राजा तस्य सुता तस्या ईश, हे पार्वतीपते। निगमानां वेदानामपि अगम्यचरितमवर्णनीयप्रभावं त्वां। चतुरास्यः चत्वारि आस्यानि मुखानि यस्य स चतुर्मुखो ब्रह्मा। आशु स्तोतुं वर्णयितुमचतुरोऽकुशलोऽस्ति। किञ्च। बतेति खेदे। गिरामपि देवता वाणीनामधिदेवता भगवती सरस्वत्यपि मन्दाऽल्पबुद्धिः मूर्खा च बभूव जाता। त्वां स्तोतुमिति भावः। "गिरा-गिरी" इत्यत्र छेकानुप्रासयोजना। "चतुरः चतुरास्य" इत्यत्र यमकालङ्कारः।

20 त्वमिति। हे हर, हे शिव। त्वं। चञ्चन्तः उच्छलन्तः उच्चतराः उन्नताश्चारवो रमणीयाः ये तरङ्गाः लहर्यो यस्यास्ताम्। गङ्गां विष्णुपादोदकभूतां देवनदीं। घोरो ऽतिपीडादायको यः संसृतेः संसारात् जातः संसृतिजः वारम्वारं जन्ममरणरूपस्तापो दाहस्तेन सुष्ठु भीतानां भययुक्तानां प्राणिनां मर्त्यजनानां। अभयदानपताकां अभयस्य यत् दानं तस्य पताकां ध्वजारूपिणीं गङ्गां। शिरसा स्वमस्तकेन दधासि बिभर्षि। रूपकम्।

21 ईशेति। हे ईश, शर्व, शिव, शङ्कर शम्भो, नीलकण्ठ, गिरिजेश, पिनाकिन्, चन्द्रशेखर, विभो, पुरवैरिन्। हे सुशरण्य। शरणगं त्वच्छरणं प्राप्तं मां पाहि रक्ष।

22 ईशेति। ईशाय शिवाय दत्तं हृदयं येन सः। सदयो दयया सहितः सकृपोऽसौ नृपः कोल्हनः। सस्तुवन् "ईश" मिति कर्माक्षेपः। वरं अभिलाषं अनोकमत कामयते स्म। शिवादिति भाव। कथम्भूतं वरं कामयते स्म तमेव वर्णयति। हे सदुमेश, सतो चासौ उमा पार्वती तस्या ईश भर्तः। मे कुलजानां वंशजानां भाविनीनां सन्ततीन। आडशैलवलयं आडशैलः "आडावलेति प्रसिद्धस्तन्नामा पारियात्रपर्वतभागस्तस्य वलयं मण्डलं निश्चलं अचञ्चलं भवत्विति। मद्वंशजानामाडशैलमण्डले सुस्थिरं राज्यं भूयादिति भावः।

23 तदिति। तत्, तथा "एवं भूयाः" रिति। हरतः, पञ्चम्यास्तसिल्, शिवात्। अचिराच्छीघ्रमेव कामं वरं आत्माभिलाषं प्राप्य लब्ध्वा। विरतः तत्स्तुतेनिवृत्तः। रुचिराङ्गो रुचिरं रमणीयं अङ्गं शरीरं यस्य सः। सुजनानां-

सज्जनानामग्रणी नायकः । नन्दिता मोदिता अखिलाः समस्ता जना मनुष्या येन सः । असौ नराणां देवः, नृषु देवो वा राजा कोल्हनः । प्रमुमुदे प्रकर्षेण मोदते स्म । अत्यधिकमानन्दितो बभूव ।

24 बाहुनेति । अथ एतदनन्तरं । अयं सुधीरो धैर्यशाली । नृप इति । बाहुना स्वभुजाभ्यां तद्बलेनेति भावः । 'जातावेकवचनम्" । वरमथा श्रेष्ठमन्थनदण्डेन । मथेति "मथ्"-प्रातिपदिकस्य तृतीयैकवचनान्तं रूपम् । मथ्नातेः क्विबिति मथ्, तेन । क्षोणिं पालयन्तीति क्षोणिपालाः प्रत्यर्थिभूपास्त एव जलधिः समुद्रस्तम् । परिमथ्नन् परितः आलोडयन् । अचिराच्छीघ्रमेव रुचिरांशुं रुचिरा रमणीया अंशवः किरणाः यस्य तं । कीर्तिरेव चन्द्रः सुधांशुस्तं । प्रोच्चकैरतिशयेन दधार धारयति स्म । परम्परितरूपकम् ।

25 तत्रेति । महनीयां श्लाघनीयां महीं पृथिवीं शासति पालयति । तस्मिन्नित्याक्षेपेण सति । तत्र भुवि पृथिव्यां काचित् कापि वीरसूः वीरप्रसविनी वीरजननी नालक्षि नावलोकिता । या नृपतेः राज्ञः कोल्हनस्य वरयुद्धे श्रेष्ठे आयोधने पटून् कुशलान् प्रतिभटान् प्रतिद्वन्द्विभूतान् वीरान् प्रसवित्री जननकर्त्री । आसीदिति शेषः ।

26 तेनेति । दृढेन कठोरेण कार्मुकेण धनुषा वसुधां महीं शासता पालयता । वसुधाम्ना वसवः अष्टौ देवविशेषाः यद्वा वसुः वह्निः, तेषां तस्य वा धामेव धाम तेजो यस्य सः वसुधामा तेन । गुणवृन्दैः शौर्यौदार्यादिगुणसमूहैः विलसता राजता । तेन भुवः पृथ्व्याः परिवृढेन भर्त्रा राज्ञा कोल्हनेन । विश्वं जगत् । आशु शीघ्रमेव । स्वयशोभिर्निजकीर्तिराशिभिरशोभि सुशोभितमलङ्कृतं वा । "वसुधां वसुधाम्ना" इति रमणीया यमकयोजना । 'यशोभिरशोभि" इत्यत्रापि केचन यमकालङ्कारं मन्येरन्, किन्त्वत्र तादृशी वर्णविन्यासवक्रताजन्या रमणीयता नास्तीति दिक् ।

27 सप्तेति । सप्त निर्भरा अत्यधिका ये पयोधयः सागराः तेषां सुभूमा बृहती चासौ सीमा यस्याः सा तस्याः सीम्नः इति नान्तोऽयं सीमच्छब्दः । एतादृश्याः भूमेः पृथिव्याः वलयं मण्डलं कलयन् गणयन्नलङ्कुर्वन् । स राजा । इह भूमौ । अवन्दिनो वन्दिनो भाविताः वन्दाभाविताः अभूततद्भावे च्विः, तेषां

निगडितानामरीणां शत्रूणां निवहः समूहो यत्र तां । बुन्दीं पुरीं राजधानीं संव्यधात् समकार्षीत् । किलेति वाक्यालङ्कारे । "बन्दी-बुन्दी"–ति छेकानुप्रासः । "वलयं-कलयन्" इत्यत्राप्यनुप्रास एव स्वीकर्तव्यः न तु यमकालङ्कारः ।

28 येति । त्रिभिः पद्यैरन्वयः । या नगरी । अलकेव कुबेरनगरीव । वलितोरुधनेशा । वलितं संवृतं उरु महत् यद् धनं तस्य ईशाः धनिनो यस्यां सा । "वल संवरणे, वलते धनं लोकः संवृणोतीत्यर्थ" इति दुर्गादासः । पक्षे, वलितः सञ्चरितः "वल् संचरणे", उरुः महान् धनेशः कुबेरो यस्यां साऽलकापुरी । पुनः, नृहरेर्नृसिंहस्य विष्णोः हृत्स्थलीव वक्षःस्थलमिव । स्थिरा अचञ्चला लक्ष्मीः सम्पत्ती राज्यश्रीर्वा यस्या सा । पक्षे, स्थिरा अचञ्चला विष्णुवक्षःस्थलनिवासिनी लक्ष्मीः तत्कलत्रं समुद्रसुता यस्यां सा । पुनः विन्ध्यपर्वतभूमिरिव । द्विरदानां द्वौ रदौ दन्तौ येषां ते हस्तिनस्तेषां खनिः आकरभूमिः जन्मभूमिः । अत्र पुर्यां गजानां प्राचुर्यात्, विन्ध्यभूम्यां च गजानां निवासहेतुत्वात् । पुनः सैन्धवी सिन्धोः सिन्धुप्रवेशस्य क्षितिः भूमिरिव । हयानां तुरगाणां खनिरिति देहलीदीपन्यायेनान्वेयम् । पुर्यामस्यामसङ्ख्यानां सैन्धवतुरगाणामुपलब्धेः, सिन्धुदेशस्य तुरगप्रजननक्षेत्रत्वाच्च । सैन्धवास्तुरगाः श्रेष्ठा भवन्तीति वाजिशास्त्रविदां मतम् । अतएव "सैन्धवे"ति पदस्य निरूढया लक्षणया "तुरग" सामान्यार्थेऽपि प्रयोगः, "सैन्धवमानयेत्यादिवाक्यवत् । श्लेषः, तत्परिपुष्टा मालोपमा च ।

29 वारिधेरिति पुनः कथम्भूता नगरी । वारिधेः समुद्रस्य तनुरिव मूर्तिरिव । उद्धृतरत्ना । उद्धृतानि स्थापितानि रत्नानि यस्यां सा । पक्षे उद्धृतानि निष्कासितानि रत्नानि यस्याः अपादानभूतायाः (समुद्रतनोः) सा ।'पुनः, मैरवी मेरोः इयं सुमेरुपर्वतसम्बन्धिनी धरणीव भूमिरिव । सहिरण्या हिरण्येन सुवर्णेन सहिता । उभयत्र समानमेव । पुनर्वीरसूर्वीरजननीव । भटौघसवित्री भटानां वीराणामोघः समूहस्तस्य सवित्री जनयित्री । अस्यां पुर्यां वीरा उत्पद्यन्त इति भावः । उभयत्र प्रायः समानमेव विशेषणम् । पुनः कामधेनुः स्वर्गौरिव । कामितमभिलषितं ददातीति, कामितस्य वा दात्रीति । उभयत्र समानमेव । श्लेषपुष्टमालोपमा ।

30 सेति। लसन्तः सन्तः चतुराननाः लक्षणया कुशलाः, पक्षे ब्रह्मा, यस्यां सा, अनेकचतुराननयुक्ता नगरी। पुनः अमन्दं तीक्ष्णबुद्धि, कवयः काव्यकला-कुशलाः बुधा विद्वांसश्च तेषां ओघं समूहं दधती। पक्षे कविः शुक्रः, बुधः चन्द्रतनयस्तयोः ओघं दधती पुरी, एकैकमेव कविं, बुधञ्च बिभ्रती द्यौः। सन्तो ये महान्त ईशाः सामन्ता भूस्वामिनो वा तैः कलिता। पक्षे सन् यो महेशः शिवस्तेन कलिता युक्ता। सा नगरम्या नगेन आडाबलापर्वतेन रम्या रमणीया, पार्वत्यप्रदेशस्थिता नगरी दिवं इन्द्रपालितां स्वर्भूमिममरावतीं उच्चैः सञ्जहास उपेक्षया हसति स्म। अत्र नगर्या, हासक्रिया सम्भावितेति गम्योत्प्रेक्षा। "चतुरानन-कवि-बुधेति शब्दानां द्व्यर्थप्रयोगाच्छ्लेषः। स चोप-मानभूताया दिवः तिरस्काररूपं प्रतीपालङ्कारमेव पुष्णाति। अतः श्लेषप्रती-पोत्प्रेक्षाणां सङ्करः। अस्यां नगर्यां बहवश्चतुराननाः, कवयो, बुधा महेशाश्च निवसन्ति, दिवि तु एकैक एव चतुराननः (ब्रह्मा), कविः (शुक्रः), बुधः (चन्द्रसुतः), महेशः (शिवः), चेति हासकारणं। अतो नैषा द्यौर्मत्समानतां कर्तुं समर्थेति नगर्योपमेयभूतया दिव उपमानभूतायास्तिरस्कारः इति सुस्पष्टम्। "नगरी-नगरम्येति" छेकानुप्रासः।

31 येति। या नगरी। अनिशं सर्वदा अस्थिपालराज्ञः सच्च उदारं च यत्कुलं तत्र श्रिता मूर्तिर्यस्याः सा प्रौढा प्रकृष्टा कीर्तिर्यशःस्वरूपा। अस्तीति शेषः। अस्याः वर्णने सुतौ कविमादिशः वाचां धनं वाग्धनं तस्य व्ययस्य ह्रासस्य कृतौ कार्ये अतिकृपणः अत्यधिकं मितव्ययः सन् शिथिलोऽभूत् मन्दो बभूव। तद्वर्णनेऽसमर्थ आसीदिति भावः।

32 तामिति। तां पुरीं अधिवसन्, तस्यां पुरि निवसन्, "उपान्वध्याङ्वस" इति द्वितीया, पुर्याः कर्मत्वञ्च। धीमान् बुद्धिसम्पन्नः। क्षितिभृतां राज्ञां निवहस्य मानदः, मित्रनृपेभ्यो मानं प्रतिष्ठां सम्मानं वा ददाति वितरतीति मानदः, शत्रुनृपाणां मानं द्यति खण्डयति "दो अवखण्डने" इति मानद इति कवेः श्लिष्टयोजनार्थद्वयस्याभिप्रेतत्वात्। सुहृष्टः सुप्रसन्नः सन् आशुपालसंज्ञकं सुतमनविष्ट प्रासूत। क इव। वरजयन्तं श्रेष्ठं जयन्तनामानं सुतं वृत्रहा इव। वृत्रं हन्तीति वृत्रहा इन्द्रः। "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" इति क्विप्। उपमा-लङ्कारः, 'मानद" इति पदे श्लेषश्च।

33-34 गाढेति । अग्रेणान्वयः । स एव आशुपालनृपती राजाऽऽशुपालः । वरं श्रेष्ठं विजयपालतनजं विजयपालाभिधानमात्मजं अजीजनत् उत्पादयामास कथम्भूत. सः । गाढया प्रकृष्टया निबिडया भक्त्योपासनया परितोषितः प्रसन्नीकृतो भर्गः शिवो येन सः । पुनः, सता चरित्रेण विलसन् कुलस्य वर्गः स्वजातिसमूहो यस्य सः । पुनः, स्वस्य अङ्गं शरीरं तस्य या कान्तिस्तया जितो भास्वान् कान्तिमान् अनङ्गः कामदेवो येन सः । पुनः प्रतापे स्वविक्रमे अग्निभूते हुताः दग्धाः वैरिणः शत्रव एव पतङ्गाः शलभा येन सः । किं कुर्वन् । स्वगुणौघैः शौर्यौदार्यादिभिः स्वगुणैर्मेदिनीं धरां विमलयन् निर्मलीकुर्वन् तथा शत्रून् रिपून् सन्ततं निरन्तरं विदलयन् सामर्थ्यरहितान् विदधत् । किल इति वाक्यालङ्कारे । उपमा, रूपकञ्चेति तयोः संसृष्टिः । प्रथमे पद्येऽन्त्यानुप्रासश्च । युग्मम् ।

36 आशुपालेति । अग्रेणान्वयः । यः पूर्वोक्तो विजयपालः । आशुपालश्चाऽसौ विलसन् राजन् यो धरणीन्द्रः धरापतिस्तस्मात् अभवत् जायते स्म । स विजयपाल अर्जुनः आसीदिति राज्ञि विषयभूते प्रस्तुतेऽर्जुनस्य मध्यमपाण्डवस्य विषयिणोऽप्रस्तुतस्यारोप इति सारोपा गौणी लक्षणा, रूपकालङ्कारश्च । कथम्भूतो विजयपालोऽर्जुनश्च । भरतस्य भरतवर्षस्य एतद्देशस्य मण्डनं चासौ वीरश्च भरतदेशालङ्करणभूतो वीरः, अर्जुनपक्षे भरतस्य भरतवंशस्य मण्डनं आभूषणभूतः । पुनः । चारुणी ये कुण्डले कर्णाभरणे ताभ्यां विभासितौ दीप्यमानौ कर्णौ श्रवणे तौ स्पर्धयति लक्षणया स्पर्शयति (कर्णान्तायतत्वात्) इति स्पर्धी यश्चापो धनुः तेन वरौ श्रेष्ठौ भासुरौ शोभनौ बाहू करौ यस्य स विजयपालः । पक्षे, चारुकुण्डलविभासितः सहजातकुण्डलालङ्कृतो यः कर्णः कुन्त्याः कानीनः पुत्रः तं स्पर्धयतीति स्पर्धी, तथा चापवरेण श्रेष्ठधनुषा गाण्डीवेन भासुरौ कान्तिमन्तौ बाहू करौ यस्य सोऽर्जुनः । पुन, उद्धुरं भीषणं यत् प्रधनं युद्धं तस्मै युद्धाय तुन्दिला वृद्धिमती या कण्डूः खर्जूः तया चण्डाः दुर्दान्ता ये वैरिणो रिपवस्तेषां समूहान् युधि रणे निघ्नन् नाशयन् । उभयत्र समानमेतत् । पुनः, यो राजा धर्मराजं यमं कृतार्थं कृतकार्यं अकृत व्यधात्, शत्रुहननेन यमस्य साहाय्यं कृतवान् । पक्षे, योऽर्जुनो धर्मराजं युधिष्ठिरं महाभारतयुद्धविजयेन कृतार्थञ्चकार । श्लेषानुप्राणितरूपकम् ।

37 श्रीमत इति । श्रीमतो विजयपालभूपालात् । कामपालसदृशात् तत्तुल्यात् । उद्धतं प्रकृष्टं शीलं चरित्रं यस्य तस्मात् । वङ्गदेव इति नामा भूतलस्य पृथ्वीतलस्य शक्र इन्द्र इव । शासितं रिपूणां व्रजस्य समूहस्य चक्रं मण्डलं येन सः । आस अभूत् । असौ वङ्गदेवः सुर्जनचरिते चन्द्रशेखरेण कोल्हनस्य सुतो वर्णितः, न तु तत्प्रपौत्रः । पुनश्च तत्रास्य नाम गङ्गदेव इति लभ्यते, यथा—

"गङ्गदेवोऽभवत्तस्य भुवं गोपायति स्म यः ।
भ्रूभङ्गोद्धतदृक्पातै क्लृप्तभङ्गो विरोधिनाम् ।।" (13/12) इति ।

38 वङ्गेति । यो वङ्गदेवो रणे धीरो धैर्यशाली । वङ्गदेशस्य तन्नामकप्रदेशस्य, कुरङ्गाणां दृशौ इव दृशौ यासां ताः, कुरङ्गदृशः हरिणनयनाः कामिन्यस्तासां । तुङ्गौयौ सुस्तनौ तयोर्यां तटी तस्यां या मकरी मकर्याकारा पत्ररचना ताभिः । अन्तरम्बु अम्बुनि इति अन्तरम्बु अव्यीभावसमासः जले, लक्षणया अश्रुप्रवाहे । मृगयायाः आखेटस्य या वरा श्रेष्ठा केली क्रीडा तस्याः कौतुकं कौतूहलम् । कुतुकस्य भावः इति अण्, यद्वा कुतुकमेव कौतुकमिति स्वार्थेऽण् । प्रविदधे कृतवान् । निदर्शनाऽलङ्कारः । "मकरी" त्यत्र श्लेषः पत्ररचना मकरभार्या च ।

39 सङ्गरेति । सङ्गरस्य युद्धस्य अङ्गने युद्धभूमौ तरङ्गित उद्वेलितो यो रोषः क्रोधः तेनोदञ्चिता वक्रा या भ्रुकुटिस्तस्यास्ताण्डवेन नर्तनेनोर्ध्वाधश्चालनेन चण्डो भीमदर्शनः । स वङ्गदेवनरपालः । विपक्षैर्विगताः पक्षाः सहाया येषां तैः, मित्ररहितैः । विपक्षैः शत्रुभिः । कालः मृत्युरेवेति समलक्षि संलक्षितः । अतिशयोक्तिर्भेदेऽभेदरूपा, यमकञ्च ।

40 वङ्गदेवेति । वङ्गदेवनामैष सुभटः शोभनो वीरः । पटु शत्रुध्वंसने दक्षं तेज ओजो यस्य सः । दशाननस्य रावणस्य शत्रु रिपु राम इव । विक्रमार्कस्य विक्रमादित्यस्य कुलस्य वंशस्य मण्डनं आभरणं या कन्या कुमारी तां, तद्वंशजाताम् । विधिवत् शास्त्रविधिना रामो मैथिलीमिव जानकीमिव प्रोदुवाह प्रोद्वहति स्म परिणयति स्म । कथम्भूतः सः । सुष्ठु विधिं शास्त्ररीतिं जानातीति सुविधिज्ञः । उपमा ।

41 एतयेति । उदारो दक्षिणः । व्याकुलीकृताः, अव्याकुलाः व्याकुलाः कृता इति अभूततद्भावे च्विः, प्रपीडिताः । लसन्तः शोभना रिपूणां शत्रूणां दाराः

निगडितानामरीणां शत्रूणां निवहः समूहो यत्र तां। बुन्दीं पुरीं राजधानीं संव्यधात् समकार्षीत्। किलेति वाक्यालङ्कारे। "बन्दी-बुन्दी"—ति छेकानुप्रासः। "वलयं-कलयन्" इत्यत्राप्यनुप्रास एव स्वीकर्तव्यः न तु यमकालङ्कारः।

28 येति। त्रिभिः पद्यैरन्वयः। या नगरी। अलकेव कुबेरनगरीव। वलितोरुधनेशा। वलितं संवृतं उरु महत् यद् धनं तस्य ईशाः धनिनो यस्यां सा। "वल संवरणे, वलते धनं लोकः संवृणोतीत्यर्थ" इति दुर्गादासः। पक्षे, वलितः सञ्चरितः "वल् संचरणे", उरुः महान् धनेशः कुबेरो यस्यां साऽलकापुरी। पुनः, नृहरेर्नृसिंहस्य विष्णोः हृत्स्थलीव वक्षःस्थलमिव। स्थिरा अचञ्चला लक्ष्मीः सम्पत्ती राज्यश्रीर्वा यस्या सा। पक्षे, स्थिरा अचञ्चला विष्णुवक्षःस्थलनिवासिनी लक्ष्मीः तत्कलत्रं समुद्रसुता यस्यां सा। पुनः विन्ध्यपर्वतभूमिरिव। द्विरदानां द्वौ रदौ दन्तौ येषां ते हस्तिनस्तेषां खनिः आकरभूमिः जन्मभूमिः। अत्र पुर्यां गजानां प्राचुर्यात्, विन्ध्यभूम्यां च गजानां निवासहेतुत्वात्। पुनः सैन्धवी सिन्धोः सिन्धुप्रवेशस्य क्षितिः भूमिरिव। हयानां तुरगाणां खनिरिति देहलीदीपन्यायेनान्वेयम्। पुर्यामस्यामसङ्ख्यानां सैन्धवतुरगणानामुपलब्धेः, सिन्धुदेशस्य तुरगप्रजननक्षेत्रत्वाच्च। सैन्धवास्तुरगाः श्रेष्ठा भवन्तीति वाजिशास्त्रविदां मतम्। अतएव "सैन्धवे"ति पदस्य निरूढया लक्षणया "तुरग" सामान्यार्थेऽपि प्रयोगः, "सैन्धवमानयेत्यादिवाक्यवत्। श्लेषः, तत्परिपुष्टा मालोपमा च।

29 वारिधेरिति पुनः कथम्भूता नगरी। वारिधेः समुद्रस्य तनुरिव मूर्तिरिव। उद्धृतरत्ना। उद्धृतानि स्थापितानि रत्नानि यस्यां सा। पक्षे उद्धृतानि निष्कासितानि रत्नानि यस्याः अपादानभूतायाः (समुद्रतनोः) सा। पुनः, मैरवी मेरोः इयं सुमेरुपर्वतसम्बन्धिनी धरणीव भूमिरिव। सहिरण्या हिरण्येन सुवर्णेन सहिता। उभयत्र समानमेव। पुनर्वीरसूर्वीरजननीव। भटौघसवित्री भटानां वीराणामोघः समूहस्तस्य सवित्री जनयित्री। अस्यां पुर्यां वीरा उत्पद्यन्त इति भावः। उभयत्र प्रायः समानमेव विशेषणम्। पुनः कामधेनुः स्वर्गौरिव। कामितमभिलषितं ददातीति, कामितस्य वा दात्रीति। उभयत्र समानमेव। श्लेषपुष्टमालोपमा।

स्त्रियो भार्याः येन सः । एतया पूर्वोक्तया विक्रमार्ककुलकन्यया रममाणो विहरन् सन् । अमुष्यामधिकरणभूतायां । वैरिणां शत्रूणां मारणस्य नाशस्य तदभिचारानुष्ठानस्य शोभनो यो मन्त्रस्तमिव । स्वं निजं ओजो वीर्यं न्यधित निहितवान् । तस्या गर्भे स्वं वीर्यं निक्षिप्तवान् । मन्त्रोऽपि रहस्यत्वात् (गोप्यत्वेन) गुप्तस्थाने धार्यते । उपमा ।

42 संलसदिति । अग्रेणान्वयः । संलसन्ती शोभमाना या लवलिका लवलीलता तस्या यः परिपाकः तद्वत् पाण्डु पीताभं यद् गण्डयोः कपोलयोर्युगं तेन दन्तुरितेन नतोन्नतेन, लक्षणया रोमाञ्चितेन । उन्नता दन्ता यस्येति दन्तुरः "दन्त उन्नत उरच्" इति उरच्प्रत्ययः मृत्तिकायाः मृदः, दोहदेन तद्भक्षणात्, शोभनं सुरभि सुगन्धि तादृक् श्वसितं निःश्वासो यस्य तेन । स्वाननेन निजमुखेन शशिनं चन्द्रं प्रहसन्ती उपेक्षया तिरस्कुर्वती । अग्रेणान्वयः । उपमा प्रतीपञ्च ।

43 बिभ्रतीति । अन्तर्जठरे मध्येकुक्षि दहनं अग्निं बिभ्रती दधती शमीव तन्नामकवृक्ष इव । वसुमतीपतितेजः वसुमत्याः पृथिव्याः पती राजा तस्य तेजो वीर्यं बिभ्रतो धारयन्ती सा राज्ञी । वर्धमाना क्रमशो वृद्धिमती गुर्वी दक्षिणा कुक्षिः यस्याः सैतादृशी । कुचयुगे स्तनद्वये श्यामतां कृष्णत्वं समधासीत् संदधाति स्म । स्वभावोक्ति । उपमा च । युग्मम् । अत्र पद्यद्वये कालिदासच्छाया द्रष्टव्या । यथा विक्रमोर्वश्याम्—"आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम्" इति । यथा च रघुवंशे "तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ" इति । "निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावका" मिति च ।

44 भानुभान्बिति । भानुः सूर्यस्तस्य भानुभिः किरणैर्विकचं विकसितं यदम्बुजं पद्मं तस्य कोषात् मध्यात् निःसरतां बहिरागच्छतां मधुपानां भ्रमराणां या राजिः पङ्क्तिः सैव । अस्या नृपवध्वा राजपत्न्याः अतिनीला अतिश्यामला रोमराजी रोम्णां लोम्नां राजिः पङ्क्तिः रोमावली । निम्ना या नाभिः उदरावर्तः, तस्याः कुहरात् गह्वरात् । उदभूत् । आविरभूत बिम्बप्रतिबिम्बसाधारणधर्मनिष्ठोपमा । स्वभावोक्तिश्च ।

45 सेति । अतिशयो यो गर्भस्य भ्रूणस्य भरः भारः तेन भुग्नौ वक्रौ नितम्बौ कटिपश्चाद्भागौ यस्या साः । कम्पमानौ वेपथुमन्तौ यौ कुचौ वक्षोजौ ताभ्यां भङ्गुरं भङ्गशीलं गात्रं शरीरं यस्या साः । "भञ्जुभासमिदो घुरच्" इति भञ्जतेर्घुरच् प्रत्ययः । सुचिरं अतिकालं उच्चलिते अङ्घ्री चरणौ यस्याः सा, गर्भभरालसत्वात् । गौरवेण राजपत्नीगौरवेण गर्भगुरुतया च । मन्थरेण मन्दमन्देन गमनेन चङ्क्रमणेन विरेजे शुशुभे । स्वभावोक्तिः ।

46 मेदिनीति । मेदिन्याः पती राजा वङ्गदेवस्तेन समाहितं निक्षिप्तं वीर्यं यस्यां सा । द्विगुणा या दौर्हृदस्य गर्भावस्थायाः लक्ष्मीः शोभा तां बिभ्रती धारयन्ती । क्षोणि पृथिवी । बाहुलकात् ह्रस्वत्वम् । तां पालयतीति क्षोणिपालो राजा तस्य महिषी पट्टराज्ञी । वलिः त्रिवली, वस्तिर्नाभिरधोभागो जघनं च कुचौ च इति द्वन्द्वसमासः । तेषु । कीकसानि अस्थीनि, लक्षणया मेदांसि । परिदधे परितो धारयति स्म । स्वभावोक्तिः ।

47 गर्भमिति । अन्तरुदरं उदरस्य जठरस्यान्तर्मध्येऽव्ययीभावसमासः । गर्भं भ्रूणं कलयन्त्याः अलङ्कुर्वत्याः, लक्षणया दधत्याः । अमुष्या राज्ञ्याः । वलित्रयं त्रिवली यत् हेतुना व्यलुम्पत् विलुम्पति स्म । तदनेन कारणेन । अस्याः सुतः पुत्रः । स्वौजसा स्वतेजसा जिताः जगत्त्रयस्य त्रिलोकस्य वीरा येन स एतादृशः । प्रभविता समर्थो भविष्यतीति । ध्रुवम् निश्चितमेव । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । स्वभावोक्तिश्च ।

48 गोस्तनीति । मधुराणि अङ्गानि यस्याः सा शोभनाङ्गी । सा राज्ञी । मधुरान् मिष्टस्वादूनि । गोस्तनी द्राक्षा, मधु क्षौद्रं, सुधाऽमृतं, सहकारा आम्राणि चैतद्द्रव्याणि । विसृज्य त्यक्त्वा । एकमम्लं रसमेव चकमे इयेष अभिलषति स्म । वधूनां स्त्रीणां दौर्हृद दोहदं गर्भावस्थाभिलाषः बहुविधं नानारूपं हि भवतीति शेषः अर्थान्तरन्यासः ।

49 गर्भेति । गर्भेण दोलितं कम्पितं हृत् हृदयं यस्यास्तस्याः । अस्या नृपवध्वाः राजपत्न्याः । दौर्हृदं दोहदं यथा पुपोष परिपुष्टं बभूव, तथा भूपते राज्ञो वङ्गदेवस्यापि सुतस्य वक्त्रं मुखं तत्प्रेक्षणे दर्शने उन्मनसि उत्सुके चेतसि मनसि कामोऽभिलाषः पुपुषे । तुल्ययोगिता ।

50 पुत्रेति । अजस्रं निरन्तरं तत्सखीः तस्याः राज्ञ्याः सहचरीः गौणं कर्म । पुत्रस्य सम्प्रसवः जन्म तस्य मासं प्रधानं कर्म । सम्परिपृच्छन् ज्ञातुं पृच्छन् । पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वम्, "दुह्याच्-दण्ड्-रुधि-पृच्छि" इत्यादिकारिकानिर्देशात् । स च वङ्गदेवः । चकोर इव । सुतस्य मुखमिन्दुमिव तं इति उपमितसमास एव स्वीकार्यः । द्रष्टुमवलोकयितुं । अमन्दं अत्यधिकं उत्सुक आसीत् । उपमालङ्कारः ।

51 शोभन इति । त्रिभिः पद्यैरन्वयः । विधिविद्भिः विधिं शास्त्रोक्तविधानं लौकिकविधानञ्च वेत्तीति वित्, क्विप् तैर्जनैः शोभने मङ्गलमये समये मुहूर्ते सकलेऽपि समस्तेऽपि स्वस्तिकर्मणि माङ्गल्यकार्ये कृते सति । द्विजसङ्घे ब्राह्मणवृन्दे आशिषं आशीर्वचांसि प्रपठति सति । राज्ञि नृपे वङ्गदेवे, द्रविणौघं प्रचुरवित्तं संवितरति ददति सति, ब्राह्मणेभ्यो याचकेभ्यश्चेति भावः । अग्रेणान्वयः ।

52 सर्वत इति । सर्वतः सर्वदिक्षु प्रसृमरा प्रसरणशालिनी । सरतेः क्मरच्-प्रत्ययः । छवियेषां ते प्रसृमरच्छवयो दीपाः यस्मिन् तत् सूतिकागृहं इत्यग्रेणान्वयः । तुङ्गेन उन्नतेन मञ्चकेन पर्यङ्केण युतं सहितम् । सुष्ठु समृद्धं सुसज्जितम् । वृद्धाणां वर्गस्तेन वृद्धजनेन विनिवेदितः संसूचितो देशः स्थानं यस्य तत् । कामिनीभिः सौभाग्यवतीभिर्नारीभिर्गदितो मङ्गलशब्दो मङ्गलगानं यत्र तत् । एतादृशं सूतिकागृहमरिष्टसद्म प्रसूतिगृहम् ।

53 गर्भभारेति । गर्भस्य भ्रूणस्य भारेण विधुरा विकला खिन्नापि । सखीनां सहचरीणां, पुत्रस्य जन्मनः प्रसवात् हेतोः, यद्वा प्रसवस्य निनदैः कोलाहल-शब्दै रतिहृष्टा अत्यधिकं प्रसन्ना । स्वेदबिन्दुभिः श्रमजलकणैः रुचिरा रमणीयाऽऽननस्य मुखस्य श्रीः शोभा यस्याः सा । असौ राजमहिषी पूर्वोक्तं सूतिकागृहमधिशिश्ये तस्मिन् प्रसूतिगृहे शेते स्म । "अधिशीङ्स्थासां कर्मेति" द्वितीया । त्रिभिर्विशेषकम् ।

54 उच्चेति । उच्चाः उच्चस्थानस्थिता ये पञ्च वराः श्रेष्ठाः खेचराः चन्द्रादयो ग्रहाः, खे चरन्तीति सप्तम्या अलुक् समासः । तैर्दिव्ये दिव्यफलयुते शोभने मङ्गलमये समये मुहूर्ते । इयं वीरसूः वीरं सूत इति वीरसूः नृपयोषित्

राजपत्नी शची सुरेन्द्रपत्नी जयन्तमिव भासुरं देदीप्यमानं कुमारं सुतं । असूत जनयामास । ज्योतिःशास्त्रानुसारं सप्त ग्रहास्तत्तत्स्थानेषूच्चा भवन्ति, यथा, "अज-वृषभमृगाङ्गनाकुलीराभ्रषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः" । अत्र पद्ये चन्द्र-भौम-बुध-गुरु-शुक्राणामेवोच्चत्वं सङ्केतितम् । यथा कालिदासे — "ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् । असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ इति (रघौ, 3/13) उपमा ।

55 पुत्रेति । पुत्रस्य सुतस्य जन्मनः प्रसवस्य समये काले । स नृपालः । बहुतर अतिशयं सम्मदं हर्षं प्रदधानः धारयन् सन् । उच्चैः डिण्डिमं पटहं, आनकः दुन्दुभिविशेषः मृदङ्गं चर्मावरणयुक्तो मृद्भाण्डवाद्यविशेषः, भेरी वाद्य-विशेषः, झर्झरः तालवाद्यं च तान् वाद्यविशेषान् अवीवदत् वादयति स्मेति णिजन्तात्सामान्ये लुङ्रूपम्। चत्वारि अवनद्धवाद्यानि, झर्झरस्तालवाद्यम् ।

56 जातकर्मेति । विधिवत् शास्त्रानुसारं कृतं धर्मादिकर्म येन सः । स नृपालो राजा तनुजस्य जातकस्य जातकर्म जन्मसमयानुकूलं संस्कारं निर्ममे विदधाति स्म । यत् यस्माद्धेतोरसौ जातको देव एव अवतीर्णः पृथिव्यामागतः, तत् ततोऽमुं कुमारं देवनामकं देवाभिधानमकार्षीत् चकार ।

57 तेजसेति । अथानन्तरमचिरेण शीघ्रमेव । मणिकुड्यानां रत्नखचितभित्तीनां प्रौढां प्रकृष्टां दीप्तिं कान्तिं तेजसा सहजया स्वप्रभया तिरयन् आच्छादयन् कुमारो देवसिंहः । अम्बुराशिं अम्बुनां जलानां राशिं समुद्रमिव तं क्षितिनाथं भूपालं नन्दयन् आह्लादयन् शशीव चन्द्र इव प्रववृधे वर्धते स्म । उपमा । उदात्तालङ्कारश्च ।

58 वङ्गदेवेति । वङ्गदेवश्चासौ नृपपुङ्गवो राजश्रेष्ठः तस्माज्जन्म यस्य स तत्पुत्रः । स एष देवसिंहनामा कुमारः बालः । वयस्यैः सवयोभिर्मित्रैः सह विहरन् क्रीडन् । जनकतोषकराणि जनकस्य पितुः आनन्दकराणि अद्भुतानि विचित्रीणि कर्माणि कार्याणि उच्चकैरतिशयेन विदधे चकार । किलेति वाक्यालङ्कारे ।

59 इन्द्रनीलेति । रिपवः शत्रुराजानः । इन्द्रनीलमणिवत् मेचकं श्यामं गात्रं शरीरं यस्य तम् । नीलः कृष्णश्चासौ नीरधरो मेघस्तस्य धीरो यो घोषः

तद्वत् गम्भीरः शोभन घोषः शब्दो यस्य तम् । क्षीरकण्ठमपि, क्षीर कण्ठे यस्य तं, स्तनन्धयमपि तं नृपशावं नृपस्य शावं बालं राजपुत्रं संविलोक्यालोक्य बिभ्युः किल अबिभयुः भीता अभवन् ।

60 रूपेति । वङ्गदेवनृपो रूपञ्च विक्रमः पराक्रमश्च तयोर्गुणैः स्वमपि आत्मानमपि अतिशयानं अभिरामं रमणीयं तं अङ्गजं सुतं कुमारं अवेक्ष्य दृष्ट्वा । अस्मै सुताय देवसिंहाय यौवराज्यस्य पदवीं युवराजपदं प्रददे प्रादात् ।

61 न्यस्येति । स वङ्गदेवनृपतिः फणभृताऽपि शेषनागेनापि चिरेण दुर्धरं दुर्वहं क्षितेर्भारं पृथ्वीभारं पुत्रशिरसि युवराजमस्तके न्यस्य निधाय । जयन्ते तन्नाम्नि पुत्रे स्वर्भरं स्वर्लोकस्य भरं शासनाधुरां न्यस्य मघवेव इन्द्र इव क्लमं राज्यशासनजनितखेदं ओज्भत् त्यक्तवान् । उपमा ।

62 इन्दुनेवेति । गगनाङ्गणं आकाशप्राङ्गणं इन्दुनेव चन्द्रेणेव । सकलं समस्तं ग्रहजालं ग्रहमण्डलं भानुना सूर्येणेव । सुवर्णं कनकं भासुरेण दीप्तिमता मणिना रत्नेनेव । भूमिवलयं पृथ्वीमण्डलं तेन युवराजेन बहु अत्यधिकं रेजे शुशुभे । मालोपमा ।

63 स्वमिति । तेन शिशुना सुतेन स्वं आत्मानं कृतकृत्यं कृतकार्यं सफलं मन्यमानः स नृपालः । उपबुन्दि बुन्द्याः समीपे इति अव्ययीभावसमासः । कदाचित् पुष्पितासु सरसीषु जलाशयेषु नदीषु वा, "तारकादिभ्य इतच्" इति पुष्पाणि सञ्जातानि अस्या इति पुष्पिता, स्त्रियां टाप्ः तासु पुष्पितासु क्वापि कुत्रचिदपि केलिविपिनेषु केलिवनेषु विजह्रे विहरति स्म रेमे ।

64 तत्रेति । राज्यस्य भारस्तस्य धरणे निर्वहणे शिथिलो मन्थरः यद्वा विरक्तः स नरनाथः भूपो वङ्गदेवः तत्र तत्र पूर्वोक्तस्थानेषु विहरन् रममाणः । केलिभिः क्रीडाभिः कृष्टं हृदयं चित्तं यस्य सः एतादृशः सन् । समतीतान् गतान् बहुतिथान् बहुसंख्यकान् वासरान् दिवसान् दिनानि न विवेद न ज्ञातवान् ।

65 एणकानिति । अथ स नृपो राजनीतिं नृपनयमवमत्यानादृत्य एणकान् हरिणान् वरान् श्रेष्ठान् वराहाँश्च वन्यसूकराँश्च विविधान् पक्षिणः शकुन्तानपि परिणिघ्नन् परितो मारयन् । एक एव मृगयानिरतोऽभूत् आखेटक्रीडाप्रवृत्तो बभूव ।

66 स इति । अथ स ईशो भूपो वङ्गदेवः विषगुप्तिं विषस्य गरलस्य गुप्तिं गोपनं दधता धारयताऽहिनेव सर्पेणेव कुटिलेन वक्रेण केनचित् मेदकेन मेदकजातीयेन वनेचरेण । संस्मृतः प्रथमः पूर्वः शत्रोरयं शात्रवश्चासौ भावः तस्माद्धेतोः, स्मृतपूर्ववैरकारणादिति भावः । गरलं भोजितः । तस्मै नृपाय मेदकेन भोजने विषं दत्तमित्याशयः । भोजित इति । णिजन्ताद्धातोः क्तः । उपमा ।

67 स इति । स्वभावेन प्रकृत्या सरलोऽकुटिलः स क्षितिपालः कालकूटस्य विषस्य मदेन पूर्णिते चक्षुषी नेत्रे यस्य सः । दैवेन विधिना वञ्चिताऽपहृता मतिर्बुद्धिर्यस्य सः । विरराम विरमति स्म मृतः । "व्याङ्परिभ्यो रमः" इति परस्मैपदित्वम् ।

68 स निशम्येति । युवराजः स देवसिंहः कुटिला ये मेदजना मेदजातीया वनेचरास्तेभ्यः पितुर्वैशसं वधं सन्निशम्य श्रुत्वा । संभवन् उत्पद्यमानो यो विषमस्तीव्रो रोषः कोपः स एव कृशानुरग्निर्यस्य सः । स्वागतामपि समुत्पन्नामपि शुचं पितृनिधनशोकं निरुरोध निरुणद्धि स्म न्यरौत्सीत् । स्वागतेति च्छन्दोनिर्देश इति मुद्रालङ्कारः ।

69 अमर्षेति । अमर्षः कोपः शत्रुजनितापकारासहिष्णुत्वं एव विषमः प्रचण्डोऽनलोऽग्निस्तेन प्रबलं यथा स्यात्तथा दीप्ता या तेजसः ओजसश्छटा ज्वाला तया उद्भटः प्रचण्डः अतएव अतिविकटः अतिशयेन भीषणः । प्रचण्डैः दुर्दम्यैः । रणे चरन्तीति रणेचराः अलुक्समासः । रणेचराश्चामी भटा योद्धारो रणेचरभटास्तैर्वृतो युक्तः । कनन्त्यः देदीप्यमाना या कनककिङ्किण्यः सुवर्णनिर्मिताः क्षुद्रघण्टिकाः ताभिः क्वणितं झणझणायितं दारुणं कार्मुकं कठोरं धनुः दधत् बिभ्रत् । असौ देवसिंहः प्रधनस्य युद्धस्य मूर्धनि रणमुखे प्रसभं बलात् आविरासीत् प्रकटीबभूव । रूपकम् । परुषा वृत्तिः । वृत्यनुप्रासश्च । पृथ्वी छन्दः । "जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः" इति लक्षणात् ।

70 महेति । महांश्चासौ प्रलयः महाप्रलयः संवर्तकालः तस्य यो दारुणो भीषणोऽनलो वह्निस्तस्य या जटाः ज्वाला अस्य सन्तीति अनलजटालः तेऽनलजटालाः ते च कीलास्तैरिव आचरितैः कीलायितैः । प्रलयाग्निशिखाजटिलकीलसदृशै-

स्तीक्ष्णैः । शरबाणैः प्रसभं हठेन अरिशिरांसि रिपुमुण्डानि उत्क्षिपन् निकृन्तन् असौ क्षोणिपो देवसिंहः । आशु शीघ्रमेव मुहुर्वारम्वारं । हरस्य त्रिपुरारेः गलोचितां कण्ठयोग्यां मौण्डीं, मुण्डानामियं तां स्रजं मुण्डमालां विदधत् कुर्वन् रचयन् । रणे रोषणः युद्धे कोपनः प्रमदेन प्रकृष्टेन दर्पेण मेदुरान् पुष्टान् अतिदृप्तान् मेदकान् तज्जातीयान् रिपून् जघान् अवधीत् । उपमा । परुषा वृत्तिः । अनुप्रासश्च । पूर्ववदेव पृथ्वी ।

71 द्विषदिति । द्विषतां शत्रूणां गणस्य समूहस्य विजित्वरो जेता, सत्वरो वेगवान्, भटवरो वीरश्रेष्ठः । एष देवसिंहः । रणे स्वकं निजं सुयशः शोभनां कीर्तिं वितत्य प्रसार्य । क्षितेः पृथिव्याः धुरां भारं दधत् वहन् धुरीणो धुर्यः । एष उदारधीः समुदारबुद्धिः पृथ्वीपतिः भूपतिर्देवसिंहः । स्फुरन्तौ यौ निजौ भुजौ बाहू तयोर्द्वयं युगलं तेन उल्लसत् देदीप्यमानं अनल्पं महत् यद्वीर्यं पराक्रमः तदेवानलोऽग्निर्यस्य सः । नलोपमो नलः उपमा यस्य सः वीरसेन-सुत-नल-सदृशः । अभवत् बभूव । रूपकोपमयोः संसृष्टिः । यमकमनुप्रासश्च । पृथ्वीतिच्छन्दोनिर्देशान्मुद्रालङ्कारः ।

72 अथो इति । अथो एतदनन्तरं । रिपूणां शत्रूणां यत् कुलं कुलानि वा तस्मै तेभ्यो वा करालं भीषणं उद्धरं प्रचण्डं यशः कीर्तिपुञ्जं यस्य सः । दिवसमणिः सूर्यस्तस्यः कुल्यः कुले भवो वंशजः सूर्यवंशोत्पन्नः । दिशां आशानां पालैः इन्द्रादिभिस्तुल्यः सदृशः । अम्बरमणिः सूर्य इति रूपकम् । कनकस्य सुवर्णस्य रुचिर्येषां तानि कनकरुचीणि धामानि गृहाणि यस्यां सा तां । शिखरिणीं शिखराणि अस्याः सन्तीति शिखरिणी तां पर्वतशिखरयुक्तां । बुन्दीनाम्नीं पुरीं नगरीं अलङ्कुर्वन् विभूषयन् । अयं देवो देवसिंहो नृपः । रचिता सम्पादिता हरेः सेवोपासना येन सः । अतिशुशुभे अतिशयेन रेजे । उपमा-रूपकानुप्रासाः । शिखरिणीतिपदेन च्छन्दोनिर्देशान्मुद्रालङ्कारश्च ।

75 योऽन्तर्वाणीति । सुकवेः श्रीविश्वनाथस्य काव्ये शत्रुशल्यचरिते मेदान्वयध्वंसनं नाम चतुर्थः सर्गः ।। शेषं पूर्ववत् ।

इति शत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यां चतुर्थः सर्गः ॥

॥ पञ्चमः सर्गः ॥

1 श्रीदेवेति । अथ श्रीदेवनृपपुत्रो वीरः समरसिंह इति धीरश्चासौ उद्धतः प्रचण्डः क्षितीशो राजा बभूव । स धुरीणो धुर्यः भारवहनक्षमः पित्र्यं पितुरिदं वंशपरम्पराप्राप्तं पदं राज्यं सिंहासनं समधिगम्य लब्ध्वा । इमां क्षोणीं पृथ्वीमेकपुरीमिव एकनगरीमिव परं अभुनक् शास्ति स्म । वसन्ततिलका छन्दः ।

2 आक्रम्येति । महनीया श्लाघ्या कीर्तिर्यशो यस्य सः । स क्षोणिपालतिलकः क्षोणिं पृथिवीं पालयतीति क्षोणिपालः, बाहुलकाद् ह्रस्वत्वं, तेषां राज्ञां तिलकः ललाटशोभाविधायक इव तिलकः आभरणभूतः । यो विक्रमभरैः विक्रमाणां पराक्रमाणां भरैः समूहैः । भरतीति भरः, पचाद्यच् । परिपन्थिनः, परिसर्वतो-भावेन दोषादिकं पन्थयितुं शीलमस्येति णिनिः, शत्रवस्ते च योद्धाः भटाः यद्वा, परिपन्थिना योधा भटास्तान् । योधो युध्यतीति अच् । तान् शत्रुभटान् । आक्रम्य लक्षणया विजित्य । क्षणेनाचिरादेव वशगान् वशंवदान् अर्थात् दधौ, लक्षणया चकार । स राजा समरसिंहः । विनताः नम्रीकृता अरीणां शत्रूणां पक्षाः सहाया येन सः । आसां जनतानां जनको यथा पितेव । जनताः प्रजाः सम्यक् सुष्ठु शशास पालयामास । उपमा । अस्मिन् सर्गे सप्तषष्टितमं पद्यं यावद् वसन्ततिलकावृत्तम् । "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति लक्षणात् ।

3 उन्मुक्तेति । उन्मुक्तो यः कञ्चुकविशेषः चोलकप्रकारः "जामेति" भाषायां प्रसिद्धमूर्ध्वाङ्गवस्त्रं । तेन विशेषोऽतिशयितः कायो देहस्तस्य शोभां क्षणेन । यशसां कीर्तीनां समूहैस्तिरयन् आच्छादयन् सोऽमरेशोऽमराणामीश इन्द्रस्तेन तुल्यः इन्द्रसदृशः । समरेषु युद्धेषु सिंहवत् शार्दूलवद् उद्धतः प्रचण्डोऽपि दानाम्बुना विप्रादिभ्यो दानार्थं गृहीतं यत्सङ्कल्पजलं तेन राजितः शोभितः करः पाणिर्यस्य सः । पक्षे, दानाम्बुना मदेन राजितः शोभितः करः शुण्डादण्डो यस्य सः । करी गज इव रेजे शुशुभे । पूर्वार्धे मीलितालङ्कारः, सितैर्यशोभिः सितकञ्चुकस्य मीलितत्वात । "समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते.. ...

तन्मीलितम् ।" उत्तरार्धे उपमा, श्लेषः, सिंहोऽपि गज इति विरोधश्चैतेषां संतुष्टिः ।

4 वृन्दावतीमिति । जनैः प्रजाभिर्वन्दनीयां श्लाघनीयां वृन्दावतीं वृन्दांपुरीमधिवसन् । अस्यां पुर्यां निवसन् । "उपान्वध्याङ् वसः" इति द्वितीया । अयं समरसिंहो नृपो वृन्दारकाणां देवानामीशं देवेशमिन्द्रमपि अचिरेण शीघ्रमेव मन्दञ्चकार स्वचरित्रैस्तुच्छीकृतवान् । कथम्भूतैश्चरित्रैः । आनन्दितानि उल्लसितानि उद्धतानि प्रचण्डानि बलानि सैन्यानि यैस्तैः । चित्रैरद्भुतैः । पुनः, गोत्रस्य कुलस्य यो व्रजः समूहः तस्य कुलजनानां सुभगङ्करणैः शोभाविधायकैः । पक्षे बलः बलनामा दैत्यः इन्द्रस्तु तस्य हन्तृत्वात् अनानन्दितोद्धतबलः गोत्रव्रजः पर्वतसमूहः, गां पृथिवीं त्रायते इति गोत्रः पर्वतस्तेषां व्रजस्येन्द्रोऽसुभगङ्करणस्तेषां पक्षच्छेदकत्वात्, राजा समरसिंहो न तादृशः इत्यस्य राज्ञो देवेशाद् वैशिष्ट्यमिति श्लेषपरिपुष्टोऽयं व्यतिरेकालङ्कारः ।

5 एतस्येति । एतस्य राज्ञो मूर्तिराकृतिः कीर्तिरिव गौरी श्वेताऽस्तीति शेषः । मूर्तिश्च बुद्धिरिव मतिरिव गभीररूपाऽगाधाऽस्ति । बुद्धिश्च चेष्टेव क्रियाशीलतेव परिपूर्णं सत्वं मनोबलञ्च यस्या सैतादृश्यस्ति । अमुष्यास्य चेष्टा कुलरीतिरिव कुलप्रवृत्तिरिवोदारा दक्षिणाऽस्ति । रशनोपमा ।

6 कृत्वेति । सुमहतीमतिविशालां महीं पृथ्वीं भीमे प्रचण्डे भुजे स्वबाहौ कृत्वा धारयित्वा । परेषां शत्रूणां ये भटाः सैनिकाः तान् निराकर्तुं पराजेतुं शीलमस्य स इति इष्णुच् । महांश्चासौ अनुभावः प्रभावस्तेजस्तेन सहितः स महानुभावः । स नृपः समरसिंहः । पवित्रं चरितं यस्य तं, धरित्र्याः पृथिव्या धुर्यं भारवहनयोग्यं नार्पसंज्ञं पुत्रं नार्पनामानं सुतं त्वरितं सुषुवे जनयामास किल । नार्पो नृपस्य अपत्यं पुमानित्यन्वर्थसंज्ञकम् । अनुप्रासः ।

7 एकोऽपीति । अयं नार्पः नापजीति इतिहासप्रसिद्धो राजा । एकोऽपि असहायोऽपि दोष्णोर्भुजयोर्बलेन समरस्य युद्धस्य मौलिं मस्तकं रणमुखं प्रलङ्करिष्णुः विभूषयितुं समर्थः । अतएव नृपाणां शत्रुराज्ञां यः सङ्घः समूहस्तस्मै भीमो भयङ्करः । रणे युद्धे समरभूमौ वा व्यराजत अशोभत यत् यतो हेतोः । तस्मिन् नार्पे नृपे भूपाले सति । वसुधा वसुमती द्रव्यशालिनी पृथ्वी अन्यत्र

अन्यस्मिन् नृपे तदतिरिक्ते वसूनि द्रव्याणि न अर्पयति वितरति उपायनीकरोति वा। अतो हेतोरपि स नृपः सामरसिंहिः, न अर्पयति अन्यस्मै करादिकं इत्यन्वर्थव्युत्पत्या नार्पनामा अभवत् बभूव। "वसुधे" इति परिकराङ्कुरालङ्कारः। निरुक्त्यलङ्कारश्च। "निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्।" इति कुवलयानन्दे।

8 नार्प इति रिपूणां शत्रूणां यत् कुलं वंशस्तस्यान्ताय नाशाय करालः कठोरः कालो मृत्युरेव। सन् अतितीक्ष्णो यः कालकूटो विषं तद्वत् कुटिलो वक्र उद्धतः प्रचण्डो धीरो रोषः क्रोधो यस्य सः। वृन्दावती नगरी एव कमलिनी पद्मिनी तस्या रमणीयः सुन्दरः सूरः सूर्यरूपी। स नार्पः तन्नामा नृपो राजा हम्मीरदेवसंज्ञकं तनुजं सुतं सद्यः समसूतोत्पादयामास। उपमा परम्परितरूपकः संसृष्टिः।

9 हम्मीरेति। अयं हम्मीरनामा भूपतिर्नृपः। प्रतापैः स्वतेजोभिर्घूकानिव उलूकानिव रणवावदूकान् रणे युद्धेऽतिशयवचनशीलान् युद्धकौशलानभिज्ञानितिभावः। वावदूकः अतिशयेन वदतीति वा बदतीति यङ्लुङन्तात्। "उलूकादयश्चे" त्यौणादिकसूत्रेण ऊक-प्रत्ययः। अरीणां रिपूणां निकरस्समूहस्तान् तिरमन्नाच्छादयन् पराभवन्। निजा स्वीया याऽवनिः मही तस्यां जाताः समुत्पन्ना ये लोकाः प्रजाजनास्तान् पद्माकरानिव कमलवनानीव आमोदयन् प्रसन्नीकुर्वन् विकालेन सुगन्धीकुर्वंश्च। रविरिव सूर्य इवातितरां अतिशयेन दिदीपे अदीप्यत्। उपमा।

10 तेजोहुताशेति। तेजः प्रताप एव हुताशः, हुतं अश्नातीति वह्निः तस्मिन् हुताश हुताः राजकलाजाः, राजकं राज्ञां समूहो राजकम्. "गोत्रोष्ट्रोरभ्रराजेति" वुञ् युवोरनाकौ इत्यनेन अकश्च। यद्वा राजान एवं राजका इति स्वार्थे कन्। तदेव त एव वा लाजाः भ्रष्टधान्यं तेषां (लाजानां) होमो हवनं येन सः। एष हम्मीरः। रमणीं रमणयोग्यां भार्यामिव पाणौ कृतां परिणीतां प्रस्तुतपक्षे स्वायत्तीकृतां सुधरणीं पृथ्वीं उच्चैः विहरन् अतिशयेन रममाण। वराः श्रेष्ठा ये वाजिनोऽश्वास्तेषां टापानां पदाघातानां सच्चन्द्रकैश्चन्द्राकृतिभिश्चिह्नैर्नखक्षताङ्कां नखैः करजैः क्षताङ्कां चिह्नितामिव प्रविदधे चकार। नायकोऽपि स्वां रमणीं विहरन् तां तत्तदङ्गेषु नखक्षतैरङ्कितां करोति।

उपमा । धरणीं नखक्षताङ्कां प्रविदधीऽत्यत्र निदर्शनास्पर्शोऽप्यनुभूयते सहृदयैः । सा चेयमुपमाया एवाङ्गभूतेति दिक् । नेयं समासोक्तिरप्रस्तुतस्यापि स्पष्टतः शब्दनिर्देशात् । "राजक-लाज" इत्यत्र रूपकानुप्रासयोरेकवाचकानुप्रवेशसंकरः, यद्वा "रलयोरभेदात्" "राज-लाज" इत्यत्र यमकस्वीकरणात् यमक-रूपकयोरेकवाचकानुप्रवेशसङ्करः । "स्फुटमेकत्रविषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वय" मिति मम्मटाचार्याः । अन्यत्राप्यस्मिन् पद्येऽनुप्रासयोजना दृष्टव्यैव ।

11 दोर्विक्रमेति । दोष्णोर्भुजयोर्विक्रमेण पराक्रमेण आक्रमितं विक्रमस्य विक्रमादित्यस्य कीर्तियशः तस्याश्चक्रं मण्डलं येन तस्मिन् । वसुधायाः पृथिव्याः एकशक्रे एकमात्रेन्द्रे राज्ञि । प्रदातरि प्रकृष्टे दानशीले । करे हस्ते । इभ्यीकृताः, इभ्यः इभं गजं अर्हतीति दण्डादित्वाद्यत् अर्थात् राजा । अनिभ्या इभ्यांकृता इति इभ्यीकृताः अभूततद्भावे च्विः । इभ्यीकृताः समृद्धिमन्तो विहिताः अर्थिनो याचका येन सः । येन याचकेभ्यो गजादिकं दत्वा तेऽपि राजान इव कृताः । तस्मिन् सति । कनकाचलस्य सुवर्णपर्वतस्य मेरोः, रत्नाकरस्य समुद्रस्य च चिरेण दरिद्रता निर्धनत्वमासीत् बभूव । रूपकम् । पर्यायोक्तिश्च ।

12 आसीदिति । अथ तदनन्तरम् । अमुष्य कृतिनः कार्यशीलस्य । प्रत्यर्थीनां शत्रूणां या संहतिः समूहः तस्यै समुद्धताः सज्जीकृताः सायकाः बाणा येन तस्य । क्षितिनायकस्य भूमिपतेः । प्राचीनानां पुण्यानां सत्कर्मणां सुपचेलिमः सुष्ठु परिपक्वः । "पच एलिमच्" इति उणादिरेलिमच् प्रत्ययः । सन् शोभनः बिवर्तः कार्योत्पत्तिः सुवर्णस्य कटककुण्डलादिवत् आकारभेदेनैव कारणस्य कार्यरूपेण परिणमनं विवर्तः । तद्रूपः उदारं वृत्तं यस्य स समुदारचरितः वरसिंह इति नामा प्रेष्ठोऽतिशयेन प्रियः सुतः पुत्र आसीत् जातः ।

13 एतस्येति । यद्यपि एतस्य नृपस्य बहुलं प्रभूतं बलं सैन्यमस्ति, किन्तु तथापि वरश्चासौ खड्ग स एव सहायो यस्य स एतादृशो बाहुर्यस्य सः । धैर्यशाली राजा । सङ्ख्ये रणे विहरन् सपत्नान् रिपून् प्रहरन् कोपात् क्रोधात् कषायनयन आरक्तनेत्रः साक्षात् मूर्तिमान् हरिरेव विष्णुरेव व्यलोकि दृष्टः । जनैरित्यर्थः । रूपकम् ।

14 ईशोनीति । अयं राजा ईशोऽपि भूपतिरपि, पक्षे शिवोऽपि । परभटाननङ्गान् विदधाति शत्रुसैनिकानङ्गरहितान् करोति । असौ भास्वानपि देदीप्यमानोऽपि, पक्षे सूर्योऽपि । परेषां शत्रूणां चक्रस्य भीमो भीषणः । कलानिधिः चतुषष्टि-कलाकुशलो देवो राजाऽपि, पक्षे चन्द्रदेवोऽपि । क्षपिताः नष्टा महान्तो दोषा येन सः । भूभृद्वरः राज्ञां वरः श्रेष्ठोऽपि, पक्षे पर्वतश्रेष्ठोऽपि, शतको-टिद्रव्यैर्विशेषेण राजिताः शोभमानाः पक्षाः संहाया यस्य सः । शिवादयस्तु नैतादृशाः । एकमेव कामदेवं अनङ्गं करोति नाशयति शिवः सूर्यस्तु परचक्राय भीमो नास्ति । चन्द्रश्च दोषाकरो रजनीकरत्वात्, न तु दोषायाः नाशकरः । पर्वतश्रेष्ठश्च हिमालयादिः, शतकोटिना वज्रेण कृत्तपक्षः, न तु शोभितपक्षः । इत्यनेन श्लेषानुप्राणितो विरोधाभासः । स च वाच्यरूपो व्यङ्ग्यरूपं व्यतिरेकं व्यञ्जयतीति व्यतिरेकध्वनिः ।

15 सद्वाहिनीति । अयं भूपतिर्वरसिंहो वैरचन्द्रं नाम सुतं प्रासूत । कथम्भूतोऽयं भूपतिः । सतीनां वाहिनीनां सेनानां, व्यङ्ग्यार्थे नदीनां परिवृढः स्वामी पतिश्च । पुनः, कलिताऽलङ्कृता उर्वी महती लक्ष्मीः राज्यश्रीर्येन सः, व्यङ्ग्यार्थे कलिता महती लक्ष्मीः स्वात्मजा येन सः । वरार्थैः श्रेष्ठोपहारैः सुमनसां सज्जनानां विदुषां वा मुदं आनन्दं नित्यं विदधत् कुर्वन्, व्यङ्ग्यार्थे वरार्थैः श्रेष्ठरत्नैश्चतुर्दशसङ्ख्यकैः सुमनसां देवानां समुद्रमन्थनं कृतवता मुदं हर्षं विदधत् । पुनः त्रासेन भयेन दुष्टराजभयेन अर्दिताः पीडिता क्षितिभृतो राजानस्तैराश्रिता साध्वी मूर्तिर्यस्य सः, व्यङ्ग्यार्थे त्रासेन इन्द्रभयेन अर्दितः पीडितो यः क्षितिभृत् मैनाकपर्वतस्तेनाश्रिता साध्वी मूर्तियस्य सः । अत्र शब्दशक्तिमूलको ध्वनिः प्राकरणिकराजनिष्ठार्थेन श्लिष्टशब्दमहिम्नाऽप्राक-रणिकसमुद्रनिष्ठव्यङ्ग्यार्थरूपं वस्तु तदनन्तरं तेन वस्तुना पुनः राजसमुद्रयो साम्यं च व्यज्यते इत्युपमाध्वनिः । केषाञ्चिन्मते ' वैरचन्द्र एव चन्द्रस्तं" इति स्वीकरणात् रूपकालङ्कारस्य वाच्यत्वं स्यात् । तदा ध्वनेर्निरवकाशो भवेत्, काव्यविच्छित्यभावोऽपिस्यादतो नास्मभ्यमेष पक्षो रोचते ।

16 तारमिति । स वैरचन्द्रो नाम राजा चन्द्रश्च अमलं दोषरहितं राज्यं तारं यथा स्यात् तथा अर्थात् निर्मलं सदलङ्करिष्णुः विभूषयन् । पूर्णाः कला दधत् राकाकलाः धारयन् । जनता एव चकोरी तां । सुधावन्मधुरा ता

कीर्तिरेव शोभना चन्द्रिका ज्योत्स्ना ताभिः। उच्चैरतिशयेनानन्दिनीमुल्लासवतीं प्रविदधे चकार। परम्परितरूपकम्।

17 आभ्यन्तरानिति। अयं षट् आभ्यन्तरान् अन्तःकरणस्थान् रिपून् शत्रून कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यभूतान् विनिघ्नन् नाशयन्। सुनीतिनिपुणैः राजनीतिपटुभिः सचिवैरमात्यैः सह। कूर्माधिराजः कूर्मावतारः, भुजगाधियो शेषः, दिग्गजाः ऐरावतादय अष्टौ दिग्दन्तिनश्च तैस्तुल्यां सदृशीं धुरं भूमेर्धुरां भारमिति चिरं बिभराम्बभूव धारयामास। उपमा।

18 धिग्धिगेति। अथ रवेः सूर्यस्य कराणां किरणानां सहस्रतयीं सहस्रसंख्यां धिक् धिक्। निन्दातिशयार्थे द्विरुक्तिः। या सहस्रतयी सत्यपि नैशं रात्रिकालिकं तमोऽन्धकारं दलितुं नाशयितुं क्षमा समर्था नाऽसीत्। वयं त्वस्य राज्ञः करयुगं पाणिद्वयमेव व्यङ्ग्यार्थे किरणद्वयमेव वन्दामहे नमस्कुर्महे, सत्प्रभावे द्विषतां रिपूणां नामापि लेशोऽपि द्रुततरं शीघ्रमेव अहासीत् लुप्तं बभूव। प्रतीपमलङ्कारः।

19 तस्मिन्निति। महत् ओजो यस्य स महौजास्तस्मिन् महातेजसि। मह्याः पृथिव्या महनीय श्लाघ्यः शक्र इव तस्मिन् इन्द्रतुल्ये राजनि सति। दण्डभीतः, तद्दण्डत्रस्तो मघवा शक्रोऽपि कामं यथेष्टं ववर्ष वर्षति स्म। तस्य राज्ञः सुधासमा धुरा येषां तैः सुधासमधुरैः मधुरैः शोभनैः गुणौघैः औदार्यादिभिः संप्रस्नुता सिक्ता सती वसुधा पृथिवी वसूनि सूते स्म। साभिप्रायविशेष्यतया परिकराङ्कुरालङ्कारः, उपमा, अनुप्रासश्च।

20 वृन्दावतीति। वृन्दावती नाम्नीपुरी सैव कुमुदिनी तस्या विकासकारी रमणीयश्शोभनश्चन्द्रः शशी। असौ वैरिक्षमापतिः वैरिशल्यनामा महीपतिः। जितं शत्रूणां रिपूणां वृन्दं समूहो येन सः। करतले आमलकं इव आचरतीति क्यङ् तां करतलामलकतुल्यां महीं भुञ्जन् पालयन्। पाप कलिं पापिष्ठं कलियुगं अजस्रं निरन्तरं कृतयुगी कृतवान् अभूततद्भावे च्विः सत्ययुगं चकार। रूपकोपमालङ्कारद्वयम्।

21 कर्णान्तेति। कर्णान्तं कर्णपर्यन्तं गत्वरो गमनशीलो जित्वरो जयशीलः चापस्य धनुषो दण्डो यस्य सः। गत्वरः, जित्वरः इति "इण्नश्जिशर्तिभ्यः

कवरप्" इति कवरप् प्रत्ययः । स राजा । दुष्टा ये वीराः दुर्वीरास्तेषां ये चण्डाः कराः राज्यकोषार्थं ग्रहणीयानि धनानि, म्लेच्छनृपैर्गृह्याः "जजिया-दिकराः" तेषां तापेन विसंष्टुलानि परिखिन्नान्यङ्गानि यस्यास्ताम् । वसुमतीं पृथ्वीं नायिकाञ्च । विशदैः स्वच्छैः यशोभिः कीर्तिभिः । सान्द्र घनमार्दञ्च यच्चन्दनं तस्य यो रसस्तैरिवेति वस्तूत्प्रेक्षा । उच्चैस्तरां अतिशयेन संलिलेप लिम्पति स्म । चण्डकरस्सूर्यश्च । तस्य तापेन ग्रीष्मतापेन क्लान्तां नायिकां नायकोऽपि चन्दनरसैर्लिम्पत्येवेति समासोक्तिः ।

22 तस्मादिति । अथ तस्माद्वैरिचन्द्रात् । श्रेष्ठनृपात् । स्वीयेन निजेनोल्ल-सता देदीप्यमानेन चरित्रेन निर्जितो नाकलोकपालः शक्रो येन तस्मात् । विचित्रोऽद्भुतो महिमा माहात्म्यं यस्य सः । समरेषु रणेषु एकमल्लः एकमात्र-वीरः । सन् चासौ लोकस्य स्वराज्यस्य पालनकरो रक्षकः । भारमल्लनामा पुत्रोऽभवत् । किल ।

23 पित्र्यमिति । स भारमल्लः पित्र्यं पितुरिदं पदं सम्प्राप्य निजकुलागतं वंशपरम्पराप्राप्तं सिंहासनं आरुरोह आरोहति स्म, अध्यतिष्ठत् । कथम्भूतः सः प्रजानां जनतानां विपदां कष्टानां अन्तकरो नाशयिता । बाहुबलतः भुजबलात् हेतोः दलिता नाशिता उरवो महान्तः शत्रवो रिपवो येन सः । भुवि पृथिव्यां सम्भासुरं शोभनतया कान्तिशालिनं यशसः कीर्तेस्तिलकं दधानः धारयन् । यशस्तिलकमिति रूपकम् ।

24 उच्चैरिति । स नरपतिर्भारमल्लः । उच्चैरतिशयेन सुराणां य आलयः स्वर्लोकस्तत्र कृतः प्रणयः प्रेमा येन तं, व्यङ्ग्यार्थे सुराया य आलय। शौण्डि-कापणं तत्र कृतप्रणयं मद्यपमित्यर्थः । अतएव निर्बलं सुरेशं इन्द्रं, व्यङ्ग्यार्थे मद्यपं तं शक्रं । प्रसह्य बलात् हठाद्वा प्रहसन् उपेक्षाभावेन उपहसन् । सद्यः फलयुक्तैः वशीकरणमन्त्रैरिव स्वचरितैः स्वकार्यैर्व्यवहारैर्वा प्रजाः जनताः नित्यं वशीचकार वशयति स्म ।

25 कस्यापीति । कस्यापि कस्यचिदपि योगविदुषो योगिनो वचनात् । भविष्यत् यत् दुर्भिक्षं भाविधान्याभावः तस्य संभवस्तं वेत्तीति विद् तेन, भाविदुर्भि-क्षोत्पत्तिज्ञानशीलेनेत्यर्थः । उदारबुद्धिना तेन भारमल्लेन । चितानि संगृही-

तानि यानि सर्वाणि धान्यानि गोधूमादीनि तैः। प्रजानां भरणं चक्रे कृतम्। अतो हेतोः स नृपः भुवनानां संसाराणां एक एव भर्ता भरणशीलः पतिः कथं न भवेदपि तु भवेदेवेति काकुः।

26 गम्भीरेति। अथ गम्भीराऽतिगहना बुद्धिर्मतिर्येषां तेषु सुमन्त्रिषु कुशलेष्वमात्येषु राज्यभारं शासनधुरां कृत्वा निधाय। नृपभारमल्ले महीं पृथ्वीं प्रशासति पालयति सति। बलिना बलशालिना कलिना युगेन कलियुगेन कृतानि विहितानि औत्पातिकानि उत्पातयुक्तानि अनिष्टकारीणि लक्षणानि चिह्नानि सद्यो झगिति उदभवन् उत्पद्यन्ते स्म।

27 धूम्रानना इति। अधुना सप्तभिः पद्यैरौत्पातिकानि वर्ण्यन्ते। धूम्रं धूसरित आननं आननानि वा यासां ताः। रजसा धूलीप्रसरेण प्रकीर्णा आच्छन्ना अतएव सुमलिनाः अतिशयेन कलुषिताः। उद्भ्रान्ताः उद्वमनशीलाः सत्वानां जन्तूनां निकराः समूहाः यासु ताः। चतस्रो दिशः पूर्वादिदिशाः। तस्य राज्ञो वैरिणां रिपूणां वामनयना रमण्य इव च इत्थमनेन प्रकारेण चिरेण बहुकालपर्यन्तं अन्तर्दाहं अग्निज्वालां आन्तरिकं दुःखञ्च दधुः धारयन्ति स्म उपमा।

28 आप्रावृषेण्येति। आसमन्तात् प्रावृषेण्यानां; प्रावृषि भवः प्रावृषेण्य इति एण्य-प्रत्ययः, वर्षाकालभवानां घनानां मेघानां वर्षशकस्यापदेशाद् व्याजात्। सततं निरन्तरमश्रुजलं वाष्पद्रवं किरन्ती वर्षन्ती एषा मही धरित्री क्रन्दन्त्यो रुदन्त्यो याः शिवाः शृगाल्यस्तासां रुतं क्रन्दनं तस्य मिषेण छलेन वृत आर्तनाद तारस्वरेण रुदनं यया सा। दीर्णान्तरा दीर्णं निदीर्णं भिन्नमन्तरं हृदयं यस्याः सा। एतादृशो अरिकमलेव रिपुराज्यलक्ष्मीरिव चिरं बहुकालं चकम्पे कम्पते स्म। अपह्नुतिद्वयोपमानां संसृष्टिः।

29 मैत्रीवेति। दक्षिणस्यां दिशि परेतभर्तुर्दिशायां तरला चञ्चला सौदामिनी विदयुत् प्रादुर्बभूव प्रकटिताऽभवत्। केव। वक्रिता कुटिला धीर्बुद्धिर्येषां तेषां कुटिलमतीनां दुष्टानां मैत्रीव सौहार्दमिव। दुःशीलिनां दुश्चरित्राणां कमलालया लक्ष्मीरिव। उन्मदा ये मदयुताः सुरापायिनस्तेषां स्मृतिः स्मरणशक्तिरिव। उल्बणा अतिशयिता ये भीरुकाः कातरास्तेषां धृतिर्धैर्यमिव च। तरला तद्वच्चञ्चलेति सौदामिन्या विशेषणं, उपमानोपमेयसाधारणधर्मश्च। मालोपमा।

30 बन्दीकृतमिति। आत्मलक्ष्म्या निजराज्यश्रिया, निजशोभया च उज्भित त्यक्तं पराजितं बन्दीकृतं निगडितं नृपं भूपतिमिव। पर्यन्ततः परितो लसत्परिधि परिदृश्यमानपरिवेशमण्डलं सुदीनं ज्योतीरहितं द्विजराजं चन्द्रं। प्रथमजं प्राक्कालभाविनं निजं शत्रुभावं शत्रुत्वं भूयः स्मरन्, राहुरहनि दिनेऽपिजग्राह ग्रसति स्म। उपमा। अत्र कविना माँडूपतिना यवनेशेन विहितो नृपभारमल्लस्य पराजयोऽपि व्यञ्जित इति दिक्।

31 वल्गदिति। सहसाऽकस्मादेव। वल्गन्तश्चञ्चलाः, द्विजेशश्चन्द्रः, गुरुर्बृहस्पतिः, सत्कविश्शुक्रः सन्मुनीन्द्रोऽगस्त्यश्च यस्मिँस्तस्मिन्। सुमनसां देवानां विहारभूमौ क्रीडास्थलेऽनन्ताङ्गने गगनाङ्गने। सकलानां सर्वेषां लोकानां विनाशस्य हेतुः कारणभूतो धूमकेतुरुत्पातसूचकोऽमङ्गलकारी पुच्छलतारकः उच्चैस्तरामतिशयेन प्रादुर्बभूव आविरासीत्। रूपकम्।

32 वृन्दावतीति। वृन्दावतीपरिसरे बुन्दीसमीपेऽश्रुणा विमिश्राणि आर्द्रीकृतानि नयनानि येषां ते। तृणादिकवले घासग्रासे मन्दा अलसाः। कृतो हम्बेति शब्दो यैस्ते कृतनादाः। गवां धेनूनां समूहा, गणाः। रुधिरं संस्रवन्ति ऊधांसि स्तनाःयेषां ते, शोणितसंच्यवमानपयोधराः सन्तः। पिपासितवतः पिपासायुक्तानपि वत्सान् तर्णकान् नापययन् दुग्धं न पाययन्ति स्म। स्वभावोक्तिः।

33 राज्ञ इति। तस्य राज्ञो भारमल्लस्य वरा श्रेष्ठा या मन्दुरा वाजिशाला तस्यां। त्यक्ताशनास्त्यक्तमुज्झितं अशनं तृणमुद्गादिभोजनं यैस्ते। चेतसि मनसि किमपि चिन्तयन्तः खिन्नमनस्काः। तुरगा हयाः। प्रोथस्य यः प्रदेशो नासापुटं तस्य यत् सुचिरं स्फुरणं कम्पनं तेनातिभीमं दुर्दर्शनं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्। तरुणे पुष्टेऽह्नि मध्याह्नेऽपि। दिनेशबिम्बं सूर्यमण्डलमनु जिह्रेषिरे ह्रेषां विहितवन्तः। सूर्यं दृष्ट्वा हया तद्वाजिशालायां आर्तस्वरेण क्रन्दयाम्बभूवुः। स्वभावोक्तिः।

34 इत्थमिति। इत्थमनेन प्रकारेणोत्पातसूचकानि चिह्नानि पश्यँश्चिन्ताव्य-हृदयोऽसौ भूपतिर्भारमल्लः निर्मलमतिं स्वंपुरोधसमपृच्छत्—"ब्रह्मन् द्विज-श्रेष्ठ, भुवि पृथिव्यां विषमं भीषणमेतत् किमुदितं वर्तत" इति।

35 स्थित्वेति । क्षणेन किञ्चित्कालं सुप्तानि यादांसि जलचरा यस्मिन् सः । महोदधिः समुद्र इव स्थित्वा तूष्णीमनुभूय । वेदानां योऽर्थो रहस्यं तस्य या दृक् दृष्टिर्ज्ञानं तया मुषितो नष्टः कालिकः भूतादिकालसम्बन्धी विप्रकर्षो दूरत्वं यस्य सः त्रिकालदर्शीति भावः । एष द्विजः पुरोहितो निःश्वस्य दुःखसूचकं निःश्वासमुज्झित्वा । भारमल्लनृपतिं विप्रियं कट्वपि सत्यं वचनं बभाषे कथयामास । उपमा ।

36 राजन्निति । हे नृप, वेदार्थज्ञानेन कठोरबुद्धयो वयं राजसम्मुखे चाटुकारि वचनं कथयितुं न जानीमः । किन्त्वत्र श्रुतिततेर्वेदानां प्रतिवेशिनीनां सहवासिनीनां सहचरीणां नो वाचां अस्माकं वाणीनां रहस्यमनृतमसत्यं मिथ्या मैव मंस्थाः मा जानीहि । बत इति खेदे । उपमा ।

37 देवेदमिति । हे देव नृप अत्र प्रजानां जनतानां सकलं विकलं विषमं भयङ्करं उत्पातसूचक चिह्नं लक्षणं समुपस्थितम् । अत्र तव कोऽपि विरलोऽपि किञ्चिन्मात्रमपि प्रमादोऽसावधानता नास्ति । किन्त्वेतत् कलेः कलियुगस्य दुर्जितं दुष्प्रभावो वर्तत इति वयं पश्यामः ।

38 द्रुह्यन्निति । कृतधर्मंग धर्मांतिमने भवते युष्मभ्यं द्रुह्यन् द्रोहं कुर्वन् । "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यम्प्रति कोपः" इति चतुर्थी । अयं कलिः श्रुतीनां वेदानां तेजः शक्तिं प्रसभं बलाद्धरिष्यति । मन्त्रविदां वेदज्ञानां द्विजानां ब्राह्मणानामाशीश्चयं आशीर्वादाँश्च मोघीकरिष्यति निष्फलान् विधास्यति । पापसङ्घं पापसमूहश्च सफलयिष्यति ।

39 त्रय्येति । बत इति खेदे । त्रय्या ऋग्यजुःसाममन्त्रैर्यज्विवृन्दैर्ऋत्विक्समूहैस्त्रेतासु त्रिषु दाक्षिणात्य-गार्हपत्याऽऽहवनीयेषु यज्ञाग्निषु वषट्कृत देवोद्दिष्टं इदं हविर्निर्जरौघो देवसमूहो नैव कलयिष्यति न स्वीकरिष्यति । चिरं बहुकालपर्यन्तं अवग्रहो वृष्ट्यभावस्तस्य तापेन दुःखेन दूना खिन्ना देवी भगवती क्षितिः पृथिवी वसूनि रत्नादीनि धनानि सदौषधीर्धान्यादीनि च मन्दं प्रसोष्यति अतिस्वल्पतयैवोत्पादयिष्यति ।

40 क्षात्रमिति । स्वपरम्पराप्तं कुलपरम्परागतं क्षात्रं क्षत्रियोचितं नियमं धर्मं व्यवहारं विहाय त्यक्त्वा । परमत्यधिकं चटुराणि चाटूनि यानि वचांसि

तैर्यवनोक्तधर्मं यवनेन उक्तमुपदिष्टं धर्मं कर्तव्यं कुर्वन्। तत्प्रीतये यवनसन्तुष्ट्यै राज्यलोभात् राज्यप्राप्तिलोभहेतोः यवनधर्मं यवनोपासनादिकर्मानुष्ठानं वरिष्यति अङ्गीकरिष्यति।

41 एवमिति। एवमनेन प्रकारेण जगत् संसारं सुविकलमतिव्याकुलं कुर्वत् कलियुगं महीं पृथिवीं यवनानां म्लेच्छानामयं अब्धिस्तस्मिन् यावनसमुद्रे आप्लावयिष्यति मज्जयिष्यति। परं किञ्च इह पृथिव्यामस्थिपालः अस्थिपालस्यायं स कोऽपि वंशोऽन्वया केदारनाथवरतः कोल्हननृपद्वारा प्राप्तशिवप्रसादहेतोर्वटवत् प्रलयकाले प्रसिद्धाक्षयवटवत् प्रविभास्यति शोभिष्यते। उपमा।

42 यमिति। पुरा भवतां पूर्वजो दिग्विजयी वासुदेवनृपो यं मण्डपपतिं वशे कृत्वा कृपयाऽनुचरं सेवकं स्वकरदमकरोत्, स एव मण्डपपति माण्डूदुर्गपतिर्यवनसुरत्राणोऽद्य कलिना कलियुगेन बृंहितं वर्धितमोजो बलं यस्य सः। वृन्दावतीं बुन्दीं पुरीं आक्राम्यन् त्वां युद्धे हन्ता मारयिष्यति।

43 पुत्र इति। ते पुत्रस्तनयः। त्रिजगती त्रयाणां जगतां समाहारस्तस्यां महनीया श्लाघनीया कीर्तिर्यस्य सः। उपासिता सेविता रक्तदन्तिः रक्तदन्तिका नाम्नी दुर्गा येन स नारायणाभिधस्तन्नामा। दुर्मदान्धान् दुर्मदेनान्धान् प्रभूतं मदिष्णून् तुरुष्कनिकरान् यवनसमूहान् हत्वा मारयित्वा पुनः वृन्दावतीं परिभोक्ष्यति पालयिष्यतीति।

44 इत्थमिति। निगमार्थविदां वेदार्थज्ञानां वरिष्ठः श्रेष्ठोऽसौ मुनिपुङ्गवो मुनिवरस्तत्कुलपुरोहितः महसा स्वतेजसा इत्थं पूर्वोक्तं निगद्य कथयित्वा जोषं तूष्णीं बभूवाऽभूत्। राजाभारमल्लोऽपि दैवं भाग्यमित्थमनतिक्रमणीयमनिवारणीयं सञ्चिन्त्य। गभीरा धीर्यस्य स गभीरधीः तस्य भावस्सत्त्वं गभीरबुद्धिवत्तया नैव विषसाद विषण्णो नाभवत्।

45 अन्तरिति। अभीर्निर्भयः स भारमल्लः शल्यं कष्टं शल्यवन्मर्मवेधकं सन्तापं चिरेण बहुकालमच्चैरतिशयमन्तर्मनसि दहन् धारयन्नपि। आकारस्य गोपने आच्छादने कृती कुशलः। धरणीं पृथिवीं शासद्गणैः पालनकर्तृभिः सुविमलैर्निष्कलुषचरित्रैः सचिवैरमात्यैः सह मन्त्रं चकार मन्त्रयामास।

46 पृष्ट इति । अथ तेन राज्ञा पृष्टः स्वमतप्रकाशनार्थमामन्त्रितः । प्रभो राज्ञो हिताय कल्याणायाहतोऽङ्गीकृतः सर्वो धर्मः कर्तव्यं येन सः । परः शत्रुरपरो मित्रं तयोः, यद्वा परापरे उत्कृष्टावकृष्टे, बलाबले तयोस्तत्वं रहस्यं पश्यतीति दर्शी सम्यक् सुष्ठु समस्ततत्त्वविचारशीलः । अञ्जलिं बद्ध्वा बद्धाञ्जलिः सन् समयोचितं समयानुकूलमेतत् निम्नोक्तं वचनमूचे वदति स्म ।

47 मत्येति । स्वया निजया मत्या बुद्ध्या सुरगुरुं बृहस्पतिमपि प्रकामं अत्यन्तं लघयन् तुच्छीकुर्वन् भवान् नः अस्मभ्यं अस्माकं वा नयविदां राजनीतिज्ञानां प्रथमोऽग्रेसरो मतः स्वीकृतः । किन्तु पृष्टेन, स्वामिना स्वमतप्रकाशनार्थं मन्त्रितेन सुखदुःखविभागिना सुखदुःखसहभागिनाऽनुचरेण सेवकेनेशो राजा प्रज्ञाबलात् स्वबुद्धिप्रभावेण हिताय कल्याणाय योज्यः सन्मार्गार्थं बोधयितव्यः ।

48 नीतित्रिवर्गमिति । असकृद् वारम्वारं सौवं स्वकीयं नीतित्रिवर्गं साम-दाम-दण्डनीतिं यद्वा प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तित्रयं प्रविभाव्य सम्यगालोच्य । राज्याङ्गस्य प्रकृत्यादि-सप्त-राज्याङ्गस्य वर्धने समृद्धौ परस्तत्परः । धृतः सतां गुणानां दाक्षिण्यादीनामोघः समूहो येन सः । परैः स्पर्शैर्नित्यं निरन्तरं परिनिवेदिता सती प्रवृत्तिः सत्कार्याचरणं यस्मै सः । नयवित् राजनीतिवेत्ता भूपो राजा प्राप्ते समुचिते काले समये एव जपाय विजयाय प्रतयेत यत्नयुक्तो भवेत् न तु अनुचिते काले इति भावः ।

49 काल इति । काले उपयुक्ते समये सम्यक् विचारं कृत्वा रचितं विहितं कार्य-जातं कार्यवृन्दं । मही पृथिवी बहलं प्रभूतं सस्यमिव धान्यादिकमिव । प्रभूत कुशलं मङ्गलं प्रसूते समुत्पादयति । परञ्च कुमतेरविवेकिनोऽकालेऽसमये प्रयुक्तं सम्पादितं कर्म शारदं शरदृतुसम्बन्धि निर्जलमभ्रवृन्दमिव मेघजालमिव सद्यो झगिति विलयं प्रयाति विलीयते । उपमयोः संसृष्टिः ।

50 विद्वानिति विद्वान् राजनीतिज्ञश्चिरेण तत् कर्म विदधीत कुर्यात् यत् कृत्वा परिणतौ फलप्राप्तिसमये नानुतप्येत् दुःखितो न भवेत् । परं सुमतिसुचिरं दीर्घकालं विविच्य विवेचनं कृत्वा तत् कार्यं कुर्याद् यदग्रे परिणतिसमये उच्चैरतिशयेन चमत्कुरुते । विशिष्ट सफलताप्राप्तिजनकत्वादिति भावः ।।

51 स प्रत्यय इति । विदुषा राज्ञा वैयाकरणेन च निपुणं कुशलतया स प्रत्ययोऽमात्यादिषु विश्वासः, पक्षे तद्धितादिप्रत्ययश्च विधेयः कर्तव्यः । यस्तद्धितः तस्मै राज्ञे हितः कल्याणकारी, पक्षे नामप्रकृतिसम्बद्धस्तद्धितप्रत्ययः । प्रकृतेः प्रजानां यद्वा राज्यस्य सप्ताङ्गानां वृद्धिं समृद्धिं करोतीति करः राज्यकल्याणकारी, पक्षे प्रकृतेर्मूलधातोः प्रातिपदिकस्य वा, तद्धितप्रकरणे तु प्रातिपदिकस्यैव वृद्धिं व्याकरणोक्तवृद्धिरूपं करोतीति करस्तद्विधायी । तमेव प्रत्ययं व्याकरणदृशा निदर्शयति यथा 'अत्रणित्' इति । केषुचित्तद्धितान्तपदेषु व्याकरणानुसारं प्रकृतेरादिस्वरस्य वृद्धिर्भवति, यथा 'तद्धितेष्वचामादेः' (८-२.११७) इति सूत्रेण ञिति णिति च परेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । 'किति च' (७.२,११८) इति सूत्रेण किति तद्धिते च तथा स्यात् । यथा अश्वपतेरपत्यादि, आश्वपतम्, गणपतेरपत्यादि गाणपतम् । विश्वनाथेन काव्येऽस्मिन् अर्जुन-सुर्जन-गोपीनाथ-शब्दानां आर्जुनिः, सौर्जनिः, गौपीनाथिः इति प्रकृतिवृद्धियुक्तानां तद्धितान्तरूपाणां क्रमशः प्रयोगो विहितः । एतादृशः प्रत्ययो विश्वासो व्याकरणोक्तप्रत्ययवत् सुष्ठु प्रयोग । किन्तु बतेति खेदे । यः प्रत्ययो विश्वासः स्वां निजां प्रकृतिं प्रजाः राज्याङ्गानि वा सर्वां विलोपयति अस्य विश्वासस्य विधानसूत्रं कारणनिमित्तं धिग्धिक् अतिशयेन निन्दनीयम् । व्याकरणपक्षे, यः प्रत्ययः प्रकृतेर्मूलशब्दस्य समग्रं लोपं करोति स शोभनो न, अतस्तस्य विधानसूत्रं धिक् । तदेव सूत्रं सङ्केतयति । यथा इयच्छब्दस्य विधानसूत्रम् । 'इयत्' इति पदे इदं परिमाणमस्येत्यर्थे इदमिति प्रकृतेः ।

वतुप् प्रत्ययान्ते रूपे प्रकृतेरिदमः लोपो भवतीति स्पष्टम् ।

कवेः पाण्डित्यसूचिकेयमुपमा काव्ये ग्रन्थग्रन्थिरिव रसास्वादान्तर्गडुभूता ।

52 नोधातुतेति । यः परः श्रेष्ठः प्रत्ययो विश्वासः लक्षणयाऽमात्यादिः प्रकृतेः प्रजानां राज्याङ्गानाञ्च धातुतायाः धारणकर्तृवस्तूनामुपहर्ति नाशं करोतीति कृत् नो नास्ति, प्रजादिकल्याणनाशकरो न वर्तते । अपितु स्वलोपे स्वनाशे सिद्धेऽपि इट् आशु शीघ्रं आगमं राज्ञो लाभमेव धत्ते धारयति, नृपस्य लाभकर एव भवति । एतादृशः स्वविनाशकारी किन्तु राजप्रजामङ्गलकारी

प्रत्ययः व्याकरणशास्त्रविहित-क्विप्प्रत्ययवत् साधुः शोभनः साधुप्रयोगोऽय-मित्युपमा । व्याकरणपक्षे, यः प्रत्ययः स्वलोपे सिद्धेऽपि 'अदर्शनं लोपः' इति परिभाषासूत्रानुसारं अदर्शननिष्ठोऽपि प्रकृतेर्मूलशब्दस्य धातोःभ्वादेर्नाशकरो लोपकरो न भवति, अपितु तत्रागममेव धत्ते । अस्य क्विबिति कृत्प्रत्यय उदाहरणम् । यथा कृ' (डुकृञ् करणे) इति धातोः क्विप्प्रत्ययान्ते शब्दे क्विपः सर्वथा लोपो भवति, परं प्रकृतेर्न कोपि विकारो नाशो वा भवति । परञ्च 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति सूत्रेण क्विप् निमित्तं तुकः (त्-इत्यस्य) आगमो भवति । 'धातुतोपहतिकृत्' इति प्रस्तुतपद्योपात्तं पदमेवास्योदाहरणम् । किन्तु यः प्रत्ययः प्रकृतेः प्रजाराज्याङ्गादेः ईषत् स्वल्प-मेवार्थं धत्ते धारयति स्वलोपकारी वर्तते तं बहुमिव अतिशक्तिशालिनमपि यद्वा आकारादिना बहुमिव धिक् प्रब्रुवे धिक् करोमि, तस्याऽकिञ्चित्करत्वात् । व्याकरणपक्षे, एतादृशः प्रत्ययो व्यर्थ एव यो बहुरपि प्रकृतेर्मूलशब्दस्य स्वल्प-मेवार्थं सम्पादयति । यथा, 'खर-गोयुगम्' उष्ट्रगोयुगम्, इत्यादौ 'गोयुगच्' प्रत्ययः । 'द्वित्वे गोयुगच्' इति सूत्रेण द्वित्वार्थे यो गोयुगच्प्रत्ययः खरादिशब्देषु सम्बद्ध्यते तत्र 'गो' इत्यंशस्य नैरर्थक्यमेव, खरयुग-मित्यादिनाऽप्यर्थप्रतीतेरिति भावः । यद्वाऽस्य 'बहु' इति शब्दोऽप्युदाहरणम् । अत्र 'बंहतेः' 'जङ्घिबत्घोर्नलोपदश्च' इति सूत्रेण 'बहु' इति पदे सिद्धे प्रकृतेर्नस्य लोपे कृते ईषदेवार्थः सिध्यति । एषा कविकल्पनाऽपि पूर्ववदेव व्याकरण-शास्त्र निष्ठा वर्तते ।

53 शत्रुरिति । यदा शत्रुररातिः प्रतिदिनं परिवर्द्धमानः वृद्धिं गच्छन्नास्ति, तदा विदुषा बुद्धिमता राज्ञा स शत्रुः आत्मवृद्धेः स्वोन्नतेः परमत्यधिकं अवेक्ष्य एव । यः खलु केवलं शौर्येण पराक्रमेणैवारीञ्शत्रून् विजिगीषते जेतुमिच्छति, अस्य राज्ञो वीरस्य वा चरितं व्यवहारं सन्तः शौवापदं श्वापदस्य हिंस्रजन्तोश्चरितं वदन्ति कथयन्ति 'शौर्यं श्वापदचेष्टित' मित्युक्तेः ।

54 प्राकारेति । यो राजा प्राकारो वरणः, काननं वनं, महीधराः पर्वताः, धन्व निर्जलं मरुस्थलञ्च तेषां ये भेदास्त एव दुर्गणितानि सद्यो दुर्गमतराणि अतिशयेन दुरधिगम्याणि विधाय निर्माय । तानि दुर्गाणि तृणधान्य जला-दिभिः सञ्चीय सञ्चितानि कृतानि पराक्रमं शौर्यं काले समुचिते समये उपैति प्राप्नोति । अस्य राज्ञो हस्ते जयः । स एव शत्रुं जेतुं प्रभवति ।

55 सर्वात्मनेति । नयतत्त्वविज्ञः नयस्य राजनीतेः तत्त्वस्य रहस्यस्य विज्ञो वेत्ता नरपतिर्नृपो निजरक्षणार्थं स्वरक्षायै सर्वात्मना सर्वप्रकारेण अवहितः सावधानो भवेत् । स नृपो, विभवस्यैश्वर्यस्य परं मूलं, चिरेण बहुकालं जीवन्सन्नरिवृन्दं शत्रुसमूहं निर्मूलं निर्गतं मूलं यथा स्यात्तथा उच्चैरतिशयेन खनति उत्पाटयति लक्षणया नाशयति ।

56 एष इति । एष मण्डपपतिर्मण्डुदुर्गयवनेशः प्रथमतोऽपि पूर्वमपि भवत्पुराणैर्भवतां पूर्वजैरुच्चैस्तरां अतिशयेनापकृतो निराकृतः सम्प्रति अधुना कलिप्रभावात् । भृतं सञ्चितं लक्षणया सज्जीकृतं यद्वाऽर्जितं भीमं भीषणं बलवत् सैन्यं येन सः । त्रिजगतीं जगत्त्रयमपि जेतुं विजेतुमीशः समर्थोऽस्तीतिशेषः ।

57 श्रुत्यर्थेति । श्रुतीनां वेदानां अर्थाः तेषां सारे तत्त्वे निपुणः कुशलो भवत्पुरोधा भवतां पुरोहितो गुरुर्यत् प्रोक्तवान् कथितवान् तदद्य मृषा मिथ्या न भावि न भविष्यति । त्रैकालिकं भूतभविष्यद्वर्तमाननिष्ठं सकलं वस्तुजातं करतलामलकवद् विलोकयन्तः पश्यन्तः एतादृशा भवत्पुरोधःसदृशा द्विजवरा ब्राह्मणश्रेष्ठावितथमसत्यं न ब्रुवन्ति न कथयन्ति ।

58 न प्राकृतेति । सुसंस्कृता शिष्टा ज्ञानादिना संस्कारसम्पन्ना गीर्वाणी प्राकृताऽकुलीना वनितेव स्त्रीरिवात्मनिष्ठं निजं सौष्ठवं सौन्दर्यं लावण्यं नीचानकुलीनान् प्रति न प्रदर्शयति नोद्घाटयति । किन्तु भवत्पुरोधस एषा ज्ञानसम्पन्ना वाणी विदुषा पण्डितेन राजनीतिकुशलेन प्रभुणा समर्थेन त्वया-नृपेण कुलवधूरिव सत्कुलोत्पन्ना पत्नी वासेविता सती सौख्याय मङ्गलस्य हेतुः कारणमस्ति भविष्यति वेति शेषः । अयमपरोऽर्थोऽत्र ध्वन्यते । यथा प्राकृता महाराष्ट्र्यादिप्राकृतापभ्रंशाभिधानवती देश्यभाषाऽऽत्मीयं सौष्ठवं नीचान् नीचचरित्राणि प्रति नाटकादिषु रूपकेषु लोकव्यवहारेषु च प्रदर्शयति, नीचपात्राणां वाग्व्यवहारहेतोः । तथा सुसंस्कृता पाणिन्यादिव्याकरणशास्त्रानुसारं शिष्टा गीर्वाणी संस्कृता वाक् नीचानकुलीनान् व्याकरणज्ञानरहितान् जनान् प्रति स्वसौन्दर्यं नोद्घाटयति । तद्व्यवहारे तु व्याकरणविदो विद्वांस एव समर्थाः सन्ति नान्ये । व्यतिरेकः ।

59 तदिति । हे नृप, तत् तस्माद्धेतोरधुना वयं प्राप्तकालं समयोचितं विनिवेदयामः । वयं भवता सह मण्डलाद्रि मण्डलनामकं पार्वत्यदुर्गं यामो

गच्छामः गमिष्यामः, 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' । तत्र सुचिरं बहुकालं स्थिता वासं कृतवन्तो वयं । भृतो राष्ट्रस्य कोषः धनसमृद्धियैंस्ते । आशु यवनान् जेष्यामः जेतुं समर्था भविष्यामः । यदि ते भवते एतत् रोचते, तर्हि एतदस्माकं निवेदनमस्ति । 'ते रोचते' इत्यत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति चतुर्थी ।

60 इत्थमिति । इत्थमेतत्प्रकारं सचिवैर्मन्त्रिभिरुदितमुक्तं वचन निशम्य श्रुत्वा । जातकोपः क्रुद्धः । भ्रुवोर्भ्रुकुट्योर्भङ्गेन भीमं भीषणं वदनमाननं यस्य सः । सुधीरो धैर्यशाली एष भूपो भारमल्लः । नवो योऽम्बुधरो मेघस्तद्वत् धीरं गभीरं वचो वचनं यस्य सः । नयविदो नयं राजनीतितत्त्वं विदन्तीति तान् स्वान् मन्त्रिणोऽमात्यान् निम्नोक्तं वाक्यं गदति स्म जगाद । उपमालङ्कार ।

61 युष्माभिरिति । हे मन्त्रिणः । अग्र्यमतिभिः, अग्र्या मूर्धन्या श्रेष्ठा मतिर्बुद्धिर्येषां तैर्युष्माभिर्भवद्भिर्यद्वाक्यं वचनं अत्रादि कथितमुक्तम् । तदेष सत्यमेवोदारः नयस्य राजनीतेरुपनिषदो रहस्यस्यार्थस्तत्त्वं वर्तत इति शेषः । किञ्च । समरे युद्धे स्वप्राणान् जीवनानि तृणीकृतवतां तृणवत्तुच्छान् मन्यमानानां । त्रिदिवस्य स्वर्गस्य राज्ये समुत्सुकानामभिलाषुकानां । युद्धे स्वर्गप्राप्तिमभिलषितवतामित्यर्थः । भटानां वीराणां न्यायेन राजनीत्यादिसिद्धान्तेन किं कोऽर्थः ।

62 किञ्चेति । किञ्च किन्तु । वन्द्यतराऽतिशयेन वन्दनीयोदारा कीर्तिर्यशो यस्य सः । कूर्माधिराजः कच्छपावतारः, भुजगेशः शेषस्तयोः सदृक् सदृशो धुरीणो धुरं वोढु समर्थः । अस्माकं पूर्वज एषोऽस्थिपालः काव्ये पूर्वं वर्णितश्चन्द्रसेनपुत्रः । निजस्यात्मनो जीवे जीवने लुब्धं लोभयुक्तं मां मादृशं वंशजं प्रसूय स्ववंशे जनयित्वा । पुरन्दरं पुराणि दारयति विदारयति इति तं शत्रुनगरभञ्जकं इन्द्रं स्वर्गे किं वदिष्यति कथयिष्यति । मादृशस्य वंशजस्य जन्मना सोऽस्थिपाल इन्द्रसम्मुखं स्वर्गे लज्जिष्यत इति भावः । अतो युद्धात् प्रपलाय्य मण्डलदुर्गाश्रयेण मम निन्दैव भविष्यतीत्याकूतम् । पर्यायोक्तम् ।

63 तदिति । तत् तस्माद्धेतोः मे मतं शृणुत । यूयं ममावरोधजनमन्तपुरिकाजनं गृहीत्वा नीत्वा द्रुतं शीघ्रमेव मण्डलपर्वतं यात गच्छत। अहं भवतो युष्मान्

रणस्य भूमिस्तस्या भीरून् कातरान् नो तर्कयामि न मन्ये। किन्तु आत्म कुशलाय स्वमङ्गलायैव एवं नियोजयामि आदिशामि।

64 उच्चैरिति। अहन्तु उच्चैरतिशयेन। करवालः खड्गः सहायो यस्य स बाहुर्यस्य सः। केवलं खड्गसहाय एव। समरस्य युद्धस्यैकलुब्धं युद्धप्रियं। वृन्दावतीपरिसरे बुन्दीसमीपे यान्तमागच्छन्तं मण्डपपतिं माण्डूसुरत्राणं तरसा वेगेनैव हत्वा निपात्य महीं पृथिवीं स्वराज्यं भोक्ताऽस्मीति शेषः। यद्वा हतः स्वयमेव युद्धे निपातितः सन् अमरावतीमिन्द्रपुरीं भोक्ताऽस्मि भोक्ष्यामि।

65 शौवापदमिति। ममैतच्चरितमाचरणं शौवापदं श्वापदसदृशं हिंस्रजन्तुन आचरणमिव भवतु। यद्वा मदाचरणं जनः क्षात्रं क्षत्रियोचितं वदतु कथयतु। अत्रैतस्मिन् विषये मे रोषो न। हे मन्त्रिवराः, ममैतन्मतं यूयं शृणुत। एतत् निश्चयेनाऽन्यथा भवितुं नार्हति। नाहमन्यदाचरणं विधास्ये।

66 इत्थमिति। सचिवानमात्यानित्थं निगदच कथयित्वा। सल्लक्षणो वीरोचित-लक्षणसम्पन्नः। समराय युद्धाय निश्चिता साध्वी शोभना बुद्धिर्मतिर्यस्य स नृपभारमल्लः। सकलानि समस्तानि साङ्ग्रामिकाणि युद्धयोग्यानि सज्जानि सुसज्जितानि विधाय कृत्वा। रुषा क्रोधेन परुषः कठोरः सन्नुच्चैस्तरामति-शयेन चकाशे दिदीपे।

67 सच्चन्द्रहासेति। तस्य श्रीभारमल्लनृपतेः सेना चमू सुचिरेण वसन्ततिलका वसन्ततुं शोभायुक्ता वनी वनस्थलीव शुशुभे शोभते स्म। कथम्भूता सेना वनी च। सन्तः सुतीक्ष्णाः ये चन्द्रहासाः खड्गास्तै रुचिरा शोभना. पक्ष सन् तुषाररहितश्चन्द्रो विधुस्तस्य हासः प्रकाशस्तेन रुचिरा सुन्दरा। वसन्ते चन्द्रमसः कान्तेरतिनिर्मलत्वात्। पुनः कथम्भूता। कलिताः सुसज्जिता उरवो महान्तो बाणाः शराः यस्याः सा सेना पक्षे कलितानि सज्जितानि उरूणि असंख्यानि बाणपुष्पाणि यस्यां सा वनी। पुनः कथम्भूता। स्मेराय-मानानि हर्षयुक्तानि यानि भटानां सुमनांसि शोभनानि चेतांसि तेषां निवहं समूहं वहन्ती धारयन्ती। पक्षे, स्मेरायमानानि विकसितानि यानि सुमनांसि पुष्पाणि तेषां निवहं वहन्ती। कवयो बाणकुसुमानां चित्रणं वनस्थलीवर्णने विदधति। यथा भारवौ—

"विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं
निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः ।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः
स पुष्पहासा वनराजियोषितः ॥"
(किराते ४.२८) इति ।

श्लिष्टोपमा । वसन्ततिलकाछन्दसोनामनिर्देशान्मुद्रालङ्कारोपि ।

68 अथेति । अथ सुभूरिरोषणोऽतिशयकोपनः प्रचण्डश्चासौ मण्डपप्रभुः माण्डुसुरत्राणोऽप्रमाणिकां परिगणनायोग्यां चमूं वाहिनीं दधत् वहन् तं नृपं भारमल्लं आययौ आचक्राम । प्रमाणिका छन्दः । 'प्रमाणिका जरौ लगौ' इति लक्षणात् पूर्ववन्मुद्रालङ्कारः ।

69 धारावर्षमिति । अस्मिंस्तौरुष्के तुरुष्कसम्बन्धिनि यावने सैन्यमेवाम्भोदो मेघस्तस्मिन् यवनसैन्यमेघे । धारावर्षं धारासारं, सैन्यपक्षे धाराणां शस्त्रधाराणां वर्षं वृष्टिं उच्चैरतिशयेन वर्षति सति, पक्षे धाराणां जलधाराणां । वर्षं वृष्टिं वर्षति सति । तत्र सैन्यमेघे प्रादुर्भूता समुत्पन्ना शस्त्राणामायुधानां ज्वाला एव विद्युतां तडितां माला पङ्क्तिः सद्यो झटिति रेजे दिदीपे । विद्युन्माला छन्दः । 'मोमो गोगो विद्युन्माला । पूर्ववन्मुद्रालङ्कारः । श्लेषानुप्राणितं रूपकम् ।

70 आलोक्येति । स भारमल्लनृपः वृन्दावतीसमीपतः यावनं बलं यवनसैन्यमालोक्य समायान्तं दृष्ट्वा बाणं धनुराकृष्याधिज्यं विधाय नाराचकं बाणान्, जातावेकवचनम् ववर्ष वर्षति स्म चिक्षेप । नाराचकच्छन्दः । 'नाराचकं तरौ लगौ' इति लक्षणात् । मुद्रालङ्कारः ।

71 अहमिति । अथ नृपभारमल्लस्य बाणैः शरैः अहमहमिकया अहंपूर्वं अहंपूर्वं मिति रीत्या कृतः प्रहारो यस्यां सा प्रहृता । क्षतेभ्यो व्रणेभ्यो विगलत् स्रवत् रुधिरं शोणितं यस्या सा । यवनचमूः माण्डूसुरत्राणसेना । पुष्पिताग्रां फुल्लकुसुमवतीं किंशुकालीं पलाशपादपपंक्तिं सुचिरमनुचकारानुकरोति स्म । उपमा । पुष्पिताग्रा छन्दः । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् । पूर्ववन्मुद्रालङ्कारोऽपि ।

72 सङ्क्रुद्धेति । यमस्याग्रदूतान् सन्देशवाहकाञ्शरनिकरान् । बाणसमूहान् मुञ्चन्ती क्षिपन्ती सङ्क्रुद्धा क्रोधाविष्टा प्रहर्षिणी युद्धार्थं हृष्टा सा यवनचमूः तुरुष्कसेना । अल्लासंस्मरणपरा 'अल्ला' इत्यस्य यवनधर्मानुसारं परात्परस्य तत्त्वस्य संस्मरणे परा तत्परा सती । अल्लाहो अकबर' इति वीरघोषं कुर्वतीत्यर्थः । समिति युद्धे साहस्रान् सहस्राधिकसंख्यकान् भारमल्लान् भटान् भारमल्लीयान् सैनिकान् जघान हतवती । भारमल्लस्यासौ भारमल्ल इति अण् । प्रहर्षिणी छन्दः । लक्षणं प्रागुक्तम् ।

73 रोषोत्कर्षेति । रोषस्य क्रोधस्योत्कर्षः प्रकर्षस्तेन कषायितयोरारक्तयोरीक्षणयोर्नयनयोर्युगं नेत्रद्वयं तेनोपलक्षित । आग्नेयमस्त्रं बन्दूकेति भाषायां प्रसिद्धमस्त्रं क्षिपन् मुञ्चन्, ततस्त्राद् गुलिकावर्षणं कुर्वन् कोदण्डेन धनुषा मुक्तैः क्षिप्तैश्शरैर्बाणै वराणां श्रेष्ठानां कुम्भिनां गजानां कुम्भयुगलं करयुगं भिन्दानः छिन्दन् । विहीना नष्टा पृतना सेना यस्य सः, यद्वा विहीनः पृतनया इति विग्रहः, सेनारहितः । स भारमल्लः पादोत्तारं पदा उत्तरति यथा स्यात्तथा पदातिरेवेति भावः । बहून् तुरुष्कान् यवनान् निघ्नन् मारयन् । शार्दूलस्य व्याघ्रस्य विक्रीडितं विलसितं रचयन् विदधत् सन् । समरे युद्धे रराज । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । लक्षणं पूर्वोक्तम् । निदर्शनालङ्कारः । मुद्रा च ।

74 सङ्ग्रामेति । सा भारमल्लीयमूर्तिः भारमल्लस्येयं मूर्तिः सूक्ष्मदेहः । सन्मार्गणौघैः सद्भिः शत्रुमारणकुशलैर्मार्गणानां बाणानामोघैः समूहैः । पापसङ्घानिव कालुष्यसमूहानिव प्रसृमरान् प्रसृतानतिप्रबलान् यवनानुच्चैरतिशयेन हत्वा निपात्य । विमलतरमतिपवित्रं लसच्छोभमानं यत् खड्गधारायास्तीर्थं यस्मिन् तस्मिन् । सङ्ग्रामाग्रमेव प्रयागस्त्रिवेणीतीर्थं तत्र सम्यक् स्नात्वा अभिषवणं कृत्वा । दिव्यं यत् स्त्रीणां समूहः स्त्रैणं दिव्याङ्गनासमूहोऽप्सरसां गणास्तेन प्रकीर्णानि विकीर्णानि यान्यमरतरूणां कल्पद्रुमाणां कुसुमानि तेषां या स्रक् तां कल्पद्रुमपुष्पस्रजं धरतीति सा दिव्यस्त्रैणप्रकीर्णामरतरुकुसुमस्रग्धरा सती । व्यराजत् शोभते स्म युद्धप्रयागतीर्थे यवनपापान् हत्वा स्वयं दिवं गत इति भावः । परम्परितरूपकम्, पर्यायोक्तञ्च । स्रग्धरा छन्दः । लक्षणं प्रागुक्तम् ।

75 अथेति । अथ तदनन्तरं सङ्गरे युद्धे निष्कृपो निष्करुणः कठोरः । प्रहतं नष्टं

परस्य शत्रोर्भारमल्लस्य बलं सैन्यं येन सः। सम्मदेन विजयगर्वेणोत्कटो मत्त उद्धतो वा यवननृपः माण्डूसुरत्राणः। अतिमहतीमतिगुर्वीं वृन्दावतीं बुन्दी-नगरीं निजस्यात्मनः करयोर्हस्तयोर्वशगां स्वायत्तीकृतां दधत् कुर्वन्, यद्वा करस्य बलिग्रहणस्य बलिग्रहणार्थं वा वशगां विधाय। स्वां क्षमां पृथिवीं स्वराज्यं मण्डपाचलमगात् प्रतिजगाम। क्षमा छन्दः। 'तुरगरसयतिर्नौततौ गः क्षमा' इति लक्षणात्। अस्यैव छन्दसश्चन्द्रिका-उत्पलिनीति नामान्तरे। मुद्रालङ्कारः। 'करवशगां'मित्यत्र श्लेषः :

76 योऽन्तर्वाणीति। श्रीविश्वनाथस्य सत्काव्ये बुन्दीनगर्यां तुरुष्काणामुदयो यस्मिन् स पञ्चमः सर्गः समाप्तः॥

"इति श्रीशत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यां पञ्चमः सर्गः॥"

॥ षष्ठः सर्गः ॥

1 अथेति। अथ तदनन्तरमद्रिमण्डले मण्डलदुर्गे एष नृपो नारायणदासनामा सुनृशंसादतिक्रूराद् यवनात् म्लेच्छात् पितुर्वैशसं वधं निशम्य श्रुत्वा रुषं क्रोधं दधौ दधार चकारेत्यर्थः। कथम्भूतः सः। तस्य भारमल्लनृपस्य तनुजः सुतः। वैतालीयं छन्दः। इदमेवच्छन्दः सुन्दरी वियोगिनी वा—'षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः। न समात्रपराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौगुरुः' इति लक्षणात्। यद्वा, 'विषमे ससजागुरुः समे सभरा लोऽथगुरु-र्वियोगिनी'' ति लक्षणात्।

2 अरुणायितेति। अरुणायितःवारक्तौ कोणौ पर्यन्तभागौ ययोस्ते लोचने नेत्रे यस्य स आरक्तापाङ्गः। तरुणस्य प्रत्यग्रस्याऽम्भोजस्य रक्तकमलस्य रुचि शोभां हरन् मुग्णन्नयं नारायणदासः। पौगण्डेन कैशोरेण वयसाऽवस्थया विभूषितोलङ्कृतोऽपि। अपेरत्र पद्ये छन्दोनुरोधादक्रमप्रयोगः। 'कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि', पौगण्डो दशवर्षीयो बालकः। हठात् प्रसभं विजयाय शत्रुं विजेतुं 'तुमर्थाच्च भाववचना' दिति चतुर्थी। मनो दधे निश्चितवान्। निदर्शनानुप्रासौ।

3 सचिवा इति। बलोद्धतान् बलेन वीर्येणोद्धतानुत्कटान् प्रबलान् सहाय-संयुतान् सैन्यादिसहाययुक्तान् परान् शत्रून् जिगीषतो जेतुमिच्छतः, सन्न-ताच्छत्रन्तपदम्। चिरादबलस्य निर्बलस्य सैन्यरहितस्य वाऽसहायस्य मित्रादि-पक्षरहितस्यैतस्य नारायणदासस्य मतं सचिवा मन्त्रिणो नानुमेनिरे नान्व-मन्यन्त, न स्वीकृतवन्तः। किलेति वाक्यालङ्कारे।

4 असकृदिति। असकृत् पुनः पुनः सचिवा एवाब्धिस्समुद्रः समुद्रा वा तैर्वा संवृतो रुद्धः। तस्य नृपपुत्रस्योद्धतश्चासौ कोपो रोष एव वाडव और्वाग्निः। क्षणाज्झगिति जगतीं पृथिवीमपि निर्दहन् ज्वालयन् हृदन्त एव हृदये चेतस्येव परिजज्वाल सर्वतो भावेन ज्वलति स्म। रूपकालङ्कारः।

5 ज्वलनमिति। चिरं बहुकालं परमत्यधिकं स्फुरंश्चासौ उग्रश्च ज्वलन् प्रबलो

यः कोपो रोषस्तेन जातं समुत्पन्नं ज्वलनमग्निं तापं अन्तर्दाहं । अन्तर्हृदयं हृदयमध्ये वहन् । स वरवीरस्य श्रेष्ठशूरस्य भारमल्लस्य सुतो नारायणस्तत्क्षणं सचिवैरमात्यैस्तन्मताननुमोदनसमये पञ्जरे वशितो बन्दीकृतः सिंह इव आस बभूव । उपमा ।

6 यवनौघेति । यवनानां म्लेच्छानां य ओघः समूहः स एव वनं तत्र तस्मै वा उल्लसन् शोभमानो यो दवो दवाग्निस्तं तद्रूपिणं । सुचिरमतिशयेन बहुकालं वा आधिना मनोव्यथया क्षामा कृशा तनुर्वपुर्यस्य तं नारायणदासम् । वरः श्रेष्ठः खैराडभटः खैराडप्रदेशस्य वीरस्तत्सखा कश्चित् सुहृत् । समयोचितं कालानुकूलं वचो वचनमगदत् कथयति स्म । रूपकम् । बुन्दोतः पश्चिमोत्तरप्रदेशः खैराडनाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति । एष हींडोलीत आरभ्य जहाजपूरपर्यन्तं वर्तते ।

7 नेति । हे सखे मित्र, उच्चकैरतिशयेन खेदं विषादं न कुरु । मानिनो मनस्विनो वीराः कदापि न शोचन्ति । हीति निश्चयेन । एककोऽसखः सहायरहितस्त्वमुद्धतान् प्रचण्डान् परान् रिपून् अभिहन्तुं नाशयितुं कथं प्रभविष्यसि समर्थो भविष्यसि । असखः, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' ।

8 अथेति । अथ तदनन्तरं स भूपतिर्नृपो नारायणदासस्तं खैराडभटं जगाद प्रत्युत्तरयति स्म । हे सखे मित्र, त्वं चण्डकरं सूर्यं नेक्षसे न पश्यसि किम् ? यत् स रविरसखः सहायहीनोऽपि तिमिराणि तमांसि हन्ति नाशयति । वद कथय सूर्यवास्य तत्र सहायतां को गतः, न कोऽपि तस्य सहायोऽस्ति ।

9 बलेति । बलस्य पराक्रमस्य कालस्य समयस्य च तयोर्विचारणेन चिन्तनेन चुञ्चुरः कुशलो नयमार्गो राजनीतिपथः परं अत्यधिकं भीरुता कातर्यमेव । हीति निश्चयेन । भवादृशः त्वत्सदृशो वरवीरः श्रेष्ठभटस्तं नयस्य राजनीतेः पन्थानं कथमनुसरतु । नु इति वितर्के । भवता तन्मार्गस्याश्रयोऽनुचित एव । अहो इति आश्चर्ये ।

10 इतीति । केषाञ्चिन्मते पद्यमेतत् कल्पितं प्रक्षिप्तञ्च । इति वसुन्धरापते राज्ञः । उद्धरं प्रबलं यच्छौर्यं वीर्यं तदेव संश्रयो विश्रमो यस्यास्तां गिरं

वाणीमाकर्ण्य श्रुत्वा । अथ ततः खेराडभट्टेन वीरेण निरुपाधि निःस्वार्थं यत् सौहृदं मैत्र्याचरणं तस्मात् हेतोः । भारती वाणी जगदे कथिता ।

11 प्रथम इति । हे वयस्य मित्र, परेषां शत्रूणां दर्पस्य मदस्य खण्डनः खण्डयतीति खण्डनो नाशयिता, एष भुजदण्डो भुज एव दण्डस्ते प्रथमः सहायोऽस्ति । अपरश्च ते सखा मित्रमेषोऽसि खड्गोऽस्ति । माञ्च त्वं समरे युद्धे चरमन्तिमं सहायं विदाङ्कुरु जानीहि । इत्थं युद्धे प्राप्ते सति न भवानसहायः ।

12 अथेति । अथ त्वया भवता शैशवे बाल्य एव धनुषो धनुर्विद्यायास्तल्लाघवं कौशलं शिक्षितं दीक्षयाऽर्जितम् । येन कौशलेन त्वं समरे सङ्ग्रामे शत्रुरूपेण सम्मुखगं सम्मुखमुपस्थितं किरीटिनं पुराणेषु प्रसिद्धं धनुर्धरमर्जुनमपि लघूकरिष्यसि विक्रमेण कौशलेन च पराजेष्यसे । काव्ये छन्दोनुरोधादपेभिन्नक्रमता ।

13 अनुयुक्त इति । तव भवतः पित्रा जनकेनानुयुक्तो योजितो मन्त्रितः । उदारा समुदारा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । पुरोहितो भवद्गुरुर्यद् वचनमवदत् कथयामास तद्वचनं मम कर्णगोचरं कर्णगतमभूत् । मया श्रुतमित्यर्थः । हे सखे, तत् त्वं सादरमादरेण शृणु ।

14 यवनेति । हे राजन् यवनो मण्डपसुरत्राण एवाम्बुनिधिः समुद्रस्तस्मिन् निमज्जतो विलीयमानस्य तव स पुत्रः सुतो रणे युद्धे स्वकं निजं भुजं बाहुं वरसेतुं श्रेष्ठं जलबन्धनहेतुं विधाय कृत्वा निर्माय तं यवनाम्बुधिं तरिष्यति पारं गमिष्यति । कथम्भूतः सः । स्मृता रक्तदन्तिका दुर्गा येन स उपासितरक्तदन्तिकादेवीकः । किलेति वाक्यालङ्कारे ।

15 तदहमिति । तत्तस्मादहं रणाङ्गणे सङ्ग्रामभूमौ भवतो युष्माकं बहु अतिशयं जयदं विजयदं साम्प्रतं युक्तं मन्ये । अतस्त्वं उपबुन्दि बुन्द्याः समीपे सुतीर्थनामके नगरे 'सथूर' इति देशीनाम्ना प्रसिद्धे देवीतीर्थे रक्तदन्तिकां रक्ता दन्ता यस्यास्तां देवीं संस्तुहि स्तुत्या सेवस्व । रक्तदन्तिकायाः पुरातनं देवायतनं बुन्दीतः क्रोशत्रयादनन्तरं पश्चिमोत्तरस्यां विदिशि चन्द्रभागानदीतटे वर्तते । तत्राद्यापि मन्दिरे मृण्मयी देवीमूर्तिरस्ति । दुर्गाया रक्तदन्तिकाऽभिधानविषये देवीमाहात्म्य इदं प्रमाणम्—

"भक्षयन्त्याश्च तानुग्रान् वैप्रचित्तान्महासुरान्।
रक्ता दन्ता भविष्यन्ति दाडिमीकुसुमोपमाः ॥
ततो मां देवताः स्वर्गे मर्त्यलोके च मानवा ।
स्तुवन्तो व्याहरिष्यन्ति सततं रक्तदन्तिकाम् ॥"

अत्रैव सथूर-तीर्थे दुर्गासप्तशतीवर्णितेन सुरथेन राज्ञा साधुना वैश्येन सह देव्युपासनं कृतमिति तद्देशीयानां विश्वासः ।

16 प्रणतीति । अथ प्रणत्या नमस्कारेण स्तुत्या स्तवनेन च तोषिता प्रसादिता सा रक्तदन्तिका भवते तुभ्यं क्षणादचिरमेव तं वरं दास्यति वितरिष्यति येन वरेण मत्सखो मम सखा मित्रं भवान् सबलान् बलशालिनः सैन्ययुक्तांश्चापि परान् रिपून् समरे रणे हनिष्यति निपातयिष्यति ।

17 इतीति । इति इत्थं तस्य खैराडभटस्य वचनं वच एवामृतं पीयूषं परमत्याधिकं प्रणिपीय प्रकर्षेण निपीय लक्षणया श्रुत्वा परमतिशयं प्रमदं हर्षं दधत् वहन् स नारायणस्तेन भटेन सह सुतीर्थनामके देव्यायतने रक्तदन्तिकां देवीं परिष्टाव स्तौति स्म ।

18 चरणाविति । हे देवि, अहं सदैव नित्यमेव । तरुणं प्रत्यग्रं यदम्बुजं कमलं तद्वदरुणौ रक्तौ ते चरणौ तव पादौ हृदये चित्ते कलयामि चिन्तयामि । ययोश्चरणयो रजो धूलिः । अणुमात्रमपि अत्यल्पमपि शिरसि मस्तके धृतं निहितं सत् गरिमाणं गौरव महत्त्वं तनुते विस्तारयति । उपमा ।

19 वदन इति । हे देवि रक्तदन्तिके, तव वदने मुखे अमी एते दाडिम्या दाडिमी लतायाः कुसुमानां पुष्पाणां य आभारः समृद्धिस्तद्रूपा तद्वदारक्ता दतो (दत्-शब्दस्य बहुवचनान्तरूपं-दतः) रदाः वदन्ति कथयन्ति यत् त्वया भुज-योर्दर्पेण मदेन विमूढा मत्ता दानवा दैत्या आशु शीघ्रमेव ताम्बूलवत् नाग-वल्लीवीटिका इव चर्विताः, दन्तैः खण्डिताः । उपमा । काव्यलिङ्गञ्च ।

20 अरुणायितेति । हे चण्डिके देवि । ननु निश्चयमेव त्वमरुणायितौ रक्तौ कोणौ नेत्रान्तभागौ यस्या स्तया दृशा विलोकनेन द्विषतां शत्रूणां गणं वृन्दं भस्मीकुरुषे नाशयसि । त्वं करे हस्ते उच्चकैः करवालं खड्गं केवलं मण्डनमेव अलङ्कारभूतमेव विभृषे धारयसि । तस्य खड्गस्यानुपयोगात् ।

21 प्रकृतिमिति। यत् श्रुतयो वेदास्त्वां जगतः संसारस्य पुरातनीं शाश्वतीं सगुणां सत्त्वरजस्तमोमयीं प्रकृतिं अजां मूलप्रकृतिं गृणन्ति कथयन्ति। "अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।" इति श्वेताश्वतरे। साङ्ख्यदर्शनानुयायिनां मतेऽपि प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका। तन्मतं मम मत स्वीकृतं न वर्तते। यतो भवती स्वकर्मभिः स्वव्यवहारैर्गुणान् सत्त्वादीन् अतिशेते। न भवती गुणैर्बद्धाऽसि। लक्षणयाऽतिशयगुणवती भवती, न तु केवलं गुणत्रयादिसङ्ख्येयगुणवतीत्यपि गम्यते।

22 भवतीमिति। हे मातः, भवस्य संसारस्य तीव्रो दुःसहो यस्तापो दाहस्तेन चकितास्त्रस्ता भक्तवरास्त्वां यत् यतो भजन्ति उपासते। तत् तेन हेतुना। पितुर्जनकस्य दुःखस्य वधजनितकष्टस्य वह्निनाऽग्निना परितप्तः सन्तप्तोऽहं द्रुतं शीघ्रं शरणं भवत्या आश्रयं गतः प्राप्तोऽस्मि।

23 इतीति। इत्यनेन प्रकारेण सन्ततं निरन्तरं संस्तुवन् स्तुतिं कुर्वन् स नारायणदासो राजा। प्रसन्नया तुष्टया देव्या रक्तदन्तिकया रणाङ्गणेषु सङ्ग्रामभूमिषु त्वं परान् विजयस्वेति जगदे कथितः। वरप्रदानेन सभाजितः।

24 अथेति। अथाधिगतः प्राप्तोऽम्बिकाया वरो मनोभिलाषो येन सः। स भूमिपो नृपो नारायणः। खैराडभटेन सह यवनैर्म्लेच्छैर्वशीकृतां स्वायत्तीकृतां गरीयसीं महतीं वरां श्रेष्ठां बुन्दीं नगरीं प्रययौ जगाम।

25 सुदतीति। अथ नारायणदासस्य यत् पादावेवाम्बुरुहं (जातावेकवचनम्) चरणकमलं सुदतीजनानां कामिनीनां पाणय एव पल्लवाः करकिसलयाः तैः संवाहितं मन्दं मन्दं मृदितमपि श्रमं क्लेशं सादमाप प्रापत्। तच्चरणकमलं दवीयसा दूरेणापि पथा मार्गेण न समखिद्यत खिन्नं नाभूत्। किलेति वाक्यालङ्कारे। रूपकम्, यद्वा परिणामालङ्कारः।

26 पथीति। पथि मार्गे मञ्जुलैः श्रुतिमनोहरैः कोकिलानां परभृतानामारवैर्ध्वनिभिः। स्मरस्य कामस्य यद् वैदग्ध्यं चातुर्यं तस्य या कला तद्वन्मनोहरैः; रतिकूजितवद्रमणीयैः। अवरोधस्य अन्तःपुरस्य या वध्वो रमण्यस्तासां स्वर

ध्वनिं स्मरन् स्मृतिपथ नयन् स भूमिपो नृपो नारायणदासः क्षणं क्षणमात्रमुत्कर्णितः श्रोतुं समुत्सुक आस अभूत् ।

27 दधतामिति । स भूपती राजा नारायणोऽध्वनि मार्गे मधुनः कुसुमपरागस्य पानेन जातं मदं दधतां बिभ्रतां मदवतां भ्रमराणां मधुपानां मसृणं कोमलं वरगीतं श्रेष्ठं सङ्गीतमशृणोत् श्रुतवान् । कथम्भूतं वरगीतम् । रमणीभिः सुकण्ठोभिः कामिनीभिः कृता कोमला मृद्वी श्रुतिः स्वरभेद इव श्रुतिर्यस्य तत् । उपमा । अनुप्रासश्च ।

28 सरसोमिति । निजां स्वकीयां प्रियां प्रेयसीमिव सरसीरुहेक्षणां सरसीरुहाणि कमलान्येवेक्षणे नेत्रे यस्यास्तां सरसीं नदीं तडागं वा, पक्षे सरसीरुहवत् ईक्षणे यस्यास्तां प्रियां, द्रुतं शीघ्रमापृच्छ्य आमन्त्र्य । पत्युः स्वामिनो धर्मे सेवायां रतो निरतः अनुकूलगः अनुकूलाचरणवान् भृत्यः सेवक इव शीतः सुगन्धिश्च पवनः समीरस्तं नृपं नारायणदासमभजत् सिषेवे । उपमा ।

29 यवनैरिति । यवनैर्म्लेच्छैर्वशीकृतां स्वायत्तीकृतामवनीं स्वभूमिं राज्यं द्रुतं शीघ्रमेवोद्धतुं गृहीतुं विजेतुं समत्सुकोऽभिलाषुकोऽसौ नृपः क्षणं । कञ्चित् कालं वरशाखानगरे बुन्दीनगरस्योपकण्ठे तस्थिवान् स्थितः सन्नध्वजं मार्गजातं श्रमं क्लमं नुनुदे अपनोदयति स्म ।

30 समयोचितमिति । स नारायणः सखायं खैराडभट समयोचितं समयानुकूलं वचो वचनमूचिवान् कथितवान् । कथम्भूतं सखायम् । समरेषु युद्धेषु एक एव कोविद कुशलस्तं श्रेष्ठयुद्धवीरम् । "अयि वयस्य, चिन्तय विचारय । केन वा व्यपदेशेन व्याजेन वयमधुना सत्पुरीं शोभनां नगरीं बुन्दीं विशेम प्रविशेम ।" प्रवेशं कर्तुं समर्था भवेमेति भावः ।

31 अथेति । अथ स कोविदो विचक्षणो भटोत्तमो वीरश्रेष्ठ खैराडभटस्तं नृपं जगादाकथयत् । कपटेनच्छद्मना सत्कृतात् सत्कारात् विनयात् नम्राचरणादन्यः इतरः सुखप्रदो नयो मार्गो नीत्याचरणं कोऽस्ति ननु । न कोऽपि वर्तते । केवलं कपटेन विनयाचरणेनैव च पुरीप्रवेशः कर्तव्य इति भावः ।

32 कपटेनेति । सोऽपि पुराणादौ प्रसिद्धो मुरं मुरदैत्यं द्विषन् शत्रुर्विष्णुः कपटेन च्छलेन स्वां तनुं मूर्तिं शरीरं वामनीं ह्रस्वां विधाय कृत्वा । विनयेन नम्र-

तथा तदन्तिकं बलिसमीपं विशन्नुपसर्पन्, बलिनं बलशालिनं बलिं विरोचन-पुत्रं दैत्येशं वशेऽकरोत्, वशयामास। हन्तेति हर्षे।

33 अथेति। अथ भीष्मप्रमुखाः भीष्मादयो भटोत्तमा महाभारतवीराः समरे महाभारत युद्धे यथा येन विधिना च्छद्मना पाण्डुसुतैः पाण्डवैर्हता निपातिताः, तदपि भवता पुराणज्ञेन विदितं ज्ञातमेव। वद कथय। अत्रास्मिन् व्यवहारे तथा तेन कपटविधिना शत्रुनाशे कश्चन कोऽपि धर्म्यो धर्मानुकूलो नयः पन्थाः आचरणमस्ति ? नास्मिन् युद्धाचरणे किमपि धर्मानुकूलता, अपितु कूटनीत्या कपटाचरणमेव, तथापि शत्रुनाशे तत् वं नानुचितमिति भावः। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते (४.४.९२) इति यत्, धर्म्यम्।

34 अचिरादिति। तत् तस्माद्धेतोः तथापि भवतोऽपि अचिराच्छीघ्रमेव विपक्षाणां शत्रूणां संक्षयो नाशः कपटेनैवच्छद्माचरणेनैव कर्तुमुचितः। यतो दृप्ता मदान्धाये रिपवस्तान् विनिघ्नतो विशेषेण नाशयतो वीरस्य जात्वपि मनागपि धार्मिको धर्मानुकूलो रणः सङ्ग्रामः न हि कथितः, निश्चयेन न प्रसिद्धोऽस्ति। अतो भवताऽपि यवनः कपटेनैव निपातनीया इति भावः।

35 जहीति। किञ्च अपि च। स्वजनैर्निजबान्धवैः तिरस्कृतोऽपमानितोऽहं निजरक्षणाय स्वरक्षार्थं व्यथितस्तदाचरणेनपीडितः सन् वो भवतां सविधं समीपं प्राप्तोऽस्मि। इति च्छलं छलवद्वचनं वदन् कथयँस्त्वं बलेन विक्रमेणोद्धतान् दुर्विनीतान् परान् रिपून् जहि निपातय।

36 द्विषत इति। द्विषतश्शत्रून्, उच्चकैरतिशयेन निजिघांसुर्नितरां हन्तुमिच्छुः, सन्नन्तादुः। कोविदो बुद्धिमान् नरो विलम्बं न विदधीत न कुर्यात्। हे सखे वयस्य, चिरं चिरकालेन विलम्बेन कृतं कार्यमुत्साहस्य प्रयत्नस्याध्यवसायस्य वा बलं शक्तिं दृढमतिशयं निकृन्तति ननु, निश्चयेन खण्डयति। अतो भवता शत्रुनाशे न कोऽपि विलम्बः कर्तव्यः।

37 इतीति। इति इत्थं तस्य भटस्य खैराडवीरस्य साधु शोभनं नीतिमत् राजनीतिसम्पन्नं वचनं कथनं निशम्य श्रुत्वा। स पार्थिवो नृपो नारायणदासः। क्षणात्, शौर्यस्य पराक्रमस्य तेजसा ओजसा तेनैव पवनेन वायुनैधितो वर्धितो यो वह्निः अग्नि स्तद्वत्, तत्सदृशः परिजज्वाल परितः समन्तात्, ज्वलति स्म समिद्धोऽभूत्। उपमा।

38-39 नवेति । तदा तस्मिन् समये, "तदो दा च" (५ ३,१९) इति दा । नवो नवीनो यो नीरधरो मेघस्तस्य उद्धुरो मन्द्रो ध्वनिरिव ध्वनिर्यस्य सः। विलसत् शोभायमानं यत् कोकनद पद्म तद्वदाचरिते ईक्षणे नेत्रे यस्य सः । कमलसदृश-नेत्रः । कोकनदायितेत्यत्र क्यङन्ताद्धातोः क्तः । भ्रुकुटचोर्भ्रुवोर्द्वयं युगलं तेन क्रोधावेशेन वक्रभ्रुकुटिद्वयत्वात् भीषणं भयङ्करमाननं मुखं यस्य सः । यमस्य कृतान्तस्य दण्ड एव उपमा ययो स्तौ बाहू ताभ्यां भीषणो दुर्दर्शः स भूमिपो राजा । महीतलं पृथ्वीतलं समदो मदेन सहितो यो द्विरदेन्द्रो गज-श्रेष्ठो मदगजस्तस्येव मन्दया मन्थरया निजस्य आत्मनो गत्या चलनेन नमयन् नम्रीकुर्वन् । भटश्चासौ खैराडः खैराडाभिजनः तस्य मतेन सम्मत्या निजगोपनमात्मगुप्ति कृतवान् चकार । चतसृणामुपमानां संसृष्टिः ।

40 जलदैरिति । असौ भटोत्तमो वीरश्रेष्ठः स नृपो नारायणदासः । जलदैर्मेघः संवृत आच्छन्नो रविरिव सूर्य इव । भस्मभिर्भूतिभिः पिहितश्छन्नः शिखीव वह्निरिव । पट यथा स्यात्तथा निर्मितैः कुशलतया विहितैः कपटैः छद्माचरणैः परिगुप्तः संवृतः सरक्षितः सन् । शुशुभे राजते स्म । मालोपमा ।

41 अथेति । अथ एतदनन्तरम् । पुरीं बुन्दीनगरीं प्रवेक्ष्यतः भविष्यति काले प्रविशतः । प्रविश्धातोर्भविष्यदर्थे स्यतृप्रत्ययान्तरूपम् । तस्य नृपस्य वरकर्मश्रेष्ठकर्मसूचको दक्षिणो वामेतरो भुजो बाहुः । स्फुरणेन स्पन्दनेन । मङ्गल-सूचकेनेति भावः । सङ्गरे युद्धे । विजयश्रियो जयलक्ष्म्याः सुदृढां गाढामङ्क-पालिकां, अङ्केन क्रोडेन पालयतीति सा अङ्कपालिः सैवाङ्कपालिका स्वार्थे कः स्त्रियां टाप् च । शशंस कथयामास सूचयामास । पर्यायोक्तम् ।

42 नगरीमिति । नगरीं पुरीं विशतः प्रविशतोऽस्य राज्ञः । सरसैः मनोहरैः श्रेण्याः पङ्क्तेर्योऽनुबन्धः पाठान्तरे सुबन्धो, रचना तेन बन्धुरैरमणीयैः । कृतो मञ्जुलः श्रुतिपेशलः काकलीनां रवः कूजनस्वरो यैस्तैः । सारसैर्जल-विहगैः । क्षणात् तोरणस्य मालिका, पुरद्वारोपरि स्थापिता स्वागतसूचिका पुष्पादीनां माला, विदधे विरचिता निबद्धा । निदर्शनालङ्कारः ।

43 मृगयेति । त्वं मृगयाया आखेटात् समुपागतं निवृत्तं परावृतं रहसि एकान्ते स्थितं तिष्ठन्तं निजं रिपुं शत्रुं यवन सनरकन्दिनामानं शीघ्रं झगिति जहि मारय ।

अयं समयः क्षणात् विजये विजयाय, 'निमित्तात् कर्मसंयोगे' इति सप्तमी । शुभो मङ्गलसूचकः । इति दिव्यां गिरमाकाशवाणीं स नृपोऽशृणोत् श्रुतवान् किल ।

44 कृतेति । चिरादपि चिरकालेनापि कृतसंवरणः कृतं संवरणं गोपनं येन सः । प्रसरन् प्रसरणशीलः साहजिकः स्वाभाविकः तस्य राज्ञः प्रभागणः कान्तिसमूहः । नागरान् नगरवासिनो जनान् अतिविस्मयान्वितान् आश्चर्यचकितानकरोत् व्यधात् किल ।

45 तरणिरिति । हन्तेति हर्षे आश्चर्ये वा । अयं पुरो दृश्यमानो नृपः । किमिति वितर्के । धरणीं पृथिवीमुपागतोऽवतीर्णस्तरणिः सूर्यः । अथवा यद्वाऽयं धरणीमुपागतः पुरन्दर इन्द्रः । पुरं पुरीव, दृणाति दारयतीति वा पुरन्दरः । "पूः सर्वयोर्दारिसहोः" (३,२.४१) इति खच् । किमु यद्वा किमेषोऽवनीं महीमवितुं रक्षितुं वपुः शरीरं श्रयन् गृह्णन् अर्थान्मूर्तिमान् देवो भगवान् दितेर्जायन्त इति दितिजा दैत्यास्तेषामन्वयः कुलं तस्यान्तको नाशयिता विष्णुरिति भावः । धरणीमुपागत इति पूर्वेणान्वयः सन्देहालङ्कारः ।

46 अथेति । अत्र तदनन्तरं स नृपो नारायणो राजगृहं राजप्रासादं विशन् प्रविशन् सन् । तं रिपुं शत्रुं समरकन्दकं (समरकन्दिनं) मृगयन्नन्वेषयन् मृगयाया आखेटादागतं प्रत्यावृत्तं भटगोपं भटा योद्धारो गोपाः रक्षका यस्य तं, सैनिकैः रक्षितं यावनं यवनस्येमं म्लेच्छधर्मानुयायिनं (स्वपितृव्यं) समरोपपदं कन्दकं समरकन्दकं (समरकन्दीतिनामानं) प्रददर्शाऽवलोकितवान् : अत्र समरोपपदं कन्दकमिति प्रयोगे "देवपूर्वं गिरिन्ते" (मेघदूते ४२), "धनुरुपपदमस्मै वेदमध्यादिदेश' (किराते १८.४४), 'हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते' (माघे १.४२) इत्यादि कालिदास-भारवि-माघप्रयोगवत् अवाच्यवचनं दोष इत्येकेषां मतम् । किन्तु मल्लिनाथोक्तदिशा 'समर'-शब्दोपपदविशेषितेन 'कन्दक'-शब्देन शब्दपरेणेत्यर्थलक्षणामङ्गीकृत्य समाधानं सम्पादद्यमित्यस्माकं मतम् ।

48 वरवेत्रधरैरिति । वरैः श्रेष्ठैर्वीरैर्वेत्रधरैः प्रतीहारिभिर्यद्वा द्वाररक्षकैः सैनिकैरलक्षितौ अदृष्टौ । गुप्तप्रवेशवत्त्वादिति भावः : विलसन्तौ देदीप्यमानौ

खड्गौ धरत इति धरौ असिधारिणौ। सुशिक्षितौ युद्धदीक्षापारङ्गतौ तौ नारायणदास-खैराडभटौ शनिराहू इव शनिर्मन्दः शनैश्चरश्च राहुः सैंहिकेयश्च तौ इव। 'शनिराहू इव' इति प्रगृह्यत्वात्सन्ध्यभावः। सुष्ठु साधु दृप्यतः मदिष्णोर्यवनस्य म्लेच्छस्य समरकन्दिनः गृहान् वेश्म समीयतुः अगच्छताम्। गृहाञ्छनिराहू इव' इति 'तोश्चुना श्चुः (४.४४०) इति सूत्रेण हल्सन्धिः। 'गृहान्' इति नित्यबहुवचनान्तोऽयं पुंवाची शब्दः, 'गृहाः पुंसि तु भूम्न्येवे' त्यमरः। उपमालङ्कारः।

49 समरोपपदमिति। तदा स नारायणदासः। रहःस्थितं एकान्ते तिष्ठन्तं। विश्रब्धा विश्वस्ता मतिर्बुद्धिर्यस्य तं समरोपपदं कन्दकं समरकन्दिनं स्वस्य यवनधर्मानुयायिनं पितृव्यं। अवधीरयन् तिरस्कुर्वन्। धृतः खड्गोऽसिर्येन तेन करेण बाहुना वक्षसि उरसि अवधीत् ताडयित्वा जघान। छेकानुप्रासः 'अवधीदवधी' ति यमकं वा।

50 अथेति। तदनन्तरं तस्य नारायणस्य कर एवाम्बुजं कमलं तस्मिन् लसन् शोभमानः। स कृपाणः खड्गः तरसा वेगेन तं समरकन्दिनं विभिद्य विपाट्य यवनानां म्लेच्छानां या श्रीः राज्यलक्ष्मीः सैव कदली रम्भा तासां वनी वाटिकामिव। वरः श्रेष्ठो यः शैलो बुन्दीदुर्गसन्निहितः पर्वतः तस्य शिलां दृषदं व्यदारयत् विदीर्णवान् खण्डयामास। 'कराम्बुजे' ति परिणामालङ्कारः, न तु रूपकम्। 'शैल-शिला' इति च्छेकानुप्रासः। 'यवनश्रीकदलीवनीमिवे' त्यत्र रूपकोपमयोः सङ्करः।

51 यवनस्येति। स पूर्वोक्त पतिधर्मरतः स्वामिधर्मपरायणः खैराडभटो युधि युद्धे समुद्यतान् आक्रमितुं प्रवृत्तान् यवनस्य समरकन्दिनो भटान् सैनिकान् कालयन्। नाशयन् 'कल् क्षेपे' इति चुरादिधातुः, कालयतीति कालयन्। नृपाय राज्ञे नारायणाय सात्कृताऽर्पिता क्षितिः पृथ्वी राज्यमिति येन सः। दिवं स्वर्गं ययौ जगाम। युद्धे न्यपप्तदिति भावः।

52 यवनीयवनीमिति। अयमेष नारायणदासः। उच्चकैरतिशयेन। यवनस्येयं यवनीया म्लेच्छसम्बन्धिनी या वनी वाटिका तत्सेनेति' अध्यवसायरूपाऽतिशयोक्तिः। तां दहन् ज्वालयन्। निजस्यात्मनो राजपदे राज्यशासने निवेदित-

वान् आश्रयाय प्राप्तान् ज्ञातिभटान् बान्धववीरान् क्षणात् वशे कृतवान् वशयाञ्चकार । 'यवनीय-वनीं' इति यमकम् ।

53 कुतुरुष्केति । स नारायणो नृपः । वरां श्रेष्ठां बुन्दीं तन्नाम्नीं नगरीं पुरीं । महीं पृथिवीमिव । कुतुरुष्काः कुत्सिता दुष्टा ये तुरुष्कास्तुर्कजातीया यवना गभीरो गहनो यो वारिधिरिव समुद्र इव तस्मात् । समुद्धरन् बहिरानयन् प्रलये समुद्रमग्नां महीं तत उद्धरन् । धृतो कोलस्य शूकरस्य तनुर्देहो येन सः । शूकरावतारो वनमालीव विष्णुरिव । जनैः पौरैर्लोकैरवन्दि वन्दितः पूजितः । 'अवन्दि' इति कर्मणि सामान्यभूते लुङ् । बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपा पूर्णोपमा ।

54 अथेति । तदनन्तरं तीर्थेभ्यः प्रयागादिभ्यः हृतमानीतं यदम्बु पवित्रजलं तेन सम्भृतैः पूर्णैः । श्रुतीर्वेदान् विदन्तीति श्रुतिविदो वेदज्ञा द्विजा ब्राह्मणास्तेषां मन्त्रैस्तदधीतवेदमन्त्रैर्मन्त्रिताः संस्कृतास्तैः । प्रवरैः श्रेष्ठैः । काञ्चनस्य स्वर्णस्य ये भद्रा मङ्गलाः कुम्भकाः घटास्तैः । सुवर्णमङ्गलकलशैः । पुरलोकैः पौरैर्जनैः कर्तृभिः स नारायणदासोऽभ्यषेचि राज्यसिंहासनेऽभिषिक्तः । अभि-पूर्वक-सिच्धातोः कर्मणि सामान्यभूते लुङ् ।

55 अधिगत्येति । पित्र्यं पितुरिदं पैतृकमासनं राज्यसिंहासनमधिगत्य प्राप्य । चिरं बहुकालं नन्दिताः प्रसन्नीकृताः प्रजाः जनाः येन सः । स नरदेवो नराणां देवः स्वामी राजा । बलं सैन्यं च कोषो राज्यसम्पत्तिश्च तयोः सङ्ग्रहं सञ्चयं विदधत् कुर्वन् । सकलं समस्तं भूवलयं पृथ्वीमण्डलं वशेऽकरोत् स्वायत्तीचकार ।

56 जनतास्विति । उदयन् वृद्धिमाप्नुवन्, पक्षे प्रातःकाले पूर्वस्यां दिशि उद्गच्छन् । भासुरः कान्तिमान् स क्षितिसूरः क्षितेः पृथिव्याः सूरः सूर्यः अध्यवसायरूपाऽतिशयोक्तिः । नतासु नम्रासु अनुशासनपरासु जनतासु प्रजासु तमोऽन्धकारं, प्रस्तुतपक्षे म्लेच्छकुशासनजनितविषादं निवारयन् दूरीकुर्वन् । कलेः कलियुगस्य या तामसी तमिस्रा रजनी तस्या वशात् प्रभावात् विकलं व्याकुलं त्रस्तं धर्मं सुकृतं क्षणात् क्षणेनैवाल्पकालेन अपूपुषत् पोषयति स्म । 'जनतासुनतासु' इति यमकम् । यमकातिशयोक्तिरूपकाणां संसृष्टिः । रूपकस्यातिशयोक्तेश्च सङ्करः ।

57 वलयमिति । तेन राज्ञा भुवो वलयं पृथिव्या मण्डलं चिरं बहुकालं रमितम् । दिग्भिः सहिताः सदिशो दिक्पालास्तैरादेशितं दृष्टानामभीप्सितानां संहितं सञ्चयं दधतो धारयतोऽस्य नृपस्य । यद्वा, सदिग्भ्यादेशितं इष्टसंहितं रमितं भुवो वलयं चिरं दधतोऽस्य इत्यन्वयः । नारायण इति प्रथाऽभिधानं मृषा मिथ्या कथं भवेन्ननु न भवेदिति भावः । अहो इति हर्षे ।

58 स इति । निजेन स्वीयेनासिना खड्गेन महीं पृथ्वीं निजराज्यं रिपुभिः शत्रुभिर्हीनां रहितां रचयन् विदधत् महनीयः श्लाघनीयो विक्रमः पराक्रमः शौर्यं यस्य सः । स नृपः । अधिबुन्दि बुन्द्यामधि 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (२.४,८४) इति अव्ययीभावः । लसन् बुन्दीनगर्यां शोभमानः सन् । मण्डपाचलस्य भर्तुः माण्डुसुरत्राणस्य श्रुतेः कर्णयोर्गोचरं गतः आकर्णनविषयीभूतः । सुरत्राणेन श्रुत इति भावः ।

59 समरोपदमिति । छलतः कपटेन समरोपपदं कन्दकं समरकन्दिनं नाम स्वधर्मानुयायिनं बुन्दीनगराधिकारिणं तत्पितृव्यं हतं निपातितं निशम्य श्रुत्वा । तेन नारायणदासेनेति शेषः । स यवन एवाम्बुधिः समुद्रः । रुषा क्रोधेन जगतः संसारस्य जिघत्सया ग्रसितुमिच्छया, घसितुमत्तुमिच्छतीति जिघत्सति उच्चकैरतिशयेन प्रचिक्षोभ क्षुब्धो बभूव । रूपकम् ।

60 अथेति । तदनन्तरं स मण्डपराट् माण्डूदुर्गेश हव्यवाट् हव्य हुतद्रव्यं वहतीति वह्निः । माण्डूसुरत्राणो विषयोऽग्निना विषयिणाऽऽरोप्यते इति रूपकम् । परमत्यधिक यवनानां म्लेच्छानां याऽऽली पङ्क्तिः सैव पवनस्तेनैधितः समृद्धिः सन् । द्विषतो शत्रून् दिधक्षया दग्धुं ज्वालयितुमिच्छया । चमूः सेना सैव शिखा तासां छटाः ज्वालाः । अनुबुन्दि बुन्द्याः समीपं । 'अनुर्यत्समया' (२.१.१५) इति अव्ययीभावः । प्रजिघाय प्रहितवान् । परम्परितरूपकम् ।

61 स नृप इति । रणस्य युद्धस्य कर्मणि कार्ये कोविदः कुशलः स नृपो नारायणदासः । शरासनं धनुः परमतिशयेन प्रकटीकृत्याऽधिज्यं विधाय । घनवन्मेघ इव । शरवर्षैर्बाणवृष्टिभिः । यवनानामिदं यवनीयमिति छप्रत्ययः । यवनीयञ्च तद्बलं सैन्यं तदेवोद्धतः प्रचण्डोऽनलो वह्निस्तं व्यशीशमत् अतिशयेन शमयाञ्चकार । उपमालङ्कारः । यद्वा रूपकोपमयोः सङ्करः ।

62 घनकूर्चेति । घनानि निबिडानि यानि कूर्चाणि श्मश्रूणि तेषां मिषेण व्याजेन अमृतलुब्धं सुधाभिलाषुकं सिंहिकायाः सुतं राहुं बिभ्रतो दधतो बहन्तः । करवालेन करवालैर्वाऽसिभिः निकृत्तानां खण्डितानां यावनानां यवनसम्बन्धिनामाननानां मुण्डानामूर्ध्वाङ्गानां चन्द्राः शशिनः । आहवे युद्धे प्रणिपेतुर्निपतिताः । पूर्वार्धेऽपह्नुतिः । उत्तरार्धे च रूपकं तयोरङ्गाङ्गिभावरूपः सङ्करः ।

63 अधिसङ्गरमिति । क्षतात् व्रणात् जातं क्षतजं रक्तं तेन तत्पानेनोन्मत्ता मदान्धा ये पिशाचाः वेतालास्तेषां सञ्चयः समूहः । सङ्गरो युद्धमेव रङ्गः नृत्यं तस्मिन् यद्वा युद्धनृत्यभूमौ इति, अधिसङ्गररङ्गमित्यव्ययीभावः । उज्जगौ उच्चैः स्वरेण गायति स्म । यवनानां म्लेच्छानां अतिकृत्तानां अत्यधिकं खण्डितानां कबन्धानां रुण्डानां संहतिः सङ्घातः सन्तत निरन्तरं तत्र सङ्गररङ्गे प्रननर्त प्रकर्षेण नृत्यति स्म । एकदेशविवर्ति रूपकम् । नर्तकसमूह इव कबन्धसमूहस्तत्रानृत्यत् ।

64 युधीति । अथ तस्य नृपस्य दारुणैर्भीषणैः शरवर्षैर्बाणवृष्टिभिर्विधुरा व्याकुला । हतो नायकः सेनानीर्यस्या सा यावनी यवनानामियं पृतना सेना हरिणानां मृगाणामाली पङ्क्तिरिव भयात् व्यदुद्रवत् प्रपलाय्यते स्म । उपमा ।

65 अथेति । अथ रणादपसृता पलायिता सा यावनी पृतना म्लेच्छसेनाऽऽशु शीघ्रमेव गौरिनृपं गौरिकुलजं सुरत्राणं व्यजिज्ञपत् विज्ञापयति स्म न्यवेदयत् । स भटो वीरो बुन्दीनृपो युधि सङ्ग्रामे देवैः सुरदानवैर्दैत्यैश्च विजेयो जेतुं शक्यो न, नास्ति, मानुषैर्मनुष्यैः किमु कथं विजेय इति ।

66 अथेति । अथ कोप एव गभीरो वारिधिः समुद्रो रोषसिन्धुस्तत्र निमज्जन् ब्रुडन् । यवनश्चासौ क्षितीश्वरो राजा, यद्वा यवनानां क्षितीश्वरो यवनेशो माण्डूसुरत्राणः । चतुरङ्गञ्च तद्बलं हस्त्यश्वरथपदातियुक्तं सैन्यं सज्जयन् सन्नद्धीकुर्वन् । अरिं शत्रुं बुन्दोनृपं प्रति अभिचिक्रंसुरभिक्रमितुमाक्रमणं कर्तुमिच्छुरिति सन्नन्तादुः । अभूद्बभूव । रूपकालङ्कारः ।

67 यवनाधिपतेरिति । स पार्थिवो राजा नारायणदासः स्पशस्य स्पशानां वा वक्त्रात् चारमुखात् यवनाधिपतेः माण्डूसुरत्राणस्याऽभिक्रममाक्रमणं निशम्य

श्रुत्वा। धृतः खड्गोऽसिर्येन स खड्गधरः स्वयमेव निर्भयो भयरहितः सन्। मण्डपाचलं माण्डूदुर्गं जगाम ययौ किल।

68 रिपुसङ्घेति। रिपूणां शत्रूणां सङ्घः समूहस्तस्य विघातने नाशे उद्धतं प्रचण्डं करवालं खड्गं स्वके निजे करे भुजे कलयन् वहन्। भटो वीरश्चासौ नर्मदनामकस्तदभिधानोऽस्य भ्राता कनीयान् अग्रजं ज्येष्ठभ्रातरं नृपनारायणदासमन्वयात् अन्वगच्छत्।

69 अतीति। अथ स नृपो भ्रातृसहितो बुन्दीशः। अतितुङ्गतयाऽत्युच्चतया रोदसी द्यावापृथिवी परमधिकमाहत्याऽऽच्छादयोच्चकैरतिशयेन यद्वोध्वगामितया विभान्तं शोभमानं मण्डपं माण्डूदुर्गं द्रुतं शीघ्रमेवैत्याऽऽगत्य स्वस्य विद्विषो रिपोर्माण्डूसुरत्राणस्य द्वारभुवं प्रतीहारभूमिं प्रययौ जगाम। अतिशयोक्तिः।

70 वरवर्मेति। वराणि श्रेष्ठानि यानि वर्माणि कवचानि तैः समावृतानि आच्छन्नानि अङ्गानि येषां तान्। समासान्तः कप्रत्ययः। शराः बाणाः कोदण्डाः धनूंषि च तैः समुल्लसन्तो देदीप्यमानाः करा येषां तान्। परस्य शत्रोः तान् प्रसिद्धान् भटान् रक्षिणः सैनिकान्। स नृपः। यवनेशस्य प्रतिहारस्य प्रासादद्वारस्य सन्निधौ समीपे ददर्श विलोकयामास।

71 असिमात्रेति। अथ तदनन्तरं। असिरेव मात्रं केवलं सहायो यस्य सः। उच्चकैरतिशयेन गता भीर्यस्य स निर्भयः। स नृपः। सत्वरं शीघ्रमेव। जगत्त्रये प्रथितं प्रसिद्धं निजनाम स्वमभिधानं वेत्रभृतो वेत्रधारिणः प्रतिहारिणो न्यवीविदत् निवेदयाञ्चकार। निपूर्वक-विद्धातोर्णिजन्ताल्लुङ्।

72 प्रतिहारेति। वो युष्मान् भवतः द्विषन् द्वेष्टीति द्विषन् शत्रुर्नृपनारायणः प्रतिहारभुवं राजप्रासादद्वारसमीपं समागत आयातः। इति ते वेत्रभृतो रक्षिणो यावन क्षितिपं सुरत्राणं प्रणिपत्य सादरं नत्वा न्यवेदयन् निवेदयन्ति स्म।

73 दिनकृदिति। यदि दिनकृत् सूर्यः तस्य कुले वंशे सम्भव उत्पत्तिर्यस्य सः सूर्यवंशोत्पन्नः स भटो वीरो बुन्दीशः स्वयमेक एवास्तीति शेषः, तत् तर्हि प्रवेश्यतां अत्र सभायां प्रासादे वा युष्माभिः प्रवेष्टव्यः। इति स यवनेशो

मुदा हर्षेण युतः, सम्भ्रमात् भयेन वेगेन वा वेत्रधरान् प्रतिहारिणो जगाद कथितवान् ।

74 अथेति । अथ तदनन्तरं । स कनीयान् कनीयसा कनिष्ठेन भ्रात्रा नर्मदेन सहितः । भटानां वीराणामुत्तमः श्रेष्ठः स नारायणदासः । शितानि तीक्ष्णानि यानि शस्त्राणि तानि पाणौ येषां तैः, यवनानां सैनिकानामोघैः समूहैः सभाजितां सेवितां तस्य सुरत्राणस्य सभां परिषदं श्रिया स्वप्रभयाऽवधीरयँस्तिरस्कुर्वन्नचिराच्छीघ्रमेवाऽविशत् प्रविशति स्म । 'सभां सभाजिता' मिति यमकम् ।

75 तरुणारुणेति । तरुणं प्रत्यग्रमरुणं रक्तञ्च यत् पङ्कजं कमलं तद्वदीक्षणे लोचने यस्य स । वदनस्याननस्य श्रिया कान्त्या जितं चन्द्रस्य शशिनो मण्डलं बिम्बं येन सः । अति अतिशयेन जानुनी गच्छतीति जानुगस्तौ जानुगौ आजानू बाहू भुजौ ताभ्यां बन्धुरो रमणीयदर्शनः । घनं निविडं वक्ष उरःस्थलं यस्य सः । वरौ श्रेष्ठौ पीवरौ परिपुष्टौ मांसलौ अंसौ स्कन्धौ यस्य सः, समासान्तः कः । अग्रेणाऽन्वयः । एतादृशो बुन्दीशः । उपमाप्रतीपयोः संसृष्टिः ।

76 कटिबद्धेति । ज्यायाः धनुर्जीवायाः प्रत्यञ्चाया यत्किणचिह्नं तत् धरतीति धारी तेन प्रत्यञ्चाजनितकिणयुक्तेन बाहुना भुजेन कटौ श्रोणौ बद्धो यः कृपाणः खड्गस्तं सततं निरन्तरं आमृशन् स्पृशन् । तेन बाहुना अति अत्यधिकं रणन्त्यः शब्दं कुर्वन्त्यः सुष्ठु किंकिण्यः क्षुद्रघण्टिका यस्य तत् दृढं निबिडं कृष्टं यत्कठोर प्रचण्डं कार्मुकं धनुः विधुनान आकम्पयन् । इत्यग्रेणान्वयः । एतादृशो नृपो नारायणदासश्चिराद्बभौतराम् ।

77 जगतीमिति । महीयसा महता प्रबलेनाऽभिमानेन गर्वेण हठात् प्रसभं जगतीं पृथिवीं मुहुर्वारम्वारं भत्संयँस्तिरस्कुर्वन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अयं बुन्दीशो नवग्रहेषु सवितेव रविरिव यवनानां म्लेच्छानां ओघेषु समूहेषु चिराद्बहुकाल बभौतरामतिशयेन शोभते स्म । उत्प्रेक्षोपमयोः संसृष्टिः ।

78 अथेति । अथैतदनन्तरम् । जगत्याः पृथिव्याः मण्डलस्य गोलकस्य मण्डितं मण्डनं, भावे क्तः, महीमण्डलालङ्कारभूत तं भटं वीरं नृपं विलोक्य दृष्ट्वा । भयेन साध्वसेन विस्मयेनाश्चर्येण च मुग्धं विमूढं मानसं चित्तं यस्य सः ।

मण्डपराट् माण्डूसुरत्राणः क्षणात् क्षणेनैव चित्रार्पित इवाऽऽलेख्याङ्कित इव निश्चलः समभूत् जातः । उत्प्रेक्षा ।

79 यवनाधिपतिरिति । गभीरा गहना धीर्बुद्धिर्यस्य सः । द्रुतं शीघ्रमेवाकारस्य मुखे भावप्रकाशनस्य सुष्ठु गुप्तौ गोपने कोविदः कुशलः । यवनाधिपति र्यवनेशः । रिपुं शत्रुं हृदयेऽन्तःकरणेबहुमानयन्नतिशयेन प्रशंसयन् तं नृपं चतुरं चातुर्यपूर्णं वाक्यं वचनमुवाच जगाद ।

80 तवेति । हे वीर, तव वरेण श्रेष्ठेन कर्मणा शौर्येणेति भावः । अहं द्रुतं शीघ्रं प्रमदं हर्षं वहन् दधत् अस्मि । एतादृशेन तव पराक्रमेणाऽतिप्रसन्नोऽस्मी-त्यर्थः । यदि मया सह सख्यं मैत्री संश्रयिष्यते स्थापयिष्यते, त्वयेति शेषः । यदि त्वं मैत्रीं सम्पादयिष्यसि । तर्हि ते ऽभयं वितरामि ददामि । तर्हि मत्तो न काऽपि ते भयावकाशोऽस्ति ।

81 चतुरमिति । स भारमलजो भारमलसुतो बुन्दीशो नारायणदासः । यवनेशस्य माण्डूसुरत्राणस्य तत् चतुरं कुशलं वचनं कथनं निशम्य श्रुत्वा । सुचिरं चिराद् हृदि मनसि चारु शोभनं चिन्तयन् विचारयन् मण्डपनाथं माण्डूदुर्ग-स्वामिनं यवनपतिं ओमिति अगदत् कथयाञ्चकार । मया ते मैत्री स्वीकृतेति विधिसूचकमुत्तरं ददौ ।

82 समय इति । अथ शुभे मङ्गले समये काले यवनेशो यवनपतिः सः । शुभाऽऽ-कृतिमूर्तिर्यस्य तं, अर्कस्य सूर्यस्य वंशे जायत इति तं भटं वीरं नृपं । गजानां हस्तिनां वाजिनामश्वानाञ्च राजिभिः पङ्क्तिभिः परिपूज्य सम्मान्य निज-मात्मीयं वरमित्रं वरं श्रेष्ठं मित्रं सखायं चकार विहितवान् । अनुप्रासः ।

83 अथेति । अथैतदनन्तरम् । तस्य माण्डूपतेः सख्युर्भाव सखिता मैत्री तस्याः पदं प्रतिष्ठां उच्चकैरधिकं वहन् धारयन् । स नृपो नारायणदासः । सहजं स्वाभाविकं स्वरिपुं स्वशत्रुं षट्पुरस्य तन्नाम्नो नगरस्य "खटकडंति" देशीनाम्ना प्रसिद्धस्य पुरस्य क्षितिपं राजानं अक्षयराजं हि निश्चयेनाऽत्रजत् जेतुं जगाम ।

84 समर इति । स धर्मवित् राजधर्मवेत्ता नृपो नारायणः । समरे युद्धे, तु इति अवधारणे ओजसा वीर्येण गरिष्ठं गौरवातिशायिनं प्रबलतरं किन्तु वयसाऽ-

वस्थया स्वस्यात्मनः कनिष्ठं कनियांसं । उत्तमं प्रकृष्टं, कनिष्टमपि उत्तममिति विरोधः, परिहारे उत्तमं युद्धकौशलेऽतिशायिनं । भटनर्बदं वीरं नर्बदं तन्नामानमनुजं । कविनाऽत्र 'नर्मदनर्बद' इति तदभिधानस्योभयथा प्रयोगः कृतः, 'नर्बद' इति नर्मद (नर्म ददातीति)-शब्दस्य तद्भवमपभ्रष्टरूपम् । प्रणयेन "प्रेम्णैव न त्वादेशेन बच आह वचन जगाद । गरिष्ठ, कनिष्ठ शब्दयोः इष्टन् । अतिशयेन युवा इति युवशब्दस्य कनादेशः इष्टन् प्रत्ययश्च । अतिशयेन गुरुरिति गरिष्ठः, गुरुशब्दस्य" प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धति (६.४.१५७) गरादेशः इष्टन् प्रत्ययश्च ।

85 अयीति । अयि वत्स, भवाँस्तु सत्वरं शीघ्रं अक्षयराजाय षट्पुराधीशाय सुषट्पुरं तन्नगरं व्रजन् गच्छन् । स्पशीभवन् अस्पशः स्पशो भवतीति स्पशीभवन् मम चरो भवन्, अभूततद्भावे च्विः । मम गम्भीरतरं अतिगहनं वचो वचनं द्रुतं परिबोधयतु कथयतु ज्ञापयतु इति भावः ।

86 धरणीमिति । यदि त्वं धरणीं पृथिवीं भोक्तुं पालयितुमिच्छसि वाञ्छसि, तत् तर्हि आदद्याऽधुनैव षट्पुरं त्वरितं शीघ्रमेव वितर समर्पय, मह्यमिति शेषः । अथ यदि च दिवः स्वर्गस्य पदं स्थानं प्रतिष्ठां कामयसे इच्छसि, लक्षणया मृत्युमभिलषसि, तत् तदा इदानीमधुना रणसम्मुखो भव युद्धाय सज्जो भव ।

87 इतीति । इति पूर्वोक्तं । अग्रजस्य ज्येष्ठस्य भ्रातुर्लब्धं प्राप्तं शासनं निदेशो येन सः । स नर्मदः । आशु शीघ्रमेव । पवनस्य वायोरेक एकमात्रं जित्वरो जेता तम्, 'इण्नश्जि सर्तिभ्यः (३.२,१६३) इति क्वरप् । जवनं वेगयुक्तं "जुचङ्क्रम्येति" (३-२.१५०)युच् प्रत्ययः, 'युवोरनाकौ' इति योरनः । हयमश्वं आरुह्य परान् शत्रून् विमोहयन् वशीकुर्वन् वा मूढीकुर्वन् षट्पुरं प्रययौ जगाम ।

88 परिखेति । स भूमेः पृथिव्याः पुरन्दरः इन्द्रः बुन्दीशस्तस्यानुजः कनिष्ठो भ्राता नर्मदः । प्रवरं ज्येष्ठं षट्पुरं नाम पुरं नगरं प्रददर्श बिलोकितवान् । कथम्भूतं पुरम् । परिखायाः खेयस्य बलयेन मण्डलेन, परितः खन्यसेति परिखा, खन् धातोः 'अन्येष्वपीति (३.२.१०१) सूत्रेण डः स्त्रियां टाप् च । वैरिणां शत्रूणां सुदृश्यतामतिशयदर्पं गर्वातिशयं । प्रसरं प्रकृष्टः सरो

विस्तारो यथा स्यात्, तथेति क्रियाविशेषणम् । अवरुन्धत्, निराकुर्वत्, पुरं । यद्वा प्रसरमिति पुरो विशेषणं, प्रकृष्टविस्तारयुक्तं षट्पुरं नगरम्। अनुप्रासः ।

89 अथेति । अथ स नर्बदोऽक्षयराजस्य षट्पुराधीशस्य मन्दिरं राजगृहं प्रविशन् गभीरया गिरा गम्भीरेण स्वरेणाऽऽह कथयामास । तमिति शेषः । किमाह— 'यदि धरणीं पृथिवीं भोक्तुं पालयितुं समीहसे, स्वराज्यभोगमिच्छसि, तदाऽद्य सम्प्रति त्वरितमविलम्बेनैव षट्पुरं वितर मह्यं षट्पुरशासनं समर्पय ।

90 अथेति । अथ तस्य नर्बदस्य वचनं वाक्यमेवानिलो वायुस्तेनैधितं समिद्धं ज्वालितमिति यावत् । रोषः क्रोध एव कृशानुरग्निस्तम् । उच्चकैरतिशयेन निवहन् दधत्, सोऽक्षयराजः षट्पुराधीश । चतुरङ्गं हस्त्यश्वरथपदातियुक्तं च तत् बलं सैन्यं सज्जयन्, सज्जीकुर्वन्, समराय योद्धुमेव हठात् प्रसभं हठेन मनो दधे निश्चितवान् । परम्परितरूपकम् ।

91 अभिधावदिति । सोऽक्षयराजः । अभिधावन्तः परितो द्रुतगत्योपसर्पन्तो य इभाः गजाः अर्वन्तो वाजिनः सैनिका पदातयश्च तैः स्वपादाघातैरुद्धतो यो धूल्या रजसो भरः सङ्घातः स एव धूमो वाष्पं तस्य दर्शनात्, तस्य हेतुभूतस्य प्रत्यक्षज्ञानगोचरत्वात् । रविवंशजः सूर्यवंशोत्पन्नः नारायणदासस्तस्य सैन्यं बलमेव पावकोऽग्निः तमप्रत्यक्षज्ञानगोचरमपि । पुरतः सम्मुखे समागत षट् पुरमभिक्रमितुं प्राप्तं अनुममे अनुमाति स्म, अनुमानप्रमाणविषयनिष्ठञ्चकार ।

पर्वतादौ वह्निमप्रत्यक्षीकुर्वन्नपि जनस्तत्र तद्धेतोः कार्यरूपस्य धूमस्य प्रत्यक्षज्ञानेन हेतुमन्तं कारणरूपं वह्निमनुमाति, धूमव्यापकवह्निसत्तां धूमवह्न्योः परस्परव्याप्तिसम्बन्धादनुमानेन ज्ञप्तिनिष्ठां करोति । 'पर्वतोऽयं वह्निमान् । धूमात् । यत्र तत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः, यथा महानसे । तथा चासौ पर्वतः । तस्मात्तथाऽयं पर्वतः" इति पञ्चावयववाक्यरूपिणा स्वार्थानुमानेन वह्निमनुमाति । प्रकरणेऽस्मिन्ननुमानवाक्यप्रणालीयं वर्तते—

"अयं रविवंशजसैन्यपावकः पुरतो लक्ष्यते । अभिधावदिभादिधूलीभरधूमात् । यत्र यत्र एतादृशः धूमस्तत्र तत्र तादृशः पावकः ।" इत्यनुमाना-

लङ्कारः सोऽयं कविप्रतिभोत्थापित आहार्यत्वात् । रूपकञ्च तदङ्गमिति तयोः सङ्करः ।

92 मुखरमिति । तत्र सङ्ग्रामभूमौ मुखरं शब्दायमानं श्रुतीनां जनानां कर्णानां लङ्घने आक्रमणे उद्यतं प्रवृत्तं धनुश्चापं आस्फाल्य साटोपमधिज्यं कृत्वा शरान् बाणान् प्रवर्षतोः प्रक्षिपतोस्तयोः, रविवंशजः सूर्यकुलोत्पन्नो बुन्दीशः षट्पुरेशोऽक्षयराजश्च तयोः । यमस्य प्रियः रणे युद्धं ववृते वर्तते स्म बभूव ।

93 दहति । दृढं प्रगाढं कृष्टं यद् धनुश्चापरतस्य समुल्लसन् राजन् पटुश्चासौ टङ्काररवो ज्याशब्दस्तैर्हेतुभिर्जनः षट्पुरवासी नागरिकः सत्वरं शीघ्रं इति अवेत् वेति स्म । किमिति ?।यत् विकर्तनः, विशेषेण कर्तनं यस्य तस्य रवेः, विश्वकर्मयन्त्रे कर्तनाद्रवेरेषा संज्ञेति पुराणकथा । तस्य अन्वयस्य कुलस्य वीरः सूर्यवंशोद्भवो भटो नारायणदासः । रिपोरक्षयराजस्य वंशस्य कुलस्य वेणोश्च वनीमटवीं दहति ज्वालयति । 'सत्वर' मिति पदं सत्वरं दहति इत्यत्र वा व्याख्येयम् : 'रिपुवंशवनीं' इति रूपकम् । अनुमानालङ्कारश्च । श्रुतिगोचरैः प्रत्यक्षैष्टङ्काररवैर्हेतुभिरप्रत्यक्षस्यापि रिपुवंशवनीदहनकर्मणः कविप्रतिभोत्थापितकल्पनयाऽनुमितिनिष्ठज्ञानगोचरत्वात् ।

94-95 दृढेति । विष्णो रथो विष्णुवाहनं गरुडः स एव उपमा यस्य स, गरुडतुल्यः । स भटो नारायणदासः वरः श्रेष्ठश्चासौ षट्पुरस्येशिता स्वामी तस्याऽक्षयराजस्य प्रबलं प्रकृष्टबलशालिन बलं सैन्यमेव भोगी, भोगोऽस्यास्तीति भोगी सर्पस्तं सैन्यसर्पम् । क्षणात् क्षणेनैवावधीत् जघान । कथम्भूतं बलभोगिन । दृढं यत् चर्म एव विराजी शोभमानः सन् फणः, यद्वा विराजिनः सन्तो फणाः मस्तकानि यस्य तम् । वरेण वरैः श्रेष्ठैर्वा वर्मणा वर्मभिर्वा तैरेव कञ्चुकेन कञ्चुकैर्वा चारु सुन्दरं कञ्चुकं सर्पत्वक् यस्य तम् । करवालस्य खड्गस्य लताऽसिवल्ली शरा बाणाश्च त एवोल्लसन्ती दीप्यमाने द्वे रसज्ञे जिह्वे यस्य तम्, सर्पस्य द्विजिह्वत्वात् । परेषां शत्रूणां मर्मसु मर्मणां वा दशकं दंशनकर्तारम् । पुनः कथम्भूतं । शितानि तीक्ष्णानि शस्त्राणि आयुधानि तेषां विषमेव विष हालाहलं तदेवानलोऽग्निस्तस्यार्चिषः ज्वालाः प्रवमन्तं अतिशयेनोद्वमन्तं एतादृशं तं बलभोगिनमवधीत् । 'प्रबलं बलभोगिन' मिति

यमकम् । परम्परितरूपकोपमयोः सङ्कर । 'यद्वा बलं भोगिनमिव' इति विग्रहे कृते सति, पूर्णोपमैव ।

96 दिनकृदिति । सा शत्रुयोद्धृभिः प्रत्यक्षीकृतेति भावः । दिनं करोतीति दिनकृत् सूर्यस्तस्य कुले वंशे सम्भव उत्पत्तिर्यस्य सः । उल्लसन् देदीप्यमानश्चासौ भटो वीरो बुन्दीनृपस्तस्य दोष्णो दण्डः तस्य तस्मिन् वा कृपाणिकाऽसिपुत्रिका युधि रणे प्रदिदीपे दीप्यते स्म । कथम्भूता कृपाणिका , अहितानां शत्रूणां ग्रसने निगलने भक्षणे वाऽतिकोविदाऽतिदक्षा कालिकेव । उपमालङ्कार ।

97 क्षतेति । क्षतानि व्रणितानि यानि भटानां योधानां अङ्गकानि वपूंषि तेभ्यः क्षरत् च्यवद् यत् क्षतजं रक्तं तस्योदयन्तो बहला गभीरा याऽऽपगानदी तस्या अम्बुभिर्जलैः रक्तरूपिजलैः । स नृपः सुभगीरथवत् निजमात्मीयं यशोजलधिं कीर्तिसमुद्रं तुन्दिलयाञ्चकार वर्धयामास रूपकम् ।

98 अथेति । अथ सोऽक्षयराजः षट्पुरपतिः सुमहान्तो ये बाहुजाः क्षत्रियाः, क्षत्रियाणां विराजो बाह्वोर्जातत्वात् बाहुजसंज्ञा 'बाहू राजन्यः कृतः' इति श्रुतेः । तेषां वंशजः कुलोत्पन्नः सन्नपि । चकितो भीतः सन्नपससार रणात् पलायितः । अनेन कर्मणा रणाङ्गणे युद्धभूमौ तस्य त्वयशोऽपकीर्तिः स्थिरं निश्चलमासीत् । स रणाद् भग्नस्तस्याकीर्तिरेव तत्र स्थितेति भावः ।

99 कृपणमिति । धर्मवित् युद्धनीतिकुशलो धर्मज्ञो नृपः राजा नारायणः । क्षणादचिरमेव हरिणप्लुतं हरिणस्य मृगस्य प्लुतं धावनं तैर्मृगोत्प्लवनैरिव रणतो युद्धात् पञ्चम्यास्तसिल्, विद्रुतं पलायितं कृपणं कातरमात्मवैरिणं स्वशत्रुं तमक्षयराजं नानुययौ गृहीतुं नानुजगाम । वीरा रणोज्झितान् युद्धात् परित्यक्तान् पलायितान् न धावन्ति नानुद्रवन्ति । अर्थान्तरन्यासः ।

100 तरसेति । स नृपो बुन्दीशः शात्रवान् शत्रोरयं शात्रवस्तान् रिपुसैनिकान् तरसा वेगेन विजित्य जित्वा । स्वेन यशसा कीर्त्या भूतलं महीमण्डलं विभूष्य अलङ्कृत्य । मगधैश्चारणैः परिगीतो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । स्वां नगरीं राजधानीं पुनः प्रययौ प्रत्यगच्छत् ।

101 द्रुतमिति । पुरीं नगरीं विविक्षतः प्रवेष्टुमिच्छतोऽस्य नृपते राज्ञो द्रुतं शीघ्रमाहतानां ताडितानां दुन्दुभीनामानकानां ध्वनिः शब्दः। उपबुन्दि बुन्दयाः समीपे

स्थितस्याचलस्य पर्वतस्यानुशब्दितौ प्रतिध्वनिभिः पुनरुक्तीकृत आम्रेडितः सन् दिवमाकाशमानशे व्याप्नोतिस्म । "अशूव्याप्तौ" "अत आदेः" इत्यभ्यासदीर्घः । 'अश्नोतेश्च' इति नुमागमश्च ।

102 नगरीमिति । नगरीं बुन्दीपुरीं विशतोऽस्य नृपनारायण नाम्नो राज्ञः समर्हणां सत्कारं कर्म । नागरीनिवहः, नगरस्येयं नागरी पौरस्त्री तासां निवहः समूहः । स्वानि निजानि यानीक्षणानि नेत्राणि तान्येव चारूणि रमणीयानि नीरजानि कमलानि तैर्हेतुभिः । असकृन् मुहुर्मुहुर्विदधे चकार । तं पौरस्त्रियो स्वेक्षणपद्ममालाभिः सकृत्यवत्यः । रूपकम् ।

103 भवनमिति । भवस्य शिवस्य नन्दनः कार्तिकेयः तेन उपमा यस्य सः । स नृपः । हरस्य शिवस्य यः शैलः कैलासस्तेन उपमा यस्य तत् सौधं प्रसादं तेन सुन्दरं रमणीयम् । मणीनां रत्नानां कुड्यानि भित्तयस्तैर्भासुरे देदीप्यमानं वरं श्रेष्ठं यच्चामीकरं सुवर्णं तस्य कान्त्या दीप्त्या बन्धुरं सुन्दरं । एतादृश भवनं मन्दिरं राजगृहमविशत् प्रविवेश । उपमाद्वयोः सङ्करः । 'भवनं भवनन्दनोपमः' इति यमकम् ।

104 अथेति । अथैतदनन्तरम् । स नारायणदासः । गरीयसीं महतीं तां बुन्दीमधितिष्ठन् 'अधिशीङ्स्थासां कर्म इति द्वितीया । निजश्रिया स्वराज्यलक्ष्म्या स्वशोभया वाऽतितरां शुशुभे रेजे । कीदृश । सुष्ठु साधु गरिष्ठो गौरवशाली विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । क इव । अमरावतीमिन्द्रपुरीं अधितिष्ठन् मरुत्वानिव सुरपतिरिन्द्र इव । उपमानुप्रासौ ।

105 वसुधामिति । वसुधामधृग् वसेरग्नेयद्वा अष्टवसुसमूहस्य धाम तेजो धरतीति स नृपः । जगतां संसाराणां तत्तल्लोकानां निवासिनामिति भावः । मनोहरैश्चेतोहरणशीलै स्वैश्चरितैर्व्यवहारैर्हेतुभिः । वसुधां पृथ्वीं दिवमाकाशमिन्दुश्चन्द्र इवाऽलङ्करोति स्म । कीदृशः । भूतले पृथ्वीतले जाता सती शोभना प्रथा प्रशंसा यस्य सः । उपमा । वसुधांवसुधामेति यमकम् ।

106 रणजेति । रणे जातानां युद्धे समुत्पन्नानां व्रजानां क्षतानां या दारुणा दुःसहा व्यथा पीडा तया विधुराणि व्याकुलानि अङ्गानि यस्य सः । धरणीधुरां

पृथिव्या भारं वहन् धारयन् । स एष नृपो नारायणदासः । भीष्मवच्छन्तनु-सुत-देवव्रत इव शरप्रायनिवेशने बाणमात्रशय्यायां अशयिष्ट शेते स्म किल । उपमालङ्कारः ।

107 द्रुतमिति । बत इति खेदे । अर्कस्य सूर्यस्य वंशजः सूर्यकुलोत्पन्नः स नारायणदासो द्रुतं शीघ्रमुच्चितया संगृहीतया निजभासा स्वकान्त्या परेषां शत्रूणां वक्त्रं मुखानि (जातावेकवचनं) वारिजं कमलमिव कर्म मलीमसं मलिनं विदधत् कुर्वन् भास्वानिव रविरिव अस्तमाययौ अस्तंगतः ॥ उपमा ।

108 क्षितितलभरमिति । निजौजसा स्वप्रतापेन क्षितितलस्य पृथ्वीमण्डलस्य भरं भारं यवनात्याचाररूपं वारं वारं मुहुर्मुहुर्निवार्य अपाकृत्य । यवनैर्म्लेच्छैर्वशितं स्वायत्तीकृत प्राज्यं समृद्धं राज्यं बुन्दीराज्यं निजे करे स्वे हस्ते विधाय कृत्वा, जित्वेत्यर्थः । अहितानां रिपूणां या हरिणीनेत्रा स्त्रियः तासां नेत्रावलीनां लोचनपङ्क्तीनां वरः कुशलस्तस्कर पश्यतोहरश्चौरः, रिपुनारीनयनाकर्षणसमर्थः स नारायणो द्रुत शीघ्रं उदारां समृद्धां उच्चकैर्गति मोक्षरूपामलभत प्राप्तवान् ॥ रूपकमनुप्रासश्च । "हरिणीच्छन्दः" । मुद्रालङ्कारोऽपि ।

"इति श्रीशत्रुशल्यचरितवियोतिन्यां षष्ठः सर्गः ॥"

॥ सप्तमः सर्गः ॥

1 अथेति । अथ तदनन्तरं । सूर्यमल्ल इति तन्नामा तस्य नारायणस्य । जनानां प्रजानां तोषं प्रसन्नतां करोतीति कृत् प्रजानन्ददायी । सुतः पुत्रो नृपतिर्भूपति समभवत् बभूव । कथम्भूतः सः । करतेजसा करयोर्हस्तयोस्तेजसा प्रतापेन बाहुप्रतापेन, पक्षे कराणां रविकिरणानां तेजसा ज्योतिषा । परे शत्रव एव तमांसि तेषां निवहं समूहं, पक्षे परमुत्कृष्टमतिशयं यत्तमोऽन्धकारस्तस्य निवहं समूहं शमयन् नाशयन् । पुनश्च हरितो दिशः विमलयन् निर्मलीकुर्वन् । श्लिष्टशब्दप्रयोगनिष्ठ उपमाध्वनिः । प्रमिताक्षरा वृत्तम् - "प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता"- इति लक्षणात् ।

2 परिपन्थीति । परिपन्थिनश्शत्रवस्त एव सिन्धुरा गजास्तेषां समूहस्य वृन्दस्य हरिः सिंहः, जगति संसारे एकवीरो वीरश्रेष्ठः, उरु महत्, यद्वा उर्वोः महतो- र्बाह्वोर्बलमोजो यस्य सः । स सूर्यमल्लो नारायणदासपुत्र । प्रथमे वयसि कैशोर्य एवाधिगतं प्राप्तं पितुः पदं जनकस्य सिंहासनं राज्यं वा नयैर्नीत्या- चरणैः शास्त्रविधिना पालनैः साधु सुष्ठु आत्मसात् स्वायत्तं अकृत चकार । रूपकालङ्कारः । प्रमिताक्षरा वृत्तम् ।

17 नृपेति । नृपस्य राज्ञः सूर्यमल्लस्य शरैर्बाणैः कृत्ताः खण्डिता ये रिपवः शत्र- वस्तेषां प्रकरैः समूहैः । स समीरणसुतः पवनपुत्रः व्रणितः क्षतयुक्तः कृत । कै शत्रुसमूहैः । हृदयं स्वहृन्मर्माणि विभिदय द्युगतैः दिवं प्राप्तैः मृतैरित्यर्थः । कीदृशः समीरणसुतः । तरणेः सूर्यस्य शरणमाश्रयभूतः । पुनः, रावणस्य सुतो मेघनादः तस्यारिः इन्द्रः यद्वा लक्ष्मणस्तस्य सखा मित्रम् ।

18 इतीति । इति इत्थं स सूर्यमल्लनृपतिस्तरसा वेगेन युधि रणे । वरं षट्पुरं 'खटकडॆति प्रसिद्धं नगरं तत् पातीति वरषट्पुरपस्तं षट्पुरराजानं निहत्य निपात्य । दयया कृपया युतः वरं श्रेष्ठमस्य षट्पुरनृपस्य तनुजं सुतं षट्पुर- सुदेशपतिं षट्पुरस्वामिनं चकार कृतवान् ।

---

1 इतः परं तृतीयपद्यादारभ्य षोडशपद्यानि यावत् चतुर्दश पद्यानि न लब्धानि ।

19 शरदिति । शरदो वर्षान्तस्य य इन्दुश्चन्द्रस्तद्वत् सुन्दरं याद्यशः कीर्तिस्तदिव वितत विस्तृतमातपत्रं छत्रं दधत् मूर्ध्नि वहन् । स सूर्यनृपः सूर्यमल्लः । मगधैर्वन्दिभिर्गीताः स्तुता गुणा यस्य सः । प्रमदेन हर्षेण उल्लसन्तो जनपदाः यस्यास्तां स्वपुरीं बुन्दीं द्रुतं शीघ्रं प्रययौ जगाम । उपमा ।

20 विषय इति । स सूर्यमल्लः विषये स्वराज्ये चिरात् बहुकालं अहिभयं अहीनां दुष्टजनानां भयमातङ्कं, गरुडपक्षेऽहीनां सर्पाणां भयं प्रहरन् निवारयन् नाशयन् वा, रसातलस्य पातालस्य पतिं स्वामिनं बलिं विरोचनपुत्रं दैत्यराजं प्रहसन् तिरस्कुर्वन् । उभयपक्षे समानोऽर्थः । गरुडपक्षे तु, स बलिं तिरस्कृत्य पातालात् सर्पेभ्योऽमृतमानीतवानिति पुराणकथाऽनुसन्धेया । विनतायाः कश्यपपत्न्याः पक्षिजनन्याः सुतो गरुडो वैनतेयस्तत्प्रतिमं तत्तुल्यं बाह्वोर्भुजयोर्बलं यस्य सः । विनता अनुशासनपरा जनताः प्रजाः विधिवत् नृपमर्यादानुकूलं शशास शास्ति स्म पालयामास । श्लेषानुप्राणितोपमा । 'विनता-विनता' इति यमकम् । तयोः संसृष्टिः । यद्वा शब्दार्थालङ्कारद्वयस्यैकवाचकानुप्रवेशसङ्करः ।

21 नृपतिरिति । स नृपतिः सूर्यमल्लो धनदः कुबेरः उत्तरां दिशमिव स्वपुरीं बुन्दीं समशात् पालयति स्म । कथम्भूतो नृपतिर्धनदश्च । पुण्यजनराष्ट्रधरः, पुण्याः पुण्यशालिनो जना लोका यस्मिन् तत् राष्ट्रं राज्यं धरतीति धरः, पक्षे पुण्यजनानां यक्षाणां राष्ट्रं धरतीति धरः यक्षराट् । पुनः वरा श्रेष्ठा या राज्ञां राजा राजराजः तस्य पदवी प्रतिष्ठा तया सहितो युक्तः, पक्षे राजराजेतिपदवीं पर्यायस्तेन सहितः, कुबेरस्य राजराजेति पर्यायः । पुनः, प्रमोदितः शिवः शङ्करो येन सः, राज्ञः शिवभक्तत्वात्, कुबेरस्य च शिवसखत्वात् । श्लेषानुप्राणितोपमा ।

22 वररत्नसिंहेति । अथ बाहुजकुलैकभटो बाहुजाः क्षत्रियास्तेषां कुलेषु वंशेषु एकभटो वीरश्रेष्ठः स नृपः सूर्यमल्लः । वरः श्रेष्ठो यो रत्नसिंहनामा धरण्याः पृथिव्याः रमणानां पतीनां राज्ञां (यद्वा राजसु) द्युमणिः सूर्यस्तद्रूपी तस्य मेवाडाधिपतेः । सारतनुं सुन्दरवपुषं स्वसारं भगिनीं उदुवाह उद्वहति स्म परिणयत् । कथम्भूतस्य रत्नसिंहस्य. तृणीकृतस्तुच्छीकृतः सुराधिपतिरिन्द्रो येन तस्य । प्रतीपालङ्कारः रूपकञ्च ।

23 विहरन्निति। अथ तया पत्न्या सह समतया समभावेन रुचिरेषु रमणीयेषु केलिविपिनेषु विलासोपवनेषु रह एकान्ते विहरन् रममाणः स नृपो रत्नसिंहेन नृपेण मेवाडभूपेन निगृहीतं बन्दीकृतं षट्पुरेशतनयं पूर्वोक्तं षट्पुरनृपसुतं अर शीघ्रं श्रुतवान् आकर्णयामास। किलेति वाक्यालङ्कारे।

24 अथेति। अथ रत्नसिंहस्य भगिन्या स्वसूरमणो भर्ता रत्नसिंहस्य भामः स नृपः सूर्यमल्लः स्वयं मुमोचयिषुर्मोक्तुमिच्छुः, तं षट्पुरपतिसुतमिति प्रकरणवशादवगन्तव्यम्। वराणां श्रेष्ठानां युद्धकुशलानां सादिनामश्वसैनिकानां दशशत्या सहस्रेण संहितो युक्तः। रणस्य रङ्गो युद्धोत्सवः तेन तुन्दिलं वर्धितं वक्त्रं यस्य सः। प्रययौ तं मोचयितुं जगाम।

25 अथेति। अथ स सूर्यनृपः सूर्यमल्लो राजा, सूर्येति नामैकदेशग्रहणम्, यथा भीमसेनस्य भीम इति। भरतवर्षस्य भारतदेशस्य नृपैर्भूपैर्बहुमानितमतिशयेन सम्मानितं नृपतिं चित्रकूटाधीशं रत्नसिंहं शरदि शारदीयनवरात्रेऽपराजितां देवीं दुर्गां पूजयितुमर्चयितुं अवयासुं गन्तुमिच्छुं ऐक्षत दृष्टवान्।

26 सुरराजेति। स बुन्दीश सुरराजस्येन्द्रस्य सिन्धुरो गज ऐरावतस्तेन समं सदृशं करिणं हस्तिनं अधिरुह्य जवतो वेगात् तरसा शीघ्रं व्रजतो गच्छतो नृपरत्नकस्य पृष्ठगतं षट्पुरपतिं ददर्श अवलोकयामास। उपमा।

27 यदपीति। यदपि यद्यपि सूर्यभटो वीरः सूर्यमल्लः सूर्यश्चासौ भटश्चेति विग्रहः। प्रभूतैर्बहुभिर्रणभीमैर्युद्धभीषणैर्भटैर्योद्धृभिः सैनिकैः सहित आसीदिति। शेषः। तथापि स एक एव स्वयं हरिवत् सिंह इव निपतन्नुत्प्लवन् नृपरत्नस्य रत्नसिंहराणकस्य गजं हस्तिनं द्रुतं झगिति आरुरोहारोहति स्म। उपमा।

28 नृपराणक इति। नृपश्चासौ राणकः चित्रकूटाधिपती राणा-भूपः स्वस्य तस्यात्मनो निदेशवाक्यमादेशं हठात् प्रसभं अवमत्यानादृत्य स्वगजस्य निजहस्तिनः पृष्ठगतं पृष्ठे आरूढं तं सूर्यमल्लं स्वभाममवलोक्य दृष्ट्वा रुषा क्रोधेन चिरात् बहुकालं हृदि चेतसि पुटपाकवत् पुटान्तर्गतौषधिद्रव्यस्य पाक इव तताप तपति स्म, सन्तप्तोऽभूत्। उपमा।

29 अपराजितेति । उदारबलः उत्कृष्टवीर्यः स बुन्दीशः अपराजिता देवीचरणपूजनतः निवर्तमानतः नृपरत्नसिंहस्य गजात् षट्पुरपतिं द्रुतं स्वहस्तेन प्रति आनीतवान् ।

30 अथेति । अथ भटो वीरः स सूर्यमल्लः रोषेण क्रोधेन शोणमारक्तं नयनयोर्नेत्रयोर्द्वितयं युगलं यस्य तम् । भ्रुकुटयोः भ्रुवोर्द्वयेन युक्तेनोत्कटं भीषणं ललाटस्य निटिलस्य तटं यस्य तम् । नृपरत्नसिंहं अवलोक्य विलोक्य । पटु चतुरां प्रमिताक्षरां प्रमितानि संक्षिप्तानि अक्षराणि यस्यां यस्याः वा तां गिरं वाणीं उवाच जगाद । प्रमिताक्षरेति छन्दसो नामनिर्देशान्मुद्रालङ्कारः । तल्लक्षणं पूर्वोक्तमेव ।

31 क्षोणीति । क्षोण्याः पृथिव्या ये नायकाः स्वामिनो राजानस्तैर्वन्दितं सेवितमङ्घ्रियुगलं चरणयुगं यस्य सः । राणवंशे चित्रकूटाधीशानां सीसोदियाराणानां वंशे कुले उत्थितः समुद्भूतः सुधीर्बुद्धिमांस्त्वम् । एनं षट्पुरपतिमेवं अनेन विधिनाच्छद्मना कपटेन सन्निगृहीतुं बन्दीकर्तुं नार्हसि योग्यो न वर्तसे । इत्थं प्रौढतरं अतिगभीरं यथास्यात् तथा वदन्, पटु रटतां शब्दायमानानां भेरीणामानकानां दुन्दुभीनाञ्च ओघः समूहो यस्य सः । बुन्दीशः तेन षट्पुरपतिना सह क्षणादेव वन्दितां जनैःश्लाघितां वृन्दावतीं बुन्दीनगरीं मन्दं शनैरगमत् अगच्छत् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

32 सुदृप्यादिति । सुष्ठु दृप्यन्तो दर्पयुक्ता ये द्विषन्तः शत्रवस्तेषां वृन्दस्य समूहस्य संवर्तः प्रलयो नाशः तस्य कर्ता विधायकः । विकर्तनस्य रवेर्गोत्रापत्यं पुमान् वैकर्तनः तस्य उदारः श्रेष्ठो वंशः कुलं यद्वा वैकर्तनश्चासौ श्रेष्ठो वंशः तस्यावतंसः कर्णाभूषणरूपः स सूर्यमल्लः । तं षट्पुरपतिं । पुनः पूर्ववदेव । षट्पुरस्य प्राज्ये समृद्धे राज्ये अभ्यषिञ्चत् शासकरूपेण नियोजयामास । अनुप्रासः ।

33 अथेति । अथैतदनन्तरं । प्रस्फुरन् कम्पमानो मत्सरो मात्सर्यमीर्ष्याभावो यस्य सः । रत्नसिंहो मेदपाटाधिपतिः । अवहित्थां भावस्याकारगोपनं विधाय कृत्वा । मृगव्याया आखेटस्य अपदेशाद् व्याजाद् द्रुतं शीघ्रं चन्द्रदुर्गस्य तन्नामकस्या स्थानस्य उपकण्ठं समीपे प्रयातो गतः सन् । नृप सूर्यमल्लं स्वभगिनीपतिं क्षणादचिरेणैव मृगयार्थमाजुहाव निमन्त्रितवान् । 'अवहित्था तु लज्जादेर्हर्षाद्याकारगोपन' मिति मल्लिनाथः । तल्लक्षणं साहित्यदर्पणे—

"भयगौरवलज्जादेर्हर्षादेश्चाकारगुप्तिरवहित्था ।
व्यापारान्तरसक्त्यान्यथाभाषणविलोकनादिकरी ॥ —इति ।

34 प्रकृत्येति । असौ मायाधरो कपटी रत्नसिंहः प्रकृत्या स्वभावेन गभीरं शान्तं नृपं सूर्यमल्ल बुन्दीशं समायान्तं मृगयार्थमागच्छन्तमालोक्य दृष्ट्वा मुहुर्वारम्वारं सूनृतः प्रेमप्रदर्शको मधुरः आलापः सम्भाषणं पूजा सत्कारः उपहारः उपायनादिश्च तैरिति द्वन्द्वसमासः । तं भूयः पुनर्द्रुतं शीघ्रं विश्वासयामास विश्रम्भयुक्तञ्चकार । हन्तेति खेदे ।

35 भटेनेति । मन्दाक्षेण लज्जया हीनो रहितो निर्लज्जो राणाकुलीनो राणावंशजो रत्नसिंहः खीचीकुलीनेन खीचीवंशक्षत्रियेण भटेन सैनिकेन सह रह एकान्ते किञ्चित् किमपि पापं निन्द्यं कर्म आमन्त्र्य विचार्य । मृगाणां हरिणानामाखेटो मृगया तस्य लक्ष्येण तदभिलाषेण तद्व्याजेन वा । उच्चैरतिशयेन श्वापदैः हिंस्रजन्तुभिराकीर्णं व्याप्तं काननं वनं ययौ जगाम ।

36 पुमांसमिति । तं पुमांसं मृगं हरिणं व्यङ्ग्येन सूर्यमल्लमगौतिभावः जिघांसू हन्तुमिच्छू उभौ तौ राणारत्नसिंह–खीचीसैनिकौ । त्रिलोकी त्रयाणां लोकानां समाहारः इति द्विगुसमासः तस्या विजेत्रान् विजेतुं समर्थान् शरास्त्रान् बाणान् दधानं वहन्तं तं नृपं सूर्यमल्लं मुहुर्वारम्वारं याचमानौ प्रार्थयन्तौ ततः तस्मात् कथञ्चित् द्राविष् धावितुमिच्छू अग्रहीष्टाम् जगृहतुः । 'शरास्त्रान्' इति पदे क्लीबस्यास्त्रशब्दस्य पुंसि कविना कृतः प्रयोगश्चिन्त्यः । 'शरास्त्रं दधानं' इति प्रयोगः साधुः ।

37 अथेति । तदनन्तरं स राणा एणान् मृगान् रोद्धुं निगृहीतुमेकं शरं बाणं बिभ्रत दधानं त नृपालं सूर्यमल्लं द्रुतं शीघ्रमेकत एकस्मिन् खीचीकुलोत्पन्नं भटं सैनिकं कुर्वन् विदधत् । स्वयं सद्यस्तत्क्षणमेव अनुवातायुं वातायुं मृगं अनु पश्चादित्यव्ययीभावः । निर्ययौ निगतः ।

38 स इति । सङ्केतितः प्राप्तसङ्केतः स खीचिजन्मा शूरः सैनिकः । राणेशस्य मेवाडाधिपते रत्नसिंहस्य हुङ्कारशब्दं समाकर्ण्य श्रुत्वा बलात् कोदण्डं धनुः कुण्डलीकृत्याधिज्यं विधाय सूर्यमल्लं निहन्तुं मारयितुमुच्चैः प्रसभं शरं प्राहिणोत् त्यक्तवान् ।

39 सयत्राकृत इति । अथो तदनन्तरं तं सूर्यमल्लं यमस्य मृत्योर्निशान्तमन्तपुरं निनायेषुणा अतिशयेन नेतुमिच्छतीति निनायिषति, सन्नन्ताद्यङन्तरूपम् तेन उ-प्रत्ययः । तेन भीचीभटस्य पत्रिणा शरेण वक्षसि उरसि सयत्राकृतः गाढं विद्धः सूर्यमल्लः । क्षणादचिरमेव । छलस्य कपटस्य यदाम्रेडितं पुनरुक्तिस्तज्जनितेन क्रोधेन चण्डो भीषणः प्रताप ओजो यस्य सः । लब्धा संज्ञा चेतना येन सः । आसीदिति शेषः ।

40 परावर्तमानमिति । असौ लब्धसंज्ञो बुन्दीनृपः आत्मानं हतं निहतं मन्यमानं परावर्तमानं मृगयायाः निवर्तमानं स्वं परमत्यधिकं श्लाघमानं प्रशंसयन्तं रिपुं शत्रुं रत्नसिंहं राणेशमवादीत् जगाद । हे राजन्, मृगो हरिणः साधु सुष्ठु हतो मारितस्त्वयेति शेषः । तत् साम्प्रतमधुना त्वं जीवन् सन् गृहं याहि सकुशलं गच्छेति ।

41 तत इति । ततस्तदनन्तरं तद्गिरा तस्य सूर्यमल्लस्य वचनेन जातः कोपः क्रोधो यस्य सः । स पापो नृपो पापिष्ठो रत्नसिंहः परावर्तितोऽश्वो येन सः, प्रत्यावृत्तः सन् । स्वपाणौ विकोषां कोषाद्बहिराकृष्टां कृपाणीमसिपुत्रिकां विधुन्वन्नाकम्पयन् तं भटं वीरं सूर्यमल्लं निहन्तुं हठात् बलात् तं प्रति अभ्यधावद् धावति स्म ।

42 स्वेति । स सूर्यमल्लः । स्वस्यात्मनो रत्नसिंहस्य । दोष्णोर्दण्डौ तयोर्या कण्डूः खर्जूस्तया मदान्धम्भविष्णुं अतिशयेन मदान्धं नृशंसं क्रूरं तं रत्नसिंहं जत्रुदेशे स्कन्धसन्धौ गृहीत्वाऽऽदाय आकृष्येत्यर्थः । मूर्च्छितोऽपि विसंज्ञः सन्नपि प्रसह्य बलेन तस्य रत्नसिंहस्य हृन्मर्म हृदयदेशमच्छिनत् चिच्छेद चकर्त ।

43 भुजङ्गेति । भुजङ्गस्य सर्पस्येव प्रयातं गमनं लक्षणया चेष्टितं तेनाऽतिजिह्मोऽतिकुटिलः : राणाकुले पांसनो दूषणः कलङ्कः, पंसयति गुणादिकं नाशयतीति पसि नाशने धातोः ल्युप्रत्ययः, बाहुलकाद्दीर्घः । पापकृत् पापं दुष्कर्म करोतीति क्विप्, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति तुगागमश्च । स रत्नसिंहः स्वस्यात्मने दुष्कर्मस्यानुरूपां योग्यां सिद्धिं फलं द्रुतमेवाश्नन् भुञ्जानो लभमानः । क्षणेन तुरङ्गात् हयात् अरं शीघ्रं गां पृथिवीं अयासीत् आगतः, घोटकात्पृथिव्यां पपातेत्यर्थः । 'तुरङ्गादरङ्गामयसी' दिति

यमकमनुप्रासयोजना वा । 'भुजङ्गस्येवेति उपमालङ्कारश्च । भुजङ्गप्रयातेति च्छन्दसो निर्देशान्मुद्रालङ्कारः ।' 'भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारै' रिति लक्षणात् ।

44 ओजसेति । स्वेनात्मीयेन सारेण श्रेष्ठेनौजसा बलेन तं राणेश्वरं रत्नसिंहं रणे युद्धे दारयित्वा विदार्य स बुन्दीशो भूतलस्थस्य तस्योपरि यथा श्रीनृसिंहो दैत्यराजस्य हिरण्यकशिपोरुरसि वक्षसितस्थिवाँस्तथैव तस्थिवान् उपमानुप्रासौ ।

45 तौ इति । यद्यपि तौ उभौ नृवीरौ नृषु वीरौ सूर्यराणवंशजौ सूर्यमल्लरत्नसिंहौ क्षणात् सार्धमेव स्वर्गतौ स्वर्गं प्राप्तौ तथापि पुण्यात्मत्वात् सूर्यमल्लोऽप्सरोभिर्दिव्यस्त्रीभिः कृतां विभूषितां स्रग्विणीं मालायुक्तां स्वां तनूं स्वदेहं दधे वहति स्म, रेजेतरामतिशयेन शुशुभे च । देवगणिकास्तमेव वृतवत्य न तु पापिष्ठ रत्नसिंहमिति भावः । स्रग्विणी छन्दसो नामनिर्देशान्मुद्रालङ्कारः । 'कीर्तितैषा च तद् रेफिकास्रग्विणी' ति ।

46 गतोऽपीति । मूर्च्छां विसज्ञतां गतोऽपि स एको निःसहायो भटो वीरो बुन्दीशो यद् द्विषन्तं शत्रुं रत्नसिंहं जघान हतवान् अत्र नवं अद्भुतं आश्चर्यं किम्, न किमप्याश्चर्यं वर्तत इति काकुः । ईदृशी वीरोचिताऽसौ वृत्तिर्व्यवहारो दिनेशस्य सूर्यस्य वंशस्थानां वंशजानां महीभृतां राज्ञां स्वभावसिद्धा सहजा ननु । वंशस्थच्छन्दसो नामनिर्देशान् मुद्रालङ्कारः । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति ।

47 वीर्यादिति । रत्नसिंहहतसूर्यमल्लनिधनवृत्तान्तश्रवणानन्तरं तस्य मातुः खेतूबाईनाम्न्याः स्ववधूः प्रति वचनमिदम् । स वीरः शूरः सूर्यमल्लो यदि नारायणीयान्-नारायणदाससम्बन्धिनोवीर्यात् शुक्रान्मदुदर मे कुक्षि प्राप्याऽऽगत्य जातोऽस्ति समुत्पन्नः, तर्हि स एकोनो मरिष्यति अर्थाच्छत्रुमपि हत्वैव अत इदं तन्निधनवृत्तान्तं अनृतं मिथ्या वर्तते । यदि एतत्सत्यं तर्हि रत्नसिंहस्य निधनवृत्तान्तोऽप्यस्माभिः प्राप्तव्य एव । तत्तस्माद्धेतोरेष हतो जनो वो युष्माकं नाथः पतिर्न नास्ति, अन्यः कश्चिद् भवेत् । इत्थं इति वचनेन या खेतुस्तन्नाम्नी सूर्यमल्लस्य माता तं सूर्यमल्लं समनुजिगमिषुः सहगामिनीव्रतेनानुगन्तुमिच्छुः स्वा आत्मीया वधूः स्नुषा प्रत्यषेधत् प्रतिषेधति स्म

न्यवारयत् । सा तस्य जननी खेतुः खेतूबाई जगति विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते । इयं खेतूबाई योधपुराधीशस्य सूजाराठौडस्य पुत्री नारायणदासस्य पत्नी बभूवेति इतिहासादवगन्तव्यम् ।

48 अस्येति । अस्य सूर्यमल्लस्य सुरताणनामकश्चासौ सुतः पुत्रोऽभूत् । सुरताणोऽयं दुर्दैवतो दुर्भाग्येन चिराद् बहुकाल उन्मादी उन्मादरोगग्रस्तो वातुलः सन् । पित्र्यं पितुरिदं विचित्रं समृद्धं पदं राज्यं अलं शासितुं पालयितुं न शशाक पर्याप्तं समर्थो नासीत् ।हन्तेति खेदे । ततोऽचिरात् शीघ्रमेव प्रत्यर्थिनो रिपवस्तेषां वारांनिधौ समुद्रे निमङ्क्षत् भविष्यति काले नक्ष्यत् राज्यं विलोक्य रिपवस्तेषां बृद्धा मन्त्रिगणाः सचिवाः भुवः पृथिव्या राज्यस्य हितार्थं कल्याणायामलं समयानुकूलं मन्त्रं विचारं चक्रुः कृतवन्तः ।

49 किङ्कर्तव्येति । किङ्कर्तव्यस्यानिर्णयस्य विमोहे न भ्रान्त्या दूनानि खिन्नानि मनांसि चेतांसि येषान्ते । मुहुर्वारम्वारं सम्मन्त्रयन्तः कर्तव्यं विचारयन्तो मन्त्रिणः । क्षणेनाचिरादेव कर्णेन श्रोत्रेण, श्रोत्राभ्यामिति जातावेकवचनम्, दिव्यं वागमृतं आकाशवाणीरूपं पीयूषं निपपुर्नितरां पिबन्ति स्म । लक्षणयाऽश्रृण्वन् । किमिति दिव्यं वचनं तदेवाह । सुमहसस्तेजस्विनो नर्बदभूपतेर्नारायणदासानुजस्य नर्बदस्य यः पौत्रः, यश्च सुमहस इति देहलीदीपन्यायेनात्राप्यन्वेयम्, अर्जुनस्य तन्नाम्नो नर्बदसुतस्याङ्गजः पुत्र एष नाम्नाऽभिधानेन सुर्जनदेवोऽद्याधुना कृत्स्नां समग्रां धरणीं पृथिवीं बुन्दीराज्यं भोक्ता भोक्ष्यति पालयिष्यति, इति । अतिशयोक्तिरलङ्कारः । कविना प्रौढोक्त्या ऽऽकाशवचनस्याऽसम्बद्धस्यापि सम्बन्धो वर्णितः ।

50 दिव्यामिति । ते मन्त्रिणः सचिवाः । अव्याहतोऽर्थो यस्यास्तां सार्थकां, मधु क्षौद्रं तद्वत् मधुरालसन्तः शोभमाना ये वर्णाः अक्षराणि तैः कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां अभिरामा रमणीया तां वाणीमाकाशगिरं तूर्णं शीघ्रं आकर्ण्य श्रुत्वा । तरणेः सूर्यस्य कुलस्य वंशस्य मणिं भास्वररत्नरूपं तं सुर्जनं । आम्नायेन वेदेनाऽऽम्नातं सम्मतं निर्दिष्टं वा यत् कर्म सन्ध्यादिकर्म तस्मिन् कर्मणि प्रवणः कुशलो मुनिरृषिः 'जातावेकवचनम्' तमनुपश्चात् स्नानेन मज्जनेन पवित्रैः पूतैः तीर्थस्य जलं पूर्णैः सम्भृतैः सच्छातकुम्भैः श्रेष्ठसुवर्णनिर्मितैः कुम्भैर्मङ्गल-

कलशः, धरित्र्याः पृथिव्याः प्राज्ये समृद्धे राज्ये राज्यसिंहासनेऽभिषिषिचुः अभिषिक्तवन्तः। उपमालङ्कारः। पद्यऽस्मिन् अनुप्रासापरनामधेयाया वर्णविन्यासवक्रताया विशिष्टा विच्छित्तिः स्फुटमनुभूयते सहृदयैरिति दिक्॥

51 योऽन्तर्वाणीति। इत्थं शत्रुशल्यचरिते विश्वनाथस्य कवेः सत्काव्ये सूर्यमल्लस्य स्तवो वर्णनम्। शेषं पूर्ववत्॥

इति शत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यां सप्तमः सर्गः॥

॥ अष्टम सर्गः ॥

1 अथेति । अथ सुरतागानन्तरम् । आर्जु निरर्जु नस्यापत्यं पुमान् स सुर्जनदेव-नामा भूपो राजा । दुर्जनानां दुष्टानां कालस्य विनाशस्य रात्रिर्मृत्युः । महाँश्चासौ इन्द्रश्च इन्द्रसदृशः । स्वपाणौ स्वभुजे कटकायमानां कटकं कङ्कणं तद्वदाचरतीति क्यङ्, इन्द्रपक्षे कटकायमानां कटक पार्वत्यप्रदेशभूमिस्तद्रूपां । महीं पृथ्वीं दधत् धारयन् परमत्यधिकं उच्चकाशे, काश् दीप्तौ काशते स्म दिदीपे । उपमालङ्कारः । उपेन्द्रवज्रावृत्तम् ।

2 अयमिति । सुजानुद्वयलम्बबाहुः शोभनयोर्जानुनोर्यत्, द्वयं तस्मिन् लम्बौ बाहू भुजौ यस्य सः । आजानुबाहुः । प्रतप्तं चामीकरं स्वर्णं तद्वच्च वर्णो मनोहारिणी कान्तिः शोभा यस्य सः । अयं सुर्जनः । रिपूणां शत्रूणां विक्षोभ-करः पीडादायको बभूवाऽऽसीत् । कीदृशः । सुपीनं परिपुष्टं मांसलं वक्षः स्थलं यस्य सः । कमलवत् पद्मदलवत् आयते अक्षिणी यस्य सः । उपमालङ्कारद्वयसंसृष्टिः ।

3 अमुष्येति । अमुष्य अस्य राज्ञः सुर्जनस्य शरण्य शरणभूतमङ्घ्रि चरण श्रितं प्राप्त सत्, द्विजराजं चन्द्रं पक्षे ब्राह्मणश्रेष्ठ चिरं बहुकालं द्विषत् । तस्मै शत्रुतां कुर्वत्, अपराधं विदधदपि वारिरुह कमलं सुदुर्लभमतिदुःखेन प्राप्यं श्रियः पदं शोभाया लक्ष्म्या वा स्थानं आसनं वा प्राप प्राप्तवान् । अपराधिनोऽपि अपराध त्यक्त्वा तच्चरणशरणं प्राप्ता तत्कृपां भजन्तीति भावः । रूपकम्, पर्यायोक्तिश्च ।

4 दिनेशवंशैकभट इति । दिनेशस्य सूर्यस्य वंशे कुले एकभटो वीरश्रेष्ठः स सुर्जनो भूभृत् भुव विभर्तीति राजा, पक्षे पर्वतः । वृद्धश्रवसमिन्द्रं, वृद्ध प्रभूतं श्रवः श्रवणं स्तोत्रं हविर्लक्षणमन्न वा यस्य स इति ऋग्भाष्ये सायणः (१.८९ ६), वृद्धेभ्यः वृद्धात् बृहस्पतेर्वा शृणोतीति वृद्धश्रवाः इत्युज्ज्वलदत्तः (४ २२६), कदापि न द्विषन् द्रुह्यन् । पर्वतस्तु इन्द्र द्वेष्टि किन्तु नायं भूभृत् सुर्जन इति व्यतिरेकः । पुनः कथम्भूतः । विराजितौ शोभितौ यौ पक्षौ

मित्रशत्रुभूतौ तयोर्द्वयेन वन्दनीयः पूज्यो राजा, पक्षे विराजितौ पक्षौ गरुतौ तयोर्द्वयेन वन्दनीयः श्लाघ्यः पर्वतः। एकपुरीमिव केवलां अनतिविस्तीर्णां नगरीमिव भुवमिमां महतीं पृथिवीमुच्चैरतिशयेन शशास पालयामास। श्लेषानुप्राणितो व्यतिरेकः।

5 क्षमानुयात इति। क्षमां पृथिवीमनुयातो गतोऽपि पृथिवीस्थोऽपि सुधर्मामिन्द्रसभां स्वर्गमाश्रितोऽधिष्ठित इति विरोधः, परिहारे क्षमया दयया क्षान्त्याऽनुयातो युक्तः क्षमाशीलः, सुधर्मे सत्कर्मानुष्ठाने आश्रितो धर्मनिष्ठश्च। सुबाहुः राम यश प्रसिद्धस्ताटकापुत्रोऽपि कमनीयरामः कमनीयः काम्यो रामो दाशरथिर्यस्य स प्रियरामः, यद्वा कमनीयः सुन्दरश्चासौ रामो भरताग्रज इति विरोधः। परिहारे शोभनौ बाहू यस्य सः, कमनीयस्सुन्दरो रामो मनोज्ञश्च; यद्वा कमनीयो रामो यस्य सः, अर्थाद्रामभक्तः। कलानां निधिश्चन्द्रोऽपि साधु सुष्ठु मित्रस्य सूर्यस्योदयः प्रातरुद्गमस्तस्यैकलुब्धोऽभिलाषुक इति विरोधः, परिहारे, कलानां चतुःषष्टिकलानां वात्स्यायनोक्तानां निधिः आकरः, साधु यद्वा साधूनां सज्जनानां मित्राणां सखीनाञ्च उदयस्य समृद्धेरभिलाषुकः। स सुर्जनः शुशुभेतरामतिशयेन राजते स्म। श्लेषपुष्टो विरोधाभासः।

6 स इति। स नृपः सुर्जनो गिरीशवत् शिव इव जगत्सु संसारे मारस्य कामस्य प्रसरं वेगमौद्धत्यं वा जहार हृतवान्। कथम्भूतः स। महेशो महाँश्चासौ ईशो महाराजः, पक्षे महेशो महादेवः। पुनः, भोगिनां विलासिनां ये भोगाः विलासास्तैरङ्किता चिह्नता युक्ता कायस्य देहस्य कान्तिः शोभा यस्य सः, पक्षे भोगिनः सर्पास्तेषां भोगैः शरीरैरङ्किता युक्ता कायस्य कान्तिर्यस्य सः। धृतानि स्वायत्तीकृतानि यद्वा सुदृढीकृतानि चारूणि मनोहराणि दुर्गाणि कोट्टानि येन यस्य वा सः कोट्टदुर्गे पुनः समे। इति हेमचन्द्रः। पक्षे धृता अर्धाङ्गे ऊढा चार्वी सुन्दरी दुर्गा पार्वती येन सः। पुनः भूतिभिः समृद्धिभिर्विभूषितमलङ्कृतमङ्गं यस्य स सुर्जनः पक्षे भूतिना भस्मना विभूषितमङ्गं यस्य स शिवः। श्लिष्टोपमा।

7 सदानेति। एषोऽसौ पवित्रः पूतात्मा वीरः सुर्जनो जामदग्न्यः परशुराम इव। जमदग्नेरपत्यं पुमान् 'गर्गादिभ्यो यञ् (४.१.१०५)' इति यञ्। सदान-

भोगोत्सुकः दानेन द्विजादिभ्यो वितरणेन सह भोगे धनसम्पत्तिसमुपभोगे उत्सुकोऽभिलाषुकः, पक्षे सदा सर्वदा नभोगोत्सुक इति पदच्छेदः नर्भास गमनं अभोगं तस्मिन्नुत्सुकः परशुरामः। सहस्रदोषं सहस्रमसङ्ख्यं दोषं राजन्यवर्ति-दूषणं तदेव रिपुः शत्रुस्तं निघ्नन्नाशयन्, पक्षे सहस्रं दोषः बाहवो यस्य तं सहस्रबाहुं हैहयाधिपतिं निजपितृघातकं सहस्रार्जुनं रिपुं निघ्नन् मारयन्। अथ जितां विजितां उर्वीं पृथिवीं पवित्रः सन् द्विजत्राकृतबान् द्विजेभ्यो ददौ। परशुरामस्तु पवित्रः मातृवधादिपापमुक्तः सन् त्रिःसप्तकृत्वो जितां महीं ब्राह्मणेभ्यो ददौ इति पुराणकथा। यथा श्रीमद्भागवते—

"पुनः स्वहस्तैरचलान् मृधेऽङ्घ्रिपा-
नुच्छिदचवेगादभिधावतो युधि।
भुजान् कुठारेण कठोरनेमिना
चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव॥

(९,१५.३४) इति

"ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम्।
अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम्॥
अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः।
आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम्॥"

(९.१६.२१-२२) इति च।

8 मुहुरिति। अयं नृपः सुर्जनः क्षणादचिरमेव पंक्तिरथस्य दशरथस्य, पक्तिर्दश संख्या, पञ्चकद्वयं परिणाममस्येति। पङ्क्तिविंशतित्रिंशदिति। (५.१.५९) निपातनात् प्रकृतेः पञ्चन्-शब्दस्य टिलोपः तिप्रत्ययश्च। तस्य श्रियं शोभां-दध्रे धरति स्म। कीदृशो राजा सुर्जनो दशरथश्च। मुहुर्वारम्वारं सुमित्रैः सुसखिभिरनुगतोऽनुयातः, पक्षे सुमित्रया तत्कलत्रेण लक्ष्मणजनन्याऽनुयातः। पुनः। सुष्ठु शोभनेन मन्त्रेण परामर्शेण, सचिवादीनामिति यावत्, आश्रितो युक्तः, पक्षे सुमन्त्रेण तत्सचिवेन सारथिना चाश्रितः। पुनः। गृहे सदने उद्भासिता शोभिता विष्णोर्देवस्य लक्ष्मीपतेर्मूर्तिविग्रहः यस्य स राजा सुर्जनः, विष्णुभक्तत्वात्; पक्षे गृहे उद्भासिता विष्णोः परात्पुरुषस्य (रामावताररूपेण पुत्रेण) मूतिर्यस्य स दशरथः। पुनः। अजस्रं निरन्तरं सन्तर्पितः प्रसन्नीकृतः

कौशिक इन्द्रो येन स सुर्जनः निरन्तरयजनशीलत्वात्; पक्षे अजस्रं सन्तर्पितः प्रसादितः कौशिको विश्वामित्रः, कुशिकस्य गोत्रापत्यं पुमान्, येन सः। विश्वामित्राय रामलक्ष्मणप्रदानेन दशरथस्तं प्रसन्नीचकारेति रामायणकथा। श्लेषानुप्राणितो निदर्शनालङ्कारः।

9 स इति। स सुर्जनः सुष्ठु शोभनः शारदः, शरदोऽयं शरदृतुसम्बन्धी अम्भोदो-मेघः इवाभिरामो रमणीयदर्शनोऽपि जनानां लोकानां परं जीवनदो जीवनं जलं ददातीति जीवनदः प्राणदाताऽभूत् इति विरोधः। शरन्मेघस्य जलवर्षणा-भावात्। परिहारे, जनानां प्रजानां परमत्यधिकं जीवनं प्राणान् ददातीति जीवनदोऽभूत्। दुष्टेभ्यः प्रजाः रक्षित्वा तेषां प्राणान् ददाति स्म। कथम्भूतो राजा शरन्मेघश्च। सन्ततं निरन्तरं विष्णोर्लक्ष्मीपतेः पदयोश्चरणयोरवलम्ब आश्रयो यस्यास्तीति, विष्णुचरणार्चनपरः, पक्षे विष्णोः पदं विष्णुपदमाकाश-स्तत्रावलम्बी लम्बमानो मेघः। आकाशस्तु विष्णुपदपर्यायः यथा कालिदासे— "अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः" इत्यत्र आत्मनः पदं (हरेः पदं, विष्णुपदमाकाशं)। पुनः सदा सर्वदा अवदातं स्वच्छं निष्कलुषं हृदयमन्तःकरणं दधानो वहन् स राजा; पक्षे सदावदातं श्वेतं हृदयं मध्यभागं दधानो मेघः तस्य निर्जलत्वात् श्वैत्यम्। श्लेषेण परिपुष्टो विरोधः, उपमा च।

10 स इति। वंशस्य कुलस्य दीपो दीपकवत् प्रकाशयिताऽपि स राजा सुर्जनः अतिपुष्यद्दशः अतिपुष्यन्ती दशावर्तिका परिहारे अवस्था समृद्धिर्यस्य सः। ईशः शिवोऽपि दलन् यत् विषं तमत्तीति विषादः कालकूटभक्षणकर्ता; परिहारे ईशो नृपः, दलन् विषादं प्रजाजनानां दुखं एतादृशः। एष भूपः भास्वानपि सूर्योऽपि करैः किरणैः ध्वंसितो नष्टो लोके तापो धर्मो येन स इति विरोधः सूर्यस्य तापकरत्वान्न तु तापनाशकत्वात्। परिहारे, भास्वान् कान्तियुक्तः करैर्बल्यादानैर्ध्वंसितो नष्टो लोकस्य जगतस्तापो यवनजनितकष्टं येन सः। श्लेषो विरोधाभासश्च।

11 अयमिति। अयं सुर्जनः भीष्मोऽपि शन्तनुसुतो देवव्रतोऽपि परान् शत्रून् अपार्थान्, पृथायाः कुन्त्या अपत्यं पुमान् पार्थः अपगताः पार्था येषां येषु वा तान् पार्थरहितांश्चकारेति विरोधः। परिहारे भीष्मो रणे दुर्दर्शनः सुर्जनः

परान् शत्रून् अपार्थान् व्यर्थान् शक्तिरहितान् विदधे। कीदृशः सुजनो भीष्मश्च। वशे स्थापितः स्ववशीकृतः कालस्य समयस्य धर्मः सत्कर्म नीत्याचरणं वा येन स राजा, पक्षे स्ववशीकृतः कालधर्मो मृत्युर्येन स भीष्मः, इच्छामृत्युत्वात्। पुनः। विराजी शोभमानो धर्मः सत्कार्यं तस्योदये वृद्धौ पक्षपात आनुकूल्यं यस्य स राजा; पक्षे शोभमानो धर्मस्य धर्मराजयुधिष्ठिरस्योदये विजये पक्षपातो यस्य स भीष्मः। पुनः। महाभा महती आभा कान्तिर्यस्य सः, रतयुद्धकर्मा रतो युद्धकर्मणि युद्धकर्मसंसक्तः, पक्षे महाभारते कुरुक्षेत्रयुद्धे युद्धं कर्म यस्य स भीष्मः। लसन् शोभमान इत्युभयत्र समानम्। श्लेषो विरोधाभासश्च।

12-13 अथेति। युग्मम्। अथ तदनन्तरमेव सुर्जनः। शम्भोः शिवस्य नृत्यकेलि नृत्यक्रीडामिव विराजिनी चक्षुषी ताभ्यामुपलक्षिते श्रवसी कर्णौ यस्यास्तां, कर्णान्तायतनेत्रां कनकावतीं वधूमित्यग्रेणान्वयः। हरनृत्यकेलिपक्षे विराजिनः शोभमानाः चक्षुःश्रवसः सर्पाः, (चक्षुरेव श्रवो यस्य स चक्षुःश्रवाः सर्पः) यस्यास्ताम्। घनस्य मेघस्यागमो वर्षाकालस्तस्य दशां गगनमिव प्रकाममत्यधिकं चारू मनोहरौ पीनौ परिपुष्टौ पयोधरौ उरोजौ तयोः श्रिया कान्त्या रुचिरां रमणीयां, वधूं; वर्षादशापक्षे, चारवः सुन्दराः पीना जलभृतो ये पयोधरा मेघास्तेषां श्रिया शोभया रुचिरां सुदर्शनाम्। उपेन्द्रस्य वामनस्य लीलां पुराणेषु प्रसिद्धामिव समुल्लसन्ती शोभमाना सती या वलिस्त्रिवली तस्याः भङ्गेन तरङ्गेण विच्छित्या वा रम्यां रमणीयां, दिव्यरूपाञ्च दिव्यं मनोज्ञं रूपं सौन्दर्यं यस्यास्तां वधूं, वामनलीलापक्षे, समुल्लसन् दीप्यमानः सन् प्रकृष्टो यो बलिर्विरोचनपुत्रो दैत्येशस्तस्य भङ्गेन पराजयेन रम्यां स्पृहणीयां दिव्यरूपाञ्च देवसम्बन्धिनीममानुषीं लीलाम् सुशोभनो यो वंशः कुलं पालयतीति पास्तस्य क्षितिपालस्य राज्ञः पुत्रीं सुतां तां कनकावतीं तन्नाम्नीं पाणौ चकार वधूत्वेन जग्राह परिणीतवान्। श्लेषानुप्राणितो मालोपमालङ्कारः। इयं कनकावती ईडरराजस्य जगमालस्य सुताऽऽसीदिति सुर्जनचरितादवगम्यते, यथा—

"जगदुज्ज्वलेन जगमालभूभृता
वितरिष्यताथ कनकावतीं सुताम्।

प्रहितो हितोचितमतिः पुरोहितः
परिणेतुरर्जुनसुतस्य सन्निधौ ।। (१४.१)" इति ।

14 जगत्त्रयीति । जगतां लोकानां त्रयी त्रयाणां समूहः, त्रयशब्दात् स्त्रियां ङीष् । तस्यास्तस्यां वा या वामविलोचनाः, वामानि वक्राणि कुटिलानि लोचनानि ईक्षणानि यासां तासां जगत्त्रयरमणीनां कमनीयताया सौन्दर्यस्य, कमितुं योग्यं कमनीयमित्यनीयर्, कमनीयस्य भावः कमनीयता तस्याः उपज्ञं नवनिर्माणं तद्रूपा । मनसां युवचित्तानां समाकर्षणस्य वशीकरणस्य यो मन्त्रस्तस्य सिद्धिः सफलतारूपा । सा कनकावती मनोभुवः, मनसि भवतीति मनोभूः कामदेवस्तस्य नव एव सर्गः अभिनवसृष्टिरस्तीति शेषः । कनकावतीसृष्टेः कामदेवासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिः । रूपकद्वयञ्चेति तेषां संसृष्टिः ।

15 पुरारीति । असौ वधूः पुरारिणा पुरस्य त्रिपुरस्य अरिणा रिपुणा हरेण संप्लुष्टा दग्धा तनूः देहो यस्य तस्य स्मरस्य कामदेवस्य । यौवनं तारुण्यं तदेव वैद्योभिषक् तेन दत्तं चिकित्सार्थं प्रदत्तं रसायनं बलवर्धकमौषधभूतं उपमेयं तं सुर्जनं । यद्वा रसायनमिति वध्वाः कनकावत्या उपमानं, कामोद्बोधनसमर्थमौषधरूपं सा वधूः । प्रतीपे विरुद्धे नेत्रे यस्याः सा विरुद्धाचरणवत्यपि अनुकूलमेव स्वपक्षपातिनमेवेति विरोधः, परिहारे प्रतीपे वक्रे नेत्रे यस्या साः वामलोचना सा कनकावती सुर्जनं पतिं आशु अनुकूलं दक्षिणमेव स्वं प्रति समुदारमेव चक्रे । रूपकम्, विरोधाभासश्च ।

16 दधदिति । गाण्डीवं मध्यमपाण्डवार्जुनधनुरिव अतिचण्डमतिभीषणं, कर्णान्ते विराजी कर्णान्तस्पृक् यश्चापः कोदण्डस्तं दधत् बिभ्रत् स सुर्जनः परेषां शत्रूणां मर्माणि मर्मस्थलानि तेषां भेदे विदारणे पिशुनानिव दुष्टानिव प्रगल्भान् धृष्टान् समर्थानिति भावः । इषून् बाणान् किरन् क्षिपन् रिपूनयासीत् शत्रून् प्रति जेतुं जगाम । उपमाद्वयोः संसृष्टिः ।

17 अथेति । अथास्य राज्ञः सुर्जनस्य दुष्टैः पापैः यवनक्षितीशैः म्लेच्छभूपैः सह । समुल्लसन्तो देदीप्यमानाश्चारवः सुन्दरा ये भटाः सैनिकास्तैरतिभीमोऽतिभयङ्करः । नृत्यन्त उत्तालपादैः समुच्छलन्तः कबन्धा मुण्डरहिता भटदेहा

यत्र । यमस्य यमराजस्य प्रियं करोतीति प्रियकृत् हर्षप्रदः । एतादृश क्रूरतरः कठोरो रणो युद्धम् अभूत् बभूव । शराशरि शरैश्च शरैश्च प्रहृत्येष रणः प्रवृत्त इति शराशरि । 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' (२.२ २७) सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे द्योत्ये स बहुव्रीहिः । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति सूत्रेण इच् समासान्तपदे बहुव्रीहौ पूर्वपदान्तस्य दीर्घः इति सिद्धान्तकौमुद्यां भट्टोजिदीक्षिताः ।

18 श्वसन्निति । अथ सुर्जनस्यैको रिपु रणे युद्धे भीष्मो देवव्रत इवाति विद्धः शरैरत्यधिकं प्रताडितः सन् श्वसन् ऊर्ध्वश्वासं मुञ्चन् शरतल्पे बाणशय्यायां शिश्ये शेते स्म । अथापरोऽन्योऽरिः कर्ण इव राधेय इव । अशकलं शकलं कृतमिति शकलीकृतं खण्डितमङ्गं यस्य सः । स्वशक्तिं स्वं बलं कर्णपक्षे इन्द्रप्रदत्तां शक्तिमायुधविशेषं विमुक्तवान् मुञ्चति स्म । उपमाद्वयाः सं सृष्टि शक्ति' मित्यत्र श्लेषश्च ।

19 असङ्ख्येति । असङ्ख्यमपरिगणनीयं वीर्यं बलं यस्य सः । स सुर्जनः । सङ्ख्ये सङ्ग्रामे, भुजः स्वबाहुभिस्तद्बलेन दुर्मदान्धान् दुर्मदेन गर्वेणान्धान् उचितानुचितदर्शनरहितान् तुरुष्काश्च ते योधाः भटास्तान् म्लेच्छसैनिकान् विजित्य जित्वा । स्वयं क्षणेनाचिरादेव जयस्तम्भमिव जयसूचकं स्तम्भमिव रणस्तम्भगिरिं तन्नामकं प्रसिद्धं पार्वत्यदुर्गं वशे व्यधत्त स्वायत्तीचकार । उपमा ।

20 समुल्लसदिति । अधुना पञ्चभिः पद्यै रणस्तम्भगिरिं वर्णयति कविः ।

प्रकाममत्यधिकं समुल्लसन्ती शोभमाना चार्वी गतिः मार्गः पद्धतिर्यस्य सः । अयमद्रिः रणस्तम्भगिरिः समासं अल्परूपं न धत्ते न धारयति । परिस्फुरतां देदीप्यमानानां धातूनां स्वर्णादीनां गैरिकादीनां वा विकार एव रूपं यस्य सः । क्रियाविहीनः स्थावरो गतिशून्योऽपि । परमत्यधिकं चकास्ति शोभते ।

व्याकरणार्थे गति. प्रयोगः, समासोऽव्ययीभावादिः । धातोर्भ्वादेर्विकाररूपो धातु-युत्पन्नः पदप्रयोगः । क्रिया तिङन्तपदं तया विहीनः । इति

श्लिष्टशब्दप्रयोगमहिम्ना कृदन्तजस्य पदस्य प्रयोगो व्यज्यते । शब्दशक्तिमूलको ध्वनिः ।

21 दिगम्बरेति । नु इति वितर्के । एष गिरिः । दिक् दिशः अम्बरं आकाशश्च तेषां आलोको दर्शनं तस्य पिधाने आच्छादने दक्षः कुशलः, मीमांसादर्शनपक्षे दिगम्बराणामार्हतानां जैनानां आलोको दार्शनिक मतं तस्य पिधाने लक्षणया प्रत्याख्याने दक्षः । विलसन् शोभमानो वीनां पक्षिणां चारः पर्यटनं यत्र स गिरिः, पक्षे विलसन्तो विचाराः सिद्धान्ताः मतानि यत्र यस्य वा एतादृशं मीमांसादर्शनम् । भाट्टो दार्शनिकस्य कुमारिलभट्टस्यायं नयः सिद्धान्तः । 'भाट्टो नयः' इति प्रयोगे संस्कृतदेश्यभाषासमश्लेषस्वीकारे श्लिष्टार्थे 'भाट्टः' भट्टानां पाषाणानामयं भाट्टो नयो मार्गः पाषाणसङ्कुलो मार्गः, पार्वत्यत्वात् । 'भाटा' इति देशीभाषायां पाषाणपर्यायः । स गिरिरजस्रं निरन्तरं । द्विधा इतं द्वीतं तस्य भावो द्वैतं, युवादित्वादण्, न द्वैतं अद्वयं तस्य पन्थाः अद्वैतपथः 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यच् । तमेव मेव पन्थानं मार्गमवलम्बतीति ताच्छील्ये णिनिः; वेदान्तसिद्धान्तपक्षे, अद्वैतस्य ब्रह्माद्वैतस्य 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' इति सिद्धान्तस्य पन्थानं मार्गं नयं अवलम्बतीति अद्वैतसिद्धान्तानुयायी तस्य श्रियं शोभां धत्ते । 'ब्रह्म सत्य' मित्यादि भगवत शङ्कराचार्यपादस्य दार्शनिकराद्धान्तः । पद्येऽत्र पूर्वार्धे वितर्कालंङ्कारः उत्तरार्धे तु निदर्शना ।

22 शिरःस्थेति । शिरःसु शिखरान्तर्गतकन्दरासु तिष्ठन्तीति शिरःस्था पर्वतोपरि निवासिनो ये पारीन्द्राः सिंहास्तेषां नखाग्राणां करजाग्राणां या धाराः वेगात्पतनं ताभिर्विदीर्णो यो दन्तावलानां गजानां कुम्भभागः गण्डस्थलं, जातौ एकवचनम्, तस्मात् । द्रुतं शीघ्रं पतन्तीः चार्वीः मनोहराः याः मुक्ताः मुक्ताफलानि कर्म । एष गिरी रणस्तम्भपर्वतः । पतन्तीराकाशात् पृथिव्यां त्रुटयन्तीस्तारास्तारका इव चिरेण धत्ते बिभर्ति । उपमा ।

23 शिरोगेति । कलाधरश्चन्द्रः । शिरसि गताः शिखरेषु सञ्चरन्तः सानूनां पर्वतप्रस्थानामुदरेषु तन्मध्ये या दर्यः गुहास्तासु विराजन्तः शोभमाना ये प्रचण्डा दुर्दान्ता सिंहीसुताः सिंहशावकाः, त एव भ्रान्त्या सिंहासुताः असङ्ख्या सिंहिकापुत्राः राहवो दैत्याः, तेभ्यो जाता शङ्का भयं यस्य तम् । कुरङ्ग

स्ववाहनं मृगमालोक्य दृष्ट्वा । अस्य रणस्तम्भगिरेरधःसानुगतः अधोवर्ति-पार्वत्यभूमिगतः सन् जवाद् वेगेन निरेति निर्गच्छति । भ्रान्तिमानतिशयोक्तिश्च तयोः सङ्करः । यद्वा 'सिंहीसुतजातशङ्क' मिति गम्योत्प्रेक्षा ।

24 अथेति । अथासौ नृपसुर्जनः । सुमनांसि पुष्पाणि, पक्षे सुमनसो देवास्तैरभिरामं रमणीयम् । सुवन्द्या वन्दनीया विद्याधराः विद्वांसः, पक्षे देवयोनिविशेषोत्पन्नाः, तेषां वृन्देन समूहेन जुष्टं युक्तम् । सु शोभनो वर्णो येषां ते सुवर्णाः सानवः पार्वत्यप्रदेशा यस्य तं, पक्षे सुवर्णस्य स्वर्णस्य सानवः यस्य यस्मिन् वा तं सुमेरुं, मेरोः स्वर्णमयत्वात् । तमचलं रणस्तम्भगिरिं । मेरु सुमेरुपर्वतं शचीपतिरिन्द्र इवाधितस्थौ अधितिष्ठति स्म उवास । श्लेषानुप्राणितोपमा ।

25 सहस्रनेत्रेति । त्रिभिर्विशेषकम् । भास्वान् प्रभायुक्तः सूर्यश्च । स सुर्जनः स्त्रांसभां परिषदं विशन् प्रविशन् सन् सुचिरं बहुकालं चकाशे दिदीपे रेजे । कथम्भूतां सभां । पुलोमकन्यामिव पुलोम्नः कन्यां शचीमिव सहस्रणां जनानां नेत्रेभ्यो लोचनेभ्यः प्रमदस्य हर्षस्य प्रदात्रीं सभां, पक्षे सहस्रनेत्र इन्द्रस्तस्य लोचनेभ्य हर्षस्य प्रदात्रीं सभां, पक्षे सहस्रनेत्र इन्द्रस्तस्य लोचनेभ्यो हर्षदात्रीमानन्ददायिनीम् । पुनः सुमेरोः मेरुपर्वतस्य पर्यन्तधरां पर्यन्त भूमिमिवोच्चैरतिशयेन लसन् शोभमानो वर्णो यस्यास्तां यद्वा लसन्तः शोभमाना वर्णा ब्राह्मणादिपार्षदा यस्यां तां सभाम्, पक्षे लसत् सुवर्णं कनकं यस्यां तां मेरुपर्यन्तभूमिम् । विहरन् बुधानां पण्डितानामोघः समूहो यस्यां ताञ्च, पण्डितवृन्दयुक्तां सभां, पक्षे विहरन् बुधानां देवनामोघो यस्यां तां मेरुभूमिं, तत्र देवानां निवासहेतोः ।

26 प्रदोषेति । पुनः कथम्भूतां सभां । पौर्णमास्याः पूर्णिमायाः प्रदोषो रजनीमुखं तस्य लक्ष्मीं शोभामिव लसन्त्यः पूर्णाश्च कला वात्स्यायनोक्ताः चतुःषष्टिकला यत्र अतएव मनोज्ञां रुचिरां सभां, पक्षे लसन्त्यः पूर्णाः चन्द्रस्य षोडश कला-यस्यां तां पूर्णिमामतएव मनोज्ञाञ्च । पुनः, ऐन्द्रीमिन्द्रसम्बन्धिनीं दिशं पूर्वामिव चारवः शोभना ये सूराः भटाः वीरास्तेषां उदयस्यैकहेतुं एकमात्र कारणभूतां, वरा श्रेष्ठा कान्तिः शोभा यस्याः सा वरशोभा चित्राऽद्भुता च

सभां, पक्षे, चारुः सुन्दरः सूरः सूर्यस्तस्योदयस्योद्गमस्यैकहेतुं, वरकान्तिश्चासौ चित्रा चित्रानक्षत्रं यस्यां तां पूर्वां दिशम् ।

27 परस्वरानिति । पुनः सुपाणिनीयां सूत्ररीतिमिव शोभनस्य पाणिनेरियं सुपाणिनीया। तां सूत्ररीतिं अष्टाध्यायीसूत्रशैलीमिव प्रतिक्षणं सर्वत्र अवर्णान् अनुच्चकुलोत्पन्नानपि शूद्रादिजात्युत्पन्नान् पार्षदान् परस्वरान् पर उत्कृष्टः स्वर उच्चारः कथनं (वचनं) येषां तान् प्रकृष्टभाषणानितिभावः, सद्गुणिनश्च सन्तो गुणा येषां सन्तीति सद्गुणशालिनः सन्दधतीं धारयन्तीं सभां; पक्षे अवर्णानिति अ-आ इति स्वरवर्णानपि परस्वरान् पद-वाक्यसंहितायां इ-ई-उ-ऊ इति परस्थितान् स्वरान् सन्धौ सद्गुणिनः यथाक्रमं ए-ओ-इति गुणीभावमापन्नान् ('आद्गुणः' (६-१-८६) इति सूत्रानुसारं) सन्दधतीं धारयन्तीं, यथा सुर + इन्द्र इति स्थिते सुरेन्द्रः, गङ्गा + उदकं इति स्थिते गङ्गोदकमित्यादिवत् । एतादृशीं सभां विशन् स नृपो सुर्जनश्चकाशे इति पूर्वेणान्वयः । श्लेषानुप्राणितोपमा ।

28 अलङ्करिष्णाविति । अस्मिन्नृपे राज्ञि सुर्जने सदसं पूर्वोक्तां सभामलङ्करिष्णौ शोभयति सति । इदं यथा स्यात् तथा ऽऽहतानां ताडितानां वरदुन्दुभीनां श्रेष्ठानामानकानां सुगभीरः प्रचण्डो नादो ध्वनिः मन्दरेण गिरिणा समुद्रमन्थनसमये सुष्ठु क्षुब्धस्याऽऽलोडितस्य समुद्रस्य पयोधेर्मन्दं गम्भीरं ध्वनिं गर्जनस्वरं विजिग्ये जितवान् । प्रतीपम् ।

29 महार्हेति । एष सुर्जनः । महार्हे महार्घे सुवर्णनिर्मिते सिंहासने राजासने संस्थित आसीनः । उदारः समुज्ज्वलो वेषो वस्त्राभरणादिर्यस्य सः । कृतो लोकस्य प्रजानां तोषस्सन्तोषो येन सः । शरदश्चन्द्रः शरदृतुसम्बन्धी शशी तस्य मरीचयः किरणा इव गौरं श्वेतं यशः कीर्तिमण्डलं वरं श्रेष्ठमातपत्रं छत्रं चेत्युभयं, यद्वा वरातपत्रमिव यशः, यश इव वरातपत्रं छत्रमिति रूपकम् । कलयाम्बभूवालङ्कृतवान् बिभराम्बभूवेति भावः । 'शरच्चन्द्रमरीचिगौरमित्युपमा, 'यशः वरातपत्रं' इत्यत्र लुप्तोपमा, रूपकम्, यद्वा तुल्ययोगिता इति एतेषामलङ्काराणां सन्देहसङ्करः ।

30 सभामिति । स भूमघवा पृथ्वीन्द्रः सुर्जनश्चलन्तौ यो चामरौ (चलती ये

चामरे वा) ताभ्यां परिवीज्यमानः सेवितः सन् विश्वेषां सर्वेषां जनानां यानि कर्माणि तेषामाश्रयेण वन्दनीयां श्लाघ्यां सुधर्मां शोभनो धर्मो यस्यास्तां सभां गतः, पक्षे विश्वकर्मा देवानां स्थपतिस्तस्याश्रयेण वन्दनीयां श्लाघ्यां सुधर्मां देवसभां गत इन्द्रः । यथावत् दिक्पालकुलं दिशः पालयन्तीति दिक्पालाः करदा पर्यन्तवर्तिनो नृपास्तेषां कुलं इन्द्रपक्षे दिक्पालानां वरुणादीनां कुलं समूहं शशास पालयति स्म । श्लेषानुप्राणितं रूपकम् ।

31 पृथगिति । पृथक् पृथक् कालस्य विभक्तं कर्म आचरणं येन सः । स नृपालः सुर्जनः । प्रजासु जनतासु परमत्यधिकं शर्म सुखं वितन्वन् विस्तारयन् । चतुरोऽपि चतुस्सङ्ख्यकान् सर्वानिव धर्मस्य पादान् तपशौचदयासत्यरूपान् पुष्णन् पोषयन् दण्डेनावष्टम्भेन ताडनेन वा, यद्वा राजधर्मेण कलिं कलियुगं तत्प्रभावमिति भावः । जघान् हतवान् । धर्मस्य चत्वारश्चरणाः सन्ति ते सर्वे कृतयुगेऽक्षुण्णाः । कलियुगप्रभावेणैते वृषरूपस्य धर्मस्य पादा भग्ना भवन्ति । उक्तं हि श्रीमद्भागवते—

"तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृतः ।
अधर्मांशैस्त्रयोभग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ।।
इदानीं धर्मपादस्ते सत्यं निर्वर्तयद् यतः ।
तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ।।"
(१.१७ २४-२५) इति ।

31 इतीति । इति एतत्प्रकारेण प्रजानां जनतानामवदानं प्रशस्तं कर्म आचरणं तस्मिन् दक्षं कुशलं सदसि राजसभायां स्थितमासीनं तं क्षितीशराजं महाराजं सुर्जनं वरः श्रेष्ठो वन्दिलोकश्चारणःसमूहः उदारः ऋज्वाशयो बन्धः पदरचना, अर्थः शब्दानामभिप्रेतो भावः, वाच्यादयर्थश्च ताभ्यां मनोहराभिः रमणीयाभिः स्वस्यगीर्भिः काव्यबन्धैरस्तौत् स्तौति स्म ।

33 सुखायेति । हे नृपते सुर्जन, दिनेशान्वयमण्डितस्य दिनेशः सूर्यस्तस्यान्वयो वंशस्तस्य मण्डितमाभरणं, भावे क्त, तस्य तव माध्यन्दिनी मध्यन्दिनी मध्यन्दिनसम्बन्धिनी सन्ध्या सुखाय शर्मणेऽस्तु भवतु । यद्वा नृपतेः तु इति पदच्छेदः । तव नृपतेः माध्यन्दिनी सन्ध्या सुखाय तु, अस्तीति शेष :

कथमधुना सन्ध्या । प्रचण्डश्चासौ चण्डांशुः सूर्यस्तस्य मयूखाः किरणाः तद्वत् खेलतां तेजसां दद्युत्या कान्त्या वीक्षिता दृष्टा श्रीःशोभा यस्याः सा । उपमा ।

34 दिगङ्गनेति । सम्प्रत्यधुना चण्डेन भीषणेन तव तापेन प्रतापेन, यद्वा चण्डस्तापो यस्य स सूर्यस्तेन प्रमूच्छिता विसंज्ञीकृता दिगङ्गना दिगेवाङ्गना दिशारमणी दिशां ये गजाः दिक्करिणस्तेषां कर्णा एव तालाः व्यजनानि तैस्संवीज्यमानाऽपि तत्पवनैरासेविताऽपि भवतो यद् यशः कीर्तिस्तदेव सन् घनसारः कर्पूरं तस्य लेपं लेपनं । तनौ स्वदेहे बिभर्ति धत्ते । तापापनोदनार्थमिति भावः परम्परितरूपकम् ।

35 विभास्वत इति । अहो इति आश्चर्ये । विभास्वतो भास्वरस्य देदीप्यमानस्य, पक्षे सूर्यस्य तव इदं वैरिवृन्दं रिपुसमूहोऽधुना साम्प्रतं चण्डकर क्वापि........
.................................स्थले भूमीतले उल्लसन् यः । कच्छपः कूर्मस्तस्य वामनमल्पं यदङ्गं यस्य तत् । जनच्छायामिव, जनानां छाया इति जनच्छायम् 'छाया बाहूल्ये (२.४.२२) इति यद्वा' विभाषासेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' (२.४.२५) इति नपुंसकम् ।

36 पटीरेति । पटीराश्चन्दनवृक्षास्तेषां सत्कोटराणां रन्ध्राणां वृक्षान्तर्वर्तिबिलानां मध्ये संस्था स्थिता भुजङ्गकन्याः नागकन्याः रसनाद्वयेन जिह्वायुगलेन सर्पाणां द्विजिह्वत्वात् । अलक्ष्यं यद्रोमाञ्चं तेन सुमेदुराणि परिपुष्टानि अङ्गानि यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणपदम् । त्वदीयं तव यशः कीर्ति चिरेण चिरकालं गायन्ति । असम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिः ।

37 हतारीति । त्व हता युद्धे त्वया निपातिता येऽरयो रिपवस्तेषां नारीणां स्त्रीणां नयनानां स्थलीतः तटीतः । पञ्चम्यास्तसिल् । पलायितं भग्नं । कज्जलस्य नेत्राञ्जनस्य कालिमान कृष्णत्वं तासां वैधव्यहेतोर्नयनेभ्यः कज्जलकालिम्नो लुप्तत्वात् । तं कज्जलकालिमानं चिरेण ज्यायाः धनु प्रत्यञ्चायाः किणस्य चिह्नस्य लक्ष्यतो जगच्छरण्ये जगतां शरणस्थले आश्रयस्थाने निजे भुजे हस्ते बिभृषे धारयसि । नायं ज्याकिणकालिमा, अपितु वैरिनारीनयनेभ्यः पलायित कज्जलकालिमेत्यपह्नुतिः । "प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यास्थापनं स्यादपह्नुतिः" इति लक्षणात् ।

38 तमालेति । अणो इति आश्चर्ये । हे नृप, अधुना साम्प्रतं तव भवतस्तमालं तापिच्छपुष्पं तद्वत् काली कृष्णवर्णा नीला, रणे युद्धे द्विषतां वैरिणां शोणितेन रक्तेन शोणाऽरुणा कान्तिः शोभा, वर्णं इति यावत्, यस्याः सा । करवालस्य खड्गस्य वल्ली लता । शारदः शारदः शरदृतुसम्बन्धी यः शर्वर्या रात्र्या ईशः पतिश्चन्द्रस्तद्वत् विशारदां दक्षां लक्षणया स्वच्छां गौरवर्णां कीर्तिं यशः प्रसूते जनयति । रक्तारुणा नीला खड्गलता गौरीं कीर्तिं जनयतीति कार्यकारणयोर्भिन्नगुणत्वे विषमालङ्कारः ।

"विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम् ।
कीर्तिं प्रसूते धवलां श्यामा तव कृपाणिका ॥"
—इति चन्द्रालोके ।

39 नमदिति । एष पुरो लक्ष्यमाणः । नमन्तः प्रणामं कुर्वन्तो ये महीपालाः राजानस्तेषां किरीटाणां-मुकुटानां कोटिषु अग्रभागेषु विराजिनां देदीप्यमानानां वज्राणां हीरकमणीनां व्रजः समूहः । तावत् इति मानार्थे । यावन्मात्रं विचारणीयं तावन्मात्रमित्यर्थं इति कुमारसम्भवटीकायां मल्लिनाथः । यद्वा तावदित्यवधारणार्थेऽव्ययपदम् । तव भवतः । अतिशयेन शोणानि यानि अङ्घ्र्योश्चरणयोर्नखाङ्गुलिकण्टकानि तेषां प्रभाभिः कान्तिभिः । तत्संगादिति भावः । सद्यो झगिति । कुरुविन्दस्य माणिक्यस्य लक्ष्मीं शोभां बिभर्ति धत्ते । तद्गुणालङ्कारः । 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः' इति लक्षणात् । तेनाङ्गभूतेन परिपुष्टा निदर्शनेति तयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

"अभवन् वस्तुसम्बन्धः सम्भवन्वाऽपि कुत्रचित् ।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥"
इति साहित्यदर्पणे निदर्शनालक्षणम् ।

40 अनेकेति । अनेके बहवो ये दन्तावला हस्तिनो वाजिनोऽश्वाश्च तेषां राजिः पङ्क्तिस्तया विराजमाना शोभमाना त्वदीयाऽङ्गणभुः तव आस्थाननिकेतनाजिरं । एक एव इभः ऐरावतः, एक एव च तुरङ्ग उच्चैःश्रवास्ताभ्यां युक्तां सहितां । मघोन इन्द्रस्य सभां परिषदं प्रसह्य प्रसभं हठेन अजस्रं निरन्तरं हसति उपहासविषयं विदधाति । प्रतीपमलङ्कारः ।

41 महीति। तव भवतः प्रसादोऽनुग्रहोऽर्थिलोकं याचकसमूहं मह्याः पृथिव्या महेन्द्रं सुराधिपं, पृथिव्यामिन्द्रसदृशं वैभवशालिनं,कुरुते विदधाति। तच्चित्रं न, नास्त्यत्र किमप्याश्चर्यम्। अहो इति सम्बोधने आश्चर्ये च। किञ्च किन्तु। तव प्रकोपो रोषो द्विषां शत्रूणां शत्रुभ्य इत्यर्थः, शेषे षष्ठी, स्वराज्यं निजराज्यं स्वर्गञ्च वितरन् ददत् सन् नोऽस्माकं मनश्चित्तमदयाधुना विस्मापयति साश्चर्यं विदधाति।

42 सुदर्शनीयेति। हे राजन्, एकस्त्वं अजस्रं निरन्तरं सुदर्शनीया रमणीयाऽऽकृतिर्मूर्तिर्यस्य सः। स्वधर्मैस्तिथीन् प्रतिपदादितिथीन्। तिथिशब्दः पुंसि स्त्रियाञ्च प्रयुज्यते। अतिथीश्च तिथिविरहितानिति विरोधः, परिहारे अतिथीन् अभ्यागतान् परं सत्कुरुषे। अहो इत्याश्चर्ये। श्लेषपुष्टो विरोधाभासः।

43 समुल्लसदिति। युग्मम्। अग्रेण पदचेन सहान्वय। समुल्लसत् शोभमानं सैन्यं, सेनैव सैन्यं स्वार्थे ष्यञ्। तस्य या घटा घटना पङ्क्तिस्तया प्रचण्डो भीषणो मण्डेश माण्डूसुरत्राणस्तस्य यज्ज्वलनास्त्रं आग्नेयास्त्रं नालिकास्त्राणि यद्वा आग्नेयसुरङ्गादीनि तेषां योगात् सम्बन्धात् हेतोः। अदभ्रं अत्यधिकमभ्रङ्कषो यश्चित्रकूटो महागिरि आकाशस्पर्शी चित्तौड-दुर्गपर्वतस्तस्मिन् सत्वरमेव शीघ्रमेव डीने उड्डीने लक्षणया विध्वस्ते सति। इत्यग्रेणान्वयः।

44 सहायकर्त्रेति। उदयसिंहस्य तन्नाम्नो मेवाडाधीशस्य सहायं करोतीति कर्त्ता सहायकः। ते तव पिता जनकोऽर्जुनो नाम। शिखराग्रे पार्वत्यदुर्गशिखरे संस्थः स्थितः सन्। करेण स्वभुजेन करवालवल्लीं खड्गलतां कर्षन् आकर्षन् दिवं स्वर्गं जेतुं स्वायत्तीकर्तुं व्रजन् गच्छन्निव व्यलोकि दृष्टः। जनैरिति शेषः। वस्तूत्प्रेक्षा।

अत्र किञ्चिदितिहासविरुद्धं वर्तते। चित्तौडदुर्गोपरि आक्रमणमेतन्माण्डूसुरत्राणेन न कृतमासीत्, अपितु गुर्जरसुरत्राणेन बहादुरशाहेन द्विनवत्यधिकपञ्चदशशते (१५९२ वि०, १५३५ ई०) वैक्रमाब्दे राजा-विक्रमाजित्नाम्नाश्चित्तौडाधीशस्य राणासङ्ग्रामसिंहपुत्रस्य शासनकाले कृतमासीत्। मुगलेतिहासानुसारं मार्चमासि आक्रमण मेतत्सम्पन्नमासीत्। अस्मिन्ने-

वाक्रमणे सुर्जनपिता नर्मदपुत्रोऽर्जुनश्चित्तौडदुर्गस्य सुरङ्गेणोड्डयनसमये दुर्गप्राकारे स्थितो युद्धयमानो विध्वस्त इति गेहलोतादि-राजस्थानेतिहासविदां ग्रन्थेभ्योऽधिगन्तव्यमिति दिक् ।

45 इतीति । इति पूर्वोक्तानुसारं वन्दिजनेन मागधलोकेन स्तुतो वर्णितः । नम्राणि यानि नृपाणां राज्ञां करदभूपतीनामुत्तमाङ्गानि शिरांसि तेषु तेषां वा यानि शोभनानि रत्नानि हीरकादीनि तैर्नीराजितौ आरार्तिकया पूजितौ पादौ चरणौ एव पद्मे कमले यस्य सः । राजन्यशिरश्चुम्बितचरणकमलः । स भूपः सुर्जनः । सामन्तानां करदराज्ञां समाजं सभामाशु विसृज्य हित्वा गृहान् ययौ अन्तःपुरं स्वप्रासादं वाऽगच्छत् । रूपकम् ।

46 इतीति । इति इत्थं जगत्त्रय्यास्त्रिलोक्याः पालने रक्षणे लग्ने एव लग्नके, यद्वा लग्नके प्रतिभूभृतेऽस्मिन्नृपे शासति पालयति सति । लोकानां त्रितयीं लोकत्रयमवन् रक्षन् स मुरारिर्विष्णुरचिन्तश्चिन्तारहितः सन्नम्बुनिधौ समुद्रे सुखेन शिश्ये शेते स्म निद्राति स्म । असम्बन्धेऽसम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिः ।

47 चकत्तेति । अथैतदनन्तरं रणे युद्धेऽतिदृप्तोऽत्यधिकं दर्पशाली मदिष्णुस्तुरुष्क-सङ्घस्य तुरुष्काणां तुर्कजातीयानां यवनानां सङ्घस्य समूहस्य नाथः स्वामी, चकत्तो वंशः चुगताई-कुलं तस्मिन् भवः वंश्यः, 'वंशात् यत्' । अकबरस्तन्नामा दिल्लीपतिः । धनुर्धराणां वीराणां अक्षौहिणिकास्तत्परिमाणाः सेनाः दधानो बिभ्रत् । रणस्तम्भगिरि-निरोद्धुमाक्रमितुं ययौ गच्छति स्म । "सा सेनाऽ-क्षौहिणी नाम खागाष्टैकैर्द्विकै (२१८७०) गजैः ।। रथैरेतै (२१८७०) हयैस्त्रिघ्नैः (६५६१०) पञ्चघ्नैः (१०९३५०) च पदातिभिः" इत्यक्षौहिण्या लक्षणम् ।

48 अमुष्येति । गरीयान् गरिष्ठो महाकायः शराणां बाणानामोघः समूहः स एव दंष्ट्रा विषदन्तः तया विकटो भीषणः । जगतां त्रयी त्रिलोकी तस्याः संग्रसनं निगरणमेवोग्रं भयङ्करं कर्म व्यवहारो यस्य सः । कुपितः क्रुद्धोऽमुष्य अस्याकबरस्य सैन्यमेवाजगरो महासर्पः । क्षणेन शैलं रणस्तम्भगिरिं रुरोध अरौत्सीत् रुणद्धि स्म । साङ्गरूपकम् ।

49 गृहीतुकाम इति । महीध्रं तं रणस्तम्भदुर्गं ग्रहीतुकामः स्वायत्तीकर्तुमनाः । सुभीमभीमोऽत्यधिको भयङ्कर । यवनैर्म्लेच्छैरभिरामो यद्वा यवनेष्वभिरामः

सुन्दरः । स अकबरः । तं गिरिं स्वकीयैः सैन्यगणैः सैनिकैर्निरुध्याक्रम्य तत्र कियन्ति वर्षाणि तस्थौ । दुर्गग्रहणेऽसमर्थस्तत्रैव ससैन्यस्तिः स्म ।

50 अथेति । अथ तदनन्तरं । तस्मिन् धरणीधरे पर्वते रणस्तम्भदुर्गेऽवरुद्धे आक्रान्ते सति । अमर्षेण क्रोधावेशेन सन्दीपितः प्रज्वलितो बाह्वोर्भुजयोर्दर्पो मदो यस्य सः । धरायाः पृथिव्याः अधिराजो महाराजः स वीरो नृपसुर्जनः । सद्यः समराय युद्धाय ससर्प । दुर्गाद् बहिरागच्छति स्म । अनुप्रासः ।

51 वितत्येति । चण्डांशुः सूर्यस्तस्य कुले वंशे एकवीरो महान् योद्धा स नृपः सुर्जनः । अतीव चण्डं अत्यधिकं भीषणं कोदण्डं धनुर्वितत्याधिज्यं विधाय । रिपूणां शत्रूणां सङ्घसमूहस्तस्मै घोरैर्भयङ्करैरमोघैः शत्रुनाशने समर्थैः शरैर्बाणैः रोषेण तुरुष्कनाथमकब्बरं ववर्ष । अकबरं प्रति बाणान् निचिक्षेप ।

52 समुल्लसदिति । समुल्लसन्तौ देदीप्यमानौ यो दोषौ भुजौ तयोर्मद दर्पस्तेन मेदुराणां परिपुष्टानां अरीणां शत्रूणां प्रलयैकहेतून् नाशनिमित्तभूतान् इषून् बाणान् रणे युद्धे विमुञ्चन्तं अथ च आदधानं धारयन्तं तं सुर्जनं जनो लोको जातु कदाचिदपि न विदाञ्चकार न वेत्ति स्म । कदा स नृपो बाणान् प्रक्षिपति कदा च तान् संधत्ते इति तारतम्यपूर्वकं ज्ञानं लोकस्य नासीदिति भावः । अतिशयोक्तचलङ्कारः ।

53-54 परिस्फुरदिति । युग्मम् । अस्य राज्ञः सुर्जनस्य रणे युद्धेऽतिशौण्डोऽत्यधिकं मत्तः । शौण्डः शुण्डायां मद्येरतः शौण्डः अण्-प्रत्ययः । लक्षणया मत्तः । भुजप्रकाण्डः प्रशस्तो भुजः बाहु 'प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ प्रशस्तवाचकान्यमूनी'-त्यमरः । प्रचण्डं भीषणं सत्त्वं बलं जलजनावः च यस्य तं, अकबर एवाम्बु-राशिस्समुद्रस्तं प्रचण्डसत्त्वाकबराम्बुराशिम् । वेलाशिखरीव वेलायाः समुद्र-तटभूमेः पर्वत इव रुरोध अरौत्सीत् । कथम्भूतम् । परिस्फुरन्ति यानि शस्त्राण्यायुधानि तेषां गणः स एव ऊर्मीणां तरङ्गाणां माला यस्य तम् । पुनः, बलानां सैन्यानां य ओघो प्रवाहवेगः स एव पानीयस्य भरः समूहस्तै-रगाधमतिगहनम् । स्वस्य बाह्वोर्यत्तेज ओजस्तदेव वडवाहुताशो वाडवाग्नि-स्तस्य तम् । बह्वयोऽसङ्ख्या वाहिन्यः सेनाः, समुद्रपक्षे नद्यस्तासां ईशं पतिम् । परमत्यधिकं वहन्तं प्रसरन्तं । अकबरसमुद्रं रुरोध । परम्परित-रूपकम् । 'वाहिनीशेति श्लेषश्च ।

55 असाविति । अहो इत्याश्चर्यं । सुनासीरः शोभनो नासीरः सेनामुखं यस्य सः । उदारश्चापो धनुर्यस्य सः । जगत्त्रयं त्रिलोकाय जीवनदाने दक्षः । असौ सुर्जनः । इन्द्रवत् वर्षाधिष्ठातृदेववत् सन्नपि । इन्द्रपक्षे सुनासीर इति शक्रपर्यायः । उदारश्चाप ऐन्द्रं धनुर्यस्य सः । जगत्त्रयाय जीवनदाने जलदाने दक्षः कुशलः । परेषां शत्रूणां शराणामम्बुवर्षं वृष्टिं सुदुष्टग्रहवत् ज्योतिः-शास्त्रानुसारं तमःस्वभावग्रहवत् रणेऽवजग्राह रुरोध स्म । ज्योतिर्विदां मते दुष्टग्रहेण वृष्टचभावो भवति । यद्यपि जलवृष्टिं कर्तुं कुशल इन्द्र इवासौ जीवनदानं विधातुं दक्षोऽसौ सुर्जनस्तथापि शत्रूणां शरवृष्टिं दुष्टग्रहव-दरोत्सीदित्याश्चर्यम् । 'असौ सुनासीर' इति भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिः । सुदुष्टग्रहवदिति उपमा । विषमालङ्कारश्च तेषां सङ्करः ।

56 स इति । बत इति खेदे, व्यञ्जनया हर्षे । प्रजाः जनताः स्वदण्डेन नियमनेन चिरेण चिरकालं शासन् पालयन् समे शत्रुमित्रयोः समाने वृत्तिर्व्यवहारः शीलं चरित्रं च यस्य सः । धर्मराजः सः, यद्वा स धर्मराजः धर्मनिष्ठो राजा सुर्जनो यमश्च । रणे युद्धे तुरुष्कनाथाकबरस्य भटानां सैनिकानां जीवनानि प्राणान् जहार हरति स्म । शत्रुसैनिकान् यम इव जघानेति भावः यद्यपं धमराज इव समवृत्तिस्तथापि अकबर भटानां प्राणानहरत् इति खेदो हर्षो वा । रूपकातिशयोक्त्योः । सन्देहसङ्करः ।

57-59 चलदिति । त्रिभिर्विशेषकम् । असौ रणाम्बुराशिः रणो युद्धमेवाम्बुराशिः समुद्रो द्रुतं शीघ्रं रणस्तम्भगिरेः परिखा एव उपमानं यस्य स परिखासदृशो बभूव जातः । कथम्भूतः स रणाम्बुराशिरित्यग्रेणान्वयः ।

चलन्तो नृत्यन्तो ये कबन्धा रुण्डानि ताम्येवोद्धतानि तुङ्गानि भङ्गानि लहर्यः यस्य सः । समुच्छलत् प्रवहत् समुत्प्लवत् वा यच्छोणितं रक्तं तदेव बारि जलं तस्य पूरः प्रवाहो यस्मिन् सः । विदीर्णा निकृत्ता ये दन्तावलाः करिणस्तेषां चक्रं समूहः स एव नक्राः जलजन्तवो ग्राहा यत्र सः । प्रकृत्ताः खण्डिताः मूर्च्छन्तो विसंज्ञीभवन्तो ये तुरगा घोटकास्त एव मत्स्या झषा यत्र सः ।

58 हतेति । हतानां निपातितानां द्विषतां शत्रूणां दोषो भुजास्त एव मकरास्तै-रतिघोरोऽतिभीषणः । समुच्छलतां वीराणां भटानां कपालानां शिरसां

शुक्तयो यत्र; यद्वा कपालानि शिरांसि एव शुक्तयो यत्र सः । विभिन्नानि विशेषेण खण्डितानि यानि राजन्यभटानां क्षत्रियवीराणां उत्तमाङ्गानि मस्तकानि तेषु विराजतां शोभमानानां रत्नानां मणीनामावलिः पङ्क्तिस्तया शोभमानो देदीप्यमान ।

59 चिरेणेति । चिरेण चिरकालं निद्रायतीति निद्रात् निपतन्तो म्रियमाणाः ये पुरुषोत्तमाः पुरुषश्रेष्ठाः सैनिकास्त एव पुरुषोत्तमो विष्णुस्तेनाढ्यः समृद्धः । दिनेशवंश्येन सूर्यकुलोत्पन्नेन सुर्जनेन विवर्धितो वृद्धिं प्रापितः । समुद्रस्तु पौर्णमास्यां चन्द्रेण विवर्धितो भवति, एष रणसमुद्रस्तु सूर्यवंशोद्भवेन विवर्धित इति व्यतिरेकध्वनिः । पदत्रये परम्परितरूपकमलङ्कारः । 'पुरुषोत्तमाढ्यः' इति श्लेषो रूपकस्याङ्गम् । परिखोपमान ॥ इति उपमेति रूपकोपमयोः संसृष्टिः ।

60 निहत्येति । शितास्तीक्ष्णा ये पत्रिणः शरास्तेषां वृन्दैः समूहैः शत्रून् निहत्य निपात्य जगत्सु लोकेषु कीर्तिं यशश्च वितत्य प्रसार्य । सु शोभना ये दुन्दुभय आनकास्तेषां ध्वानेन नादेन विपक्षाणां शत्रूणां कर्णेषु श्रोत्रेन्द्रियेषु वितीर्णो दत्तः समुत्पादितस्तापः पीडा येन सः । भूपः सुर्जनो गिरिं रणस्तम्भदुर्गमारुरोह आरोहति स्म । युद्धानन्तरं पुनर्दुर्गं प्रत्याययौ ।

61 अथेति । अथाऽस्य राज्ञः सुर्जनस्य दृढं यथा स्यात्तथा आहतानां ताडितानां जयदुन्दुभीनां जयसूचकानां रणवाद्यानां गम्भीरतरोऽतिमन्द्रो निनादोध्वानः । प्रकामं सवृद्धमपि अत्यधिकमपि अकबरस्य यवनाधिपतेः काममभिलाषं सुमोघं व्यर्थं निष्फलमेव चकार करोति स्म ।

62 सुभीमेति । सु अत्यधिको भीमभीमः प्रचण्डो मोघकामः मोघो निष्फलः कामोऽभिलाषो यस्य सः । तेन राज्ञा सुर्जनेन सह सामाऽविरोधं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः । नयस्य राजनीतेरेकविज्ञः श्रेष्ठज्ञाताऽकबरः । उर्वीपते राज्ञः सुर्जनस्य समीपं दूतं प्रणिधिं प्रजिघाय प्रहितवान् ।

63 अथेति । अथ । सन्देशं हरतीति सन्देशवाहको दूतः । रह एकान्ते नृपस्य यवनराज्ञोऽकबरस्य निदेशमाज्ञां लब्ध्वा गृहीत्वा परमत्यधिकं वैनयिकं विनयानुरूपं सामानुकूलं युद्धाभावसूचकं स्ववेषं स्ववस्त्रादि दधत् बिभ्रत् । न तु

शस्त्रादिसुसज्जितो योद्देव । शैलं रणस्तम्भगिरिं द्रुतमेव तीव्रगत्यैव समारुरोह सुर्जनं मिलितुमारोहति स्म ।

64 पदैरिति । चरः स दूतो नृपसुर्जनस्य पादौ चरणौ प्रणम्य नत्वा । सुपाणिनेमं-हर्षैरष्टाध्यायीकर्तुः पाणिनेः सूत्रमिवोदारं ऋज्वाशयं । समर्थैर्वाच्यार्थबं धनै कुशलैः पदैः सुबन्ततिङन्तादिभिः पदगुम्फैर्विलसन् समासः सङ्क्षेपो यस्य तत् । पक्षे सक्षिप्तरूपं यद्वाऽव्ययीभावादिसमासयुक्तमष्टाध्यायीसूत्रं तद्वत् अतीव चारु रमणीयं वचो वचनमवोचज्जगाद । उपमा ।

65 विराजदिति । विराजत् शोभमानं यदम्बेरिपुरं 'आंबेरनगरं' तस्याधिराजं स्वामिनं । प्रसिद्धः ख्यातः यः सत्कच्छपानां कछवाहा-क्षत्रियाणां वंशः कुलं तस्य वीरं तत्कुलोत्पन्नं मां श्रीभगवानदासनामानं नृपस्याकबरस्य वरं श्रेष्ठं चरं दूतमवेहि जानीहि, त्वमिति शेषः ।

66 दिशामिति । हन्तेति हर्षे । योऽकबरः स्वभुजयोर्प्रतापात् ओजसः हेतोः दिशां पतीन् इन्द्रादिदिक्पालान् गृहाणां स्वनिकेतानां यान्यङ्गणानि तेषामीशानिव स्वगृहमात्रस्वामिन इव तुच्छान् चक्रे विदधे । स पुरन्दरस्य इन्द्रस्य प्रस्थं 'इन्द्रप्रस्थं' दिल्ली तस्य पतिः स्वामी क्षितीशो नृपोऽकबरोऽधुना साम्प्रतं त्वया सह सख्यं मैत्रीं कामयतेऽभिवाञ्छति । उत्प्रेक्षा ।

67 उदारेति । एष दिल्लीपतिः । साम्प्रतमधुना उदारा समुदारा कीर्तिर्यशो यस्य तस्यातिथिप्रियस्य अभ्यागतप्रियस्य तवाऽतिथिरभ्यागतो जातः । तत् तस्माद्धेतोः । अस्याकबरस्य त्वदतिथेः पाथेयस्य सम्बलस्य विधि व्यवहारं वृत्तिं वा विधातुं कर्तुं रणस्तम्भगिरेः प्रदानं तस्मै समर्पणं हितं भवते शुभावहम् । अस्तीति शेषः ।

68 सदस्थिपालेति । सन् चासो अस्थिपालस्य तन्नाम्नोराज्ञस्त्वत्पूर्वजस्यान्वये वंशे सम्भवानां हाडाकुलोत्पन्नानां भवादृशां राज्ञां बाह्वोर्बलमेव दुर्गं कोट्टं वर्तते । हि निश्चयेन । हन्तेति खेदे । तत् दुर्गं युधि कातराणां रणे भीरूणां अपरेषां भवदितराणां अन्यकुलोत्पन्नानां नृपाणां निजानामसूनां प्राणानां गुप्त्यै रक्षणाय मतं स्वीकृतम् । दुर्गन्तु कातराणां नृपाणां कृते स्वप्राणरक्षणार्थं भवति. भवादृशां वीराणां बाहुबलमेव स्वरक्षार्थं समर्थम् ।

69 यर्दीति । सूर्यान्वयसम्भवान् सूर्यकुलोत्पन्नानां क्षत्रियाणां उच्चैरतिशयेन लिखितोऽपि अङ्कितोऽप्ययं धर्मो व्यवहारोऽस्माभिरधीतः इतिहासे पठित इति भावः । अर्दर्थिसार्थस्य अर्थिनां याचकानां सार्थस्य समूहस्य कामवृक्षः कल्पद्रुमः तद्रूपः, सद्य एव झगिति फलेग्रहिः फलधरोभवति । फलं गृह्णातीति फलेग्रहिः "फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च" (३.२.२६) इति उपपदस्य एदन्तत्वं ग्रहेरिन् प्रत्ययश्च निपात्यते । झगिति याचकानां कामान् प्रपूरयतीति भावः कल्पवृक्ष इति भेदेऽप्यभेदरूपाऽतिशयोक्तिः ।

70 भवत्पुराणैरिति । हे देव राजन्, भवतां पुराणैः पूर्वजैरतिघोरबाणैर्भीमैः स्वशरैः क्षणेनाचिरमेव विपक्षाणां शत्रूणां पक्षे साहाय्ये क्षपिते नाशिते सति । शचीपतेरिन्द्रस्य चापकलाया धनुर्विद्यायाः कृतित्वं दक्षत्वं चिरेण चिरकालं विस्मारितम् ।

71 अलमिति । अप्रस्तुतेनाप्राकरणिकेन वर्णनेन कथनेन वार्तयाऽलं किल व्यर्थमेव । इदानीमधुना भवान् त्वं नो मतेनाऽस्माकं सम्मतेन अनेनाकबरेण सह, गिरिप्रदानाद् रणस्तम्भसमर्पणात् परिपूजितेन सम्मानितेन सता, ननु सुमित्रभावं शोभनां मैत्रीं कुरुताम् विधत्ताम् करोतु । अन्त्यानुप्रास ।

72 इतीति । इत्थं विनयेन नम्रतया तस्मिन् भगवानदासे आमेरपतौ ब्रुवाणे कथयति सति । लसत् शोभमानं स्मितं मृदुहासो यस्य सः । स भूपो राजा सुर्जनः प्रमनाः प्रसन्नमनस्कोऽभूत् परैः शत्रुभि रणे युद्धे, अर्थिजनैर्याचकैश्च कामे स्वाभिलषितवस्तुनि याचितेऽर्थ्यमाने सति सौरा, सूर्यस्य गोत्रापत्यं पुमान् सौरः ते भानवंशोद्भवाः क्षत्रियाः हि निश्चयेन हर्षयुताः प्रसन्ना भवन्तीति शेषः । अर्थान्तरन्यासः । "सामान्यं वा विशेषो वा यदन्येन समर्थ्यते । यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा" इति काव्यप्रकाशे तल्लक्षणात् ।

73 उवाचेति । असौ नृपसुर्जनः । मृगेन्द्रस्य सिंहस्येव गम्भीरतरोऽतिमन्द्रो यः स्वरो ध्वनिस्तेन । उदाराः स्वच्छा या दन्तानां रदानां छवयः कान्तयस्ताभिः सभास्थान् हरिन्मणीन् हरितकान्तीन् गारुतमतमणीन् हीरमणीन् श्वेतकान्तीन् हीरकमणीन् प्रकुर्वन् सन् । एवं भगवानदासमुवाच प्रत्युत्तरयति स्म । तद्गुणालङ्कारः ।

74 गृहानिति । मे गृहान् सदनं प्राप्तोऽतिथिरभ्यागतोऽकबरो यदि स्वयं गिरीन्द्रं रणस्तम्भपार्वत्यदुर्गं प्रार्थयते याचते । तर्हि जगत्सु अहमतीव धन्यः श्लाघनीयः । अस्मीति शेषः । तत् तस्माद्धेतोरस्मै अकबरायाद्रिं रणस्तम्भं ध्रुवमद्य ददद्याम् । मया दुर्गमेतत् तस्मै देयमेवेति भावः ।

75 धनानीति । धनानि वित्तं, वासांसि वस्त्राणि, गजाः करिणः, तुरङ्गाः अश्वाः, भुजेनार्जिता स्वायत्तीकृता भूमिर्मही, इदं राज्यं, प्रियः प्रेयान् देहोऽपि

स्वशरीरमपि मम देयोऽस्ति दानविषयो वर्तते । किञ्चाहमेकं केवलं यशः कीर्तिं दातुं वितरितुं कृपणो बद्धमुष्टिरस्मीति शेषः ।

76 इतीति । इति इत्थं ब्रुवन्नेव कथयन्नेव दानवीरो दाने वीरः शूरो दिनेश वंशस्य सूर्यकुलस्य द्युमणिः सूर्यः स नृपालः सुर्जनः सदयोऽकबरस्य पूजां सम्मानं विधाय कृत्वा तस्मै रणस्तम्भगिरिमदत्त दत्तवान् ।

77 ददिति । नृपालो राजा सुर्जनः । सदर्थिमान्याय याचकश्रेष्ठाय तस्मै अकबराय रणस्तम्भगिरिं ददत् समर्पयन् प्रमोदं हर्षं बहन् बिभ्रत् आत्ममैत्रीमेव सारां श्रेष्ठां सुदक्षिणां दक्षिणारूपी द्रव्यं वितताार ददौ । रूपकम् । छन्दोनुरोधादेवपदस्याक्रमप्रयोगः । किलेति वाक्यालङ्कारे ।

78 अथेति । अथैतदनन्तरं । अहो इति हर्षे । स दिल्लीशोऽकबरः । नदन्तः शब्दायमाना ये मृदङ्गानकदुन्दुभयो वाद्यविशेषास्तेषां गंभीरनादैर्मन्द्रध्वनिभिः स्वमात्मीयं यशः कीर्तिं प्रथयन् विस्तारयन् उद्घोषयन् । तेन सख्या मित्रेण राज्ञा सुर्जनेन सह मघोन इन्द्रस्य प्रस्थं पुरं दिल्लीनगरमाययौ आजगाम ।

79 स इति । सोऽकबरस्तत्र दिल्लीपुरे गत्वा नृपसुर्जनस्य पूजां सम्मानं विविधैर्नानाप्रकारैरुपचारैः सेवाभिर्विधाय मदोद्धराणां मदोन्मत्तानां सिन्धुराणां गजानां वराणां श्रेष्ठानामर्वतामश्वानां सहस्रञ्चापि ददौ समर्पयति स्म ।

80 जगत्त्रयेति । सोऽकबरो जगत्त्रयस्य त्रिलोकस्य अभीतिरभयं तदर्थं वदान्यावुदारौ बाहू भुजौ यस्य तं, सुबाहुजानां श्रेष्ठक्षत्रियाणां मुकुटैकरत्नं किरीटमणिरूपं वरं श्रेष्ठं सखायं सुहृदं तं नृपसुर्जनं पुलिन्ददेशस्य 'गोंडवाना' प्रदेशस्याधिपतिं शासकञ्चक्रे नियुक्तवान् । रूपकम् ।

81 अथेति । अथ तदनन्तरं तर्जितं पीडितं शत्रूणां रिपूणां गोत्रं कुलं येन सः । तस्याकबरस्य हितं कल्याणं प्रत्ययो विश्वासश्च तस्यां यद्वा तस्य हिताय यो विश्वासस्तेन जाता समुद्भूता वृद्धिः समृद्धिः पदवृद्धिर्वा यस्य सः । आर्जुनिः अर्जुनस्यापत्यं पुमान् अर्जुनपुत्रः सुर्जनः । तुरङ्गमाणां हयानामयुतद्वयेन विंशतिसहस्रेण सह पुलिन्ददेशस्याधिपतिं राजानं नियन्तुं संगृहीतुं विजेतुं ययौ जगाम ।

तद्धितप्रत्यय-जातवृद्धिरिति अनेकार्थशब्दमहिम्नाऽपरो व्यङ्ग्यरूपोऽर्थः प्रतीयते।

तद्धितेनापत्यार्थक-इञ्-प्रत्ययेन जाता वृद्धिः प्रकृतेराद्यस्वरस्य वृद्धिः 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रेण 'अर्जुन' शब्दस्य आदिस्वरस्य अ-इत्यस्य आ-रूपं यस्य स एतादृशः आर्जुनिरिति पदप्रयोगः।

82 विपक्षेति। विपक्षाणां शत्रूणां पक्षः साहाय्यं तस्य क्षये नाशे वावदूकाऽतिबक्री। वावदूका वदधातोर्यङ्लुङ्न्तात् वावदतीतिरूपात् "उलूकादयश्च" (4.41) इत्युणादिना ऊकप्रत्ययः, स्त्रियां टाप् च। कठोरा क्रूराया कल्पान्तस्य प्रलयस्य तडिल्लता विद्युद्वल्लीव नृपस्य राज्ञः सुर्जनस्य तेजः शिखिनः प्रतापाग्नेः शिखा ज्वालेव पीता पिङ्गला पताका ध्वजाऽस्याभिचिक्रंसोर्नृपस्य पुरोऽग्रे शुशुभे रेजे। मालोपमा।

83 सदेति। वदान्या उदारा दानशीला जना इव सदा दानवन्तः याचकेभ्यो दानं दातुं प्रवृत्ताः, पक्षे मदजलयुक्ताः भटाः सैनिका इवोद्भासिन· शोभमाना ये शिलीमुखा बाणाः पक्षे भ्रमरास्तेषामोघो येषां ते। महान्तश्चैते कुलीनाश्च, यद्वा महत् यत् कुलं तत्संबन्धिनः पुरुषा इव चारुः वंशोऽन्वयः पक्षे भद्रादि-जातिर्येषान्ते। पुरोगताः अग्रेयाता गजाः सेनाकरिणो विरेजुः शुशुभिरे। प्रयाणकाले इत्यर्थः। श्लेषानुप्राणिता मालोपमा।

84 प्रचण्डकोपा इति। प्रचण्डो भीषणः कोपो येषान्ते प्रचण्डकोपा जना इव क्षमां क्षान्तिं, तुरङ्गपक्षे पृथिवीं कदाचिदपि न स्पृशन्तः सदा नभोगमने समर्थाः तस्य तुरङ्गा घोटकाः। समुद्र इव पयोधय इव मणिप्रभया तुरगाणां निगालगस्थितेन देवमणिना, आवर्तैर्दशावर्तैश्च मङ्गलसूचकैर्युक्ताः, पक्षे रत्नकान्त्या आवर्तैर्जलभ्रमिभिश्च युक्ताः। अतिवेगेनाऽतिरभसा प्रयान्तः प्रयाणार्थं गच्छन्तो बभू रेजुः। श्लेषानुप्राणिता मालोपमा।

अश्वशास्त्रे मणिर्निगालजो देवमणिः
"आवर्तो रोमजो देवमणिस्त्वेष निगालजः" इति
वैजयन्ती। यथा च श्रीहर्षे,
"अथान्तरेणावटुगामिनाध्वना

निशीथिनीनाथमहः सहोदरैः ।
निगालगाद् देवमणेरिवोत्थितै—
विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥"
(नैषधः १.५८) इति ।

आवर्तास्तुरगाणां दशावर्ताः ते च—
"द्वावुरस्यौ शिरस्थौ द्वौ द्वौ रन्ध्रोपरन्ध्रयोः ।
एको भाले ह्यपाने च दशावर्ता ध्रुवाः स्मृताः ॥" इति ।

अस्मिन् पद्ये कविना माघकवेर्छाया गृहीता—
"आवर्तिनः शुभफलप्रदशुक्तियुक्ताः
सम्पन्नदेवमणयो भृतरन्ध्रभागाः ॥
अश्वाः प्यधुर्वसुमतीमतिरोचमाना—
स्तूर्णं पयोधय इवोर्मिभिरापतन्तः ।।"
(शिशु. ५.४) इति ।

85 अमुष्येति । समरेषु युद्धेषु एकधीरा अतिशयधैर्यवन्तः । धनुषां चापानां द्विषां वैरिणाञ्च सुकृष्टाः जीवाः प्रत्यञ्चाः, पक्षे जीवनानि च यैस्ते । निरन्तरमजस्रं मानमेव धनं तस्मै एकलुब्धा परं लोभयुक्ताः । पत्युः राज्ञः सुर्जनस्य प्रियाय प्रियं कर्तुं 'तुमर्थाच्च भाववचना' दिति चतुर्थी । तरसा वेगेन समीयुः जग्मुः । धनुषां द्विषाञ्च प्रकृतानां सुकृष्टजीवत्वरूपैकधर्माभिसम्बन्धात् श्लेषानुप्राणिता तुल्ययोगिता । "नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता" इति मम्मटोक्तलक्षणात् ।

86 अथेति । अथास्य सुर्जनस्य धावतां प्रवतां हयानामश्वानां पादैश्चरणैर्धूतैरुद्धतै रजोभिर्धूलिभिः । जनानां लोकानामन्धङ्करणैः दृष्टिविघातं कुर्वद्भिः । अन्धङ्करणैरिति खश् । दिशः पूर्वादयः पुलिन्देशस्तद्देशस्य राजा तस्य महानिशा मृत्युस्तस्यास्तिमिरैरिवान्धकारैरिव क्षणेनमचिरात् पूर्णा व्याप्ता आसुरभूवन् । उत्प्रेक्षा ।

87 कर इति । भिल्लीपस्य भिल्लदेशराज्ञः पुलिन्दाधिपतेर्महीं राज्यं गृहीतुं स्वायत्तीकर्तुं । करे हस्ते करालां भीषणां करवालवल्लीं खड्गलतां दधत्

बिभ्रत् युधि रणेऽहीनं प्रबलं वीर्यं शौर्यं यस्य सः। वज्रं पाणौ यस्य तस्य सुशोभनो यो वृत्रः तन्नामा दैत्यस्तस्य जैत्रः जेता तस्येन्द्रस्य। लक्ष्मीं शोभां दधार बभार। निदर्शना।

88 अयमिति। अयं सुर्जनोऽमन्दान् प्रचण्डान् बहून् वा पुलिन्दाधिपतीन् भिल्ल-शासकान् प्रचण्डबाणैः कठोरशरैर्मन्दानलसानसमर्थान् वा विदधत् कुर्वन्। चतुष्काचलं तन्नामकं दुर्गमाशु वशे कृत्वा स्वायत्तं विधाय। शीघ्रं चौराचल-नाथं तद्दुर्गाधिपतिं जगाम। अभिक्रमितुमगच्छत्।

89 सुवंशजातमिति। अत्र चौराचले सुवंशजातं शोभनदृढवेणुनिर्मितं पटु कुश लं कोटयोरन्तयोर्युग्मं यस्य तं, विराजी सुवर्णस्याय रमणीयो लेखः सुवर्णा-क्षरैरङ्कितं राज्ञो नाम यत्र तं चापं धनुर्विकृष्याधिज्यं विधाय। शरौघान् बाणसमूहान् किरतः क्षिपतोऽस्य सुर्जनस्य प्रचण्डो भीषणो रणो युद्धं जज्ञे जातः अभूत्।

90 सुदारुण इति। तत्र चौराचले दिनेशः सूर्यः पुलिन्दः भिल्लः तयोर्वंशयोः कुलयोः उद्भवयोर्जातयोः सुर्जन-पुलिन्दपत्योः सुदारुणेऽतिभीषणे रणे युद्धे प्रवृत्ते जाते सति। भटाः सैनिकाः देहेषु स्वशरीरेषु। वत्सदन्तक्षतेषु वत्सानां दन्तैः रदनैः क्षतेषु चर्वितेषु तृणौघेषु घाससमूहेष्विव आस्थां श्रद्धां विश्वासं जहुस्त्यक्तवन्तः। सैनिकैः स्वजीवने आशा सर्वथा त्यक्तेति भावः किलेति वाक्यपूर्तौ, यद्वा निश्चयेन। उपमालङ्कारः।

91 चिरेणेति। रणो युद्धमेव रङ्गः संगीतकं तस्मिन् रणस्य रङ्गे रङ्गभूमौ धीरो धैर्यशाली चौराचलस्य नाथः स्वामी। आजौ सङ्ग्रामे समुत्क्षेपणिकया तोप' इति उत्क्षेपणास्त्रेण अश्मवर्षं प्रस्तरगोलकवृष्टिं यद्वा अयोगोलकवृष्टिं किरन् क्षिपन्। मानस्य स्वाभिमानस्य ग्रहिलेन निर्बन्धशीलेनानेन राज्ञा सुर्जनेन सार्धमुच्चैरतिशयेनायुध्यत युध्यते स्म।

92 द्वयोरिति। द्वयोरुभयोर्बुन्दीशचौराचलनाथयोर्बाणगणः शरसमूहोऽश्मवर्षो गोलकवृष्टिश्च तयोर्मिथः परस्परं यो विनिष्पेषः सङ्घर्षस्तेन समुच्छ्रितेन बर्धितेनादभ्रं अत्युच्चं अभ्रंलिहतीति अभ्रंलिहः आकाशस्पर्शी यो वह्नि-

रग्निस्तेन हेतुना, ज्वलनास्त्रं सुरङ्गादि आशु शीघ्रमेवोच्चैरतिशयेन समुल्ललास समुल्लसति स्म, लक्षणया जज्वाल ।

93 तदेति । तदा तस्मिन् समये आर्जुनिरर्जुनसुतः सुर्जनः । सन् यस्तरवारिः खड्गस्तस्य धारा निशितं मुखं तया विराजितो य आसारः प्रपातः तस्य रयेण वेगेन, पक्षेऽतिशयेन सती सत्तरा या वारीणां जलानां धारा जलवृष्टिः तया विराजितस्यासारस्य जलबिन्दुपातस्य रयेण वेगेन । युद्धे रणे क्षणेन चौरमहीध्रनाथः चौरागढशासकः तस्य भुजयोर्बाह्वोः यत् समुत्थमुद्भूतं तेजः ओजोऽग्निस्तमिव अशीशमत् शमयाञ्चकार । श्लेष उपमा च तयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

94 पुलिन्देति । अमुना सुर्जनेन हतानां निपातितानां पुलिन्दयूनां पुलिन्दभटानां समुच्छलत् वेगेन प्रवहत् यच्छोणितं रक्तं तदेव वारिजलं तस्य पूरैरोघैः रणाङ्गणे युद्धभूमौ उन्नर्तिता नृत्यपरा या सौवा स्वकीया स्वस्येयमिति सौवा कीर्तिः यशः तस्याः बकपङ्कलेपः सद्योऽकारि कृतः । रूपकम् ।

95 अमुष्येति । निश्चयेन सम्भावनायां वा । अमुष्य नृपस्य कीर्तेर्यशसो रङ्गभूमौ नाट्यशालायां तद्रूपे परमत्यधिकं विचित्रेऽद्भुते रणाङ्गणे रणभूमौ । कपालं हतवीराणां मुण्डं तदेव चञ्चत् स्फुरच्चषकं पानपात्रं तस्मिन् जातौ एकवचनम्, तत्पात्रेषु । अस्रसीधु शोणितमद्यं प्रपीय अत्यधिकं पीत्वा मत्ता उन्मत्ताः पिशाच्यो: डाकिन्यः प्रेतवनिता ननृतुः नर्तकीरूपिण्यो नृत्यन्ति स्म । परम्परितरूपकम्, न तु समासोक्तिः ।

96 कृपाणेति । मिलतां रणे एकत्रीभूतानां शुकानां शुकपक्षिणामाली पङ्क्तिः उन्मदा मत्ताः कुम्भिनो गजास्तेषां कुम्भेभ्यो गण्डस्थलेभ्यो निपातिन्यः पतनशीला या मुक्ता मुक्ताफलानि । सुदाडिमी दाडिमीलता तस्याश्चारूणि यानि फलानि तेषां भ्रमेण सहसा चकर्ष चञ्चुभिराकर्षयति स्म । कथम्भूताः मुक्ताः । स्रवदस्रशोणाः स्रवत् निःसरत् यदस्रं शोणितं तेन शोणा रक्ताः । अरुणवर्णाः । भ्रान्तिमानलङ्कारः ।

97 अथेति । अथैतदीयं एतत्सम्बन्धि, राज्ञः इति भावः, यदुद्धुरं कठोरं मण्डलाग्रं खड्गस्तेन विदीर्णं खण्डितं गात्रं शरीरं यस्य सः । क्षमायां पृथिव्यां

पतितो निपतितः स पुलिन्दराजश्चौराचलदुर्गेशो रणमूर्ध्नि समरमुखे योगिनां योगिभिर्लभ्यां तां विशिष्टां गतिं सूर्यमण्डलभेदनरूपां सद्यो झगिति लेभे प्राप्तवान् ।

98 सुरालयेति । सुराणां देवानामालयो निवासः स्वर्गं तत्र प्रेषितो जीव एव दूतश्चरो येन सः । पक्षे, सुरायाः आलयः शौण्डिकापणं तत्र प्रेषितो जीवदूतो येन सः । चिरेण चिरकालं घूर्णन् भ्राम्यन्, सततं मूर्च्छन् विसंज्ञतां गच्छन्, मुहुर्वारम्वारं स्खलन् पतन्, श्रीरहितः श्रिया कान्त्या शोभया रहितो हीनः । तस्य पुलिन्दराजस्य स देहः शरीरं दलन्मदस्य मदप्रभावितस्य मद्यपस्य देह इव पपात भूमावपप्तत् । श्लेषानुप्राणितोपमा ।

99 उपासित इति । भूतगणैः पिशाचैरजस्रं निरन्तरमुपासितः सेवितः । विकीर्णं क्षिप्तं मुण्डं यस्य सः पुलिन्दराजदेहः । पक्षे विकीर्णानि मुण्डानि येन स हरः । शिवाभिः फेरीभिराश्रितोऽपि, पक्षे शिवया पार्वत्या आश्रितोऽपि । अस्य पुलिन्दराजस्य देहः शरीरं युद्धस्य समरस्य या सुरापगा गङ्गा तस्यां समाप्लुतो मज्जितः स्नातः इहैवास्मिन्नेव लोके हरो बभूव शिवत्वं प्राप्तवान् । श्लेषानुप्राणित-रूपकातिशयोक्त्योः । सन्देहसङ्करः ।

100 निहत्येति । स सुर्जनः चौराचलनाथं पुलिन्दराजं निहत्य निपात्य उच्चैरतिशयेन चारणैर्मागधैरुद्गीता कीर्तिता भुजयोर्बाह्वोः प्रशस्तिः प्रशंसा यस्य सः । दरिद्राकृतः निःस्वः कृतो देवशैलो देवगिरिर्येन सः, देवगिरिं जित्वेत्यर्थः । वरागढस्य गोंडवानाराजधान्याः राजलक्ष्मीं द्रुतं जहार हृतवान् । वैरागढदुर्गं मध्यप्रदेशे आधुनिक-भोपालनगरसमीपं वर्तते ।

101 समूलघातमिति । मूलेन सह घातो नाशो यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणं । शत्रून् विनिहत्य निपात्य तत्र रणे युद्धे तद्रूपिणि स्वयम्वरे, यद्वा रणे । स्वयम्वरे इव । स नृपः सुर्जनः । आजौ युद्धे चकासतीं शोभमानां जयश्रियं विजयलक्ष्मीमिन्दुमतीमिव स्वस्य वशे चकार । स्वायत्तीकरोति स्म । अज इन्दुमतीमिव विजयलक्ष्मीं परिणयति स्मेति भावः । रूपकोपमयोः सङ्करः । उपमा वा ।

102 इतीति । इतीत्थं क्षणेनैव क्षपितो नष्टोऽरीणां रिपूणां पक्षः साहाय्यं येन सः ॥ स्वविक्रमेण निजबलेनाक्रान्तो वशीकृतः पुलिन्ददेशो येन सः ॥ स नृपः सुर्जनः दस्राविव अश्विनीकुमाराविव साधुपुत्रौ सुशीलौ सुतौ दुर्योधनभोजदेवनामानौ असूत जनयामास ॥ उपमालङ्कारः ॥

103 पुत्रद्वयेति ॥ पुत्रयोः सुतयोर्द्वयं युगलं तस्मिन् न्यस्ता निहिता समस्ता समग्रा सम्पत् राज्यसमृद्धिर्येन सः वसुन्धरायाः पृथिव्याः पालनस्य रक्षणस्य कर्मणि खिन्नः श्रान्तः सन् एष सुर्जनदेवो महीपती राजा सुचिरं चिरकालं सुखस्याम्बुराशिं समुद्रं जगाहे गाहते स्म न्यमज्जत् ॥

104-106 अथेति ॥ त्रिभिर्विशेषकम् । अथ तस्य राज्ञो देहे शरीरे जरा वृद्धावस्थाऽऽविरासीत् प्रकटीबभूवेत्यग्रेणान्वयः ।

कथम्भूता जरा । बत इति खेदे ॥ चिरेण यावनी यवनसम्बन्धिनी रीतिर्नीतिर्व्यवहार इव द्विजवर्गवृत्ति द्विजानां दन्तानां यद्वर्गं समूहस्तस्य वृत्ति व्यापारं उत्खनन्ती उत्पाटयन्ती, पक्षे द्विजानां ब्राह्मणानां ब्रह्मक्षत्रविशां वा वर्गं समूहस्तस्य वृत्ति जीविकां जीवनं वा उत्खनन्ती समूलमुत्पाटयन्ती नाशयन्ती म्लेच्छनीतिः । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । पुनः । स्फुरत् प्रकटीभवत् यत् तमिस्रमन्धतमः यस्याः यस्यां वा सा रजनीव रात्रिरिव सद्यो जनानां लोकानां दृष्टिपथं नेत्रमार्गं निरुन्धती आच्छादयन्ती निवारयन्ती । वार्धक्यस्य रात्र्यान्धकारस्य चान्धङ्करणत्वात् ।

105 कुभूमिपेति । कुत्सिता दुष्टा ये भूमिपा राजानस्तेषां नीतिर्व्यवहार इव प्रचण्डा भीषणा । द्रुतं विनश्यन्ती विषयाणां शब्दरूपादीनां उर्वी सम्पत् यया सा यस्यां सा वा जरा पक्षे विनश्यन्तो विषयस्य देशस्योर्वी महती सम्पत् समृद्धिर्यया यस्यां वा सा कुनृपनीतिः जगती पृथ्वीव लसन्ती शोभमाना बलीनां श्लथचर्मणां श्रीः शोभा यस्या सा, पक्षे लसन्ती शोभमाना बलेः राज्यग्राह्यकरस्य श्रीर्यस्याः सा । पुनः, हिमवतो गौरीगुरोर्हिमालयस्य दरी गुहेव प्रकम्पितानि अङ्गानि यया यस्यां वा सा, पक्षे प्रकम्पितानि अङ्गानि यया सा दरी, दरीदर्शनाद् भीत्या जनः प्रकम्पिताङ्गो भवति ।

106 वपुरिति । बत इति खेदे । अस्य नृपस्य कर्णजाहे कर्णमूले । "तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहजौ" इति जाहच् प्रत्ययः । रह एकान्ते

पलितस्य शुक्लकेशस्य च्छलाद् व्याजेन वपुषः शरीरस्य विरामं विश्रान्तिं अन्तिमावस्थां वदन्ती कथयन्ती जरा। सुतृप्तभूनिर्जरसोऽपि सुष्ठु तृप्ताः सन्तोषिता दानादिनेति भावः भूनिर्जरसो ब्राह्मणा येन तस्य राज्ञः सुर्जनस्य; यद्वा सुष्ठु तृप्तः सन्तुष्टः भूनिर्जराः पृथ्वीदेवो राजा सुर्जनस्तस्य 'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठतीति' मनुवचनात् नृपस्यापि भूनिर्जरत्वम्। देहे शरीरे प्रकटीबभूव। श्लेषानुप्राणितोपमा, 'पलितच्छलेनेत्यपह्नुतिः,' निर्जरसोऽपि जराविरासीदिति विरोधालङ्कारः। तेषां संसृष्टिः। पद्येऽस्मिन् कविना कालिदासीयपद्यच्छाया ग्रहीतेति सहृदयैः स्फुटमनुभूयते।

"तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा।।"
(१२.२) इति।

107 प्रतापेति। युग्मम्। प्रतापेन तेजसा पराक्रमेण सन्तापितं पीडितं वैरिणां शत्रूणां चक्रं वृन्दं येन तं दुर्योधनं ज्येष्ठं पुत्रं, लोके इतिहासे च 'दूदा' इति नाम्ना प्रसिद्धं बुन्दयां स्वराजधान्यां निवेश्य यौवराज्ये स्थापयित्वा स्वस्यात्मनश्चिरेण भक्तं सेवानिष्ठं अतिप्रियं प्रेष्ठं सुतं पुत्रं भोजदेवनामानं गृहीत्वाऽऽदायेत्यग्रेणान्वयः।

108 चिरमिति चिरं बहुकालं च्युतो नष्टः स्नेहो रागः विषयासक्तिर्यस्यास्ता स्वतनूं, पक्षे च्युतो नष्ट स्नेहस्तैलं यस्य स सुदीपकः दीपस्तस्याभा इव आभा यस्यास्तां। दशया अवस्था, पक्षे वर्तिकयाऽन्तसंस्थां नाशोन्मुखां। स्वतनूं स्वदेहं निरीक्ष्याऽवलोक्य। विशिष्टा मुक्तिरपवर्गः सैव कामोऽभिलाषो यस्य सः मुक्तिमभिलषन्नपि स मोक्षाभिलाषी अपि राजा सुर्जनः। गङ्गया भागीरथ्या रुचिरं रमणीयं अविमुक्तं न विमुक्तं अप्राप्तमोक्षं स्थानं जगाम गतः। मुक्तिकामोऽपि अविमुक्तं जगामेति विरोधः, परिहारे अविमुक्तं तन्नाम्ना प्रसिद्धं वाराणसीक्षेत्रं ययौ। उपमाविरोधयोः संसृष्टिः। श्लेषश्च तयोरङ्गम्। वाराणसीक्षेत्रं पुराणादिषु अविमुक्तमिति नाम्ना प्रसिद्धं वर्तते। उक्तञ्च काशीखण्डे—

"मुने प्रलयकालेऽपि न तत् क्षेत्रं कदाचन।
विमुक्तं न शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः।।" इति।

109 अथेति। अथ वाराणसीगमनानन्तरमेव महीपती राजा सुर्जनः शम्भोः शिवस्य सुविहारभूमिं क्रीडास्थानं, विमुक्तिर्मोक्षं सैव मुक्तामणिर्मौक्तिकरत्नं तस्य चार्वी रमणीया पेटापेटिका तां मुक्तिरक्षिकां, अपवर्गहेतुमिति भावः। नगरीषु पुरीषु रम्यां मनोहारिणीं काशीं वाराणसीं। काशीति जनपदस्य पुर्याश्चापि संज्ञा। क्षणेनाचिरादेव दृग्विषयीचकार दृशोरविषयं विषयं करोतीति अभूततद्भावेच्च्विः। दृष्टवान् ददर्श। रूपकम्।

110 प्रचण्डेति। अयं नृपः प्रचण्डं भीषणं यत्तापत्रयं भौतिकदैविकात्मिकरूपा-स्त्रीविधस्तापः तेन प्रतप्तस्य जगतो लोकस्य शरण्यां रक्षिकाम्। शृणाति भय-मिति शरण्यः शृरम्योश्च (३.१०१) इत्युणादिरन्यप्रत्ययः, स्त्रियां टाप् च। यद्वा, शरणमिव शरण्यः। 'शास्त्रादिभ्यो यः (४.३.१०३ इति यप्रत्ययः। सुधयाऽमृतेन, न तु जलेनेति भावः, प्रपूर्णामिव विराजमानां शोभमानां सरसीं नदीं गङ्गां भागीरथीं विलोक्य हृदि मनसि सञ्जहर्ष प्रसन्नो बभूव। उत्प्रेक्षा।

111 अथेति। अथ तदनन्तरं स नृपतिः सुर्जनोऽनिशं प्रतिदिनं उपेन्द्रो विष्णुः, वज्रायुध इन्द्रस्तौ मुख्यौ येषां ते देवाः सुरास्तैरधिष्ठितायां अध्युषितायां तस्यां द्युनद्यां गङ्गायामभिषुण्वन् स्नानं कुर्वन्। लसन्त्यः शोभमानाः सत्यो निर्दोषा आर्याः आर्येति मात्रिकजातिच्छंदांसि यस्यां तां स्तुतिं स्तवन-कवितामाशु चक्रे निर्मीति स्म। सर्गेऽस्मिन्नादितः एतत्पद्यं यावदुपेन्द्र वज्रावृत्तस्य प्रयोगात् तस्य सङ्केतः, परवर्तिनामेकादशपद्यानाञ्चार्याछिन्द-स्त्वादुभयत्र। मुद्रालङ्कारः।

112 मोक्षेति। मोक्षस्यापवर्गस्य यदमृतफलं तस्य वल्लीं लतां, हरस्य शिवस्य जटायाः केशसमूहस्य आलवाले आवापे सम्भूतामुत्पन्नां, कृतो विहितोऽघानां पापानां भङ्गो नाशो यया तां, लसन्तस्तरङ्गा वीचयो यस्यास्तां गङ्गां चिरं वन्देऽहं नौमि। रूपकम्।

113 विरचितेति। विरचित उत्पादितो जगते जगतो वा संसाराय संसारस्य वा आनन्दः प्रमोदो यया तां, जनस्य लोकस्य सन्तापं कष्टमुच्छिन्दनीं अपहरन्तीं, शीताचलस्य हिमालयस्य कुलस्य कीर्तिं यशोरूपां हिमशैलसुतां त्रिस्रोतसो गङ्गाया मूर्तिमहं कलये ध्याये, धातूनामनेकार्थत्वात्।

114 धूर्जटीति। धर्जटे शिवस्य जटामतल्लीं प्रशस्तां जटां, 'मतल्लिकामचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ। प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमरः। सल्लीनाः समीपे स्थिताः मधुव्रता भ्रमराः, द्विजाः पक्षिणश्च तेषां स्तोमः समूहो यस्यास्ताम्। परा या गतिर्मोक्षं तस्य परिमलेन सुगन्धेन बहलां परिपुष्टां। सिन्धोः समुद्रस्य वरां श्रेष्ठां महिलां पत्नीं, गङ्गामित्यर्थः। वन्दे नौमि।

115 कादम्बिनीव। कादम्बिनीव मेघमालेव ध्वस्तं नष्टं रजो रजोगुणं, पक्षे धूलिर्यया सा ध्वस्तरजाः। लोकानां तापस्य सन्तापस्य, पक्षे घर्मस्य हन्त्री नाशिका। चान्द्री चन्द्रसम्बंधिनी शशिना सुषमा कान्तिरिव तमस्तमोगुणमज्ञानं, पक्षेऽन्धकारञ्च छिन्दाना नाशयन्तो। भीष्मस्य देवव्रतस्य सूः माता पायात् रक्षतु अस्मानिति शेषः। श्लेषपरिपुष्टा मालोपमा।

116 सकलेति। सकले समस्ते जगति लोके प्रभविष्णोः समर्थस्य विष्णोर्लक्ष्मीपतेः पादौ चरणौ एवारविन्दे कमले तयोः परागः। सतां बहूनां मार्गणानां दर्शनानां मोक्षप्राप्तिसरणीनां वाऽऽमोदः सुगन्धिः। सा स्वर्धुनी गङ्गा मे अंहः पाप धुनोतु कम्पयतु नाशयतु इति भावः। रूपकम्।

117 ब्रह्मेति। ब्रह्मणो विरिञ्चेर्यः कमण्डलुः पात्रं स एव विलसत् शोभमानं प्राङ्गणं तत्र रिङ्गन्तः खेलन्तो ये तरङ्गा वीचयस्तेषां व्याजात् छलात् शिशुलीलां बालक्रीडां खेलन्ती एषा जह्नो जह्नुनाम्नो मुनेर्बाला पुत्री जाह्नवी जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। अपह्नुतिः।

118 स्वच्छैरिति। स्वच्छैर्नीरजस्कैर्विशदैर्दिवं स्वर्गं स्पृशद्भिः स्वर्गस्पर्शं कुर्वद्भिरुद्दामैः प्रबलैरुत्तालैर्वा पृषद्भिर्जलबिन्दुभिः मुक्तैः मोक्षस्य मुक्तस्रजं मुक्ताहारमिव कुर्वाणा विदधती असौ गङ्गा मे शरण्या शरणास्पदं। अस्तीति शेषः उत्प्रेक्षालङ्कारः। 'स्पृशद्भिः पृषद्भिः' इति यमकम्।

119 विहरन्त्येति। हरमौलौ शिवमूर्धनि विहरन्त्या खेलन्त्या, मज्जत एतज्जले स्नानं कुर्वतो लोकान् जनान् साधु सुष्ठु हरयन्त्या शिवरूपं विदधत्या। 'हरयति' हरमिवाचरति जनमिति हरयति। उपमानादाचारे (३.१.१०) इति क्यच्। यया गङ्गया कैलासोऽपि हरगिरिरपि कुटीवदल्पकः क्षुद्रः चक्रे-

कृतः क्रियते स्म । सर्वेषामत्र स्नानात् कैलासप्राप्तेः । सा गङ्गा अव्यात् पालयेद्रक्षेत् । न अस्मानिति शेषः ।

120 जनीति । या नृणां मर्त्यानां जनिर्जन्म मृतिर्मरणं दुखं कष्टञ्च तैर्विहीनं रहितं परमानन्दं मोक्षरूपमानन्दं ददाति वितरति । पुनरपि संसारचक्र-पतनमोक्षप्राप्तेः । सा मातेव जननीव शरण्या शरणस्थलभूता धन्या प्रशस्ता भागीरथी गङ्गा पायात् अस्मान् रक्षतु । उपमा ।

121 ईर्ष्येति । ईर्ष्ययाऽसहिष्णुतया श्यामां कृष्णवर्णामिकां यमुनाम् । अथ रोषतः क्रोधात् सुशोणा रक्ताऽऽभा कान्तिर्यस्यास्तामपरां सरस्वतीम् । स्वां सपत्नीं या स्वयं प्रसन्ना सती अङ्के वहति प्रेम्णाऽऽश्लिष्यति सा सरिन्नदी गङ्गा-ऽव्यादस्मान् पालयतु ।

122 इतीति । इतीत्थं मुनिगणस्य ऋषिसमूहस्य यतीनाञ्च मान्यामादरणीया-मार्यां मातरं गङ्गां दशश्लोक्या दशानां श्लोकानां समाहारो दशश्लोकी तया स्तुवन् स्तुतिं कुर्वन् । चरमाऽन्तिमा या दशा वृद्धावस्था तामवलम्बत इत्यव-लम्बी वार्धक्ययुतः स नृपः सुजनो विश्वेश्वरं विश्वनाथं द्रष्टुं प्रययौ तद्दर्श-नार्थं जगाम ।

123 असकृदिति । स नृपः । क्षितितले भूमौ लोलेन कम्पमानेन मूर्ध्ना शिरसा तं विश्वनाथं काशीश्वरं प्रणम्य नत्वा दण्डकमेकं सन्ततं निरन्तरं पठन् गृणन् करौ बद्ध्वा बद्धाञ्जलिः सन् तं शिवमस्तौत् स्तौति स्म । प्रतिपादं षड्विंश-त्यधिकाक्षरयुतं छन्दो दण्डकमिति कथ्यते ।

124 युगेति । हे शर्व शिव महादेव । युगस्य कल्पस्य यो विलयो नाशः तस्मिन् काले विराजमानं देदीप्यमानं यत् असमानं विषमं तृतीयमक्षि नेत्रं तदेव कुण्डं वह्निकुण्डं तस्मिन् प्रचण्डा भीषणा उल्लसन्तो ज्वलन्तो ये ज्वालाः शिखास्तेषां जालं समूहो यस्य तस्मिन् । लेलिहानेऽतिशयेन लेढीति लेलिहान-स्तस्मिन्ननलेऽग्नौ । अगाद चिरमेवेदमखिलं जगद्विश्वं वपट्, कुर्वतो हुतवतः । निजे स्वेऽर्धगात्रेऽर्धाङ्गे पर्वतेशस्य हिमालयस्यात्मजां पुत्रीमुमां बिभ्रतो धारयतः । सुखेनानन्देनासारो रहितो यः संसारो जगत् तस्य दुःसागरे दुस्तरे समुद्रे मज्जतो ब्रुडतः मज्जनस्य सत्कर्मिणो लोकस्य उच्चैरतिशयेन तत्

तारकं ब्रह्म तारकमन्त्रं 'रामेति' मन्त्रं द्रुतं शीघ्रमुपदिशतः शिक्षयतस्ते तव शम्भोः। त्रिभुवनेन त्रिलोकेन महितं पूजितं, मह् पूजायाम्। सदा वेदवृन्देन चतुर्भिर्वेदैर्गीत संस्तुतं, नाकिभिर्देवैः श्रितं सेवितमाश्रितं पादपङ्केरुहं चरणौ एव कमल चरणपद्मं सदा सर्वदा वन्दे नौमि। प्रथमे पादे रूपकम्, सर्वत्र चानुप्रासयोजना।

सुर्जनो नृपो वाराणसीमधिवसन् शिवोपासनां विदधत् तारकमन्त्रं जजापेति कविचन्द्रशेखरेणापि सुर्जनचरिते वर्णितम्। यथा तत्र—

कालेऽथ तस्य चरमे परमात्मरूपं
रामाख्यतारकममुं जपतः स्वबुद्धया।
आगत्य कर्णकुहरान्तिकमन्धकारिः
प्रीत्या चकार पुनरुक्ततयोपदेशम्॥

(१६.४३) इति।

तत्रैव सुर्जनचरिते तारकमन्त्रस्य महिमाऽपि काशीवर्णनप्रसङ्गे वर्णितः।

आख्यायकर्णपदवीमनुजन्मभाजां
मन्त्रं मृगाङ्कमुकुटः किल तारकाख्यम्।
आश्चर्यमत्र भगवान् गुरुरप्यदम्भ-
मात्मानमन्तसदि सादरमर्पयेद् यत्॥

(१६.१४) इति।

दण्डकच्छन्दः। अस्मिन् दण्डके प्रतिपादं आदौ नगणद्वयं तदनन्तरञ्च रगणनवकं, इति गणयोजनया त्रयस्त्रिंशदक्षराणि सन्ति। पिङ्गलशास्त्रानुसार मेतद् वर्णकं नाम दण्डकच्छन्दः। काव्यस्यादर्शहस्तलेखे यदस्यास्य द्वितीये चरणे "वषट् कुर्वत" इत्यनन्तरं 'शर्व ते' इति पदद्वयपूर्वं रगणस्यैकस्यानुपलब्धेः एकत्रिंशदक्षराणि सन्तीत्यस्माभिस्तथैव पाठः प्रकाशितः।

125 सोऽथेति। अथ स विभावसोः सूर्यस्य भास्वरस्तेजस्वी वंश्यो वंशभवः कुलीनः सूर्यवंशोद्भवः सुन्दरो रमणीयो वेषो वस्त्रादिर्यस्य सः। सुर्जनदेवो नृपः। भक्तिरसेन भक्त्याऽऽर्द्रं आप्लुतः सन्। वन्दितं जनैः नमस्कृतं सेवित

सु शोभनं बिन्दुमाधवं, पञ्चगङ्गाघट्टे । स्थितं भगवतो बिन्दुमाधवस्य विष्णोर्विग्रहं तन्मन्दिरञ्च पादैश्चरणैराकुलं यथा स्यात्तथाऽगमत् पूजयितुमगच्छत् ।

पादाकुलकमिति मुद्रालङ्कारः । पादाकुलकं मात्रिकं छन्दः । अस्मिन् छन्दसि प्रतिपादं चत्वारश्चतुर्मात्रिका गणाः साकल्येन षोडश मात्राः प्रयुज्यन्त इति दिक् ।

126 सम्मदेति सम्मद आनन्दस्तस्य वारि जलं हर्षाश्रु तेन सम्भृते पूर्णे नेत्रे लोचने यस्य सः । पवित्रः पूतात्माः सुमनाः सुमनस्कः, स्तम्भितेन स्तम्भेन सुबाष्पेण हर्षाश्रुणा च गद्गदं कम्पितं वचनं स्वरो यस्य सः । स सुजनः । अमलां निर्दुष्टां । स्तुतिं बिन्दुमाधवस्तवनकवितामपठत् पपाठ ।

127 प्रलयेति । अधुनैकैकेन पादाकुलकच्छन्दसाविष्णोर्दशावतारेष्वेकैकस्य स्तुतिर्विधीयते । मत्स्य वतारस्तुतिः । हन्तेति हर्षे । भ्रमिरावर्तस्तासां (भ्रमीणां) गणः समूहस्तेन रौद्राद् भीषणात् प्रलयसमुद्रात्प्रलयपयोधेश्चिररत्नं शाश्वतं वेद एव सुरत्नं श्रुतिरूपं मणिमुद्धृतवन्तं पयोधेर्बहिरानीतवन्तं लोकं जगत् अवन्तं रक्षन्तं धीरं धैर्यशालिनं शफरशरीरं मत्स्यरूपिण बिन्दुमाधवं विष्णुं प्रणमत नमस्कारेण सेवध्वम्, यूयमित्यर्थः । रूपकमन्त्यानुप्रासश्च । पादाकुलकेऽत्र कविना प्रतिपदं अष्टमात्राऽनन्तरं तालयतिखण्डेऽन्त्यानुप्रासोगुम्फितः ।

128 संलसदिति । कच्छपावतारस्तुतिः । पृष्ठे गुर्वीं महतीं संलसन्ती शोभमाना चासौ उर्वी पृथिवी तां अनिशं निरन्तरं शैवलसदृशं जलनीलीमिव बिभ्रतं वहन्तं । पदयोः चरणयोर्नता लोकाः यस्य तं । प्रणिहितो नाशितः शोको दुःखं येन तं । कच्छपदेहं कूर्मावतारमहं हृदि कलये ध्याये ।

129 चुम्बितेति । वराहावतारस्तुतिः । जगतो विश्वस्यान्ते प्रलये यस्य दन्ते रदने दंष्ट्रायां क्षितितलं समुद्रजलादुद्धृतं पृथ्वीमण्डलं । चुम्बितं चुम्बनक्रियाविषयीकृतं ये कनतायाः लक्ष्म्या लोचने नेत्रे तयोर्युगलं द्वयं तस्याञ्जनं कज्जलमिव नतदनामिति भावः । रेजे शुशुभे । एष स श्रीकिटिवेषः श्रीवराहरूपी विष्णुः अघगणं नः पापसमूहं अस्यतु क्षिपतु निराकरोतु । उपमा ।

130 दितिसुतेति । नृसिंहस्तुतिः । दितिसुतस्य दैत्यस्य हिरण्यकशिपोर्वक्षसे उरसे तत्पाटनायेतिभावः, यद्वा वक्षस उरसः, क्रकचेन करपत्रेण सदृक्षस्तुल्यः, शोणोऽरुणो यस्य नखराणां नखानां गणः समूहः श्रियो लक्ष्म्याः हृदो वक्षसो हृदयस्य च सङ्गं सङ्गतं संलग्नं रागं अङ्गरागं प्रेमाणञ्च दधत् बिभ्रदिवेति सम्भावना । दृश्यत इति शेषः, अस्तीति वा । तं नरसिंहं नृसिंहावतारमहं सदा नौमि नमस्करोमि । उत्प्रेक्षा, श्लेषस्तद्गुणश्च तेषां सङ्करः ।

131 जितेति । वामनावतारस्तुतिः । जितं सुराणां देवानां वृन्दं समूहो येन तं, अमन्दं प्रबलं तं बलिं विरोचनपुत्रं दैत्यपतिं । विस्मय आश्चर्यं तस्य कर्त्र्यां विधात्र्या वामनस्य ह्रस्ववपुषो मूर्त्याऽऽकृत्या । सपदि झगिति तत्कालमेव नितान्तमतिशयेन दमयन्तं वशीकुर्वन्तं हरिं विष्णुं दुरितानां पापानां ततेः समूहस्य भिदेर्भेदनाय नाशायाऽभिवन्दे नौमि ।

132 क्षत्रियेति परशुरामावतारस्तुतिः । व्याप्ततरा अतिशयेन व्याप्ता आशा दिशो येन तस्मिन्, रोषः क्रोध एव हुताशो वह्निस्तस्मिन् । जनकस्य पितुर्जमदग्नेः कृतमघं पापं येन तं, क्षत्रियाणां राजन्यानां सङ्घं समूहं । सपदि तत्कालमेव यजन्तं जुह्वतं । कृतो निजः कामोऽभिलाषः क्षत्रियनाशरूपो येन तं । भृगुतनुजं भृगुकुलोत्पन्नं भार्गवं परशुरामं निकाममत्यधिकं नौमि नमस्करोमि एकदेशविवर्तिरूपकम् ।

133 जनकेति । रामावतारस्तुतिः । जनकस्य पितुर्निर्देशात् आज्ञायाः दण्डकदेशान् दण्डकारण्यं आस्थन् आतिष्ठन् । रक्षसां रजनीचराणां कुलाय कृता दत्ता शिक्षा दण्डो येन सः । यो दशकण्ठं रावणं कुण्ठं बलरहितं चक्रे । स जगति विश्वेऽभिरामो रमणीयो रामो दाशरथिः पातु रक्षतु । अस्मानिति शेषः ।

134 सुन्दरेति । बलरामस्तुतिः । सुन्दरा मधुरा या मदिरा सीधुः तया भवो यो मदस्तेन रुचिरेऽरुणे रक्ते नेत्रे लोचने यस्य तं, लोके जगति पवित्रं यद्वा लोकस्य जगतः पवित्रं पावनकरं । असितं नीलं सुवसनं वस्त्रं यस्य तं नीलाम्बरम् । प्रलम्बस्तन्नामाऽसुरस्तस्य दलनं नाशयितारं तं बलदेवं रौहिणेयं रामं सदा सर्वदा एवमनेन प्रकारेण स्तौमि वन्दे ।

135 जगदिति । बुद्धस्तुतिः । तापेन दुःखेन मुद्गनमतिपीडितं, अतिदीनमतिदुःखितं जगत् विश्वं यो वरया श्रेष्ठ्या करुणैव सुधा अमृतं तया सिञ्चति तं शुद्धं प्राप्तबोधिं बुद्धं शौद्धोदनिमहं कलये ध्याये । एकदेशविवर्तिरूपकम् ।

136 यवनेति । कल्किस्तुतिः । यः सुदुरूहमतिशयेन दुर्दान्तं यवनसमूहं म्लेच्छवृन्दं समरे युद्धे कराले भीषणे निजकरवाले स्वखड्गे जनानां तोषस्सन्तोषस्तस्य कृते तदर्थं बालमिव पूजाद्रव्यमिव कुरुते विदधाति । निजखड्गाय म्लेच्छानां बलिं ददातीति भावः । तत्र तस्मिन् परमे ब्रह्मरूपे कल्किनि कल्क्यवतारेऽहं रमेऽनुरक्तोऽस्मि । उपमा ।

137 धृतेति । एवमनेन प्रकारेणाऽनुवेलं निरन्तरं धृतदशलीलं धृता दश लीलाऽवताररूपा येन तं माधवदेवं लक्ष्मीपतिं बिन्दुमाधवं परमतिशयेन ध्यायन् स्तुवन् । कृतहरिसेवः कृता हरेर्विष्णो सेवाऽर्हणा येन स सुर्जनदेव । नित्यं प्रतिदिनं चित्रामद्भुतां यात्रां तीर्थाटनं चक्रे व्यधात् ।

138 अथेति । अथ स्वकरौजसा स्वस्य निजस्य करयोर्भुजयोः, पक्षे कराणां किरणानां, ओजसा तेजसा प्रतापेन । परेषां शत्रूणां तमोऽन्धकारमत्याचारं, पक्षेऽतिघनं नैशं तिमिरं शमयन् नाशयन् । विभासुरस्तेजस्वी उभयत्र समानोऽर्थः स नृपः सुर्जनः । अवनौ पृथिव्यां वृष्टं वितीर्णं सुवर्णस्य हेम्नः सुजीवनं येन सः, याचकेभ्यो हेममुद्राप्रदानेन वितीर्णजीवनः, पक्षे अवनौ वृष्टः सु शोभनो वर्णः स एव सुजीवनं येन सः, यद्वा वृष्टे सुवर्णजीवने येन सः, सूर्यस्यैव जलवर्षणहेतुत्वात् । तुलया विरहितोऽपि तुलनारहितोऽपि तुलाङ्गतः तोलनक्रियासाधनभूतमुपकरणं गतोऽधिष्ठितः, तुलादानसमये तुलायां स्थित इति भावः; सूर्यपक्षे तुलां तुलाराशिं गतः स्थितः । रराज शुशुभे । 'तुलया विरहितोऽपि तुलाङ्गत' इति विरोधाभासः । परिहारे, तुलादानविधौ स्थितो राजा, तुलाराशिगतो रविश्च । अत्र श्लिष्टशब्दमहिम्नाऽप्राकरणिकस्य रवेरपि वर्णनं प्रतीयत इति शब्दशक्तिमूलको ध्वनिः । राज्ञः सूर्यस्य चोपमेयोपमानभावो व्यङ्ग्य इति वस्तुना उपमालङ्कारो व्यज्यते । न चात्र श्लेषः, तत्रोभयोः प्राकरणिकत्वात् ।

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥"

इति मम्मटाचार्याः ।

वाराणस्यां सुर्जनेन याचकेभ्यो बहु स्वर्णादि वितीर्णमितीतिहासग्रन्थेषु अनुश्रुतौ च प्रसिद्धम् । तेन स्वर्णतुलादानमनेकशो विहितमित्यपि श्रूयते । मन्दिर-घट्ट-तडागादीनां निर्माणमपि तेन व्यधायि, यान्यद्यापि वाराणस्यां तस्य नृपस्य महिमानं प्रथयन्ति । सुर्जनचरिते चन्द्रशेखरेणापि वाराणस्यां सुर्जनस्य वदान्यताया विस्तारेण वर्णनं विहितम् । तत्र तुलादानस्यापि विशेषतो वर्णनमस्ति । यथा

"यस्यानुवेलममितानि वनीयकेभ्यो
जाम्बूनदानि ददतो ववृते न तृप्तिः ।
तेनार्पणाय वसु यन्निहितं तुलायां
तद्दानधर्मविहितस्थितिपालनाय ॥"
(१६.४२) इति ।

139 अपीति । अयं क्षितिपो राजा सुर्जनः । सदूषवति अत्यधिकोषरे क्षारभूमिरूपेऽनुर्वरे स्थले स्वस्यात्मनः दक्षिणकरेण कल्पितो यो वारिणो जलस्य दानजलस्य भरः प्रवाहस्तेनोक्षिते सिञ्चिते क्षेत्रे द्रविणं वित्तं सुवर्णमुद्रादि तदेव बीजं परं वपन् सुकृतरूपं पुण्यरूपं फलं क्षणार्धात्परमेव बुभुजे भुक्तवान् । रूपकम् ।

140 स इति । शतकोटि अर्बुदपरिमितं द्रव्यं तेन शोभमानं करस्य दक्षिणहस्तस्याम्बुजं (कर एव अम्बुजं) यस्य सः । स सुर्जननृपः । पक्षे, शतकोटिना वज्रेण विराजि कराम्बुजं यस्य स इन्द्रः । द्विजेभ्यो वितीर्णा सुवर्णस्य महीधराः पर्वताकाराः स्वर्णराशयः तैर्हेतुभिः । मूढमतेः मूढा विमोहिता बुद्धिर्यस्य तस्य, भ्रमतः आकाशे गच्छतो रवेः सूर्यस्य द्रुतं विलम्बितञ्च तेन चास्तरां रमणीयां गतिं चलनमकृत विहितवान् । सुर्जननृपवितीर्णस्वर्णमहीधरान् दृष्ट्वा मेरुं परिक्रामन् सूर्यो मूढबुद्धिर्जातः । भ्रान्तिमानलङ्कारः । व्यतिरेकध्वनिश्च । इन्द्रस्तु सुवर्णमहीधरं मेरुं द्विजेभ्यो न वितरति एष तु मेरून् वितरति इति व्यतिरेकः । द्रुतविलम्बितं छन्दः । "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" इति लक्षणात् । छन्दसो निर्देशान्मुद्रालङ्कारः ।

141 त्रिपुरेति । त्रिपुरस्य वैरी शत्रुः शिवस्तस्य पुरं वाराणसी तस्य उपनिरोधतः निरोधात् हेतोः, पञ्चम्यास्तसिल् सुचिरं चकितः त्रस्तः इति

सम्भावना। स पृतनापतिः वाहिनीशो नृपः सुर्जनः सुरसरिद् गङ्गा तस्याः तटभूमौ तटप्रदेशे विराजिते शोभिते चरणाचलौ चरणाद्रौ 'चुनार'-पर्वते स्वयं चिरं बहुकालमुवास न्यवसत्। हेतूत्प्रेक्षा।

142 अवनीति। अयं नृपोऽवनेः पृथिव्या भारस्य धुरं धुरां धरति वहतीति तं पृथ्वीभारक्षमं, उच्चकैरतिशयेन समरभूम्यां रणभूमौ करालतरं भीषणतरं ओजो बलं यस्य तम्। आत्मनः स्वस्य प्रियं ज्येष्ठपुत्रदुर्योधनापेक्षया प्रेयांसं भोजं कनिष्ठ सुतं द्रुततरं स्वजीवने एव शीघ्रं निजदेशाधिपतिं बुन्दी-स्वामिनमकृत नियुक्तवान्।

143 स्वहृदय इति। स्वहृदये निजमनसि मुरवैरिणो विष्णोश्चरणवारिरुह पदकमलं कलयन् ध्यायन् स नृपसुर्जनः। इतिहासः महाभारतं पुराणानि श्रीमद्भागवतादीनि च तेषां कथादिना श्रवणादिपुण्यकार्येण चरमामन्तिमां दशां वृद्धावस्थां समयाकृतवान् निकटीचकार लक्षणया सफलीचकार। रूपकम्।

144 तनुजेति। तनुजे पुत्रे भोजे निहितं स्थापितं राज्यं शासनं येन सः। सर्वेषां लोकानां जगतां एकपूज्य वन्द्यः श्रेष्ठः। तरणेः सूर्यस्य कुले वंशे महीयान् महान्। गरीयान् गरिष्ठः श्लाघनीयः। हरिपदयोर्विष्णुचरणयोर्यद् युगं द्वयं तस्य भक्तः सेवकः। ज्ञाने मोक्षसाधने सक्तोदत्तचित्त। असौ सुर्जनः। मोक्षमेव रत्नं अपवर्गमणिस्तस्यैकसारां साररूपामुदारां महतीं त्रिदिवगतिं स्वर्गपदवीं प्राप्तवान् लेभे। मोक्षरत्नमिति रूपकम्। छन्दसः प्रतिचरणे यतिस्थानेऽन्त्यानुप्रासः। मालिनीवृत्तम्। "ननमयययुतेयं मालिनी भोगि-लोकै" रिति लक्षणात्।

145 योऽन्तर्वाणीति। श्रीविश्वनाथस्य कृतौ श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते श्रीसुजनो वर्णितः।

इति शत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यामष्टमः सर्गः॥

॥ नवम सर्गः ॥

1 अथेति । अथ तदनन्तरं । युवराजस्य पदे यौवराज्ये स्थित आसीनो वीरो दुर्योधन सुर्जनस्य ज्येष्ठः सुतः गुरौ पितरि जीवति एव वर्तमाने सत्येव तत्क्षणात् शीघ्रमेव बुन्दीं वशयामास स्वायत्तीचकार । अनुष्टुप् छन्दः ।

2 धृतराष्ट्रेति । स दुर्योधनः कुरुराडिव महाभारते धार्तराष्ट्रो दुर्योधन इव रेजे शुशुभे । कथम्भूतः । धृते स्वायत्तीकृते राष्ट्रे राज्ये यद्वा धृताय राष्ट्राय कृतो विहित आनन्दः प्रमोदो येन सः, आनन्दितप्रज इति भावः । पक्षे धृतराष्ट्राय गान्धारीभर्त्रे कृत आनन्दो येन सः । पुनः कर्णयोः श्रोत्रयोर्विश्रान्ते तत्पर्यन्तमायते लोचने नेत्रे यस्य सः । पक्षे कर्णे राधेये । विश्रान्तमाश्रितं लोचनं लक्षणया बुद्धिर्येन सः । पुनः परेषां शत्रूणां भीमं प्रचण्डं यद्बलं सैन्यं तत् द्वेष्टि इति द्वेषी । पक्षे परमुत्कृष्टं भीमस्य वृकोदरस्य बलं ओजः तद्-द्वेषी असहनशीलः । श्लिष्टोपमा ।

3 वाहिनीशादिति । वाहिनीशाद् वाहिनीनां सेनानामीशात् पत्युः नृपात्, अन्यत्र वाहिनीनां नदीनामीशात् पत्युः समुद्रात् । ततः सुर्जनात् सागराच्च । जात समुत्पन्नः । विलसन्ती शोभमाना या कुः पृथिवी तस्या मुदा मुत् हर्षः, हलन्तस्त्रीलिंगशब्दस्याबन्तत्वम्, "आबन्चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशेति" भागुरिवचनात् । तां मुदां करोतीति करः, भूप्रमोदकारी । पक्षे विलसन्ति शोभमानानि यानि कुमुदानि रात्रिजलजानि तेषां मुदाकरो विकासकारी । अयं वीरो द्विजराजो द्विजानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां राजा दुर्योधनः, अन्यत्र चन्द्रश्च । नतारातिबलो नतं नम्रीकृतं विजितं अरातीनां शत्रूणां बलं येन, सः । अभवत् बभूव, शत्रून् विजितवान् । चन्द्रपक्षे न तारातिबल इति पदच्छेदः, ताराभिस्तारकाभिरतिबलोऽतिशयबलयुक्तो नाभवत् अपितु बभूवैव इति काकुः शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनिः ।

4 समाक्रान्तेति । समाक्रान्तानि सम्यक् आक्रमणाविषयीकृतानि जनानां शत्रुजनानां स्थानानि येन सः । रामपक्षे समाक्रान्तं जनस्थानं दण्डकारण्यं

येन सः । उद्धृतानि निराकृतानि उद्धतानि प्रचण्डानि दूषणानि दोषा येन सः। रामपक्षे उद्धृतो नाशित उद्धतो भीषणो दूषणो नाम राक्षसो येन सः । वीरः। अलं कानृपद्रोहीति पदच्छेदः, अलं पर्याप्तं, कुत्सिता नृपाः कानृपाः तेभ्यो द्रुह्यतीति द्रोही, यद्वा तान् द्रोग्धुं शीलमस्येति । पक्षे लङ्कानृपद्रोही लङ्काया नृपो राजा रावणः तस्मै द्रोग्धुं शीलमस्य वीरो दुर्योधनः क्षितौ पृथिव्यां रामो दाशरथिरिव रेजे शुशुभे । तृतीयचरणे "सुमित्रानन्दनप्रीतिः" इति पाठान्तरस्वीकारे शोभनानि यानि मित्राणि सखायः तेषां नन्दने मोदने प्रीतिर्यस्य सः । रामपक्षे सुमित्रानन्दने लक्ष्मणे प्रीतिः प्रेमा यस्य सः । श्लिष्टोपमा ।

5 सौकर्येति । सुकरस्य भावः सौकर्यं सरलता तेन आसादितं प्राप्तं क्षोण्याः पृथिव्यां मण्डलं राज्यं येन सः । पक्षे सूकरस्य भावः सौकर्यं बराहरूपं तेन आसादितं प्राप्तं प्रलयकाले जलमग्नं क्षोणीमण्डलं येन सः । रक्षिताः पालिताः प्रजा जनता येन स इत्युभयपक्षयोः समानम् । एष दुर्योधनः । नारायण इव विष्णुरिव । श्रुतिभ्यः कर्णेभ्यः ख्यातः कथितोः यशः कीर्तेर्गुणो धर्मो यस्य सोऽभूत् बभूव । विष्णुपक्षे श्रुतिभिर्वेदैः ख्यातो यशो गुणः यस्य सः । श्लिष्टोपमा ।

6 दधदिति । फणिना शेषेणापि सुदुर्धरमतिशयेन दुर्वहं धरणीभारं पृथ्वीभरं दधत् वहन् स दुर्योधनः तत्क्षणात् झगिति आत्मनो निजस्य द्विषतां शत्रूणां मौलीन् शिरांसि नमयामास नम्रीचकार । तान् जितवान् । पर्यायोक्तिरलङ्कारः ।

7 ऋत इति । स दुर्योधनो भगवतो परमेश्वरात् विष्णोर्लक्ष्मीपतेः, विष्णोर्जयशीलात् पितुः स्वजनकात् सुर्जनाद्वा च ऋते विना । अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदादाहि युक्ते (२.३.२९) इति ऋते-योगे पञ्चमी । दर्पेण गर्वेणोन्नतमुत्थितं स्वं शिरो मूर्धानं कस्यचित् कस्यापि पुरोऽग्रे नानंसीत् न न नमयाञ्चकार । अनुप्रासः ।

8 रत्नसिंहेनेति । स दुर्योधनः सूर्यमल्लेन स्वकुलपूर्वजेन हतं रत्नसिंह चित्रकूटाधीशं (सप्तमसर्गे वर्णितं) श्रुत्वाऽऽकर्ण्य स्वयं रणे युद्धे दिल्लीपतिमुगलसम्राजमकबरं हन्तुं पारयितुं चेतसा मनसा चिरं बहुकालं चकमे कामयते स्म अभिलषति स्म । वृत्त्यनुप्रासः ।

9 हृन्मर्मणीति । शल्येनेव आयुधेनेवाधिनाऽन्तरिकः खेन हृन्मर्मणि हृदो हृदयस्य मर्मस्थले सुविद्धोऽतिशयेन ताडितोऽसो दुर्योधनो घोरं भीषणं साहसं बलद्विग्रहं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः, सन्नन्तादुः, समराय युद्धाय मनो दधे निश्चितवान् । उपमा ।

10 एक इति । यद्यपि स सौर्जनिः सुर्जनस्य पुत्रो दुर्योधनः एक एव सहस्राणां दशशतानां धन्विनां धनुर्धराणां विजये प्रभुः समर्थः, तथापि तूर्णं शीघ्रं बलसङ्ग्रहं बलस्य सैन्यस्य सङ्ग्रहमकरोत् । सैन्यमेकत्रीचकार ।

11 जयेति । जयदन्तावलानां जयहस्तिनां यदालानं बन्धनस्तम्भः तद्वत् भुजयोः स्तम्भौ येषां तान्; महौजसो महत् ओजो बलं येषां तान्; मानमेव धनं येषां तान्; धन्विनो धनुर्धरानय दुर्योधनो धनैर्द्रविणैः पूजयामास सत्करोति स्म ।[1] उपमा ।

12 अस्पृष्टेति । तस्य युवराजदुर्योधनस्य द्वारे आस्थानमण्डपद्वारे । मिहिरस्य सूर्यस्य ये सप्ताश्वा घोटकास्तेषां जिगीषया जेतुमिच्छया अतएव अस्पृष्टं धरण्याः पृथिव्याश्चक्रं मण्डलं यैस्ते, शस्त्रैः सहिता सशस्त्राश्च ते सादिनोऽश्वसैनिका येषां ते, हयाः सेनातुरगाः विरेजिरे शुशुभे । हेतूत्प्रेक्षा । अतिशयोक्तिश्च ।

13 अमन्देति । स दुर्योधनोऽमन्दाः प्रबला ये दन्तिनो हस्तिनस्तेभ्यः, तेषां गण्डादिस्थानेभ्यः निष्यन्दि प्रवहणशीलं यत् दानवारि मदजलं तस्य महानदीं विशालसरितं प्रौढ़ां महतीं परिखामिव खातमिव अभिबुन्दीपुरि बुन्दीपुरीं अभि इति क्रियाविशेषणम् । व्यधात् चकार उपमा ।

14 साङ्ग्रामिकेति । सङ्ग्रामे साधु-साङ्ग्रामिकं, गुडादिभ्यष्ठञ् (४.४.१०३) इति ठञ् । तैः सङ्ग्रामयोग्यैरुपकरणैः साधनैः शस्त्रादिभिर्यथाविधि सुसज्जिता अलङ्कृताः अकुण्ठाऽप्रतिहता गतिस्संचरणं येषां ते । रथाः स्यन्दनाः तस्य प्रतीहारे राजप्रासादद्वारे बभुः शोभन्ते स्म ।

---

1. अत्र भारवेश्छाया द्रष्टव्या—"महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।। (1.19)

15 सयत्नेति । यत्नेन परिश्रमेण सहितं सयत्नं यत् सैन्यं शत्रुसेना तस्य संवर्तें नाशे जल्पाको वाचालो यो पुनः बाहुस्तेन दुर्मदमतिशयगर्विष्ठं । परः सहस्रमित्यस्य विशेषणपदम् । जल्पाकः, "जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन्" (३.२.१५५) इति षाकन्-प्रत्ययः, जल्पतीति जल्पाक इति व्युत्पत्तेः । पत्तीनां पदातिसैनिकानां परः सहस्रं सहस्राधिकं । दुर्योधनं दिवानिशं रात्रिन्दिवं सिषेवे सेवते स्म ।

16 इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण चतुरङ्गेण हस्तिरथाश्वपदातियुक्तेन बलेन सैन्येन सहितो युक्तः स भटो वीरो दुर्योधनो महान्तमतिबलशालिनमपि दिल्लीशं दिल्लीपतिमकबरमुच्चकैरतिशयेन अवाजीगणत् अवपूर्वकगण्-धातोः सामान्यभूते लुङ्रूपम् किञ्चिदपि न गणयति स्मेति भावः ।

17 अथेति । अथ तदनन्तरं । एष दुर्योधनः सर्वान् समस्तान् उर्वीभृतो राज्ञः क्षणात् अचिरमेव करदान् कुर्वन्नधीनस्थान् विदधत् मेदकानामधीशं स्वामिनं निहत्य रणे हत्वा त्रिकूटं नाम गिरिं दुर्गमग्रहीत् स्वायत्तीचकार । अत्युक्तिः ।

18 जयन्निति । एष क्रमेण क्रमशः सङ्ग्रामे विक्रमेण स्ववीर्येण दिशो जयन् आशाः स्वायत्तीकुर्वन् वृकसंज्ञं वृकनामानं देशीभाषायां 'बीका' इति संज्ञकं भिल्लपतिं भिल्लानां राजानं स्वसेवकमिव स्वभृत्यमिवाऽकरोत् चकार । उत्प्रेक्षा ।

19 अथेति । अथ तदनन्तरमेष दुर्योधनः । दिल्लीपतेरकबरस्य द्वेषेण वैरेण रणे युद्धे रोषणो रोषयुक्तः । परसैन्यानां शत्रुसेनानां शोषणो नाशयिता तस्याकबरस्य देशान् विषयान् समुपाद्रवत् धावति स्म, लक्षणया आक्राम्यति स्म ।

20 तत्तदिति । एष दुर्योधनः तत्तत् तेषु तेषु देशेषु विषयेषु प्रान्तेषु अधिकृतान् नियुक्तान् दिल्लीशस्याकबरस्य वशवर्तिनो वशंवदान् शतशो यवनान् म्लेच्छान् अधिकारिणः सैनिकांश्च समरे युद्धे तरसा वेगेन अवधीत् अहनत् ।

21 दुर्गमिति । असौ दुर्योधनः । दुर्गं जातौ एकवचनं, दुर्गाणि कोट्टानि रुन्धि रुरोध । पुरं तद्वदेवैकवचनं, पुराणि नगराणि भिन्धि बिभेद । आत्मनः स्वस्य बलिं राजस्वं धनलुण्टनं वा बधान बबन्ध जग्राह । सर्वत्र पौनःपुन्येनेत्यर्थः । इति अनेन प्रकारेण मुहुर्वारम्वारं दिल्लीपतेरकबरस्य देशे प्रदेशे राज्ये

अस्वास्थ्यमुद्रवं चक्रे। अत्र लुनीहीत्यादौ क्रिया समभिहारे लोट् लोटो हित्वौ त्वा च तध्वमोः (३.४.२) इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' (३.४.३) इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट्। तस्य यथोपग्रहं सर्वतिङादेशौ हित्वौ च प्रकरणादिनात्कर्थविशेषावसानम् अतो हेः 'इति यथायोग्यं हितुक्। समुच्चयालङ्कारः।' बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः इति चन्द्रालोके, 'समुच्चयोऽयमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके। खलेकपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत्' इति साहित्यदर्पणे च तल्लक्षणात्। पद्येऽस्मिन् कविना विश्वनाथेन माघस्य निम्नाङ्कितात्पद्याच्छाया गृहीताऽस्ति।

पुरोभवस्कन्द लुनीहि नन्दनं
मुषाण रत्नानि हराऽमराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली
य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः॥ (१.५१) इति।

22 तमिति। आत्मनो निजस्य देशस्य राज्यस्य लुण्टाकं स्तेयकारकं तं दुर्योधनं श्रुत्वा निशम्याऽकबरभूमिपो दिल्लीशोऽकबरः कञ्चित् कमपि महामदाभिधं महान् मदो गर्वो यस्य स इत्यन्वर्थनामानं 'मुहम्मद' इति भावः। यवनं म्लेच्छसेनापतिं जवात् वेगेन प्राहिणोत् प्रेषयामास। तं निरोद्धुमित्यर्थः। निरुक्त्यलङ्कारः।

23 सादिनामिति। सादिनामश्वसैनिकानामयुतं दशसहस्रं बिभ्रत् दधत् अतिरोषणोऽतिक्रोधः स यवनो मुहम्मदनामा सेनानी आशु शीघ्रं स्कन्धावारस्य कटकस्य निवेशनं संस्थितिं उपबुन्दि बुन्द्याः समीपे चकाराऽकरोत्।

24 अथेति। अथ रोषस्य क्रोधस्योत्कर्षेण प्रकर्षेण अरुणे रक्ते ईक्षणे नेत्रे यस्य सः। अयं वीरो दुर्योधनः। बाणानां शराणां वर्षं धारासारं कुर्वन् क्षिपन् समराङ्गणं युद्धभूमिमाययौ आजगाम।

25 क्रुद्ध इति। महता विशालेन बलेन सैन्येन वृतो युक्तः क्रुद्धो कोपनो यवनसेनानीर्म्लेच्छसेनापतिर्मुहम्मदः शस्त्राणामायुधानां सहस्राणि वर्षन् मुञ्चन् रुषा क्रोधेन तं दुर्योधनं प्रतिजग्राह अरौत्सीत्।

26 चिरमिति । अनलास्त्रमाग्नेयास्त्रं "बन्दूकादि" ततः, पञ्चम्यास्तसिल् । चिरं बहुकालं । वाचाला वावदूका चटुला चपला च श्रुतिः श्रवणं यस्य सः । परेषां शत्रूणां वंशानां कुलानां, पक्षे वेणूनां वन्या अटव्या दाहो ज्वलनं यस्य सः । चटचटाशब्दस्तदनुकारी शब्दः । संमभूत् समुत्पन्न । अनुप्रासः । श्लिष्ट-रूपकञ्च ।

27 शूरौर्वेति । वैश्वानरस्य अग्नेः अस्त्रतः आग्नेयास्त्रात् बन्दूकादेः । ज्वलिष्यतो ज्वलनं विधास्यत । शूराणां वीराणां य औवः समूहः तस्य या दारुणाः प्रचण्डाः भुजाः बाहवः ता एव शम्यः शमीवृक्षाः तासां वह्नेरग्नेः । पिशुनः सूचको धूमः, अग्निकार्यरूपी । सहसाऽकस्मात् उत्तस्थौ उदतिष्ठत् आविरभवत् । रूपकम् ।

28 पावकेति । तत्र समरे पावकास्त्रमाग्नेयायुधं तत् वेत्तीति विदस्तेषां आग्नेयास्त्रधारिणां 'बन्दूकचो' सैनिकानां कृतहस्तता कौशलं चित्राऽद्भुताऽऽसीत् । या रोमकूपमपि शरीरान्तर्गत-लोमविवरमपि लक्ष्यं शरव्यं । सप्रतिज्ञं प्रतिज्ञया सहितं यथास्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । बिभेद भिनत्ति स्म ।

29 नलिकानां 'तोप' इति प्रसिद्धायुधानां अग्निना वह्निना समुत्क्षिप्ताश्चालिता दूरं क्षिप्ताः । नागेन सीसकधातुना निर्मिता गोलकाः गोलाः । तत्र समरे हेतुजं निमित्तजातं स्वकारणे लग्नं जगतो लोकस्य प्राणानां प्राणवायूनां यदशनं भक्षणं तस्य गुणं धर्मं न जहुः न त्यक्तवन्तः । अत्र "नाग" शब्दस्य वैयर्थकतया प्रयोगात् "सर्प" इत्यपि कवेरभिप्रेतोऽर्थं प्रतीयते । एते गोलकाः नागेन सीसकेन सर्पेण च तदुपादानकारणेन निर्मितत्वात् तस्य सर्पस्य प्राणाशनगुणं वायुभक्षणधर्मं न त्यक्तवन्तः । नागः (सीसकं, सर्पश्च) कारणं, तद्गुणः प्राण-(वायु-) भक्षणं गोलकाश्च कार्यम् । "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" इति न्यायेनैते गोलकाः सर्पवत् शत्रूणां प्राणवायुं भक्षयन्ति स्मेति भावः । श्लेषः ।

30 अथेति । अथाऽस्वहुताशने आग्नेयनालिकास्त्राग्नौ इषूनां बाणानां यद् वारुणास्त्रं तेन निरग्नौ बाणरहिते कृते सति । शूराणां भटानां हर्षवर्धनं

प्रमोदकरं तुमुलं युद्धं परस्परनियुद्धं बभूव अभूत्। तोपबन्दूकादिभिर्गोलकक्षेपणानन्तरं वीराणां परस्परं नियुद्धं सञ्जातम्, इति भावः।

31 अनल्पेति। अनयोर्द्वयोः सेनयोः चम्वोः वीरा भटाः। अनल्पा बहवो ये वैरिणस्तेषां कल्पान्तो नाशः तस्य कर्णेजयं सूचकं, कर्णे जपतीति अच्, हलदन्तादित्यलुक्। इषूणां बाणानां उत्करं समूहं। किरन्तः क्षिपन्तः। प्रचकाशिरे काशन्ते स्म, दिदीपिरे। रूपकम्।

32 सुवर्णेति। सुवर्णेन हेम्ना रेखितानङ्कितान् पक्षान् गरतो दधतो बिभ्रतः शरा बाणाः। मानुषं मनुष्याणामिदं युद्धं सङ्ग्राममीक्षितुं द्रष्टुं याता आगताः दिव्याः दिवि भवाः स्वर्गसञ्चारिणः खगाः पक्षिण इव रेजिरे बभुः। उत्प्रेक्षा।

33 बाणानामिति। व्योम्नि नभसि खेलतां परस्परं क्रीडतां बाणानां शराणां मिथः परस्परं सङ्घर्षेण सङ्घट्टनेन जातः समुत्पन्नोऽनलोऽग्निः। दृढेन प्रचण्डेन अभिघातेन प्रहारेण निष्ठ्यूतमुद्वान्तं यद्रक्तं तस्य पूरः प्रवाह इव उद्बभौ शुशुभे उपमा।

34 यत्तेनेति। मत्तानां मदादिसेवनेनोन्मदिष्णुनामिभानां युद्धगजानां कुम्भेषु गण्डस्थलेषु निमग्नाः प्रविष्टाः पुङ्खशेषाः युद्धकाण्डमूलमेव शेषः येषां ते। शिलीमुखा बाणाः। समरे युद्धे। दाने मदजले लुब्धा अभिलाषुका भ्रमरा इव रेजिरे शुशुभिरे। यमकोपमयोरेकवाचकानुप्रवेशसङ्करः।

35 अन्तर्ललाटमिति सुभटा वीरश्रेष्ठाः। जगतो विश्वस्य दिधक्षय दिग्धुमिच्छयेवेति हेतोः सम्भावना। दारुणं भीषणं तृतीयं चक्षुरिवं। शरभवं बाणात् समुत्पन्नं व्रणं क्षतं। अन्तर्ललाटं ललाटे इति अन्तर्ललाटं अव्ययीभावः। दधुः वहन्ति स्म। गम्योत्प्रेक्षोपमयोः सङ्करः।

36 प्रवृत्त इति। तत्रोपबुन्दि बुन्द्याः समीपे रणे सङ्ग्रामे सुदारुणेऽतिभीषणे शरसम्पाते बाणवर्षे प्रवृत्ते जाते सति। क्षणात् अचिरमेव। हस्तिनो गजाः, अश्वास्तुरगाः, रथाः स्यन्दनाः, पादाताः पदातिसैनिकाश्च इति समाहारद्वन्द्वे एकवचनम् हस्त्यश्वरथपादातम्। "विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जन-

पशुशकुन्यश्ववड्वपूर्णापराधरोत्तराणाञ्च" (२.४.१२) इति सूत्रेण विकल्पेन समाहारद्वन्द्वे एकवचनम्। "पशुग्रहणं हस्त्यश्वादिषु सेनाङ्गत्वात्।" इति सिद्धान्तकौमुद्यां भट्टोजिदीक्षिताः। यद्वा, "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" (२.४.२) इति सूत्रेण द्वन्द्वे एकवचनम् विद्धं प्रताडितमभूत् जातम्।

37 विपक्षेति। सौर्जनिः सुर्जनस्यापत्यं पुमान् दुर्योधनः। सद्यो तत्क्षणमेव। विपक्षाणां शत्रूणां संक्षये नाशे अलङ्कर्मीणं समर्थं, अलं समर्थः कर्मणे इति खः। स्वकार्मुकं निजं धनुः वितत्याधिज्यं विधाय। यवनैर्म्लेच्छैः सह तूर्णं शीघ्रं युयुधे युद्धचते स्म। अनुप्रासः।

38 दुर्योधनेनेति। दुर्योधनेन "दूदेत्यपरनाम्ना सुर्जनसुतेन कृष्टस्याकृष्टस्य धनुषश्चापस्य टङ्कृतिष्टङ्कारः तस्यच्छलात् व्याजेन। समेष्यन्त्या आगमिष्यन्त्याः आयास्यन्त्याः जयश्रियो जयलक्ष्म्याः नूपुरध्वनिः नूपुररावः उद्बभौ रेजे। अपह्नुतिः।

39 नसंहता इति। स्वामिनो दुर्योधनस्य धर्मे सेवायां परायणास्तत्पराः। संहताः मिथः सङ्गताः स्वार्थनिष्ठा वाभवन्तीति नसंहताः। नञर्थस्य नशब्दस्य सुपसुपेति समासः। विभिन्नवृत्तयो मिथो विरोधात् स्वामिकार्यंकरा नो भवन्तीति नोविभिन्नवृत्तयः। पूर्ववदेव नञर्थस्य नोशब्दस्य सुपसुपेति समासः। अन्यथा स्वामिकार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यार्थः। तस्य दुर्योधनस्य भटा वीरसैनिकाः। स्वप्राणान् स्वजीवनानि तृणाय मत्वाऽनादृत्य। "मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु" (२.३.१७) इति चतुर्थी। समयुध्यन्त युद्धयन्ते स्म।

पद्येऽस्मिन् कविना विश्वनाथेन भारवेः किरातार्जुनीयपद्याच्छाया गृहीता वर्तते। यथा—

"महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः। नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्" (१.१९) इति।

43 बाणपञ्जरेति। सौर्जनिर्दुर्योधनः। यवनानां सेनानीः सेनां नयतीति सेनानीः। "सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्" इति क्विप् प्रत्ययः।

तस्येति सेनान्य इति षष्ठ्येकवचनान्तं पदम् । यवनसेनापतेः । बाणा एव पञ्जरं यद्वा बाणानां पञ्जरं तस्य मध्ये स्थिताः ये क्रीडाशकुनयः केलि-पक्षिणस्तेषां कौतुकं लीलां क्षणात् पूरयामास पूरयति स्म । अयं भावः— स्वशरैर्दुर्योधनेन यवनसैन्यं बाणपञ्जरे शकुनिवन्निगृहीतम् । रूपकमलङ्कारः ।

41 उर इति । तस्य दुर्योधनस्य शरा बाणा एवाह्यः सर्पाः । कृतं विहितं प्राणा एव अनिलाः । प्राणानामनिला वा प्राणवायवस्तेषां अशनं भक्षणं यैस्ते एतादृशाः शराह्यः । द्विषतां वैरिणां उरो वक्षः वक्षांसि, जातावेकवचनम् । विभिद्य संछिद्य वल्मीकमिव नाकुमिव "बांबी" इति भाषायाम् । पातालं रसातलं ययुः प्रविष्टवन्तः । रूपकोपमयोः सङ्करः यद्वा शराः अहय इव इति विग्रहे कृते उपमैवालङ्कारः ।

42 तस्यैवमिति । एवमित्थं बहूनसङ्ख्यान् यवनानां म्लेच्छानामन्तकरान् नाशकान् बाणान् शरान् किरतः क्षिपतस्तस्य दुर्योधनस्य । ततः तदनन्तरं शक्तीशक्ति शक्त्या शक्त्या प्रवृत्तं इदं युद्धमिति शक्तीशक्ति । शक्तिः भल्लायुधं प्रह्लियते यस्मिन् तत् युद्धम् । ततः परं तदनन्तरञ्च । खड्गेन खड्गेन प्रवृत्तमिदं युद्धमिति खड्गाखड्गि । जज्ञे जातम् । शक्तीशक्ति खड्गाखड्गि इत्यत्र "तत्र तेनेदमिति सरूपे" (२.२.२७) इति सूत्रेण सप्तम्यन्ते ग्रहणविषये सरूपे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्धं प्रवृत्तमित्यर्थे समस्येते कर्मव्यतिहारे द्योत्ये स बहुव्रीहिः" इति सिद्धान्तकौमुद्याम् ।

43 अथेति । अथ तदनन्तरं । स्वविक्रमं निजपराक्रमं स्वबलं दर्शयन्तः प्रकटी-कुर्वन्तस्ते सर्वे यवनाः यवनभटाः दिल्लीशस्याकबरस्य प्रियाकर्तुं प्रियं विधातुं । 'सुखाप्रियादानुलोम्ये इति कृयोगे डाच्' । अक्रमं न क्रमः यथास्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् क्रमरहितं अयुध्यन्त युयुधिरे । बत इति खेदे । प्रियाकरोतीति नामधातोस्तुमुन् ।

44 वलीमुखेति स्वभावतो निसर्गतो वलीमुखा वानरा इव आताम्रमुखा आसमन्तात् रक्ताननाः ते तुरुष्का यवनाः उच्चैरतिशयेन क्रूरो दारुणो यः क्रोधस्तस्य वशात् हेतोः । आस्ये आनने, जातावेकवचनम् मुखेषु, ताम्रामरुणां छविं कान्तिं दधुः दधति स्म । उपमा ।

45 गजैरिति। दुर्योधनः सुर्जनसुतः स्वयं असहाय एव। तेषां यवनानां शस्त्राण्यायुधानि शस्त्रैः स्वायुधैः संवार्य निरुध्य। कृतान्तो यम इव सक्रुद्धः कोपाविष्टः। महत् कदनं अत्यधिकं नाशं चकार कृतवान्। उपमा।

46 पातयामासेति। स सौर्जनिः कृपाणेन खड्गेन द्विधाकृतान् द्विधा खण्डितान्। अजस्रं निरन्तरमस्रं रक्तं स्रवतः क्षरतः करिणो गजान्। धातुद्रवं गैरिकादिधातुरसं स्रवतः प्रवहतो गिरीनिव पर्वतानिव। पातयामास अपातयत्। विम्बप्रतिबिम्बभावापन्नसाधर्म्यनिष्ठोपमा।

47 विभिन्नेति। तस्य दुर्योधनस्य विजयी जयशाली असिः खड्गः। विभिन्नाः खण्डिताः कृता ये कुम्भिनां हस्तिनां कुम्भा गण्डस्थलानि तत्र तिष्ठन्तीति कुम्भस्थानि लग्नानि संसक्तानि यानि मुक्ताफलानि गजमुक्ताः तेषां छलाद् व्याजेन। सुरैर्देवैर्मुक्तं विकीर्णं पुष्पवर्षं कुसुमवृष्टिं दधौ धारयति स्म। अपह्नुतिरलङ्कारः। नैतानि गजमुक्ताफलानि, अपितु विजयि-दुर्योधन-खड्गोपरि देवैर्मुक्तानि कुसुमानीति भावः। पर्यायोक्तम्। अत्राचेतनस्यापि तत् खड्गस्य विजयिशीलतावर्णनात् दुर्योधनस्य विजयिशीलता वाचकत्वेन विना वर्णिता। "पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः" इति मम्मटोक्तलक्षणात्। खड्गस्य चेतनवद् व्यवहारः। "भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्। व्यवहारयति यथेष्टं सुकवि काव्ये स्वतन्त्रतया" इति ध्वन्यालोके आनन्दवर्धनाचार्यः।

48 सौर्जनेरिति। सौर्जनेर्दुर्योधनस्य करवालेनासिना कृताः खण्डिताः कण्ठाः शिरोधयो येषां ते द्विषन्तश्चैते। भटाः वैरिसैनिकाः। अहङ्कारस्य गर्वस्य मदेन आविष्टा वशीभूताः सन्तः। स्वान् आत्मीयानेव धन्विनो धनुर्धारिण जघ्नुर्हतवन्तः।

49 कबन्धेति। रणमही युद्धभूमि। कबन्धानां खण्डानां कन्धराणां ग्रीवाणां यानि रन्ध्राणि छिद्राणि तेषु मरुतो वायोर्यो झाङ्कारः झामिति शब्दः तस्य निःस्वनैः ध्वनिभीरणनैः। दुर्योधनस्य सुयशः शोभनां कीर्ति जवात् वेगेन जगौ गायति स्म। गम्योत्प्रेक्षा समासोक्तिश्च। अत्र रणमह्यां गायिकायाः व्यवहारसमारोपः।

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥ इति लक्षणात् ।

50-52 मांसेति । त्रिभिर्विशेषकम् । मांसं पिशितं मेदो वसा त एव जम्बालाः शैवला यस्यां ताम् । शोणितं रक्तं एव उदकं जलं उदकस्योद्भावः, तस्य भरैः प्रवाहैरोघैर्वा युतां सहितम् । कपालान्येव (कपाला एव वा) फेनाः डिण्डीराः तैर्बहलां निबिडाम् । केशाः हतभटानां शिरोरुहास्त एव शैवाल जलनील्यादिजम्बालाः तान् शालते इति शालिनीम् तद्युक्ताम् ।

51 नृत्यदिति । नृत्यन्तः समुच्छलन्तो ये कबन्धाः शिरोरहिता भटास्त एव सन्तः शोभना भङ्गास्तरङ्गाः यस्यां ताम् । अस्थिनी एव पाषाणाः प्रस्तरास्तैः सङ्कुलां घनाम् । समुल्लसन्त देदीप्यमानाः चारवः सुन्दराः भटाः सैनिकाऽः भाषाश्लेषे भटाः प्रस्तराः यस्यां ताम् । हयास्तुरङ्गा एव कच्छपाः कूर्मास्तैर्दारुणां भीषणाम् ।

52 छिन्नेति । छिन्नाः कृत्ताः ये दन्तिनां हस्तिनां कराः शुण्डादण्डास्त एव ग्राहाः नक्राः यस्यां ताम् । महतीं विशालां नदीं । कुर्वन् विदधत् असौ दुर्योधनः । यमस्य मृत्योर्विषये देशे यमलोके उच्चैरतिशयेन सुभिक्षं सुकालमकरोत् चकार । सुखेन लभ्या भिक्षा यत्र यस्मिन् काले स सुभिक्षः । साङ्गरूपकमलंकारः ।

53 इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण यावनं यवनानामिदं बलं सैन्यं समरे रणे निहत्य निपात्य । सौर्जनिर्दुर्योधनः ललाटन्तपः सुतीक्ष्ण माध्यंदिनः । ललाटं तपतीति ललाटन्तपः खश् । यश्चण्डाशुः चण्डाः भीषणा अंशवः करा यस्य सः, सूर्यः, तद्वत् दुरालोकतरोऽतिशयेन दुःखेन आलोको दर्शनं यस्य सः, दुर्दर्शनतरः । अभवत् बभूव । उपमा ।

54 कल्पान्तेति । यवनसेनानीर्मुहम्मदाभिधः । कल्पान्ते प्रलयकाले क्रूराः प्रचण्डा ये सूराः द्वादश सूर्याः तेषां तेजोभ्यः प्रतापेभ्योऽपि सुदारुणात् अतितीक्ष्णात् तस्य दुर्योधनस्य प्रतापात् तेजसः सद्यो झगिति अपासरत् दुद्राव ।

55 भ्रातृव्यमिति। रणाजिरे रणभूमौ हतं निपातितं भ्रातृव्यं भ्रातुः पुत्रं भागिनेयं भगिनीपुत्रं च त्यक्त्वा विहाय यवनो मुहम्मदाभिधः सेनापतिर्जीवलोभेन प्राणलोभेन दिल्लीशस्याकबरस्यान्तिकं समीपं ययौ जगाम।

56 लगुडस्येवेति। तस्य सुर्जनसुतस्य दुर्योधनस्य शिरो मूर्धा लगुडस्य स्थाणोरिव कस्यचित् कस्यापि पुरोऽग्रे नम्यं नमितुं योग्यं नासीत्। इति श्रुत्वा दिल्लीपतिरकबरस्तं दुर्योधनं लगुडाभिधं लक्कडखाँ इति नाम्ना प्रसिद्धं चक्रे करोति स्म। अकबरेण सुर्जनपुत्रस्य दूदाभिधेयस्य लक्कडखां इति नाम प्रदत्तमिति अकबरनामेत्यादीतिहासग्रन्थेष्ववलोकनीयम्। एतद्युद्धं चतुस्त्रिंशदधिकषोडशशततमे वैक्रमाब्दे वैशाखे मासि उपबुन्दि बभूव। इतिहासानुसारं प्रथमं दुर्योधनं प्रति जोनखाँ कोकतलाशनामा यवनसेनानीः आक्रमणं व्यधात्।

57 अथेति। अथ दुर्योधनं शत्रुं रिपुं हृदि बहु अतिशयं मन्यमानः स्वीकुर्वन् दिल्लीपतिरकबरः सभामध्ये परिषदि स्वान् भटान् सैनिकान् धिक्चकार धिक्करोति स्म निन्दति स्म, निनिन्द।

58 तत्रेति। तत्र सभायां। एकः कश्चित्। चण्डो भीषणौ कण्डूलौ खर्जुयुक्तौ दोष्णोर्भुजयोः दण्डौ तयोर्द्वयेन युगलेन भीषणो दुर्दान्तः। बाहुदरो, बाह्वो भुजयोः दरो भयं रिपूणां यस्य स बाहुदर इति अन्वर्थनामा। बहादुरखान-इति-नामको यवनेशः यवनसेनापतिर्दिल्लीशं मुगलसम्राजमकबरं प्रत्यभाषत समुत्तरयति स्म।

59 राजन्निति। हे राजन् सम्राट्, असौ सौर्जनिः सुर्जनसुतो दुर्योधनो भवता युष्माभिर्लगुडनामा लक्कडखाँ इति कृतोऽभिहितः। तदा अहं तस्य लगुडस्य विच्छेदने कृन्तने सद्यः झगिति पटुः कुशलः कुठारः परशुः। अस्मीति शेषः। रूपकम्।

60 ममेति। दृश्यन्तोऽपि गर्विष्ठा अपि द्विषन्तश्चैते भटाः वैरिसैनिकाः मम बाह्वोर्भुजयोः दरेण भयेनैव सङ्ग्रामाद् युद्धाद् भीरवः कातराः हरिणा मृगा इव अपसरन्ति विद्रवन्ति। उपमा।

61 इतीति। इति इत्थं ब्रुवाणं वदन्तं तं वीरं बहादुरखान-नामानं यवनं कुठार-नामकं कुराडखान-इति नामकं कृत्वा, तस्मै कुराडखानेति उपाधिं दत्वा।

हृष्ट प्रसन्नं मानसं चित्तं यस्य स दिल्लीशोऽकबरः तं सौर्जनिं सुर्जनपुत्रं प्रति प्राहिणोत् प्रेषयति स्म।

62 कठोर इति। अथायुतद्वयसंयुतः विंशतसहस्रसैन्ययुक्तोऽसौ कठोरः क्रूरः कुठारः कुराडखानोपाधियुक्तो बहादुरखानो दुर्योधनं हन्तुं मारयितुं रोषात् क्रोधात् जवाद्वेगेन उपबुन्दि बुन्द्याः समीपे ययौ। इतिहासानुसारं दूदा-परनामानं दुर्योधनं साहबाजखाननामा यवनसेनापतिराययौ इति अकबर-नामादिषु ग्रन्थेषु दृश्यते।

63 वर इति। स्वकं निजं बलं सैन्यं वरे श्रेष्ठे वरह्रदे वरो ह्रदोऽगाधजलाशयो यत्रेति अन्वर्थनाम्नि भाषायां जनेषु "बरधा" इति प्रसिद्धे ग्रामे संनिवेश्य स्थापयित्वा। कुठाराभिधः कुराडखाननामा स वीरो यवनः क्षणात् तत्काल-मेव सिद्धः सज्जोऽभवत् आसीत्।

64 रणायेति। स सौर्जनिर्दुर्योधनः कुठारकं कुराडखानं रणाय युद्धाय दंशितं कवचेन सज्जित सन्नद्धं सज्जितं श्रुत्वा निशम्य। श्येनस्यपातः इव पातः यथा स्यात् तथा पतित्वा आक्रमणं कृत्वा आशु शीघ्रं बहून् यवनान् म्लेच्छान् जघान अहनत्। उपमा।

65 स इति। सङ्ग्रामो रण एवाध्वरो यज्ञः तस्मै दीक्षितो याजकः। स दुर्योधनः। उद्भटं दुर्दान्तं अयुतद्वयमपि विंशतसहस्रसंख्यकमपि यावनं यवनसम्बन्धि बलं सैन्यं स्वस्यात्मनः प्रतापाग्नौ तेजोवह्नौ अजुहोत् जुहाव। परम्परित-रूपकम्।

66 रे रे इति। रे रे कुठार कुराडखान। लगुडाभिधं अकबरेण लक्कडखानेति उपाधिना निन्दितं मां मन्ये ध्रुवं छेत्स्यसे त्वं खण्डयिष्यसि किम्? साम्प्रतं अधुना पश्यावलोकय। कुठारं परशुं त्वां कुण्ठं कुण्ठितं अशक्तं कुर्यां विदध्याम्। अहमिति शेषः।

67 इतीति। इति इत्थमुक्त्वा कथयित्वा। तूर्णं शीघ्रमाकृष्टमाकर्णं कर्णान्तं कार्मुकं धनुर्येन सः। सौर्जनिर्दुर्योधनः। क्रोधेन रोषेणैधितः समिद्धप्रताप-स्तेज एवाग्निर्वह्निर्यस्य सः। शरवर्षैर्बाणवृष्टिभिरवाकिरत् आच्छादयति स्म।

68 स्रवद्भिरिति। असौ दुर्योधनः समरे रद् कृतानि खण्डितानि वर्म्माणि कवचानि येषां तेषां द्विषतां रिपूणां स्रवद्भिर्गलद्भिरस्रैः शोणितैरुद्धतमुद्वान्तं, लक्षणया वर्धितं वरहृदनामकं ग्राममन्वर्थं सार्थकं (वरो हृदो यस्मिन् स वरहृद इति व्युत्पत्त्या) अकरोत् चकार। निरुक्त्यलङ्कारः।

69 अनेनेति। अनेन लगुडखाननाम्ना दुर्योधनेन हठात् प्रसभं कुण्ठितं अस्त्रं यस्य सः, अशक्तः कृतोऽसौ कुठाराभिधः कुराडखाननामा यवनवीरः पटकुट्यां पटनिर्मिते गृहे दूष्ये न्यलीयत नीलीयते स्म।

70 इत्थमिति। इत्थमनेन प्रकारेण रणे रणे अनेकशो युद्धेषु बहून् द्विषतोऽरीन् निघ्नतो निपातयतस्तस्य दुर्योधनस्य जयश्रीः जयलक्ष्मीः स्वाधीनपतिका स्वाधीनः पतिर्यस्याः सा स्वाधीनभर्तृका पत्नीव वशवर्तिनी वशंवदाऽऽसीत् बभूव। उपमा।

71 नास्तीति। काचन काचिदपि वीरं सूते इति वीरसूः वीरप्रसविनी जननी नास्ति न वर्तते, नोत्पत्स्यते नापि भविष्यति, नापि भूता न च बभूव। या युद्धे रणे दुर्योधनस्य प्रतियोगिनं प्रतिमल्लं सवित्री जनयित्री। वर्तेत इति शेषः।

72 अथेति। अथ तदनन्तरम्। अकब्बरेण तर्जितं प्रताडितं आक्रान्तमित्यर्थः। प्रवरः श्रेष्ठश्चासौ गुर्जराणां तद्देशानां क्षोणिपो राजा तं, गुजरातसुरत्राणं मुजफ्फरशाहनामानं रिरक्षिषुः रक्षितुमिच्छुः। सन्नन्तादुः। सततं निरन्तरं सङ्गराय युद्धाय ऊर्जस्वलोऽतिशयितः ऊर्जो बलं अस्यास्तीति वलच् प्रत्ययः। अरीणां शत्रूणां क्षये नाशे क्षमो समर्थो भुजो बाहू यस्य सः। स सुर्जननृपस्यात्मजः पुत्रो दुर्योधनः। दुष्टः अवहारः ग्राहनामकजलजन्तुः तेन संयन्त्रितं, पीडितं, प्रस्तुतपक्षे दुष्टः अवहारः चोरः लक्षणया आक्रामकोऽकबरः तेन संयन्त्रितं पीडितं गुर्जरपतिं। सिन्धुरं गजं रिरक्षिषुर्मधुद्विट् इव मधुं तन्नामानं दैत्यं द्वेष्टीति क्विप् हरिरिव। जवाद् वेगेन अभ्यधावत् योद्धुं धावति स्म। श्लेषानुप्राणितोपमा। गजग्राहयोः कथा भागवतादिपुराणेषु प्रसिद्धा यथा श्रीमद्भागवते —"तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो ग्राहो बलीयाँश्चरणे रुषाऽग्रहीत्। यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो यथाबलं सोऽतिबलो

विचक्रमे।" (८.२.२७) इति। पृथ्वी छन्दः। "जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः" इति लक्षणात्।

73 कठोरेति। कठोरः कर्कशो यो गुणः प्रत्यञ्चा तेन दारुणे भीषणे उत्कटे विषमे च कोटी अग्रभागौ कोणौ यस्य तं कोदण्डकं कोदण्डमेव कोदण्डकं, स्वार्थे कः। वितत्याधिज्यं विधाय। रुषा कोपेन परुषः कठोरः शरगणान् बाणसमूहान् अजस्रं निरन्तरं क्षिपन् वर्षन् समराङ्गणे रणभूमौ अकबरसैनिकान् अकबरस्य भटान् कालयन् नाशयन्। कल् क्षेपे इति चुरादिधातोः कालयतेः शत्रन्तरूपम्। अयं दुर्योधनः सपदि द्रुतं गुर्जराधिपं गुर्जरदेशसुरत्राणं स्वक्षितौ तद्राज्ये अतिष्ठिपत् स्थापयति स्म। अनुप्रासः।

74 अमन्देति। अमन्दं दृढं हतेन ताडितेन मन्द्रं गम्भीरध्वनिर्यथा स्यात्तथा सन्नदन्त्यः, स्वनन्त्योऽदभ्राः प्रचुराः या भेर्यः ढक्काः तासां भरः समूहः, स्फुरन्तः मुखराः शब्दायमाना या दुन्दुभय आनकाश्च इति द्वन्द्वसमासः, तासां ध्वनितेन नादेन, भावे क्तः, पूर्णं दिशां मण्डलं येन सः। जगतां लोकानां त्रितयं। त्रयोऽवयवा अस्येति "संख्याया अवयवे तयप्" (५.२.४२) इति तयप्-प्रत्ययः। तस्मिन् त्रिलोके गत्वरा गमनशीला उद्धुरा दृढा भुजयोर्बाह्वोः प्रशस्तेः प्रशंसनस्य वर्णनस्य प्रथा कीर्तिर्यस्य सः। अयं दुर्योधनः निजपुरीं स्वराजधानीं बुन्दीं प्रयास्यन् गमिष्यन् पथि मार्गे सुमन्थरं शनैः ययौ जगाम। अनुप्रासः। अतिशयोक्तिश्च।

75 मुहुरिति। मुहुर्वारम्वारं पवनेन वायुना चुम्बितानां स्पृष्टानां स्फुरितानां कम्पितानां फुल्लानां विकसितानां पद्मानामाकरे सरोवरे लसन्तः खेलन्तः परिमलेन परिमलाय वा सुगन्धिना सुगन्धये वा आकुला व्याकुला ये अलयः भ्रमरास्तेषां कुलं वृन्दं तस्य काकल्यां सङ्गीते कौतुकी कुतूहलवान्। असौ दुर्योधनः। रिरंसवो रन्तुमिच्छवो या वरटा हंस्यः। "हंसस्य योषिद्वरटे" त्यमरः ताभ्यो बहुरत्यधिको यः प्रणयोऽनुरागस्तेन लोलाश्चञ्चलाः हंसाः मराला येषु तेषु सरःसु सरोवरेषु सरसीभवन् असरसः सरसो भवतीति सरसीभवति, अभूततद्भावे च्विः शत्रन्तरूपञ्च। अध्वनः मार्गात् जातं समुत्पन्नं श्रमं क्लमं व्यनुदत् नोदयाञ्चकार त्यजति स्मेति भावः। रिरंसवः रन्तुमिच्छवः इति हंसानां विशेषणपदम्, वरटानां बहु हंसीसमूहः ताभ्यो यः प्रणयस्तेन लोलाश्च ये हंसा येषु तेषु सरोवरेषु। अनुप्रासः।

76 विचित्रेतेति । एष स दुर्योधनः त्वरितं शीघ्रं मृगयोचितं आखेटक्रीडायोग्यं वेषं नेपथ्यं वस्त्रादि विधाय कृत्वा परिधायेत्यर्थः । क्षणेन अचिरमेव धनुश्चापं समधिज्ययन् वितन्वन् । विचित्रिताः अद्भुता विविधवर्णाः पतत्रिणः पक्षिणः यस्मिन् तस्मिन् । श्रुतिभ्यः कर्णेभ्यः कटु तीक्ष्णं यथास्यात्तथा श्रुतिकटु इति क्रियाविशेषणम् उच्चरन्तः शब्दं कुर्वन्तः पोत्रिणः सूकराः यस्मिन् तस्मिन् । पोत्रमत्यास्तीति पोत्री, पोत्रं सूकरमुखाग्रं, इनि-प्रत्ययः । स्फुरन्तः चलन्तः सृमराः बालमृगाः सवराः हरिणाश्च । उभयोर्भिन्नजातिकत्वादपौनरुक्त्यं यस्मिन् तस्मिन् । क्वचित् कुत्रचित् महति विस्तृते कानने वने । बहून् अनेकान् श्वापदान् हिंस्रपशून् । निरवधीत् निजघान । सृमरसम्बरप्रयोगे पुनरुक्तिर्न शक्या । यथा रामायणेऽपि मृग-सृमर-पृषतां भिन्नार्थेषु प्रयोगात् । वराहमृगसिंहाद्या महिषा सृमरास्तथा । व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सहाः । (२.५११) इति । अनुप्रासः ।

77 इतीति । इति इत्थं कृतो विहितो विविधो नानाप्रकारो विहारः आखेटादिर्येन सः परिपन्थिनां शत्रूणां प्रौढः प्रबलो यः पाथोधिः समुद्रः तस्य मन्थनदण्डः मन्दरगिरिस्तद्रूपो । विकटेन भीषणेन कटकेन सैन्येन चण्डो दुर्दान्तः । चारुः कोदण्डो धनुः पाणौ यस्य सः । स दुर्योधनः । पथि मार्गे मन्दमन्दं शनैः शनैः व्रजन् गच्छन् सन् गरिष्ठे महति देवग्रामे "देवपुरेति" प्रसिद्धे वुन्द्या उपकण्ठे स्थिते ग्रामे । उच्चैरतिशयेन शिविरं सेनानिवेशं अकृत चकार । मालिनी-छन्दः । अनुप्रासः रूपकञ्च ।

78 अथेति । अथ एतदनन्तरं स्वावतारं स्वजीवनं समाप्तं प्राप्तान्तं विदित्वा ज्ञात्वा । स्वकीयां निजां तनुं देहं इह मृत्युलोके ध्यानयोगात्, योगसमाधिना विजिहासुस्त्यक्तुमिच्छुः । ओहाक् त्यागे इति धातोः विपूर्वकात् सन्नतात् विजिहासतेः उ प्रत्ययः । वदनस्य मुखस्य यत् विवरं छिद्रं तस्मात् निर्यत् निर्गच्छत् । आत्मीयं निजं ज्योतिः जीवात्मानं । सजलो जलपूर्णो यो जलदो मेघस्तद्वन्नीलं ज्योतिस्तेन ब्राह्मणा, यद्वा तद्वन्नीलं ज्योतिर्यस्य तेन नीलज्योतिषा विष्णुना एकीचकार एकात्मीकृतवान् । अमुं लोकंत्यक्त्वा दिवं गत इति भावः उपमा ।

79 योन्तर्वाणीति । सुकवेर्विश्वनाथस्य काव्ये श्रीनृपशत्रुशल्यचरिते दुर्योधनस्यौजसः प्रतापस्य स्तुतिवर्णनम् ।

इति शत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यां नवमो सर्गः ॥

॥ दशमः सर्गः ॥

1 अथेति । अथ तदनन्तरं गुरुर्जनकश्चासौ सुर्जनः तस्मात् पितुः सुर्जनात् नृपतेः महतीं विस्तृतां महीं पृथ्वीं राज्यं क्षणादचिरं समधिगम्य लब्ध्वा । स भोजनृपो दुर्योधनस्य कनीयान् भ्राता । अनलोऽग्निर्दिनात्यये दिनावसाने दिनमणेः सूर्यस्य वरा श्रेष्ठाभाः कान्तिस्तां वरभासमिव समुपलभ्य । चिरतरं बहुकालं विरराज शुशुभे । द्रुतविलम्बितं छन्दः । "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" इति लक्षणात् । उपमालंकारः ।

2 रुचिरेति । रुचिरं रमणीयं यच्चम्पकं चम्पकपुष्पं तद्वत् चार्वी सुन्दरा तनोः शरीरस्य छविः कान्तिर्यस्य सः । तरुणो जलयुक्तो यो नीरदो मेघस्तद्वत् धीरतरोऽतिमन्द्रः स्वरो ध्वनिर्यस्य सः । विकसितं प्रफुल्लं यत् अरुणं रक्तं पङ्कजं कमलं तद्वत् लोचने नेत्रे यस्य सः । वसोर्वह्नेः यद्वा वसूनां अष्टानां वसूनां धाम तेज इव तेजो धरतीति वसुधामधरः उपमा । यद्वा वसोरग्नेर्धाम धरतीति निदर्शना । स भोजः वसुधां पृथ्वीं अन्वशात् पालयति स्म । अस्मिन् सर्गे प्रतिश्लोकं चतुर्थचरणे प्रायो मध्ययमकालङ्कारयोजनाऽस्ति 'वसुधा वसुधामधरः" इत्यादिवत् । उपमात्रयस्य यमकस्य च संसृष्टिः । मतान्तरे निदर्शनाऽपि ।

3 सुजगतीति । सु शोभनं यत् जगतीत्रयं त्रिलोकं तत्र जाङ्घिको धावको विक्रमः पराक्रमो यस्य सः । जङ्घाभ्यां चरतीति जाङ्घिको "पर्पादिभ्यष्ठन्" (४.४.१० इति ठन् प्रत्ययः) स्वगुणैरौदार्यादिभिर्निर्जितो विजितः सन्नृपश्रेष्ठो राजा विक्रमः प्रसिद्धो विक्रमादित्यः येन सः । जनानां तापं कष्टं हरतीति हरः लोकदुःखहर्ता स नृपो भोजः । जनताः प्रजाः । अतितमां अत्यधिकं अनुरागिणोः स्वानुरागयुक्ताः स्वस्मिन् प्रेमयुक्ता अकरोत् चकार 'विक्रमः-विक्रमः" "जनता-जनताप" इति यमकद्वयम् । पूर्वार्धान्तयमकम्, उत्तरार्धे तु मध्ययमकम् तयोः संसृष्टिः ।

4 चिरमिति । यशसा कीर्त्या सुमुदिरः शोभन, यद्वा कीर्तेः मुदिरः कामुकोऽभिलाषकः । मोदन्ते अनेन प्रजा इति मुदिरः । इषिमदिमुदीति (१.५२)

उणादिः किरच्। मुदिरो कामुक इति मेदिनी। असौ भोज। द्रविणं वित्तमेव उदकं जलं, यद्वा द्रविणं उदकमिवेति उपमितसमासः, तस्य वृष्टिभिर्वर्षणैः। तृषमिव पिपासामिव। अर्थी याचक एव खगः पक्षी चातकः तस्य, यद्वा अर्थी याचक इवेति उपमितसमासः। दहनस्याग्नेर्दारुणो भीषणो यो दाहस्तापः स इव दाहो यस्याः सा दहनदारुणदाहा चासौ दरिद्रता धनाभावस्तां, समासस्य पूर्वपदे पुंवद्भावः। हरन् निवारयन् अपाकुर्वन्। मुदिरो मेघः उपमा यस्य स मुदिरोपमो मेघसदृशः। चिरं उद्बभौ दीर्घकालं शुशुभे। उपमालङ्कारः रूपकोपमयोः सङ्करो वा "यशः सुमुदिरो मुदिरोपम" इति पूर्ववत् मध्ययमकम्।

5 स्थितवतीति। इह सभायामित्यर्थः महार्हं बहुमूल्यं रत्नखचितं स्वर्णनिर्मितं यन्नृपासनं सिंहासनं तस्मिन् स्थितवति आसीने सति। तस्मिन् भोजे इत्याक्षिप्यते। जगति लोके उग्रा उत्कटा जयश्रीर्जयलक्ष्मीर्यस्य तस्य। राज्ञो भोजस्येति शेषः। नखरुचा नखानां चरणनखानां रुचा कान्त्याऽरुणिता रक्ताः पदयोः। तच्चरणयोर्नता नम्राः येऽस्य: शत्रुराजानः तेषां किरीटानां मुकुटानां मणीनां खचितरत्नानां त्विषः कान्तयः। अनुरागकं प्रेम। निजगदुः कथयन्ति स्म। तद्गुणः, यमकञ्च तयोः संसृष्टिः।

6 अहिभयमिति। स्वस्यात्मनो वरं श्रेष्ठं यन्नामाभिधानं तेन लसन् शोभमानो यो मनुः मन्त्रः तन्मात्रं तस्मात् पञ्चम्यास्तसिल्। हेतोः। जगति संसारे, राज्ये इति भावः। अहिभयं अहेर्दुष्टजनस्य, पक्षे सर्पस्य भयं भीतिं प्रहरन् निवारयन्। विनतायाः सुतो गरुडस्तस्य विक्रमः पराक्रम इव विक्रमो यस्य सः। स भोजः। विनता अनुशासनपराः प्रजाः जनताः सुचिरं दीर्घकालं प्रमुदिता आनन्दिताः विदधौ चकार। श्लेषानुप्राणितोपमा यमकञ्च। तयोरेकवाचकानुप्रवेशसङ्करः। अत्र पद्ये कविना भारवेर्निम्नोद्धृतस्य पद्यस्य च्छाया गृहीता।

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृता—
दनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः
सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥
(किराते० १.२४ इति)

7 अतितरामिति। अधिबुन्दि बुन्द्यामिति अधिबुन्दि। अतितरां अत्यधिकं महीधरे पर्वते ध्वनन्तो गर्जन्तोऽदभ्राः महान्तः सुधीराः मन्द्रा ये पयोधराः मेघाः तत्सदृशा इति वाचकलुप्तोपमा। वसुमती पृथिवी सुमतयः बुद्धिमन्तः जनास्तेषां च ईशितुः स्वामिनोऽस्य भोजस्य। प्रहरदुन्दुभ्यः प्रतिप्रहरं वादिता दुन्दुभय आनकाः। उच्चकैरतिशयेन चकाशिरे रेजिरे। उपमा-यमकयोः संसृष्टिः।

8 यदपीति यदपि यद्यपि भुवि पृथिव्यां परःशताः शताधिका नृपा राजानः सन्ति। तथापि कोऽपि नृपोऽमुना भोजेन समस्तुल्यो न। अत्र हेतुमाह। यस्य उरु महत् यद्वीर्यं बलं तदेव शिखी वह्निः तस्मात् द्रुतो भीतत्वात् पलायितो वाडवः सामुद्रोऽग्निर्मकरौकसि मकराणां नक्रादीनां ओको गृहं तस्मिन् समुद्रे संस्थितिं वासमकरोत् चकार। काव्यलिङ्गं यमकञ्च।

9 रुचिरेति। स नृपो भोजः रुचिरो मनोहरो यो चालुकवंशः सोलंकीक्षत्रियाणां कुलं तस्य शिरोमणेः मूर्धरत्नस्य। धरणेः पृथिव्या मण्डनमाभरणं यत् तोडपुरं 'टोडारायसिंहेति" प्रसिद्धं राजस्थाननगरं तस्य ईशितुः स्वामिनः। वनवीरनृपस्य तन्नाम्नो राज्ञः। मनोहरां मनोज्ञां श्रितो नयः यया तां नीति-कुशलां। तनयां सुतामवृणोत् परिणयति स्म। यमकम्। रूपकञ्च।

10 त्रिजगतीति। अहो इति हर्षे। मनसिजेन कामेन मनसि जायत इति अलुक्समासः। हृदा स्वचेतसा त्रिजगत्याः त्रिलोकस्य वराणि श्रेष्ठानि यानि-रूपाणि आकारा तेषां समुच्चयैः एकत्रीकरणैः सङ्ग्रहे निर्मिता रचिता किमु इति वितर्के। इयं असौ वरराजस्य श्रेष्ठं नृपस्य कुमारिका दुहिता। पतिं तं भोजम्। विनयतो नम्रतया नयतोऽपि नीतिकुशलतया च। अभजत् सेवते स्म। वितर्कमलङ्कारः यमकञ्च।

11 व्रतेति। इमकौ इमौ, "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः"। इत्यकच्। दम्पती जायापती जाया च पतिश्च इति द्वन्द्वसमासे राजदन्तादिगणोपादानात् जायाया दम्भावो वा निपात्यते इति राजदन्तादिषु परम् (२,२.३१) इति सूत्रे सिद्धातकौमुदीकाराः। व्रतञ्च तपश्च नियमश्च तैः व्रतादिभिः परितोषितात् संतुष्टीकृतात् मुररिपोर्विष्णोः। उग्रो भीषणः, शत्रुभ्य इति भावः, पराक्रमो

विक्रमो यस्य तं । जनानां प्रजानां हितं मित्रं । द्विषां शत्रूणां हितं इष्टसाधनं कल्याणं न दधतं वहन्तं, रिपूणामहितकारिणमिति भावः । तनुजं पुत्रं प्रापतुः प्रापताम् । यमकम् ।

12 जगतीति । यत् येन हेतुना एष कुमारो जगति लोके राजितं सुशोभितं यत् राजकं राज्ञां समूहो राजकं, "गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजेति" (४.३ ३९ इति वुन्) तस्य मस्तकं शिरो मूर्धा तत्र । जातौ एकवचनम् । मुकुटस्य किरीटस्य रत्नमिव मणिरिव उदितो जातः । इति अनेन कारणेन । विनतिमान् विशिष्टा नतिर्नम्रताऽस्यास्तीति मतुप्, विनयशीलः । द्विषां वैरिणां अति अतिशयेन मानहरः सम्मानहर्ता । स क्षितिभृतो राज्ञो भोजस्य सुतः पुत्रो जातकः । रत्न इति रत्ननामाऽजनि जातः रत्नेति नाम्ना प्रसिद्धोऽभूत् । रूपकम् काव्यलिङ्गं, यमकञ्च, तेषां संसृष्टिः । यद्वा रूपककाव्यलिङ्गयोः सङ्करः तस्य यमकेन संसृष्टिः । अनुप्रासश्च "राजितराजक' इत्यादौ ।

13 अथेति । अथ तदनन्तरं । पितुर्जनकस्य सुर्जनस्य सखायं मित्रं अकब्बरं मुगल-सम्राजं समरे रणे । अरं शीघ्रं, इयर्ति गच्छत्यनेन (ऋ + अच्) सह चिकीर्षुः साहाय्यं कर्तुमिच्छुः । स नृपो भोजः । रिपूणां शत्रूणां क्षये नाशे सुचतुरं अतिकुशलं चतुरङ्गबलं हस्त्यश्वरथपादातयुक्तं सैन्यं दधत् वहन् । पुलिन्दं गोंडवानाधिपं अनु प्रति । इयाय आक्रमितुं जगाम । यमकम् ।

14 कट्विति । कटु तीक्ष्णं रटन् स्वनन् यः पटहानां डिण्डिमानां ध्वनिः शब्दस्तेन शात्रवाणां रिपूणां । शत्रुरेव शात्रवः स्वार्थे अण् । व्रजः समूहः तस्यैव रिपुसमुदाय वितीर्णः प्रत्तः सु अत्यधिकः कर्णपुटयोः श्रोत्रशष्कुल्योः ज्वरो वेदना येन सः । त्रिजगत्यास्त्रिलोकस्य जयस्य या केलिः क्रीडा तस्यां रुचिराभिलाषो यस्य सः । स नृपो भोजः । पुलिन्दकैः गोंडवानादेशीयैर्वन्यजनैः सह । अधिसमरं, समरे इति "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" (२.४.८४) इति अव्ययीभावः । समरंस्त संरेमे, अयुध्यतेति भावः ।

15 अनण्विति । न अण्व्यौ अनण्वी अनण्व्यः बृहत्यः या घोरं भीषणं रणन्त्यः झणझणायन्त्यः वराः श्रेष्ठाः किङ्किण्यः घण्टिकाः तासां क्वणितं यस्य तत्, कङ्कणेन कटकेन दारुणं भीषणं च यत् कार्मुकं धनुः समधिकृष्य वितत्य ।

शरैर्बाणैर्हरितो दिशास्तिरयन्नाच्छादयन् । अयं भुवः पतिर्नृपो भोजः । समयुध्यत सम्यक् युध्यते स्म । अनुप्रासो यमकञ्च ।

16 वरेति । उदारधीः दक्षिणबुद्धिः स राजा । वरपुलिन्दभटेभ्यः श्रेष्ठपुलिन्दसैनिकेभ्यः । अरं शीघ्रं यमनिकेतनस्य यमपुर्याः राज्यं शासनं ददत् तान् निघ्नन् रणे युद्धे मण्डगिरिं माण्डूदुर्गमपि वशयन् स्वायत्तीकुर्वन् । अमलया निष्कलुषया कमलया जयलक्ष्म्या परिषस्वजे आलिङ्गितः । पर्यायोक्तं यमकञ्च ।

17 उपकृत इति । अमुना भोजेन उपकृतः उपकारविषयीकृतोऽपि खलतरोऽतिदुष्टः स नृपमानकः आमेराधिपतिर्मानसिंहः । अकबरस्य पुरतोऽग्रे पिशुनतां दुष्टतां अकरोत् । भोजस्य निन्दामकरोदिति भावः । अहो इति खेदे । सुसत्कृतः सत्कारेण भाजितोऽपि अहिः दुष्टः सर्पश्च रह एकान्ते विषं दुर्वचनं हालाहलञ्च उद्गिरति वमति । अर्थान्तरन्यास-यमकयोरेकवाचकानुप्रवेशसङ्करः ।

18 अधिकणमिति । त्रिभिर्विशेषकम् । मानसिंहं प्रति बुन्दीशभोजस्योक्तिः । बत इति खेदे । मणिलिप्सया रत्नमादातुमिच्छया साहसात् स्वशयं स्वहस्तं फणिनां सर्पाणां आधिफणं फणे इति सर्पमूर्धनि उत्क्षिपतः तवेति अग्रेणान्वयः । अपि च मदात् दर्पात् असुलभं दुर्लभं केसरिणः सिंहस्य केसरगं स्कन्धकेशं सुलभं सुखेन लभ्यमानं मन्यतः तवेति अग्रेणान्वयः ।

19 कठिनेति । कठिनः कठोरः यः सत्कमठः कच्छपः तस्य अन्वये वंशे कछवाहाकुले जन्मोत्पत्तिर्यस्य तव मानसिंहस्य यदि मणिग्रहणे सर्पस्य मणेर्ग्रहणे अर्थात् मम शिखाग्रहणे बल सामर्थ्यमस्ति वर्तते । तदा तर्हि अद्य सम्प्रति कट्टारिका छुरिका तया प्रविलसत् राजमानं यत् बिलं नाकु तदेव सत् शोभनं दलक शस्त्रीच्छद तस्मात् । गृहाण । इति भोजस्योक्तिः ।

20 अकबरेति । इति पूर्वेणान्वयः । जगतो लोकस्य एकविजिष्णुना मुख्येन जयशीलेन । अमर्षेण क्रोधेन कषाये रक्ते दृशौ नेत्रे यस्य तेनामुना भोजेन । प्रवरं श्रेष्ठं हीरमणिं शिखारत्नमिति भावः अकबरस्य अनुमतेन सम्मतया-

ऽर्थयन् प्रार्थयन् आदातुमिच्छन्नित्यर्थः, नृपमानकः राजा मानसिंहो जगदे कथितः । किलेति वाक्यालङ्कारे । भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिर्यमकञ्च ।

21 दिवमिति । दिल्लीपस्याकबरस्य मातरि जनन्यां दिवं स्वर्गमुपेयुषि मृतवत्यां सत्यां । नृपगणे क्षत्रियराजसमूहे प्रसभं बलात् मण्डिते भद्राकृते कुर्चं श्मश्रु शिखण्डकं शिखा च यस्य तस्मिन् सति समजेयोऽतिशयं अजेतुं योग्य पराक्रमो विक्रमो यस्या सः, अजेयबलः । स भोजः । सुसमजे क्षोभने समजे मुगल सम्राजः परिषदि राजसभायां । केसरीव सिंह इव बभौ शुशुभे । अकबरमातृमृत्युसमये तन्निदेशात् तस्य सभायां स्थितैः हिन्दुराजभिः स्वश्मश्रुशिरोरुहाः भद्राकृताः । परं बुन्दीशेन भोजेन स्वभद्राकरणं न स्वीकृतवता । मुगलसम्राजो निदेशस्यावहेलना कृता । मानसिंहेनैष वृतान्तोऽकबराय निवेदितस्तेन मुगलसम्राट् भोजाय क्रुध्यति स्मेति इतिहासकथा । उपमा, यमकञ्च ।

22 स्वपित्रिति । गुरु महत् यद्बलं ओजो यस्य तत् उरु विपुलं बलं सैन्यं यस्य सः । भोज इति प्रकरणादाक्षिप्यते । स्वस्य पित्रा जनकेन सुर्जनेन दत्ता सखित्वस्य मैत्र्याः सु शोभना दक्षिणा यस्मै तं आहवे रणे दक्षिणं कुशलं । अकबरं दिल्लीपतिं । सुजवाद् वेगेन गुर्ज्जरं गुर्जरदेशाधिपं गुजरातसुरत्राणं अनु प्रति । "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इति अनोर्योगे द्वितीया । प्रचलितं आक्रमणाय प्रस्थितं सन्तं । क्षणात् अचिरमेव । अनुययौ अनुगच्छति स्म । यमकम् ।

23 अकबरस्येति । रणे युद्धेऽकबरस्य मुगलसम्राजः सहकृत्वनः सहायकस्य । सुभीमौ अतिभीषणौ यौ भुजौ तयोरोजो बलं यस्य तस्य । समा रोषस्य विषस्य च अर्चिर्ज्वाला यस्य तस्य । क्षितिभुजो राज्ञो भोजस्य । वरैः श्रेष्ठैः गुर्जरसैनिकैर्गुर्जरभटैः सह । सुसमरो महान् रणः प्रववृते प्रवृत्तो जातः । यमकम् ।

24 विकटेति । अहितापकरः अहिता शत्रवस्तेषां अपकरो हानिकर्ता यद्वा अहयो दुष्टास्तेषां तापकरः संतापकः । स भोजः । विकटः श्रेष्ठाः ये पृषत्काः बाणा स्त एव पृषत्काः बिन्दवः, पृथत एव पृषत्का इति स्वार्थे कः, तान् मुञ्चतीति परपृषत्कमुक् तस्मिन् सति । समुदिता एकत्रिता हतकन्धराः कवन्धाः सुभटाः सैनिकाः । मुदिताः प्रसन्नाः बर्हिणो मयूरा इव प्रननृतुः

प्रनृत्यन्ति स्म। श्लिष्टपरम्परितरूपकोपमयोः सङ्करः। तस्य यमकस्य च संसृष्टिः।

28 इतीति। इति इत्थं गुर्जराणां संगरः युद्धं तस्य संसदि परिषदि। धनुषि धनुषः प्रयोगे स्वकलाघवं स्वकौशलं प्रकटयन् व्यक्तीकुर्वन् असौ भोजः स्वयं। यमस्य सौष्ठवं यथा स्यात् तथा यो रोषस्तद्वत् रोषस्तस्मात्। वरकृपाणकलां श्रेष्ठं खड्गकौशलं समपप्रथत् प्रकटीचकार उपमा यमकञ्च।

29 विततेति। वितता महती या तुर्कः कर्तनयन्त्रं शस्त्रादीनां धारानिशितीकरण-यन्त्रं तस्य टङ्कोऽग्रभागस्तत्र मार्जनात् तीक्ष्णीकरणात्। खरतरोऽतिशयेन खरस्तीक्ष्णो निशित इति यावत्। तस्य जगतीशितुः पृथिव्या ईशितुः स्वामिनो भोजस्य। कृपाणः खड्गः। युगात्यये कल्पान्ते प्रलये कुपितः क्रुद्धः कालो यम इवाशु शीघ्रं त्रिजगतीं त्रिलोकं अग्रसत् ग्रसति स्म। किलेति वाक्यपूर्तौ निश्चयेन वा। उपमा यमकञ्च।

30 असिलतेति। मनोजेन कामेन तद्वासनया लसन् शोभमानो यः सुरप्रण-यिनीजनोऽप्सरःसमूहः। तस्य वाचिकं सन्देशं हरतीति स्त्रियां हारिणी, देवगणिकाप्रणयसन्देशवहा दूती। अस्य असिलता खड्गवल्ली। रतस्य सुरतस्य यो रागोऽभिलाषस्तस्य वशात्। वरतरान् अतिश्रेष्ठान् भटान् सैनिकान् स्वयं स्वयमेव। सुचिरं बहुकालं। उपगलं गलस्य कण्ठस्य समीपे इति सप्तम्यर्थेऽव्ययीभावः। जगृहे गृह्णाति स्म। एषा दूती भटान् स्वयमेव बलात् कण्ठे आलिङ्गितवती। भोजखड्गलतया सैनिकानां कण्ठा निकृत्ता इति भावः। समासोक्तिर्यमकञ्च।

31 करटीति। आहवः अग्रः शुभावहविधिरर्थात् सौभाग्यं तस्य रुचिः कान्तिर्यस्य तस्य सौभाग्यशालिन इति भावः। अस्य भोजस्य। करे हस्ते करटिनो गजा स्तेषां कुम्भेभ्यो गण्डस्थलेभ्यो जातानि उद्भूतानि यानि मौक्तिकानि गज-मुक्ताः तान्येव पुष्पाणि अस्याः सन्तीति पुष्पिणी, गजमुक्ताकुसुमालङ्कृता। रुधिरस्य रक्तस्य बिन्दवः पृषतस्तेषां मिषात् व्याजात् अरुणा ये तन्तवः सूत्राणि तैर्हेतुभिः पुलकिता स्वलङ्कृता। साऽसिलता करवालवल्ली।

जयरुचः जयस्य विजयस्य रुक् कान्तिर्लक्ष्मी। तस्या कबरी वेणिरिव बभौ शुशुभे। रूपकमपह्नुत्युपमानां अङ्गाङ्गिभावरूपः सङ्करः। यमकञ्च।

32 इतीति। इति अनेन प्रकारेण। समरे रणे दुर्मदानां गर्विष्ठानां दोष्णां भुजानां यद् द्वयं (यद्वा, दुर्मदयोर्दोष्णोर्यद् द्वयं) तेन दारुणान् कठोरान् बहून् भटान् गुर्जरसैनिकान् निहत्य पातयित्वा। अथ तदनन्तरं स भोजः तदीयानां हतसैनिकानां शिरसां कमलैः पद्मैः। मकरो ध्वजः यस्य सः, यद्वा मकर एव ध्वजः पताका चिह्नं वा यस्य सः, कामदेवस्तस्य वैरिणश्शत्रो शिवस्य स्रजं मुण्डमालां समकरोत् व्यधात्। जग्रन्थेति भावः। रूपक-निदर्शनयोः सङ्करः यमकञ्च।

33 त्रिजगदिति। त्रिजगति त्रिलोके एकभटो वीरश्रेष्ठः स महीपती राजा भोजः। धरणीश्वरं गुर्जरपतिं मुजफरं मुजफ्फरशाहं वशयन् बन्दीकुर्वन्। रुचिरया रमणीयया चिरया स्थिरया जयश्रिया जयलक्ष्म्याऽपि। समरो रणः अर्थात् रणभूमिः स एव रङ्गगृहं विलासभवनं तस्मिन्। परिषष्वजे आलिङ्गितः। एकदेशविर्तिसंरूपकं न तु समासोक्तिः, "समरङ्गगृहे" इत्यत्रा-ऽऽरोप्यमाणस्यापि स्पष्टतया निर्देशात्। यमकञ्च।

34 प्रविलपन्तसिति। वरं श्रेष्ठं मानं आक्रमणं तेन युतः, सफलाक्रमणः स नृपो भोजः। उच्चैरतिशयेन वरया श्रेष्ठया करुणया दयया। करुणं दीनं वचनं प्रविलपन्तं रुदन्तं। अमुं मुजफरं मुजफ्फरशाहं गुर्जरसुरत्राणं। सम-मुचत् मोचयति स्म। यमकम्।

35 जलनिधेरिति। सुष्ठुरतं अनुरक्तं क्षितिमण्डलं पृथ्वीमण्डलं यस्मिन् सः। स भोजः। जलनिधेः समुद्रस्य परिखां खेयमभितः परितः दधत्। अतएव पर-भटैः शत्रुसैनिकैः, मनसाऽपि चेतसाऽपि किमुत वपुषा सुदुर्ग्रहं अतिशयेन दुर्ग्राह्यं। बहवः समृद्धः सम्पत्तिशालिनो जना पुरवासिने यस्मिन् तत् सुरतं पुरं सूरतनामकं अरबसागरे स्थितं पत्तनं। अग्रहीत् आक्रमणानन्तरं स्वा-यत्तीचकार। यमकम्।

36 स्वभुजेति। स्वस्य भुजयोबाह्वो विक्रमतः बलात्। हेतौ पञ्चमी। प्रमथितात् मन्थनीक्रियाविषयीकृतात्। समरो रण एवाम्बुधिः समुद्रस्तस्मात्। यशः

कीर्तिरूपिणीं सुधां अमृतमधिगत्य लब्ध्वा । हरिर्विष्णुरमरराजमिन्द्रमिव । स भोजः । सुहितं शोभनं मित्रं अकब्बरं । सुष्ठु हितं इष्टसाधनं यस्य तं सुहितं विदधेतमां अतिशयेन चकार । रूपकम्, यमकञ्च ।

37 अकबरेणेति । अकबरेण सहैव । किलेति वाक्यालङ्कारे । अर्गलापुरं आगरा-नगरं उपेत्य आगत्य । नंदन्तो जयदुन्दुभयः जयसूचकाः आनका यस्य सः । रुचिरा शक्तिर्बलं, स्कन्दपक्षे तच्छस्त्रं, तां, धरतीति धरः, बलशाली, शक्ति-शस्त्रयुक्तश्च । भवस्य शिवस्य यो नन्दनः पुत्रः कार्तिकेयः तस्य विक्रमः पराक्रम इव पराक्रमो यस्य सः, तद्वद्बलशाली । स भोजः । स्वभवनं निज-प्रासादं प्रविवेश प्रविष्टः श्लेषानुप्राणितोपमायमकयोः संसृष्टिः ।

38 परिसर इति । यस्यागरापुरस्य परिसरे समीपे । वरे श्रेष्ठे ये तटे तयोरुल्लसन्त इन्द्रमणय नीलमणयस्तेषां त्विषा कान्तिर्यस्या सा । त्विट् एव त्विषेति "अयं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशेति" भागुरिवचनात् । अधिकं मेदुरं स्निग्धं च यत् नीलं जलं तस्य च्छविः कान्तिर्यस्याः सा । मेदुरं, 'मेद्यति स्निह्यतीति मेदुरं' "भञ्जभासमिदो घुरच्" (३.२.१६१) इति घुरच् । अंहसां पापानां संहति संगयदा संहृतेः समूहस्य नाशिका । यमस्वसा यमस्य भगिनी यमुना । वहति प्रवहति । अनुगुणालङ्कारः । "प्राक्सिद्ध-स्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः । नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम्" इति कुवलयानन्दे । नव्यैरभिमतोऽयमलङ्कारः प्राचां मम्मटादीनां तद्गुणाल-ङ्कार एव । यमकञ्च ।

39 दिवसेति । किमु इति वितर्के । यस्यार्गलापुरस्य वराः श्रेष्ठा ये सौधाः प्रासादाः तत्र । कमलरागमणिः पद्मरागरत्नं माणिक्यं तेषां प्रकरस्समूहः तस्मादुल्लसन्ती प्रकटीभवन्ती या छविः कान्तिः । निशास्वपि रात्रिष्वपि । दिवसनायकस्य सूर्यस्य कार्यं प्रकाशीकरणं तस्य विधित्सया विधातुमिच्छयेति हेतोः सम्भावना । तमोऽन्धकारं विरलं स्वल्प अलं पर्याप्तं विदधे चकार । हेतूत्प्रेक्षायमकयोः संसृष्टिः ।

40 प्रसृमरेति । प्रसृमरा प्रसरणशालिनी, प्रकर्षेण सरतीति स्त्रियां टाप् प्रसृमरा, "सृ गतौ धातोः ताच्छील्ये क्मरच्, "सृघस्यदः क्मरच्" (३.२.१६०) या

छविर्येषां ते सन्मणयो महार्घरत्नानि तैर्निर्मिते । वरे श्रेष्ठे यदीयविलासगृहे अर्गलापुररतिमन्दिरेषु, जातौ एकवचनम् । स्थिता वसन्ती समनुरक्तं प्रेमयुक्तं मनो यस्याः साऽनुरागिचित्ताऽपि सुन्दरी । रमणी, जातौ एकवचनम्, रमण्य इति अयतमे सौभाग्यशालिनि प्रियतमे अतिप्रेयसि रमणं । अत्रापि जाता-वेकवचनम् । रुषं प्रणयकोपमकरोत् चकार । रत्नभित्तिषु स्वप्रतिबिम्बं सपत्नीं मन्यमाना कामिनी रमणाय क्रुद्ध्यति स्मेति भावः । उदात्तमलङ्कारः यमकञ्च ।

41 अतिविशालमिति । इह आगरानगरे । अतिशयेन विशालं विगताः शालाः गृहाणि यस्मिन् तत् गृहशून्यम् । तथापि प्रतताः विस्तृताः रुचिरा मनोज्ञा ये चित्रिताः शालाः भित्तिचित्रयुक्तानि गृहाणि तैर्विराजितं सुशोभितं हर्म्यवरं श्रेष्ठं प्रासादं । अधिवसन् निवसन् । "उपान्वध्याङ् वसः" इति द्वितीया । मघवतः इन्द्रस्य सुखमानन्दं हृतवान् अपहरणकर्ता । नृपो भोजः । विहृतवान् विहरति स्म, आमोदप्रमोदमनुभवति स्म । अतिविशालमपि चित्रितशालविराजितमिति विरोधः । परिहारे, अतिशयेन विशालं विस्तृत-मिति हर्म्यवरस्य विशेषणम् । विरोधाभासो यमकञ्च ।

42 अथेति । अथ तदनन्तरं । स भोजः । नृपाकबरस्य राज्ञोऽकबरस्य, परः शतैः शताधिकैरपि भटैः सैनिकैरपि समरेषु युद्धेषु सुदुर्ग्रहं अतिशयेन दुर्ग्राह्यं दुर्जेयं । सुवरणैः श्रेष्ठैः प्राकारः तदेव आवरणं आच्छादनं सेनातिभयंकर-मतिभीषणं । अमदानगरं दक्षिणस्यां दिशि अहमदनगरं बहमनीराजधानीं । रभसात् वेगेन ययौ जगाम । यमकम् ।

43 यमदिश इति । यत्रामदानगरे । किलेति निश्चयेन । यमदिशो दक्षिणस्या दिशः नृपतेः राज्ञः कामिनी पत्नी । रणस्य भामिनी प्रेमिका, रणाभिलाषिणी । रुचिरा मनोज्ञा चन्द्रमुखी-नामधेया, चाँदबीबीति इतिहासप्रसिद्धा । भुवि जगति मता आदृता जनैरिति भावः स्वयं विमतानां रिपूणामन्तकरी नाशाने समर्था । शूलिनो हरस्य वधूर्दुर्गा इव वसति निवसति । उपमा-यमकयोः संसृष्टिः । "चन्द्रमुखीति चन्द्र इव मुखं यस्या सा, चाँदबीबी" च इति द्व्यर्थं प्रयोगाश्लेषो न्मुद्रालङ्कारश्च ।

44 अतिगभीरेति । अतिशयेन गभीरा गहना लसन्ती शोभमाना या परिखा खेयं तस्याश्छलाद् व्याजेन । रिपूणां शत्रूणां गतेः सञ्चारस्य सामर्थ्यस्य वा कुण्डलनां वारणार्थं निर्मितां मण्डलाकाररेखां दधत् धारयत् यत् अमदापुरम् । यमदिक्पतेः दक्षिणदिशास्वामिनो दक्षिणसुरत्राणस्य । कथम्भूतस्य अयविदः अयं मङ्गलं सौभाग्यं वा वेत्तीति तस्य । नयविदो नयं राजनीतिं वेत्तीति तस्य राजनीतिकुशलस्य । जयश्रियो विजयलक्ष्म्या अवरोधस्य अन्तःपुरस्य गृहम् अन्तःपुरिकाभवनं । वर्तत इति शेषः । अपह्नुत्युत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावसङ्कर । यमकञ्च । पद्येऽस्मिन् कविना श्रीहर्षस्य नैषधीयपद्याच्छाया गृहीता ।

परिखावलयच्छलेन या
न परेषां ग्रहणस्य गोचरः ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका-
विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ (2.95) इति ।

45 यदतिधीरेति । अतिधीराणि, लक्षणया प्रबलानि, यानि अनलनालिकानि अग्निनलिकास्त्राणि, 'तोप'' इति प्रसिद्धानि, तेषां ज्वलनेनाग्निना दग्धो रिपूणां शत्रूणां व्रजः समूह एव काननं वनं येन तत् पुरम् । यत् अमदानगरम् । यथा वरं श्रेष्ठं विरोचनस्य तन्नामकदैत्यस्य नप्तुः पौत्रस्य बाणासुरस्य पुर शोणितपुरं । तथा तद्वदेव भुवि पृथिव्यां । अवितथाविधं अवितथा सत्यां विधा विधिः समृद्धिर्वा यस्य तत् । उद्बभौ शोभते स्म । श्रीमद्भागवतादौ प्रसिद्धमेव यत् शोणितपुरमग्निना संरक्षितमासीत् । उपमा-यमकयोः संसृष्टिः ।

46 अपीति । अपि च अन्यदप्येतद्वर्तते यद्यत्रामदानगरे । सुवीरातराणां अतिशयसुभटानां स्थले निवासे । शराः बाणाः, शरासनानि धनूंषि, खड्गा असयश्च करेषु यासां ताः, तत्तदस्त्रसज्जिता स्त्रियो वध्वः । समिति रणे । मातृबाणा इव ब्राह्म्यादि मातृशक्तय इव । विद्विषां शत्रूणां कुलं वृन्दं कविकलं निरन्तरं विकलं व्याकुलं, प्रहारैः पीडितं विदधुश्चक्रुः । अविकलं विकलमिति विरोधः परिहारे अविकलं निरन्तरं उपमालङ्कारः । विरोधाभासयमकयोरेकवाचकानुप्रवेशसङ्करः ।

47 त्रिजगतीमिति । समरे युद्धेऽसमो विषमो यद्वाऽतुलो विक्रमो बलं यस्य सः । स नरपति राजा भोजः । त्रिजगत्यास्त्रिलोकस्य विजयस्य जयस्य निकेतनं निवासभूतम् । नगस्य पर्वतस्य यत् रन्ध्रं विवरं तत्करोतीति करः तत्सदृशम् । तत् अमदाभिधं तन्नामकं नगरं पुरं । रभसाद् वेगेन । अभिनत् भिनत्ति स्म । उपमा-यमकयोः संसृष्टिः ।

48 हयमिति । हयमश्वं अधिष्ठित एव, अधिशीङ्स्थासां कर्मेति द्वितीया । अश्वारूढोऽपि स भोजः । यत् येन हेतुना । रण युद्धे यन्नगरसम्बन्धि वरण कोट्टं प्रकारं । उच्चकैरतिशयेन द्रुतं शीघ्रं विभिदे भिन्नवान् । तत् यत्तयोर्नित्यसम्बन्धः, तेन । किमु इति वितर्के, हृता लुण्ठिता उपहृता वामानां शत्रूणां रमा लक्ष्मीर्येन स भोजः । यमदिक्स्त्रियः दक्षिणदिशारूपिरमण्याः अवगुण्ठनस्य मुखाच्छादकस्य पटं वस्त्रं अपहृतवान् ? वितर्कः, रूपकञ्च तयोर्यमकेन सह संसृष्टिः । "वरणं रणे" इति छेकानुप्रासश्च ।

49 पितृपतेरिति । यत्र । पितृपतेर्दिशि दक्षिणस्यां दिशि । रवेः सूर्यस्यापि, चण्डतरः अतिभीषणो रुचां कान्तीनां व्रजः समूहः ह्रसति ह्रासं गच्छति, सूर्यस्य दक्षिणायनत्वात् । इह तत्र इत्याक्षिप्यते, दक्षिणस्यां दिशि । परितापिताः सन्तापिताः शत्रवो रिपवो येन सः । स भोजः । स्वमहसा निजतेजसा । महेन उत्सवेन सारयुक्तः श्रेष्ठः, यद्वा महः महिषस्तद्वत् सारः बलं तेन युतः सहितः, यद्वा महः उद्धवो यज्ञः तस्य सारेण बलेन युतः, यज्ञक्रियावानिति भावः । अभवत् बभूव । अहो इति आश्चर्ये । "महसा" इत्यत्र महस्-शब्दः सान्तः, महसारयुत् इत्यत्राजन्तश्च । मह उत्सव इत्यमरः । "महः महिषः" इति हेमचन्द्रः । अस्मिन् पद्ये रघुवंशस्थकालिदासीयपद्यस्य च्छाया द्रष्टव्या—

> दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
> तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रताप न विषेहिरे ॥

यमकमलङ्कारः । विरोधश्च (4.49) इति ।

50 अस्त्रीयमानामिति । विलसत् शोभमानं बलमोजः सैन्यञ्च यस्य सः । स भूपो भोजः । चण्डांशु सूर्यः तस्येव चण्डो भीषण उरुर्महान् करयो कराणां

(सूर्यवत्) प्रतापो यस्य सः। युद्धेषु रणेषु। तां अस्त्रीयमानां न स्त्री अस्त्री तद्वदाचरतीति अस्त्रीयते शानच् तां तथापि स्त्रियमिति विरोधः। परिहारे अस्त्रीयते अस्त्रैः सज्जति इति ताम् चन्द्रमुखीं। अजस्रं निरन्तरं। द्राक्-झगिति। सतन्द्रं तन्द्रया आलस्ययुक्तामशक्तां चक्रे विदधौ। विरोधाभासः, उपमा, यमकञ्च। इन्द्रवज्रावृत्तम्।

51 स इति। इति अनेन प्रकारेण स नृपतिर्भोजः। तां दक्षिणं दिशं। निजस्य सुनिदेशस्याज्ञायाः वशंवदां सेवानिष्ठां विधाय कृत्वा। स्वां पुरीं बुन्दीं ययौ जगाम। कथम्भूतः। अकबरनृपस्य यः कामोऽभिलाषस्तस्मै कल्पवृक्षः कल्पतरुः। सुमागधैश्चारणैर्गीताः स्तुताः गुणाः औदार्यशौर्यादयो यस्य सः। रूपकं, यमकञ्च।

52 प्रतिष्ठासाविति। अकबरे स्वर्गं प्रतिष्ठासौ प्रस्थातुमिच्छति सति। द्रुतं शीघ्रं मानवृपतौ मानसिंहे तन्नाम्ने अकबरपौत्राय खुर्रमाय गुरुधरणिभारं महतीं राज्यधुरां प्रदातुं समुदिते प्रवृत्ते सति। त्रिभुवनस्य विजेत्रौ जयशाली स भोजः। अकबरजं शाहशिलिमं सलीमनामानं "जहांगीर"। शचीशान इन्द्रः तस्य प्रस्थस्य पुरस्य दिल्ल्याः अधिपतिं स्वामिनं। प्रसह्य बलात्। अकरोत् चकार। शिखरिणी वृत्तम्। "रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी इति लक्षणात्।

53 त्रैलोक्येति। त्रैलोक्यस्य अभयदाने दीक्षितो भुजो बाहुर्यस्य सः भोजनृपः। लोकान् अनिशं सन्ततं रक्षितु भवितुं क्षात्रं धर्ममिव अवतीर्णं पृथिव्यामुद्भूतं। स्वस्य प्राक्पुण्यस्य पूर्वसुकृतस्य या लतावल्ली तस्याः पचेलिमं पक्वं फलं फलरूपं सुतं पुत्रं श्रीरतनसिंहं रत्नसिंहाभिधं। क्षितिमण्डले पृथ्वीतले स्वराज्ये संस्थाप्य स्थापयित्वा। मधुभिदो विष्णोः पदाम्भोरुहं पदकमलं दध्यौ ध्यायति स्म। उत्प्रेक्षा, रूपकद्वयम्, यमकञ्च, तेषां संसृष्टिः।

54 योन्तर्वाणीति। पूर्ववत् सुगमम्। श्रीभोजदेवस्तवनम्।

श्री शत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यां दशमः सर्गः॥

|| एकादशः सर्गः ||

1 परमिति । अथ एतदनन्तरं परमत्यधिकं गुर्वीं महतीमुर्वीं पृथिवीं दधत् वहन् धारयन् दुर्वीरा दुष्टा वीराः कुनृपास्तेषां दमनो दण्डयिता, त्रिलोक्या जगत्त्रयस्य निःशोकीकरणे शोकनिवारणे; अभूततद्भावे च्विः तिलकीभूतं अलङ्करणभूतं चरितं व्यवहारो यस्य सः, श्रीरामो रावरत्नो भोजसुतः स्वभुजयशसा स्वभुजयोः कीर्त्या प्रजापुञ्जं भुञ्जन् पालयन् 'पृथिवीं भुनक्ति' इतिवत् परस्मैपदि-भुज्-धातौ शतृप्रत्ययः, जनदृशः प्रजानेत्राणि अञ्जन्; अयत्नं प्रयत्नं विनैव इति अव्ययीभावः, चिरन्तनान् प्रत्नानपि इतिहासप्रसिद्धान् नृपान् भूपतीन् व्यजयत विशेषेणाऽजयत् । 'विपराभ्यांदजेः' इति आत्मनेपदत्वम् । अनुप्रासः । शिखरिणीवृत्तम् । "रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" ति लक्षणात् ।

2 सुवर्णाभमिति । वपुषि स्वदेहे सुवर्णाभं सुवर्णस्य हेम्न आभा कान्तिरिव कान्तिर्यस्य तं वर्णं रङ्गं कलयन् प्रकटयन् अलङ्कुर्वन् वा; अर्णवः समुद्र इव प्रकर्षेण गम्भीरो गहनः; गिरिर्भूभृदिव धीरो निश्चलो धैर्यशाली; रणे युद्धे रोषेण कोपेन विषमः प्रबलः; कुलस्य स्ववंशस्योत्तंसोऽलङ्कारभूतः; मांसैनोपचितौ परिपुष्टौ रुचिरौ सुन्दरौ अंसौ स्कन्धौ यस्य सः; सुवक्षा विस्तीर्णोरस्कः; पद्मवत् अक्षिणी नेत्रे यस्य सः, भुजपरिघाभ्यां भुजार्गलाभ्यां विक्षोभिता त्रस्ता रिपवो येन सः; स रत्नोऽतिशयेन शुशुभे राजते स्म । उपमात्रयम् अनुप्रासश्च, तेषां संसृष्टिः ।

3 शरदिति । अहो इत्याश्चर्ये । शरच्चन्द्रातन्द्राननरुचिः इति पदच्छेदः । शरदो वर्षान्तस्य यश्चन्द्रो विधुस्तद्वदतन्द्रं अनलसं देदीप्यमानं यदाननं मुखं तस्य रुचिः शोभा यस्य सः, अनिद्राणं विकसितं यन्नलिनं कमलं तज्जेतु स्फुरन् यः स्पर्धाबन्धः बद्धस्पर्धत्वं तेजोद्धुरौ जयशीलौ यौ चरणौ ताभ्यां शोणायिता अरुणीकृता नखा यस्य सः; रणे युद्धे धीरो धैर्यशाली, अम्बुधिरिव समुद्र इव गभीरो गहनोऽयमभीतो निर्भयो वीरो रत्नसिंहो भूयोभिर्बहुलैर्महोभिः

तेजोभिः सुरपतिमिन्द्रमपि व्यजयत विशेषेण जयति स्म। छन्दोनुरोधादयैभिन्नक्रमप्रयोगः। उपमा-प्रदीप-तद्गुणोपमा-प्रतीपानां संसृष्टिः।

4 प्रताप इति। अहो इत्याश्चर्ये। रिपूणां शत्रूणां या लक्ष्मी राज्यश्रीः सैव कुमुदिनी कैरवं तस्याः स्फुरन्ती या निद्राक्रीडामुकुलितत्वं तदर्थं प्रसभं बलात् सुभगम्भावुका सौन्दर्यविधायिनी रुचिः शोभा यस्य तस्य, राज्ञो रत्नस्य प्रतापस्तेजः, सपदि तत्कालमेव पूर्वादया अष्टौ दिशः संव्याप्य आच्छादयाथ तदनन्तरं चतुरः चतुः संख्याकान् समुद्रान् पयोधींश्च संव्याप्य सूर्यमिषतः सूर्यव्याजात् गगने व्योम्नि त्रयोदश्या मूर्त्या भ्रमति। नायं रत्ननृपस्य प्रतापः, अपितु प्रसिद्धद्वादशसूर्यातिरिक्तस्त्रयोदशः सूर्य इत्यपह्नुतिः। रूपकञ्च तयोः संसृष्टिः।

5 यशःस्तोम इति। इद्धोऽत्यधिको य उन्मन्थो मन्थनं तेन क्षुब्धश्चञ्चलो योऽमृतजलधिः सुधासमुद्रस्तस्य फेनवदुज्ज्वलोऽतिश्वेतः, धरणिपतीनां भूपतीनां रत्नमाभरणभूत इव यो रत्नो रावरत्नः स एवाम्बुधिः समुद्रस्तस्माद् भवो जन्म यस्य सः; यशःस्तोम कीर्तिसमूहः, नृपरत्नस्य यशः पुञ्जं स एव सोमश्चन्द्रो दिशिदिशि तमोऽन्धका नैराश्यञ्च निघ्नन्नाशयन् अह्न्यपि दिनेऽपि किमुत रात्रौ चिरं बहुकालं सर्वदैव चकोरीणां तृप्तिं वितरतितमाम्, अतिशयेन चकोरीभ्यस्तृप्तिं ददाति। कीदृशो यशस्तोमः, सर्वैः समस्तलोकैमूर्ध्ना शिरसा धृत आदृतः। सोमस्तु एकेनैव शर्वेण (सर्वेण शसोरभेदाच्छ्लले-प्रयोगः) मूर्ध्नादृत इति शब्दशक्तिमूलको व्यतिरेकध्वनिः। सोमस्तु रात्रावेव तमो निघ्नँश्चकोरीणां तृप्तिं वितरति, एतदयशस्तोमस्तु दिनेऽपि चन्द्रभ्रान्तिं जनयँश्चकोरीणां तृप्तिं वितरतीति भ्रान्तिमद्ध्वनिः। उपमा-परम्परित-रूपक विरोधश्लेषाणां संसृष्टिः, व्यतिरेकभ्रान्तिमतोश्चालङ्कारध्वनिरिति दिक्। अत्र चकोरीणमिति सम्प्रदानस्य सम्बन्धित्वविवक्षया षष्ठी।

6 अमन्दमिति। अमन्दमत्यधिकं परेषां शत्रूणां हृदयानां मानसानां काममभिलाषं भिन्दानो नाशयन् यस्य राज्ञो रत्नस्य घोरो भीषणो भुजवरः श्रेष्ठबाहुः सुरतरोः कल्पवृक्षस्य तुलामुपमां कथङ्कारं लभतां प्राप्नोतु। अस्यावनिपस्य भूपस्य चरणः पादोऽनल्पो महान् कल्पद्रुः कल्पतरुः ध्रुवं निश्चितमेवास्तीति शेषः। यश्चरणः श्रितानां शरणागतानां शत्रूणां रिपूणामपि कामान-

भिलाषान् ददति वितरति। कल्पवृक्षस्तु राज्ञोऽस्य चरणसदृशो न तु करसदृश इति भावः। पूर्वार्धे व्यतिरेकः, उत्तरार्धे चोत्प्रेक्षा, उभयत्र च काव्यलिङ्ग-योजना इति व्यतिरेककाव्यलिङ्गसङ्करस्य उत्प्रेक्षा-काव्यलिङ्ग सङ्करस्य च संसृष्टि।

7 सुराणामिति। इन्द्रः शक्रः सुराणां देवानां पाता रक्षकः, श्लिष्टार्थे सुराणां मदिराणां पाता पानकर्ताऽस्ति इति शेष; शक्रो देवपतिर्नास्ति, वस्तुनस्तु सुरापायी वर्तत इति भावः। असौ रत्नश्च मखशिष्टं यदमृतं, अमृतरूपं यज्ञशिष्टं पेयं पिबति। स शक्रो गोत्राणां पर्वतानां कुलानाञ्च भेत्ता नाशयिता इन्द्रः स्वकुलानां नाशक इति श्लिष्टार्थः। अयं पुनः रत्नो गोत्रं स्वकुलं प्रमदयति आनन्दयति। शक्रो बलस्य बलनाम्नो दैत्यस्य, श्लिष्टार्थे सैन्यस्य यद्वा पराक्रमस्य द्रोही शत्रुः बलाय द्रुह्यतीति बलद्रोही; अर्थात् इन्द्रः सैन्यविरोधी पराक्रमासहिष्णुश्च वर्तते। परमयं नृपतिरुच्चैरतिशयेन धृतबल उपार्जितपराक्रम एकत्रीकृतसैन्यश्च वर्तते। अतो हेतोः रत्नक्षितिपतिः नृपतिरत्नः तेनेन्द्रेण कथङ्कारं सदृशस्तुल्योऽस्तीति शेषः। श्लेषानुप्राणितो व्यतिरेकालङ्कारः।

8 नितान्तमिति। सन्तं चिन्तामणिं दिव्यं चिन्तारत्नमपि अतिहठात् अतिप्रसभं नितान्तमत्यन्त तृणीयन् तुच्छीकुर्वन्, तृणमिवाचरति इति क्यच्, 'उपमाना-दाचारेति सूत्रेण' उपमानवाचकात् कर्मणः क्यच् ततः शतृप्रत्ययरूपम्। एतस्य राज्ञो निःसादः सादरहितः श्रमरहितः प्रसादोऽनुग्रहः कुण्ठमनसे कुण्ठितचेतसे दुःखिताय जनाय फलमभिवाञ्छितं वस्तु वितरति ददाति। एतस्य क्षितिपतिमणे राजश्रेष्ठस्य प्रकोपः क्रोधोऽपि दिक्पतिं दिक्पालमपि प्रसह्य बलात् पदभ्रंशेन प्रभुत्वच्युत्या विधुरं व्याकुलं उच्चैरतिशयेन दीनं दुःखितञ्च रचयति विदधाति। पूर्वार्धे प्रतीपम्, द्वितीयेऽतिशयोक्तिः, तयोः संसृष्टिः।

9 सुधाहेतोरिति। अहो इत्याश्चर्ये। अथ देवैः शूरैः सुधाहेतोरमृतार्थं सपदि तत्कालं मथितस्य जलधेः सागरस्य तत् किमपि गाम्भीर्यं गहनतां मन्दरगिरि-मन्थनदण्डभूतो मन्दरपर्वतोऽवैदीत् ज्ञातवान्। परन्तु किञ्च श्रीरत्नक्षिति-

पतिमणेर्नृपश्रेष्टश्रीरत्नस्य मनसो गभीरत्वं चित्तस्य गाम्भीर्यं ज्ञातुं वेदितुं त्रिजगति त्रैलोक्ये कोऽपि प्रभु समर्थो नाभूत् नाभवत् । एतस्य मनः समुद्रादपि गम्भीरतरं वर्तत इति भावः । अतिशयोक्तिव्यतिरेकश्च ।

10 कदाचिदिति । बत इति वितर्के खेदे वा । कदाचिन्नभसि गगने तारा असंख्यास्तारका गणयितुं सङ्ख्यातुं शक्यन्ते । सुसिद्धैर्नरैः सिद्धपुरुषैरणुगणा अणवोऽपि कथमपि कथञ्चिज्जातु मनाक् मीयन्ते मानस्य विषया विधीयन्ते, परं तु किन्तु क्षोणीपानां भूपतीनां मुकुटमणेः शिरोवतंसस्यास्य नृपरत्नस्य लोकविदिताः संसारप्रसिद्धा गुणा औदार्यादयः कवीनां वाचां वाणीनामपि विषया न सन्ति । अहह इति विस्मये । एतस्य जगति ख्याता गुणाः कविभिरपि वर्णयितुमशक्याः, तेषां गणनायास्तारकाणां अणूनाञ्चापि सङ्ख्यातोऽधिकतरत्वात् इत्यतिशयोक्तिः ।

11 अथमिनि । भृगुभुवः भृगुवंशोद्भवस्य परशुरामस्य तपस्यास्थाने संचरचरणाद्रौ रमणीयचुनारपर्वते बाल्ये बाल्यावस्थायां तिष्ठन् वर्तमानः, सकलानां सर्वेषां जनानां रक्षायां रक्षणे क्षमौ समर्थौ भुजौ बाहू यस्य सः, अयं रत्नः, दारुणबल भीषणपराक्रमं सङ्ग्रामे रणे समुग्रं दुर्दान्तं कमपि यवनं म्लेच्छं रुषा क्रोधेन युधि नियोधने, स्वस्यात्मनस्तेजसः सद्दीपे निजोजोदीपके शरभ पतङ्गमिव चक्रे विहितवान्, भस्मीचकारेत्यर्थः । उपमा । अत्र कविना रावरत्नस्य जीवनविषयिणी ऐतिहासिकी घटनैका संकेतिता । रावसुरजनस्य स्वर्गगमनानन्तरं चरणाद्रिदुर्गं प्राक् तत्पुत्रस्य रावभोजस्याधिकारे आसीत् । किन्तु नचिरादेव पातसाहेनाकब्बरेण भोजो लाहोरस्याधिकारे नियुक्तः । भोजस्य परिवारः सर्वे परिजनाश्च चरणाद्रिदुर्गे एव स्थिताः, लाहोरपुरं तेन सार्धं न गतः । भोजपुत्रो रत्नोऽत्र भोजस्य प्रतिनिधिरूपेण निवसति स्म । अत्रान्तरं अकब्बरेण प्रयागस्य शासकरूपेण सिरीफखाँनामा यवनो नियुक्तः । स अकब्बरं चरणाद्रिदुर्गस्याधिपत्यमपि तस्मै वितरितुं प्रार्थयत । मुगलपातसाहेन एतत्सूचकं आज्ञापत्रं भोजाय लाहोर प्रति प्रेषितं तत्प्रतिलिपिश्च प्रयागं यवनसूबेदाराय प्रेषिता । तदनुसारं प्रयाग-सूबेदारेण यवनेन चरणाद्रिदुर्गं तस्मै प्रदातुं भोजपुत्राय रत्नाय दूता भटाश्च प्रेषिताः । रत्नेन पितुर्भोजस्याज्ञां विना चरणाद्रिदुर्गं तस्मै दातुं नानुमतम् । अस्मिन् विषये स्वयं

प्रयागसूबेदारः चरणाद्रिदुर्गं प्रसभं स्वायत्तीकर्तुं प्रायतत, तदा स रत्नेन तद-स्येव कट्टारिकया हत इति मुगलेतिहासविदः। तुलनीयं यत्र सूर्यमल्लमिश्रणेन स्वडिंगलमहाकाव्ये 'वंशभास्करे' समुट्टंकितमधस्तनं विवरणम्—

जिहिं रैनकुंमर चरणाद्रि जाइ।
समुझायो छोरहु-गढ़ सुनाइ॥
नृप को हि कुमर मंग्यो निदेश।
सूबापति बुल्यो खिजि विसेस॥
तू बप्प हुकम क्यों चहत तानि।
मुगलेस बड़े अथहि प्रमानि॥
कुमरहु यह सुनि खिजि हनि कटार।
फार्‍यो सिरीफ उर गर्व फार॥

(वंश०, ६.१८, ३३-३४)

12 अथेति। अथ तदनन्तरं स रत्नोऽम्बेरीभर्तुः आमेरशासकस्य, महीधौरेयेषु पृथिवीधुर्येषु राजसु उद्यत् यत् कमठकुलं कछवाहाकुलं तदेव पद्माकरः पद्मसरः तस्य रवेः तद्विकासकारिणः सूर्यस्य तद्रूपस्य प्रवरश्चासौ भगवन्नामा नृपतिः तस्मात् श्रेष्ठभगवद्दास (भगवान्-दास)-राज्ञः सुतां, मदनेन कामेनोन्मथितात् मन्थनक्रियाविषयीकृतात् लावण्याब्धेः सौन्दर्यसागरात् तूर्णं शीघ्रमुदितामुत्पन्नां साक्षाच्छ्रियं मूर्तिमतीं लक्ष्मीं, श्रीलां शोभायुक्तां; श्रीविद्यतेऽस्या इति श्रीला, सिध्मादित्वाल्लच् स्त्रियां टाप् च; रामोपपदिकां रामोपपदयुक्तां सुतां पुत्रीं 'रामकुँवर' इति नाम्नीं; नामैकदेशग्रहणं यथा भीमसेन इत्यस्य भीम इति; अभजत भजते स्म पत्नीरूपेण जग्राह। असम्बन्धे सम्बन्धा-तिशयोक्तिः।

13 अरुन्धत्येति। अरुन्धत्या वसिष्ठपत्न्येव पत्युर्भर्तुश्चरणयोर्विन्यस्तं मनो यया तया पतिव्रतया,वपुषो देहस्य सौन्दर्यस्य लावण्यस्य या श्रीः शोभा तया विजिताः पराजिताः सुराणां देवानां दृप्यन्त्योऽभिमानिन्यः प्रमदा रमण्यो यया तया, कछवाहनृपपुत्र्या स्वपत्न्या सह रम्ये रुचिरे हर्म्ये प्रासादे रममाणो विहरन्

स नृपती रत्नो भुवनेषु वरं श्रेष्ठ वीरं सुतं गोपीनाथं तन्नामानं प्रसुषुवेऽजनयत् । प्रतीपम् ।

14 अथो इति । अथो पुत्रजन्मानन्तरं तस्मिन् नृपतौ राजनि गोपीनाथस्य प्रसवकाले जन्मसमये तत्र लोकं प्रजाः अनु प्रति चिरतमं बहुकालं कनकं स्वर्णमुच्चैरतिशयेन मुहुर्वारं वारं वर्षति सति, अमरगणाः देवसङ्घाः स्फुरन् देदीप्यमानो यः स्पर्धाबन्धः स्पर्धाभावः तस्य व्यतिकरतो मिषातः । यद्वा अतिशयादेव रत्नक्षितिपतिमनु प्रसूनानां सुमनसां सङ्घं राशिं ववृषुरवर्षन् । अतिशयोक्तिः ।

15 अथेति । अथासौ रत्नक्षितिपस्य तनुजः सुतो गोपीनाथः, सुन्दरतरोऽतिशयेन सुन्दरः, सहजेन नैसर्गिकेण भुजदर्पेण उद्धतं बलं यस्य सः, शिशुक्रीडा बालक्रीडाः कुर्वन् विदधत् सरभसं वेगादिव महेभानां महागजानां दन्तौ रदावुत्पाट्योत्पाट्य स्मेरमुखो विकसितवदनस्सन्, कृतकद्विपानां कृत्रिमलीलागजानां वक्त्राणामन्तर्मुखमध्ये झटिति निदधौ न्यधारयत् । अतिशयोक्तिः ।

16 अयमिति । स्ववयस्यैः वयसि निजसमानैः वयस्यैर्मित्रैः परिवृतो युक्त क्रीडन् खेलन्नयं गोपीनाथः, साटोपं आटोपेन गर्वेण सहितं यथा स्यात् तथा, कण्ठीरवस्य सिंहस्य शिशोः शावकस्य, लसन्त्यः शोभमाना याः केसरसटाः ता लुनानश्छिन्दन्, 'लुञ् छेदने' इति धातो शानच्, तास्सटाः कृतकतुरगाणां क्रीडाश्वानां ग्रीवायां कण्ठेषु (जातौ एकवचनम्) अतिजवादतिवेगेन निधाय संयोज्य अथ तदनन्तरममून् क्रीडातुरङ्गान् समारुह्य क्षितितले द्रुततरं अधावत् धावति स्म ।

17 वयस्यानामिति । बलवान् स वयस्यानां मित्राणां अर्धं अर्धभागं निजपक्षं विरचयन् स्वपक्षे स्थापयन् परमन्यं अर्धभागं सपदि अचिरमेव विपक्षीयं शत्रुपक्षभूतं कृत्वा विधाय प्रमुदितः सन् रोषात् कृत्रिमक्रोधेन द्रुतं झगिति परमत्यधिकं विशल्यान् शल्यरहितान्, कृत्रिमान् इषुगजान् बाणसमूहान् वर्षन् किरन् सुमहति शिशुक्रीडाया बाललीलाया युद्धे कृत्रिमरणे विजिग्ये जितवान् । स्वभावोक्तिः ।

18 चिरादिति। इत्थं पूर्वोक्तप्रकारं चिराद् बहुकालं क्रीडन् खेलन् शिशुः बालोऽपि नागानां गजानां यदयुतं दशसहस्रसंख्यामितं तद्वत् बलं पराक्रमो यस्य सः, स गोपीनाथः किमु किं भुवः पृथिव्या भारं हन्तुं नाशयितुं समवतीर्णो बकरिपुः श्रीकृष्णः, निजभुजबलस्यालोके दर्शने कुतुकी उत्सुकः, स गिरेः पर्वतस्य तुङ्गं विशालं शृङ्गं शिखरं करे हस्ते बिभ्रत् धारयन् गोवर्धनधुरो हरिर्वासुदेव इव रेजे शुशुभे। वितर्कः यद्वोत्प्रेक्षा, उपमा च।

19 प्रचण्डमिति। स नृपती रत्नो विकटा दुर्दान्ता ये भटा वीरास्तेषां दन्तावला मत्तगजा, यद्वा भटा एव दन्तावला इति रूपकम्, यद्वा भटा दन्तावला इवेत्युपमा; तेषां घटा घटना समूहः, 'गजानां घटना, घटा' इत्यमरः, तां जेतुं समुत्कण्ठं समुत्सुकं कण्ठीरवमिव सिंहमिव प्रचण्डं यथा स्यात् तथा क्रीडन्त खेलन्तं सुशोभनं विक्रान्तं पराक्रमयुक्तं चरितं यस्य तं, धरण्याः पृथिव्या भरस्य भारस्य धौरेयं धूर्वहं गोपीनाथं सुतं मनसि चेतसि अचिरादमन्दः-दानन्दात् अतिमोदात् बहु अत्यधिकं मेने।

20 रणार्थीति। अथासौ नृपती राजा रावरत्नो रणार्थिनो युद्धोत्सुका ये प्रत्यर्थिनः शत्रवः त एव स्फुरन्त उदधय स्फुरन्नुदधिर्वा ततः निर्यन्ती आविर्भवन्ती या जयरमा विजयलक्ष्मीः तस्या या सुकेली लीला तस्यां निष्णातौ कुशलौ प्रततौ विस्तृतौ गुरू दीर्घौ यद्वा बलशालिनौ दोष्णौ भुजौ यस्य तेन, सुतेन करणेन द्विगुणितं यद्बल तस्य प्रौढिम्नां युतः सन् परिजनेन सहाशु बुन्दीं पुरीं द्रष्टुमालोकयितुं समगात् जगाम। रूपकम्।

21 दधानामिति। धनपतयः सम्पत्तिशालिनः, पक्षे धनपतिः कुबेरः, महेशाः महान्त ईशाः स्वामिनः सामन्ताः, पक्षे महेशः शिवः त एवादिर्येषां तै-र्निवासिभिः कलितं युक्तं परमत्यधिकं बन्द्यं वन्दनीयं प्रशस्यं दुर्गौघं दुर्गसमूहं दधानां धारयन्तीं, अत एव वृन्दारकाणां देवानां यन्नगरं अमरावती तस्य निन्दायां पटुतरां अतिकुशलां; अमरावत्यां त्वेकः कुबेरः एकश्च शिवो निवसतः अत्र तु बहवो धनपतयः अनेके च ईशाः निवसन्तीति हेतोरेषा नगरी अमरावतीं निन्दतीति भावः; एतादृशीं बुन्दीनाम्नीं पुरीमधिवसन्. निवसन् 'उपान्वध्याङ् वसः' इति द्वितीया; कथम्भूतां पुरीं कनकस्य सुवर्णस्य रुचिः

कान्तिर्येषां तानि धामानि गृहाणि यस्यास्तां । स नृपती रत्नो गोपीनाथं सुतं युवराजं व्यधित चकार । श्लेषानुप्राणितः प्रतीपालङ्कारः ।

22 अथो इति । अथो एतदनन्तरं पित्रा जनकेन स्वशिरसि निजमूर्धनि न्यस्तां धारितां समस्तां सर्वां क्षिते पृथिव्याः धुरां भारं वहन् दधत्, रिपूणां शत्रूणां यत्कुलं गोत्रं तदर्थं करालौ भयङ्करौ उद्भटौ प्रचण्डौ च भुजौ बाहुदण्डौ यस्य स गोपीनाथो युवराजो महामेलानाम्नो दुर्गस्याधिपस्य स्वामिनो विजयनाथ-नाम्नः क्षितिभुजो राज्ञः सुतां; ललितानि चारूणि मधुराणि च अङ्गानि यस्यास्तां मात्रानाम्नीं उदवहत् पर्यणयत् पाणावगृह्णात् ।

23 अजस्रमिति । अजस्रं निरन्तरं व्यामिश्रा या श्रुतिर्वेदसंहिता तस्याः पठनेना-ध्ययनेन मन्दायिता धीर्यस्य तस्य जडीभूतबुद्धेः विधेर्ब्रह्मणः स्पर्धाबन्धादिव स्पर्धयेवेत्युत्प्रेक्षा; जगतः संसारस्य अगण्यमसंख्येयं लावण्यं लालित्यं द्रुतं शीघ्रं समुच्चीय गृहीत्वा, किमिति वितर्के, कुसुमधनुषा स्मरेण कृतया रचितया तया वध्वा गोपीनाथो युवराजः सपदि झगिति स्वैर्निजैर्दृढगुणैः दृढरज्जुभूतैः पातिव्रत्यदाक्षिण्यादिगुणैश्चकृषे आकृष्टः । उत्प्रेक्षावितर्कयोः सङ्करः, दृढगुणैरित्यत्र श्लेषश्च । तुलनीयं यथा कालिदासे—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रोनुकान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः कथं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।।"इति ।

(विक्रमोर्वशीयम् १.८)

24 कुरङ्गीति । कुरङ्ग्या हरिणवध्वाः या दृग्भङ्ग्यो विलोकनानि तद्वत् सुभमः शोभनः सन् च योऽपाङ्गेक्षणानामपाङ्गविलोकनानां भरः समूहस्तैः जगति विश्वे द्रुततरं शीघ्रमेव अनङ्गं अङ्गरहितं हरकोपानलदग्धं कामदेवं पूर्णाङ्गं पुनः सर्वाङ्गयुक्तं विदधत्या कुर्वत्या तया वध्वा रुक्मिण्या भीष्मसुतया सह विहरन् रममाणः श्रियः लक्ष्म्याः पतिः कृष्ण इव स गोपीनाथः स्मरमिव प्रद्युम्नमिव शत्रूणां रिपूणां शल्यं शल्यभूतं घातकं अन्वर्थनामानं शत्रुशल्या-भिधं तनुजं पुत्रं असविष्टाजनयत् । उपमालङ्कारः, 'अनङ्ग' इति पदे

मम्मटादिप्राच्यालङ्कारिकदिशा परिकरालङ्कारः, अप्पय्यदीक्षितादिनव्यालङ्कारिकदिशा परिकराङ्कुरालङ्कार इति दिक् ।

25 सुभव्यमिति । सुभव्यं शोभनं भव्यं यथा स्यात्तथा मनोहरमिति यावत्, दिव्यानां दिवि भवानां पटवः ये पटहढक्कामुरजा वाद्यविशेषाः तेषां स्फुरन्तीनां सतीनां भेरीणां वाद्ययन्त्राणाञ्च ध्वनितनिभिर्नादसमूहैः आम्रेडिततरः पुनरुक्ततरोऽतिप्रवृद्धः स्फुरन्ति शोभमानानि अगणितानि असंख्यानि यानि आतोद्यानि वाद्यवृन्दानि तेषां निनदो ध्वनिर्यस्मिन् स हर्षोत्कर्षः आमोदप्रकर्षः श्रीरत्नस्य, प्रमुदिता आनन्दिता जना यत्र एतादृशि गृहे परमत्यधिकं प्रादुरभवत् समुत्पन्नोऽभूत् ।

26 अनल्पेति । रत्नोदवसिते रत्नस्य राज्ञः उदवसिते निवासे, अनल्पानि प्राक्कल्पेषु प्राग्जन्मसु अर्जितानि यानि सुकृतानि पुण्यकर्माणि तेषां सङ्घातः समूहस्तस्य सुफलात् मूर्ते मूर्तिमति विवर्ते परिणामभूतेऽस्मिन् पौत्रे अवतरति उत्पन्ने सति, मरुतां देवानां मन्दारद्रुमः कल्पवृक्षस्तस्य कुसुमवर्षेण सुमनोवृष्टया सह कुवलयदृशां पद्मलोचनानां पौरीणां नगररमणीनां मङ्गलरवः माङ्गल्यगीतध्वनिरमन्द यथा स्यात्तथा अभूत् । सहोक्तिरतिशयोक्तिश्च तयोः सङ्करः । उदवसित गृहं यथा माघे –

"इदमुदवसितानामस्फुटालोकसम्प-
न्नयनमिव सनिद्रं घूर्णते दैपमर्चिः ।।" इति
(११.१८) ।

27 जनन्या इति । धन्यायाः सौभाग्यशालिन्याः जनन्याः मातुः सदुदरं सत्कुक्षि अजस्रं निरन्तरं सफलयन् सफलीकुर्वन्, अरिष्टोदवसितं अरिष्टस्य प्रसूतेरुदवसितं गृहं प्रसूतिसदनं अविरतं निरन्तरं उच्चैरतिशयेन अलङ्कुर्वन् भासयन् रत्नस्य स नप्ता पौत्रः जातकः स्वभासा निजकान्त्या प्रसृमरा प्रसरणशीला ये मणयः हीरकादयस्तेषां यस्तोमः समूहस्तस्य महः तेजो येषां तेषां कुड्यानां भित्तीनां सुषमां कान्तिं शोभां निरयामास निर्यापयामास, यद्वा जहार । तुलनीयं रघुवंशे—

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ॥
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥
इति (३.१५)

28 अनल्प इति । कलितं ललितं शोभनं अमेयं मानातीतं वपुर्यस्य तस्य विष्णोः परपुरुषस्य जठरपिठरे उदरपिटके कृत्स्ना समग्रा इयं त्रिलोकी अनल्पे कल्पान्ते महाप्रलये लसति, तमपि दनुजारिं दैत्यरिपुं भगवन्तं विष्णुं निजे चित्ते स्वमनसि नित्यं कलयतो धारयतो (ध्यायतो)ऽपि अमुष्य रत्ननृपतेः हृदि हृदये सुतसुतजन्मा पौत्रजन्मजनितः हर्षः आनन्दातिरेको न ममौ न माति स्म । अहो इति आश्चर्ये । अधिकालङ्कारः ।

29 अथेति । अनन्तरं अमन्दामोदेन परमहर्षेणाहतानां वादितानां पटहानां भेरीणाञ्च सुनिनदैः ध्वनिभिः चिरात् श्रव्या श्रुतिगम्या भव्या शोभना वाक् आकाशवाणी सहसा नभसि आकाशे उदचरत् उदभूत्-हे नृपतिरत्न ! तवायं नप्ता पौत्रः निजबलात्; हेतौ पञ्चमी, स्ववीर्येण द्विषां शत्रूणां मूर्ध्नि मस्तके प्रसभं हठात् अङ्घ्रिं चरणं दत्वा चिरं चिरकालं क्षितिं पृथिवीं भोक्ता भोक्ष्यति पालयिष्यतीति । अतिशयोक्तिः ।

30 गिरमिति । लसन्तो वर्णा अकारादयो यस्यास्तां हृदयस्य चित्तस्य व्याधेः दुःखस्य दलिनीं हारिणीं, कर्णौ एव अञ्जलिपुटं तेन सुपेयां पानयोग्यां विरचयन् कुर्वन्, तूर्णं शीघ्रमेव सुधाया पीयूषस्य अर्णोधौ समुद्रे परमत्यधिकं अभिषुण्वन् मज्जन् इव, स भूजानिः पृथ्वीपतिर्नृपः; भूर्जाया यस्य सः 'जायाया अनिङ्' इति अनिङ्; बलात् अचिरात् झगिति उदञ्चन् उदयन् यो रोमाञ्चो यस्य सः, पुलकिताङ्गः समजनि जातः । उत्प्रेक्षानुप्रासयोः संसृष्टिः ।

31 निजमिति । निजं स्वकीयं प्राज्यं समृद्धं, रचितं वसु हर्षश्च यस्मिन् तत्, यद्वा रचितं यद्वसु धनं तेन जनितः हर्षः, आनन्दो यस्मिन् तत्, अनुरज्यत् नृपे अनुरागयुक्तो जनपदो यस्मिन् तत् राज्यं सततं निरन्तरं परं दर्शं दर्शं दृष्ट्वा दृष्ट्वा स नृपतिर्भूपतिः, परभटगजेन्द्राङ्कुशभुजं परे सचवो ये भटा योद्धारः

यद्वा परेषां शत्रूणां ये भटाः त एव गजेन्द्राः श्रेष्ठहस्तिनः तेभ्यः अङ्कुशौ सृणिभूतौ भुजौ दोष्णौ यस्य तं गोपीनाथं सुतं इह बुन्दयां संस्थाप्य राज्य-पालने नियोज्य स्वयं दशदिशो विजेतुं प्रतस्थे प्रातिष्ठत ।

32 प्रतापैरिति । अथ तदनन्तरं सुविक्रान्तं पराक्रमयुक्तं चरितं यस्य सः, स रावरत्नः क्षितिपतिर्नृपः प्रतापैः स्वतेजोभिः क्षितिं पृथिवीं आक्रामन् वशी-कुर्वन् सपदि अचिरादेव समरे रणे शाल्यादिं वाहननृपं शालिपूर्वकवाहन-नामकं शालिवाहनं राजानं, हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते 'इत्यादिवत् प्रयोगः', मथ्नन् पराजयमानः, प्रविकटैर्दुर्दान्तैः पराक्रमशालिभिर्भटैः सैनिकैः दुर्ग्रहतरं अतिशयेन दुर्ग्रहं दुःखेन स्वायत्तीकरणयोग्यं गुणोदाहवं 'गोगूँदा' इति मेदपाट (मेवाड़) स्थित उदयपुराधीशस्यामरसिंहस्य दुर्गं स्ववीर्येण स्वबलेन अह्नाय झगिति पुरमिव पुर-माँडल-नामकं प्राग्वशीकृतं दुर्गमिव अगृह्णात् स्ववशी-चकार ।

33 अथो इति । अथो तदनन्तरं दिल्लीभर्तुर्दिल्लीशस्य जहाँगीरस्य विजयसहकृत्वा विजयसहायकः, 'सहे चेति क्वनिप्' स नृपति स्वयं क्षणादचिरादेव तरसा वेगेनामितं निःसीमं क्षोणीचक्रं भूमण्डलं आक्रम्य वरराणानृपतिना श्रेष्ठेन राणाभूषेन उदयपुराधीशेन महाराणाप्रतापतनुजेनामरसिंहेन समिति युद्धे परमत्यधिकं बद्धस्पर्धः स्पर्धालुः, बद्धा स्पर्धा प्रतियोगिता येन सः, सुरत्राणं सुलतानजहाँगीरं त्रातुं रक्षितुं त्वरितं शीघ्रं अजमेरीं अजमेरनामकं नगरमुप-ययौ जगाम ।

34 अयमिति । दिल्लीशस्य दिल्लीनृपतेर्जहाँगीरस्य प्रबलं यद्बलं सैन्यं तस्य मौलिं शीर्षं, सेनापतित्वमित्यर्थः, चिरतमां अतिचिरमलङ्कुर्वन् विभूषयन् और्वो वाडवाग्निस्तस्य प्रतिभटः सदृशा सुदोर्दण्डयोः बलशालिनोर्भुजयोः चरितं व्यवहारो यस्य सोऽयं रत्नो रणे सङ्ग्रामे रोषात् कोपात् शरान् बाणान् वर्षन् किरन् वशितमपि बन्दीकृतमप्यसुशेषं प्राणशेषं पराजितमिति भावः, राणाक्षोणीपतिं राणाभूपतिममरसिंहं कारुण्यवशतो दयया प्रविजहौ मुक्तवान् उपमा ।

35 समुन्मुक्तमिति । तेन क्षितिमघवता पृथ्वीन्द्रेण रावरत्नेन समुन्मुक्तं बन्धना-न्मुक्तं तमरिं शत्रुं राणानृपं श्रुत्वा पुरोभागी पुरः पूर्वमेव भजत इति

भज्धातोर्णिनिः, दोषमात्रदर्शीति भावः, खुरमः दिल्लीपतिसुतः इत्थं निम्नोक्तप्रकारं पितुर्जनकस्याग्रे पुरः पिशुनतां दुष्टतां कर्णेजपत्वं व्यधित चकार प्रकटीकृतवान् यद् येन नृपरत्नेन त्वं बहुम्मन्योऽसि आत्मानं बलशालिनं मन्यसे सोऽयं रत्नोऽद्य ते तव शत्रून् रिपून् राणादीन् मिलितः, तेषां सुहृज्जातः ।

36 प्रकृत्येति । अथो प्रकृत्या स्वभावेन धीरो धैर्यशाली अपि स शाहशलिमः शाहसलोमनामा क्षितिपतिर्दिल्लीभर्ता, शाहसलीमेति जहाँगीरस्य वास्तविकं नाम, यवनजातेः म्लेच्छजातेः पापिष्ठं पापं स्वभावं प्रकृतिमुपगतः प्राप्तः, स्फुरन् जाज्वल्यमानो यः कोपो रोषस्तस्य आटोपेन वेगेनोल्लसन्तौ शोभमानौ अरुणौ रक्तौ कोणौ प्रान्तभागौ यस्य तत् ईक्षयोर्नेत्रयोर्युगं यस्य सः; निजे चेतसि मनसि तं रावरत्नं आहन्तुं मारयितुं चिरमचकमत कामयते स्म । हन्तेति खेदे ।

37 विपक्षाणामिति । विपक्षाणां रिपूणां पक्षं सहायकत्वं श्रितं गतमपि त्वामहं सखितया प्राक्कृतमैत्र्या दयालुः कृपायुक्तः सन् समक्षं प्रत्यक्षं कथमपि निहन्तुं मारयितुं प्रभुः समर्थो नास्मि । नाहं त्वां प्रत्यक्षवधद्वारा दण्डयिष्य इति भावः । अतो हेतोस्त्वं दुर्गेणाक्रान्त विषमं पार्वतयदुर्गमस्थलयुक्तं विषयं स्वदेशं हाडौतीप्रदेशमुपगत्य गत्वा मम बहुलया बहुसंख्यया पृतनया सेनया योद्धुं क्रुद्धो भवेरिति । त्वं स्वदेशं गत्वा मम सेनया युद्धं विधातुं सज्जो भवेः इति भावः ।

38 इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारं क्रोधेन रोषेण क्रूरं नृशंसं यथा स्यात्तथा, यवननृपस्य म्लेच्छनृपस्य वचोभावः वचनतात्पर्यं तस्य हरिणा वाहकेन दूतेन समाख्यातः कथितः, जगति ख्यातः प्रसिद्धः स नृपरत्नक्षितिपतिः, स्फुरन् जाज्वल्यमानः यः कोपस्याटोपो रोषावेगस्तेन उत्कटो विकटश्च अत्यधिक भयङ्करो यः कण्ठीरवः सिंहस्तस्य रवेण गर्जनेन प्रतिस्पर्धी प्रतियोगी ध्वानः स्वरो यस्य स द्रुततरं शीघ्रं अभिसभं सभायामभि इत्यभिसभं अव्ययीभावपदं, अभाणीत् राजसभामध्ये जगाद । उपमा ।

39 ज्वलदिति । ज्वलन् देदीप्यमानो यो ज्वालानां वह्निशिखानां जालः समूहस्तद्वत् भुजयोस्तेजः तदेवाग्निर्वह्निः स एव वरणः प्राकारो यस्य तत्, कृत्वा

युद्धे शस्त्रास्त्रैश्छिन्ना ये अहिताः शत्रवः तेषां रुधिरस्य शोणितस्य पायोधेः समुद्रस्य परिखा खेयं यस्य तत् समुद्वृत्तं ऊर्ध्वोत्थितं उच्चैः स्थितं दिनमणे सूर्यस्य यत् कुलं वंशः तदेवाम्भोधिः सागरस्तस्मात् जनुः जन्म येषां तेषां नोऽस्माकं दुर्गं तारागढनामकं बुन्दीदुर्गं अम्भोधिनाकलितमावृतं क्षितितलं पृथ्वीमण्डलं जानीहि । रूपकम् ।

40 अथेति । अथ अदभ्रं अत्यधिकं भ्राम्यन्त्यौ चञ्चले ये भ्रुकुटी ताभ्यां विकटे दुर्दर्शे पाटले रक्ते दृशौ नेत्रे यस्यास्तया मुखरुचा मुखस्य कान्त्या क्रूरो कठोरो यः प्रलयस्तस्य रवीणां द्वादशसूर्याणां सङ्घस्समूहस्तं, यद्वा क्रूराणां प्रलय-रवीणां सङ्घस्तं तिरस्कुर्वन् विडम्बयन्नसौ क्षितिपतिरहितपक्षान् शत्रुसहायकान् रोषेण कोपेन द्रुतं झगिति दिधक्षन् दग्धुमिच्छन् सन्नन्तरूपं, योधानां भटानां द्वयुत्या विंशतिसहस्रसंख्यया सह रणभुवं युद्धभूमिं समभितस्थौ समुपस्थितो ऽभवत् ।

41 समुन्नद्धमिति । अथ योद्धुं युद्धाय समुन्नद्धं सज्जीभूतं तं रत्नं पश्यन्, भवनस्य प्रासादस्य बलभी तस्याः गवाक्षे वातायने स्थितः, उद्विग्नं विषण्णं हृदयं यस्य स यवनपतिः जहाँगीरः जमानबेगेन जमानबेगसंज्ञकेन मन्त्रिणाऽचिरादित्थं निम्नोक्तप्रकारं निजगदे कथितः निवेदितः, यदयं रत्नः सेन्द्रैरिन्द्रसहितैरपि विबुधैर्देवैः, किमुत मनुष्यैः, जय्यो जेतुं योग्यो न वर्तत इति शेषः ।

42 तदुक्तमिति । तदुक्तं तेन जमानवेगेन उक्तं कथितं स्वेमनसि चेतसि चिरं सञ्चिन्त्य विचार्य शाहशिलिमो दिल्लीशः परमत्यधिकं धूर्तस्य तनुज-खुरुमस्यानुमतित मन्त्रणायाः स्वसेनाया चम्वा नाथं स्वसेनापतिं असफ-खानं आसफखसांज्ञकं नूरजहाँभ्रातरं द्रुतं इति इत्थं समवदत् अकथयत्, यद् रत्नो बुन्दीभूपो मे सदः मत्सभां शस्त्रैर्विना शस्त्ररहितं सुखं प्रविशतु इति ।

43 समाज्ञप्तमिति । तेनासफखानेन, पत्या स्वामिना सुरत्राणेन समाज्ञप्तं आज्ञयाऽभिहितं द्रुतं शीघ्रमभिहितः कथितः सन्दिष्टः स नृपो रत्नः, स्वस्य दन्तानां रदानां येंऽशव किरणास्तेषां ज्योत्स्ना चन्द्रिका तया मुकुलितं सङ्कुचितं तदीयमासफखानसम्बन्धि आस्यनलिनं मुखरूपि कमलं येन सः; रात्रौ चन्द्रिकया कमलं सङ्कुचितं भवतीति पद्मानां जातिः, रावरत्नदन्तांशु ज्योत्स्नयाऽऽसफखानवदनं विवर्णीभूतमिति भावः, तं प्रति इति इत्थं जगौ

जगाद, यत् धात्रा ब्रह्मणा बाहुजस्य क्षत्रियस्य करे भुजे यच्छत्रमायुधं त्रातुं स्वं जगच्च रक्षितुं निहितं तच्छत्रमहं अधुना क्लीबवत् नपुंसकवत् कापुरुषवत् कथं जह्यां कथं त्यजेयम् । शस्त्रं तावत् क्षत्रियस्य रक्षार्थं सहयोगि वर्तते, नाहं तत्त्यक्त्वा सदसि प्रवेष्टुं स्वीकरोमीति भावः । रूपकम् ।

44 भुजेति । इत्थं भुजयोर्दोष्णोरुत्सर्पन् विसरन् यो दर्पो गर्वस्तेन ग्रहिला आग्रहयुक्ता मतिर्बुद्धिर्यस्य सः, स नृपतिः शस्त्रसहितः सर्वान् सभास्थितान् सभासदान् तिरस्कुर्वन् विडम्बयन्, अलघवः अत्यधिकाः स्वीयाः सभासम्बन्धिनो ये विभवा ऐश्वर्याणि समृद्धयस्तैः सौत्रामीं सुत्राम्ण इन्द्रस्य इमां ऐन्द्रीं सदसं सभां हसन्तीमुपहासविषयं विदधतीं, विकटा दुर्दर्शा ये भटा योद्धारस्तेषां संघट्टेन सम्मर्देन कठिनां सौरत्राणीं सुरत्राणस्य यवननृप-जहाँगीरस्येमां सभां सदसमविशत् प्रविवेश । प्रतीपालङ्कारः ।

45 ज्वलिष्यदिति । ज्वलिष्यदत्युद् वीर्यं पराक्रमस्तदेवाग्निरनलस्तस्य सहचरीं सहकृत्वरीं स्फुरन्ती देदीप्यमाना या धूमश्रेणी धूमपङ्क्तिस्तामिव मेचकरुचि नीलकान्ति कृपाणीमसिपुत्रिकां अधिकटि कट्यामधि इत्यव्ययीभाव; कलयन् अलङ्कुर्वन् धारयन्, द्विषतां शत्रूणां या कीर्तिरेव ज्योत्स्ना यशश्चन्द्रिका तस्या ग्रसने निगरणे राहुप्रतिभटां राहोः प्रतिमल्लरूपां प्रतिस्पर्धिनीं कट्टारीं दधानो वहन् नरपतिसभे यवनभूपस्य सभायां अदीप्यततमां अतिशयेन अदीप्यत शुशुभे । नरपतिसभे, नरपतेः सभा इति नरपतिसभं तस्मिन्, "सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा" इति सूत्रेण समासान्तं नपुंसकम् । उपमा-रूपकयोरङ्गाङ्गिभावयोः सङ्करः ।

46 प्रविष्टमिति । निजरुचा स्वकान्त्या दुष्टानां पिशुनसभासदां शिरसि मस्तके स्वचरणं, उग्राणां अङ्गारकमन्दादीनां ग्रहाणां शिरसि स्वचरणं किरणजालं इव निधाय दीप्तं देदीप्यमानं तरणि सूर्यमिव प्रविष्टं; सभायामिति भाव ; श्रीरत्नं विलोक्य दृष्ट्वा इह सभायां चिरस्था चिरस्थायिनी अपि त्विट् कान्तिर्मुखशोभा सपदि तत्कालमेव क्षिप्रं शीघ्रं कुमुदानि रात्रिजलजानीव तान् खुरमसहितान् पिशुनान् दुष्टान् विजहौ त्यक्तवती । उपमाद्वयम् ।

47 दरिद्रामिति । स्वमहसा निजतेजसा ऐन्द्रीं इन्द्रसम्बन्धिनीं रुचिं शोभां दरिद्रां निःस्वां निःसत्त्वां कुर्वाणं विदधानं, तरणिकुलं सूर्यवंशस्तदेव रत्नाकरः

समुद्रस्तत्रोद्भूतो मणिरिव मणिस्तं श्रीरत्नं नृपं निमेषे निमेषमात्रे एव मुष्णन्त्या हरन्त्या लक्षणया पश्यन्त्या दृशा नेत्रेण आपीय आसमन्तात् पीत्वा सादरं दृष्ट्वा, स यवनपतिर्महार्हात् अतिसमृद्धात् सिंहासनतः राजासनात् पञ्चम्यास्तसिल् सहसा झटिति उदतिष्ठत् उत्थितोऽभूत् ।

48 स्वकर्णाभ्यामिति । हे सुसखे सन्मित्र, स्वकर्णाभ्यां निजश्रोत्राभ्यां कर्णेजपानां, पिशुनानां, कर्णे जपतीति अलुक्समासः; यानि वचनानि तान्येव मैरेयं मद्यं अनिशं निरन्तरं परमत्यधिकं पायं पायं वारम्बारं पीत्वा विगतचेतन इति भावः, यत्त्वयि तव विषयेऽहं प्रललप उक्तवान् प्रलापञ्च कृतवान्, तत् किमपि मे आगः ममापराधं भवान् क्षाम्यतुतमां अतिशयेन मर्षयतु इति प्रीणानः प्रसन्नो यवनपतिः सविनयं विनयेन सहितं यथा स्यात्तथा रावरत्नमूचे उक्तवान् । रूपकम् ।

49 अथेति । अथ अमन्दो य आमोदो हर्षः स एवामृतं तेन सुहितं युक्तं चित्तं मनो यस्य सः, स मरुत्त्वत्प्रस्थेशः मरुत्त्वानिन्द्रस्तस्य प्रस्थं इन्द्रप्रस्थनगरं तस्य ईशः स्वामी दिल्लीपति जहाँगीरः सहसा झगिति सख्ये मित्राय नृपैर्नृपेषु वा महिताय पूजिताय रत्नक्षितिभुजे रत्न-भूपतये मुख्यं प्रधानं मदेन दानजलेन कलितं चामुं दन्तावलेषु गजेषु वरं श्रेष्ठं राजहस्तिनं ददत् वितरन् बहून् अनेकान् मनस इव वेगो येषां तान् मनोजवान् तीव्रगतीन् तुङ्गान् दीर्घकायान् तुरङ्गानश्वानपि समदित दत्तवानुपहारीकृतवान् । रूपकोपमयोः संसृष्टिः ।

50 स इति । अविरतं निरन्तरं त्रिभुवने त्रैलोक्ये सुमान्यः अतिपूज्यो धन्यः सौभाग्यशाली स राजन्यः क्षत्रियः तथा पूर्वोक्तप्रकारेण शाहशिलिमात् शाहजहाँगीरात् सदसि सभायाममानं अपरिमितं मान प्रतिष्ठां कलयन् अलङ्कुर्वन्, लभमान इति भावः, नदन्त्यो शब्दं कुर्वन्त्यो या भेर्यो ढक्काश्च वाद्यविशेषाः तासां पटुर्यो निनदो ध्वानस्तेन सम्मिश्रो मिश्रितो युक्तो मगधानां चारणानां स्फुरन्ति शोभमानानि यानि स्तोत्राणि राजस्तुतिपद्यानि तेषां स्तोकः समूहो यस्य सः, सपदि तत्कालमेव स्व शिविरं वासगृह सेनानिवेशं वा ययौ जगाम । अनुप्रासः, 'अमानं मानं' इत्यत्र यमकम् ।

51 निकाममिति । निकाममत्यधिकं वामस्य दक्षिणेतरस्य नेत्रस्य स्फुरणं स्पन्दनं अनिमित्तममङ्गलसूचकमिति स्वहृदये स्वचेतसि नितान्तं भृशं सशोचन् सञ्चिन्तयन् निजं शिविरं सेनानिवेशं गच्छतीति निजशिविरगः स्ववासं प्रविष्ट इति भावः, रत्ननृपतिः दनुजैर्दैत्यैः सह उग्रे भीषणे सङ्ग्रामे रणे स्वं त्रातुं रक्षितुं पुरुहूतेनेन्द्रेण समाहूतं निमन्त्रितं आकारितं तं युवराजं स्वतनयं गोपीनाथं सपदि तत्कालमेवाशृणोत् श्रुतवान् । युवराजगोपीनाथस्य निधनवृत्तान्तस्तेन विदेशे सेनानिवेशस्थितेन श्रुत इति भावः । असम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिः ।

52 नितान्तमिति । हन्त बतेति खेदे । क्रकच इवारपत्रमिव हृन्मर्म हृदो चेतसो मर्म सहसा झगिति नितान्तमत्यधिकं संकृन्तन् छिन्दन् सर्वाङ्गे रूर्वेषु शरीरावयवेषु आहेयं अहेः कृष्णसर्पस्येदं विषं हालाहलमिव विसर्पन् विसरन् खगात् कठोरात् खदिरात् तन्नामकवृक्षात् जन्म जनिर्यस्य स अनलोऽग्निरिव गात्रं तनूं वपुः सद्यः तत्कालमेव दहन् ज्वालयन् स पुत्रनिधनजनितः शोको दुःखं क्षमाभर्तुः पृथिवीपतेः रत्नस्य मतिं बुद्धिं कर्तव्याकर्तव्यविचारणशक्तिं सपदि लुलुवे लुनाति स्माच्छिनत् । मालोपमा ।

53 सुधीरमिति । क्षुभितः क्षोभयुक्तो यः करुणः शोकः स एवापारजलधि-विस्तीर्णसमुद्रस्तस्य रयं वेगं संरोद्धुं निरोद्धुं असौ नरपतिर्यं सुधीरं सुष्ठु धैर्ययुक्तं धृतिसेत्वादिकं धृतिरेव सेतुः तत्प्रभृति यत्नं प्रयत्नं व्यधित कृतवान्, तं तं संरम्भं प्रयत्नं अमुष्यास्य नरपते राज्ञः सुतनिधनात् जन्म जनुर्यस्य स पुत्रमरणजनितः क्रूरः कठोरः शोकजभरः दुःखोत्पन्नो भारः सपदि तत्कालमेवाच्चैरतिशयेन बिभिदे भिनत्ति स्म । रूपकम् ।

54 प्रकृत्येति । बतेति अहहेति शोके । स युवराजान्तजनितो युवराजस्य गोपी-नाथस्यान्तेन मरणेन जनित उद्भूतः अखर्वोऽत्यधिकः भीषणः दारुणतरः अतिशयेन कठोरः ज्वालाजालैः शिखासमूहैः ज्वलन् दहन् शोकौर्वः शोको दुःखमेव वाडवाग्निः प्रकृत्या निसर्गेण गम्भीरं गहनं, हृदयपक्षे धैर्यशालि, समुद्रपक्षेऽगाधं, विततं यत्सत्त्व आत्मा तेनाश्रितं युक्तमपि, पक्षे विततानि महान्ति यानि सत्त्वानि जलजन्तवस्तैराश्रितं युक्तमपि, क्षोणीभर्तुः राज्ञो हृदयजलधिं हृदयमेव जलधिं समुद्रं ननु निश्चितमेव सहसा झगिति चुलुकया-

मास चुलुकशब्दान्नामधातोर्लिट् । चुलुकं करोतीति णिच्, परम्परितरूपकम्, 'विततसत्त्वाश्रित' मिति श्लेषस्तदङ्गम् ।

55 नितान्तमिति । यदपि यद्यपि नितान्तमत्यधिकं गाम्भीर्याद् धैर्यादनभिगतौ यथा स्यात्तथा अन्तस्तीव्र अन्तर्हृदये वेगयुक्तं यथा स्यात्तथा बाष्प अश्रूणि धूमश्च प्रतिसरो प्रसरणं येन अत एव ज्वलन् दहन् पुटपाक वैद्यनिर्मीयमाणौ-षधीनां पुटपाक इव तस्य नृपतेः स शोकोत्पीडः दुःखस्य वेगः तदपि तथापि कष्ट कष्टं महता कष्टेन सहसा नयनगवाक्षात् नेत्ररूपिवातायनाच्छिद्राद्वा निरगमत् निर्गच्छति स्म । उपमा ।

56 मन इति । मनसश्चित्तस्य, मनश्चित्तमेव मूषास्वर्णाद्यावर्तनपात्रं तस्य मध्ये ज्वलन् दहन्नलघु गुरुर्यो दुःखानलः दुःखमेवानलोऽग्निः तस्य शिखानां ज्वालानां समाध्मानात् आध्मानानेन वर्धनात् अतिरभसात् अत्यधिकवेगाद् द्रुतं द्रवरूपं भावे क्तः, उपगतस्य प्राप्तस्य शुग्धातो शुक् दुःखमेव धातुः स्वर्ण-रजतादि तस्य अनल्पा अत्यधिकाः सरसकणिकाः रसभूता बिन्दवः भूपस्य नयने नेत्रे त एव प्रणाली आसवादिद्रुतीकरणनलिका तया समुपचित एकत्रीभूतं यद् वाष्पोदकं अश्रुजलं, पक्षे वाष्पभूतं जलं तस्य मिषात् व्याजात् सम्पेतुः बहिः सम्पतन्ति स्म । रूपकम्, अपह्नुतिश्च तदङ्गमिति संकरः । स्वर्णा-दिधातूनां द्रवीकरणं यद्वा रजतादीनां पारदादिना रासायनप्रक्रियया स्वर्णी-करणं मूषामध्ये धातुं निक्षिप्य मूषां तुषाग्नौ संस्थाप्य वह्नेराध्मानेन विधीयते, यथा भावप्रकाशे—

"बृहद्भाण्डे तुषैः पूर्णे मध्ये मूषां विधारयेत् ।
क्षिप्ताग्निं मुद्रयेद् भाण्डं तद्भाण्डं पुटमुच्यते ।।" इति ।

तुलनीयं, नयचन्द्रसूरिरचितहम्मीरमहाकाव्ये—

"कोकीनिःश्वासवातज्वलिततमतमोऽङ्गारवैभातरागा-
च्चिष्मत्स्थव्योममूषाजठरविनिहितेऽपास्तनिःशेषदोषे ।।
क्षिप्त्वा प्रत्यूषकल्कं शशभृति विशदे पारदे कालयोगी
भास्वन्तं निर्मिमीते नवमिव कनकं भूषणार्थं दिनस्य ।।"

(१३.१४५) इति ।

57 मुहुरिति। मुहुर्वारंवारं मुह्यन् संज्ञाशून्यतां गच्छन् द्रुहिणेन ब्रह्मणा कृतो रचितो यो सर्गः जगत्सृष्टिः तस्मै द्रुह्यन् कुप्यन्, 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोप' इति चतुर्थी, परममत्यधिकं शोकस्य दुःखस्यावेगेन स्फुरत् स्पन्दत् यत् अधरयोर्नासापुटयोश्च युगं यस्य सः, सुगम्भीरं यथा स्यात्तथा निर्यत् बहिरागच्छत् यन्नयनसलिलमश्रु तेन क्षालितं धौतं मुखं यस्य सः, सुखेन ऊनः रहितः स नृपः नूनं करुणः शोक एव जलधिः समुद्र तस्मिन् मग्नो ब्रुडित उदभूत् सञ्जातः। रूपकम्।

58 अथेति। अथ व्यामुग्धं विमोहितं, करुणः शोक एव शिखी वह्निस्तेन दग्धं ज्वालितं अमुं क्षितिपति नृपरत्नं, मृद्वी कोमला दिव्या भणितिराकाशवाणी (दैवज्ञादिवचांसि) प्रततं नवं यत्पीयूषममृतं तद्वन्मधुरैर्भव्यैः शोभनैः पदैर्वचनैः क्षणात् उक्षामास क्षालितवती सिक्तवती, हे नृप, त्रिदिवगं स्वर्गतं तनूजं सुतं मा शोचीः; भुवं पृथिवीं स्वराज्य नप्त्रे पौत्राय शत्रुशल्याय वितर देहीति। रूपकमत्युक्तिश्च।

59 अथमिति। सुरभणितेराकाशवाण्या वर्णानक्षराणि कर्णाभ्यर्णं कर्णसमीपं विरचयन् कुर्वन् शृण्वन्नित्यर्थः, अयं नृपः क्षितितले भूमौ समुष्णं निःश्वासं शोकसूचकं समुच्छ्वासं द्रुतमिव शीघ्रमिव विमुच्य मुक्त्वा, इदं दैवादिष्टं भाग्येन आदिष्टं विहितं क इव परिहर्तुं निवारयितुं प्रभुः समर्थ इति चित्ते चेतसि क्षणं ध्यात्वा विचिन्त्य सुतस्य पुत्रस्य निधनस्य मृत्योः दुःखं शोकं प्रविजहौ त्यक्तवान्।

60 अथेति। अथ दिशां पूर्वादीनां दन्तावलाः गजाः दिग्गजाः, कुलजाश्च शैलाः कुलपर्वताः, अहिपः शेषश्च तैर्धृतं ऊढं भूयांसं महान्तं क्षितितलस्य भूमण्डलस्य भरं भारं नप्तुः पौत्रस्य शिरसि मस्तके निधित्सुर्निधातुमिच्छुरयं नृपः परमत्यधिकं शोकेन दुःखेन विधुरं व्याकुलमन्तःपुरं अवरोधजनमपि समाधातुं समाश्वासयितुं मन्दं मन्दं शनैः शनैः शुचं शोकमपि विभिन्दन् छिन्दन् नाशयन्, समारुन्धन्निति भावः, निजपुरीं स्वनगरीं बुन्दीं ययौ जगाम। सेनानिवेशाद् बुन्दीपुरीं प्रत्यावृत्तः। अतिशयोक्तिः।

61 मुहुरिति । मुहुर्वारं वारं, तरुणो यः करुणः शोक एव अपारजलधिः निःसीमसमुद्रस्तस्मिन् मज्जन्तीनां ब्रुडतीनां शुद्धान्तस्त्रीणां अवरोधवधूनां अतिसान्त्वं अत्यधिकां सान्त्वनां समाश्वासनं विरचयन् विदधत् स नृपतिः नाविकः कर्णधार इव सपदि तत्कालमेव परमत्यधिकं हस्तालम्बं हस्तस्य आलम्बं साहाय्यं वितरन् ददत् तं पौत्रं शत्रुशल्यं युवराजं रचयितुं विधातुं प्रकाममत्यन्तं प्रारेभे प्रारब्धवान् ।

62 अथो इति । अथो एतदनन्तरं यौवराज्याभिषेकानन्तरं गौपीनाथिः गोपीनाथस्यापत्यं पुमान् स शत्रुशल्यः पितुः पित्रा पितामहेन शिरसि मस्तके न्यस्तां निहितां युवराजीयपदवीं यौवराज्यपद मुकुटमयभूषां किरीटालङ्करणमिव वहन् दधत् स्वमहसा निजतेजसा दीप्यन् प्रकाशमानः उग्राणां ग्रहाणामङ्गारकादीनां मध्ये तरणिरिव सूर्य इव परतिमिरशल्यः परेषां शत्रूणां यस्तिमिरमन्धन्तम, यद्वा परे शत्रव एव तिमिरमन्धकारस्तस्मै शल्यं शल्यभूतः, जनदृशां प्रजानेत्राणां चेतः मनः समाकर्षत् आकर्षयति स्म । अस्मिन् पद्ये "समाकर्षत्तूर्णं तिमिरमिव विद्वेषिनिकरम्" इति पाठान्तरम् पण्डितगंगासहायेन स्वीकृतम्, तत्र "तूर्णं तिमिरमन्धकारमिव विद्वेषिणां शत्रूणां निकरं समाकर्षत्" इति व्याख्या ।

63 त्रिलोकीति । वंदारवः प्रणमनशीला ये क्षितिपतयो नृपास्तेषां किरीटेषु मुकुटेषु प्रणयिनां संसर्गिणां माणिक्यानां पद्मरागमणीनां रुचिः शोभा त्रिलोक्यां ये दुर्वीराः दुष्टराजानस्तेषां व्रजस्य समूहस्य विजयदर्पणोद्धतौ भुजौ यस्य तं सकलजनानां रागं प्रेम विदधतं कुर्वन्तं भटं वीरं गौपीनाथिं शत्रुशल्यं नीराजितवती नीराजनां कुर्वती धरणिः पृथिवी इव चकाशे शुशुभे । अत्र तच्चरणनतराजन्यमौलिमाणिक्यदीप्तिः शत्रुशल्यनीराजनां कुर्वती धरणिरिति सम्भाविता । वस्तूत्प्रेक्षा ।

64 वसन्निति । कतिपयं कतिचित् गणरात्रं रात्रिसमूहं, गणानां बह्वीनां रात्रीणां समाहारो गणरात्रं सङ्ख्यावत्त्वात् तद्धितार्थे द्विगुः, "अहः सर्वैकदेशसङ्ख्यातः पुण्याच्च रात्रेः" इति सूत्रेणाच्; गणरात्रं निशाबह्वयः इत्यमरः, बुन्दयां नगर्यां वसन् निवसन् सकलैः सर्वैर्नृपैः सम्मान्यावादरणीयौ चरणौ यस्य

सः, श्रीमान् स रत्नो नृपः रणशिरसि युद्धस्य सैनापत्ये दिल्लीपतेर्जहांगीरस्य साहाय्य सहायतां विधित्सुः चिकीर्षुः दक्षिणदिशः प्रभुं स्वामिनं निजामं गोलकुण्डासुरत्राण जेतुमुपययौ जगाम।

65 स इति। स धरणीपती राजा रत्नः इच्छापुरवरं इच्छापुरनामकं नगरं स्वच्छन्दं यथेच्छं गच्छन् नदमयो या भेर्यो ढक्काश्च तासां ध्वनिना नादेन बधिरितानि अरीणां शत्रूणां श्रुतिपुटानि कर्णकुहराणि येन सः, निजामस्य क्षोणीशस्य बहमनीसुरत्राणस्य प्रबलो बलशाली बलनाथः सेनापतिर्योऽम्बरः मलिक-अम्बरनामा अफ्रीकादेशीयो हबशीसेनानीः स एव मुखं मुख्यो येषु तैः भंटैः सार्धं सकलजनानां भीमं भयङ्करं युद्धं सङ्ग्रामं व्यरचयत् व्यदधात।

66 नितान्तमिति। तरसा वेगेन संवर्ते प्रलयकाले क्षुभितं क्षोभयुक्तं यत् समवर्तिनो यमस्य, सम्पूर्वकवृतधातोर्णिनिः, इदं समवर्तीयं यमसम्बन्धि, 'नस्तद्धिते' इति सूत्रेण लोपः, यत् वदनं मुखं तद्वत् प्रचण्डं धनुः कोदण्डं संस्फाल्याकृष्य रणशिरसि युद्धे नितान्तं अमर्षात् रोषात् विषधरः कृष्णसर्पस्तद्वत् करालान् भीषणानिषुगणान् बाणसमूहान् वर्षन् किरन् स नृपो रावरत्नः परेषां शत्रूणां प्राणानां अत्यन्तं विलयं नाशं व्यधित चकार। उपमाद्वयम्, तयोः संसृष्टिः।

67 श्रित इति। अहो जीवनकृते जीवनार्थं लोकैः प्रजाभिः न श्रान्त निरन्तरं यथा स्यात् तथा श्रित आश्रितोऽपि स नृपती रत्नो रणालङ्कर्मीणं रणे युद्धे अलंकर्मीणं क्षमं धनुश्चापं सजीवं जीवया प्रत्यञ्चया सहितं विरचयन् विदधत्, संरम्भेण सहितं यथा स्यात् तथा भ्राम्यन्ती (यद्वा भ्राम्यन्त्यौ) या भ्रुकुटि (ये भ्रुकुटी) तया (ताभ्यां) कुटिले वक्रे अक्षिणी नेत्रे यस्य सः, यम इव परेतराडिव द्रुतं शीघ्रं द्विषां रिपूणां जीवं जीवं प्रत्येकं जीवनं युधि समरे समपजह्ने संहृतवान् उपमा। 'सजीवं' 'जीवं जीवं' चेत्यत्र प्रथमे पदे जीवया सहितमिति धनुषो विशेषणं, द्वितीये आम्रेडितपदे 'जीवनं जीवन' मित्यर्थे, "भिन्नेऽर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते"-इति लक्षणात् यमकालङ्कारः। 'कर्मक्षमोऽलङ्कर्मीणः" इत्यमरः। "अलंकर्मणे"-'पयदियोम्लानादच्यर्थे चतुर्थ्या' इति समासेऽलङ्कर्मशब्दात् ख-प्रत्ययः।

68 महाकल्पेति। बत इति हर्षे। महाकल्पे महाप्रलये क्रूराः करालाः प्रसृमराः प्रसरणशीलाः ललाटन्तपाः ललाटतापका ये कराः किरणास्तैः स्फुरन्

देदीप्यमानो यः सूर्यस्तस्योत्ताप औष्ण्यं विनयमानोऽधः कुर्वन् स नरपती रणभुवि समरभूमौ उच्चैर्विशिखानां बाणानां विषवर्षं गरलवृष्टिं, विषयस्य जलस्य वृष्टिं विरुन्धानोऽपि रुन्धन्नपि द्विषां शत्रूणामस्त्रैः शोणितैः पलभुजां मांसाशिनां शिवादीनां चतुष्पदानां गृध्रादीनाञ्च पक्षिणां सुभिक्षं चक्रे कृतवान्। विरोधाभासः, 'विषवर्ष' मित्यत्र श्लेषश्च।

69 शराद्वैतमिति। प्रतिरणं प्रत्येकस्मिन् रणे, रणं रणं प्रतीति अव्ययीभावः। परे ये भटाः शत्रुयोद्धारस्तेषां शरारु हिंस्रं, "शृवन्द्योरारुः" इति आरु प्रत्ययः (शृणाति हिनस्तीति शरारु) एतादृक्। शराणां बाणानामद्वैतं अन्यतत्त्वराहित्यं तन्वन् विदधत्, असौ नृपः सहसा झगिति विषवद्विषमो (यद्वा विषमविष इति पाठे विषमं यद्विषंतदिव) रोषस्तेन स्वीयं निजमोष्ठ अधरं दशन् सन् अतिक्षिप्रं शीघ्रमेव केलिकलहे सुरतसम्मर्दे रिपुस्त्रीणां वैरिरमणीनां बिम्बाधरपुटं बिम्बसदृशमधरपुटं, प्रियाणां रमणानां ये रदना दन्ता स्तैर्या गाढव्रणजा दन्तक्षतजा रुक् पीडा तस्याः (अपादाने पञ्चमी) ररक्ष रक्षति स्म। अनेन राज्ञा ओष्ठदशनेन रिपुस्त्रीणामोष्ठदशनव्यथा मोचितेति विरोधाभासेन दशनसमकालमेव तासां स्वामिनो हता इति समुच्चयो ध्वन्यते। अत्र काव्यप्रकाशकाराणामनुसारं विरोधाभासेन तुल्ययोगिता व्यज्यते, प्रकृतयोः स्वाधरदशन् शत्रुव्यापादनयोरेककालरूपैकधर्मसम्बन्धात् उद्योतसुधासागर-व्याख्याकारयोरिदमेव मतम्। किन्तु प्रदीपकृतो गोविन्दठक्कुरा पद्येऽस्मिन् अधरदशन-वैरिव्यापादनयोर्यगद्यप्रतीतेः समुच्चयध्वनिमेव स्वीकुर्वन्ति, न तु तुल्ययोगिताध्वनिम्। इहापि तथैव मतवैभिन्न्यं भविष्यत्येव। यद्वा पर्यायोक्त्यलङ्कारः "—पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः" इति लक्षणात्।

तुलनीयम्—

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन् निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम्॥ इति।

70 समुद्वृत्तमिति। अहो इत्याश्चर्ये। अस्य क्षितिपते राज्ञो यशोरूपी नर्तकवरो नर्तकश्रेष्ठः कृतानि यानि द्विपाः गजास्तुरगा अश्वाः पादातं पदातिसमूहश्चेति द्विपतुरगपादातानि तेषां बहलं अत्यधिकं स्रवत् यद्रक्तं शोणितं तस्य

आसारैर्धारापातैः समुद्वृत्ते अतिशयिते पङ्किलभुवि पिच्छिलभूमौ समरे रणे नित्यं नृत्यन्तः प्रमुदिता आनन्दिता ये कबन्धाश्छिन्नमस्तका भटास्तैस्सह परमत्यधिक ननर्त नृत्यति स्म । सहोक्तिः, यशोनर्तक इत्यत्र रूपकञ्च, तयोः संसृष्टिः ।

71 स्फुरत्कामस्येति । स्फुरन् कामोऽभिलाषो यस्य पक्षे स्फुरतः कामदेवस्य, प्रथिताः प्रसिद्धा ये पराःशत्रवस्तेषां मारस्य घातुकस्य तस्य, कामपक्षे प्रसिद्धेः परः श्रेष्ठो मारः कामदेवापरपर्यायस्तस्य मकरकेतोर्मदनस्येव तस्य श्रीरत्नस्य जगतो जैत्रा जेतारः भीमा भयङ्करा अपि सुमहसोऽतितेजस्विन (सुमनसो 'इति पाठस्वीकारे मनस्विनः, पक्ष पुष्परूपाः) भैरवमुखाः भैरवर्ह्लादयः, पक्षे भीषणफलकाश्च शरा इव प्रौढाः प्रबलाः पञ्चभटा योद्धारः परान् शत्रून् जित्वा अचिरात् परमत्यधिकं भर्तुः स्वामिनो रावरत्नस्यानृणतां ऋणमुक्तिं प्रापुः प्राप्तवन्तः । समरे स्वान् प्राणांस्त्यक्त्वा भर्तुं राज्ञ आनृण्यं प्राप्नुवन्ति स्म । श्लेषानुप्राणितोपमा ।

72 सुनासीर इति । सततं वितत आस्फालित इषूणां बाणानामासनवर आसन-श्रेष्ठोऽर्थाद् धनुर्येन तस्मिन्, इन्द्रपक्षे श्रेष्ठ इन्द्रधनुर्येन तस्मिन् सुनासीरे शोभनं नासीरं सेनामुख यस्य तस्मिन् पक्षे इन्द्रे तस्मिन् नृपरत्ने रणक्षोणौ युद्धभूमौ क्षिप्रं शीघ्र बहलमत्यधिकं शरवर्षं बाणवृष्टिं विकिरति क्षिपति सति तान्ता क्लान्ता (ताम्यतेः क्तः प्रत्ययः) अहिता शत्रवः सपदि मुखे आननेषु जातौ एकवचनम्) प्रकर्षेण निर्वाणो ध्वस्तो ज्योतीरहितो स्वौजः स्व तेज त-देवानलो वह्निस्तस्य विलसन्तो य इङ्गाला अङ्गारास्तद्वत् मलिनां कृष्णवर्णां कान्ति शोभां बिभरामासुर्धारयाञ्चक्रुः । इङ्गाल इति प्राकृतभाषाशब्दः, प्राकृतप्रकाशानुसारं 'अङ्गारललाटे वा' इति सूत्रेण अस्य इः, हरिद्रादौ लः' इति सूत्रेण रेफस्य लत्वे । अङ्गार 'शब्दस्य भाषारूप' 'इङ्गाल' इति निष्पन्नं भवति । इन्द्रवर्षणेन ज्वलन्तः काष्ठसमूहा अपि निर्वाणमापन्नाः कृष्णां कान्ति धारयन्त्येव । श्लेषः, रूपकमुपमा च तेषां सङ्करः । तुलनीयम्, नैषधे—

'स्फुरद्धनुर्निः स्वनतद्घनासुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ॥
निजस्य तेजःशिखिनः परः शतावितेनुरिङ्गालमिवायशः परे (१.९) इति ।

73 प्रकाममिति । प्रकाममत्यधिकं, याम्येति दीर्घं समासान्तपदम्. याम्या यमस्येय दक्षिणा या आशा दिशा तस्याः प्रसभं हठात् जयलक्ष्मी एव प्रणयिनी नायिका तस्याः परोरम्भस्यालिङ्गनस्य य आरम्भस्तस्य व्यतिकरेण सम्पर्केण विराजत शोभमानं भुजयोर्दोष्णोर्युगं यस्य सः, स नृपतिः श्रीरत्नः समिति युद्धे निजां स्वकीयामाज्ञामादेश भुजाभ्यां दृप्तो दर्पिष्ठो गर्वशाली योऽम्बरः मलिकाम्बर-नामा निजामसेनापतिः तस्य शिरसो मस्तकस्य यः किरीटस्तस्य स्पर्धालुं प्रतियोगिनीं कृत्वा, अर्थात् दक्षिणदिशासुरत्राणसेनापतिं मलिकाम्बरं स्वाज्ञा-वशंवद विधाय बुन्दीमुपययौ उपागमत् ।

74 प्रजेति । स क्षितिपती रावरत्नः प्रजाया लोकस्य अन्वीक्षा पालनं तस्य या शिक्षा दीक्षा तस्यां चटुलं शोभनं यच्चरितं व्यवहारस्तस्यामोदेनानन्देन मधुरं सुन्दरं धुरीण राज्यधुरावहनसमर्थं, विनयान्नम्रताया हेतोः स्वस्य श्रीरत्नस्य चरणपतितं नप्तारं पौत्रं मुहुर्वारं वारं सान्द्रो घनो य आनन्दस्तदेवामृतं पीयूषं तेन बहलया स्फीतया निजदृशा धयन् पिबन् मूर्ध्नि शिरसि चुम्बश्चाजस्रं निरन्तरं शुशुभे रराज ।

75 स्वेति । अथाशेषान् सर्वान्नृपतीन् राज्ञो मुगलसामन्तान् द्रविणगणस्य धनसमूहस्य लोभेन स्वसात्कृत्य स्वाधीनान् विधाय समरेषु रणेषु धन्या सौभाग्यवन्त उद्धरा प्रबला ये भुजा बाहवो येषां तैः परोलक्षैः लक्षाधिकैर-गणितैः सैन्यैः भटैः सह स्वं निजं तातं पितरं मुगलसम्राजं जहाँगीरं जिघांसु हन्तुकामं यान्तमाक्रान्तुं गच्छन्तं खुरम तन्नामानं खुरमं जहाँगीरस्य द्वितीयं पुत्रं श्रुतवताऽऽकर्णयताऽमुना विभुना नृपेण रत्नेन त्वरितं शीघ्रं सुरत्राणं सुलतानजहाँगीरं त्रातुं रक्षितुं अधावि धावितम् । भावे लुङ् । खुर्रमेन पितरं विरुध्य नवपञ्चाशदधिकषोडशशततमे षष्टयधिकषोडशशततमे च वैक्रमाब्दे विद्रोहो विहित इतीतिहासग्रन्थेभ्योऽवगन्तव्यः । 'जहाँगीरनामेति जहाँगीर-स्यात्मचरितमप्येतदर्थे द्रष्टव्यम् ।

76 अयमिति । धावन् सुरत्राणं त्रातुं वेगेन गच्छन्नयं दिल्लीरमणस्य दिल्लीपते-र्जहाँगीर स सहकृत्वा सपक्षो मित्रं रावरत्नः खलश्चासौ खुरमो दुष्टः

सुरत्राणसुतस्तेन विरचितां विहितां अद्भुततराममेयामपरिमितां गजा हस्तिनस्तुरगा अश्वाश्च तेषां सम्प्रेषणं उपयनीभूतं प्रेषणं तन्मयीं तद्युक्तां तां मायामात्रधर्षणां उच्चैस्तृणाय मेने तृणवन्निराकृतवान् । 'मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु' इति सूत्रेण चतुर्थी । इमां विशेषोक्तिं सामान्योक्त्या समर्थयति—आर्या श्रेष्ठाः शतैरसङ्ख्यैरपि त्रिदशपतिराज्यैरिन्द्रराज्यैरेव प्रतार्याः वञ्चयितुं न शक्या इत्यर्थान्तरन्यासः । "सामान्यं वा विशेषो वा यदन्येन समर्थ्यते । यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा" इति मम्मटोक्तलक्षणात् ।

77 यदेति । अथ यदासौ दुष्टः खलः खुर्रमोऽमुं राजानं श्रीरत्नं वशयितुं स्वपक्षे विधातुं अवकेशी वन्ध्योऽसफलोऽभवत् बभूव, तदा गोवैभटैरस्य नृपस्य पन्थानं दिल्लीगमनमार्गं त्वरितं शीघ्रमरुणत् रुरोध । स तु भटो योद्धा रत्नः शराणां बाणानां निकरस्य समूहस्य वर्षैर्वर्षणैर्भीमं भीषणमपि परव्यूहं शत्रुसैन्यसञ्चालनं किरीटीव अर्जुन इव उद्भिन्दन् छिन्दन् शाहाशिलमं सलीमनामकं मुगलपातशाहमवितुं रक्षितुमगमज्जगाम । उपमा ।

78 अथेति । अथ खलो दुष्टो यः खुरम स एव दुर्ग्राहः दुष्टमकरस्तस्य वदनं मुखं सम्प्राप्तं गतं, यद्वा खलखुरमस्य दुर्ग्राहो दुरवरोध आक्रमणं तस्य वदनं सम्प्राप्तं, इन्द्रप्रस्थस्य दिल्लीनगरस्य इन्द्रो मुगलसम्राट् स एव प्रततमदो मदशाली दन्तावलवरो गजश्रेष्ठस्तं रिरक्षुः त्रातुमिच्छुः, सन्नन्तादुः । रिपूणां शत्रूणां दलने दलनाय वा यच्चक्रं सैन्यं, सुदर्शनाख्यं विष्णोरायुधं च तेनोद्भटः स महांश्चासौ महीन्द्रो राजा, स्फुरन्ती देदीप्यमाना विष्वक् सर्वतो व्याप्ता सेना यस्य स इति स्फुरद्विष्वक्सेनः, पक्षे स्फुरंश्चासौ विष्वक्सेन इति हरेः पर्यायः, जगति संसारे औपेन्द्रीं उपेन्द्रस्य हरेरियं औपेन्द्री तां विष्णुसम्बन्धिनीं सुषमां शोभां विभराभास धारयाञ्चकार । श्लेषानुप्राणितं रूपकम्, तच्च निदर्शनाया अङ्गमिति सङ्करः । 'अभवद्वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक' इति मम्मटोक्तदिशा निदर्शनालक्षणात् । अत्र पुराणोक्ता गजग्राहकथाऽनुसन्धेया । "स औपेन्द्री' मिति पदद्वयस्य संहितायां सोऽचिलोपे चेत्पादपूरण' मिति सूत्रेण' सैष दाशरथी रामः सैषा राजा युधिष्ठिर' इति 'सौपेन्द्रीं सन्धिजरूपं निष्पन्नम् । यद्वा उपेन्द्रेण सहितः सोपेन्द्रस्तस्येयं सौपेन्द्री तां । यद्वा सु

शोभनश्चासौ उपेन्द्रः सूपेन्द्रस्तस्येयं सौपेन्द्री तां "सौपेन्द्री" मिति पदं साध्यम् ।

79 व्रजन्निति । दिल्लीशाङ्कं दिल्लीपतिसमीपं व्रजन् गच्छन्, शरदः शरदृतु-कालिक उरुर्महान् पूर्णश्चासौ शशाङ्कश्चन्द्र स्तद्वदुज्ज्वल यशः कीर्तिर्यस्य स, स नृपः अतिगहनेऽतिगभीरे खुरुमस्य बलं सैन्यं पराक्रमश्च तदेव पङ्कः कर्दम-स्तस्मिन् निमग्नां पतितामत एव सातङ्कां भययुक्तां उत्तुंगां महतीं शाह-शिलिमीं शाहशिलिमस्येयं तां सुरत्राणजहांगीरसम्बन्धिनीं गां पृथिवीं धेनुञ्च निजभुजबलेन समुद्धर्ता उद्धरणशीलः त्रिजगति गोरक्षकः गां पृथिवीं धेनुञ्च रक्षतीति आख्यायि अभिहितः समाख्यात । अन्योऽपि कश्चित् पङ्कनिमग्नां धेनुमुद्धरत्येव । पुनश्चात्र पुराणोक्ता वराहावतारकथाऽपि संसूच्यतेति दिक् ।

80 अथेति । अथ परेषां शत्रूणां यत्तिमिरमन्धतमः पक्षे परमत्यधिकं यत्तिमिरं, तस्य विध्वसकौ नाशकौ करौ भुजौ (पक्ष कराः किरणाश्च) यस्य तं भास्वन्तं प्रकाशशालिनं सूर्यञ्च तं रावरत्नं विलोक्य दृष्ट्वा । कथम्भूतं नृपं सूर्यञ्च, त्रैलोक्यस्याभयवितरणेऽभयदाने उदारं दक्षिणं चरित व्यवहारो यस्य तं नृप-सूर्ययोः समानविशेषणम् । दुः दुष्टो यो दोषाकरो दोषाणामाकरः खनिः, पक्षे दोषा रात्रिस्तस्य करः कर्ता चन्द्रस्तद्वत् यः खुरुमस्तस्य धाम्ना तेजसा विशेषात् विशेषतो मुकुलितं सङ्कुचितं दिल्लीपतेर्हृदयपद्मं मानसकमलं उच्चैरतिशयेन द्रुततमं पुफुल्ल विकसितमभूत् । श्लिष्टरूपकम् । 'दोषाकर-खुरुम । इत्यत्र तु उपमैव, सा च तदङ्गमिति सङ्करः ।

81 परमिति । गुर्व्या महत्या उर्व्याः पृथिव्या भूमिपतिना राज्ञाऽमुना श्रीरत्नेन सततं निरन्तरं परमत्यधिकं मान्य आदरणीय पतिम्मन्यः आत्मानं पतिं मन्यते इति खश्, उच्चैरधिकं प्रमुदितः प्रसन्नो यवनपतिर्मुगलसम्राट् निजादेश्यैः स्वाज्ञानुकूलैः सेवकैः देश्यैः देशे भवैर्मदकलितैर्मदयुक्तैर्दन्तावलैः श्रेष्ठहस्तिभिः हयौघैरश्वसमूहैश्च क्षितिपतिं राजानं भटं योद्धारं तं रावरत्नमानर्च पूजयामास सत्करोति स्म । अनुप्रासः ।

82 विपक्षाणामिति । अथ खुरुमो विद्रोही यवनपतिपुत्रः विपक्षाणां शत्रूणां पक्षं तृणमिव क्षुदिध दग्धुमिच्छू त्रिलोक्याः संवर्ते प्रलये प्रसभं हठादुदितो वाय्वग्नी

अनिलानलौ इव सहगामौ रत्नशिलिमौ वीक्ष्य भय एव तरगस्तं भयतुरगं आरुह्य दिक्चक्र दिशां प्रसारं ललङ्घे लङ्घितवान् । युद्धं विनव प्रपलायितः । उपमारूपकयोः संसृष्टिः । 'वाय्वग्नी इव' इत्यत्र प्रगृह्यत्वात् सन्ध्यभावः ।

83 मृगप्लुत्येति । तस्मिन् दिल्लीपतिसुते खुर्रमे मृगस्य हरिणस्य प्लुतिः प्लवनं धावनं इव प्लुतिस्तयाऽपसरति पलायमाने सति स कोऽपि सुभटो महान् योद्धा, मध्ये तत्सैन्यं तस्य खुर्रमस्य सैन्यं तस्य मध्ये 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभाव, न ददृशे, बत इति खेदे, यो भटः महसा स्वतेजसा तपन्तं भास्वन्तं प्रकाशमानं पक्षे सूर्यं तं रावरत्नं वीक्षितुमपि प्रभुः समर्थो भवतु किल, किम्पुनस्तेन योद्धुं प्रभुर्भवेदिति भावः । उपमा, श्लेषानुप्राणितं रूपकञ्च तयोः संसृष्टिः ।

84 द्विषदिति । द्विषतां शत्रूणां सर्पन् प्रसरन् यो दर्पो गवः स एव उल्बणो भयङ्करः सर्पः, यद्वा द्विषन्तः शत्रवः सर्पन् प्रसरन् यो दर्पस्तेनोल्वणाः फणिनः सर्पा इव द्विषद्रूपास्तादृशाः फणिनश्च तान् भुङ्क्ते इति तेन वीर्यमेव शिखी मयूरस्तेन यद्वा वीर्यस्य शिखी अग्निः स एव शिखी मयूरस्तेन दुराधर्षो धर्षितुं जेतुमशक्यः, भुवनस्य लोकस्य जये शक्तां समर्थां शक्ति बलं, यद्वा प्रभु मन्त्र उत्साहरूपां शक्तित्रयीं, पक्षे शस्त्रविशेषञ्च कलयन् धारयन् सैनापत्यं सेनापते र्भावः कर्म मुगलसेनापतित्वं, पक्षे देवसेनापतित्वं कार्तिकेयत्वं बहन् अत्यन्तमहितं अतिशयेन पूजितं परमत्यधिक पीनं पुष्टं समृद्धं तापीपुरं ताप्त्या नद्यास्तटे स्थितं पुरं बुरहानपुरमधिवसन्, तत्र खानदेशसूबेदारपदं स्वीकृत्य अनिशं अहर्निशं ऐन्दत् ऐश्वर्ययुक्तः शुशुभे, 'इन्द् ऐश्वर्ये' ।

'सैनापत्य 'मित्यत्र' 'पुरोहितादिभ्यो यक्' इति यक्प्रत्ययः । शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनिः ।

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
सयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ।।"

इति काव्यप्रकाशे । तद्दिशा 'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य' । इत्युदाहरणवदिह राजार्थो वाच्य कुमार कार्तिकेयार्थः प्रतीयमानः । तेन वस्तुभूतेन व्यङ्ग्यार्थेन पुनाराज-कार्तिकेययोरुपमेयोपमानभावो व्यज्यत इति वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिरिति दिक् ।

85 यदिति । अधुना ब्रध्नपुरस्य वर्णनं कविना विधीयते । यद् यतो हेतोरुत्तुङ्गा महती गङ्गा भागीरथी कुकृतानां दुष्कृत्यानां पापानां यः शिखी वह्निस्तस्य भङ्गाय शान्त्यै भवति समर्थाऽस्ति तदस्मिन् विषये को वा स्मय आश्चर्यं, न कोऽपि विस्मय इति भावः; यदसौ गङ्गा हि निश्चयेन तुहिनगिरिसङ्गा हिमालय-संयुक्ता वर्तत इति शेष । काव्यलिङ्गम् । यत्तपनस्य सूर्यस्य तनया पुत्री तापी यमुना त्रितापीं, त्रयाणां तापानामात्मिक-दैविकभौतिकानां समाहारस्तामिति द्विगुः, अर्थात् तापत्रय पीत्वोच्चैरतिशयेन निहन्तीति चित्रं आश्चर्यं वर्तते । सैषा यमुना ब्रध्ननगरे ब्रध्नस्य सूर्यस्यनगरे आगरापुरे जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । आगरानगरस्य पुरातनं नाम ब्रध्नपुरमासीदितीतिहासविदः तत्र पुरा प्रसिद्धं सूर्यमन्दिरमासीत् । विरोधालङ्कारः । 'विरुद्धःसोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।' अत्र यमुनावर्णने गुणक्रिययोर्विरोधेन विरोधालङ्कारः, यथा माघे—

"या धर्मभानोस्तनयाऽपि शीतलैः
स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः ।
कृष्णाऽपि शुद्धेरधिकं विधातृभि–
र्निहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ।" (१२.६७) इति ।

86 निषद्यायामिति । यस्मिन् ब्रध्नपुरे निषद्यायां विपणौ स्फुरद्भिः देदीप्य-मानैः संस्फूर्जतः तिमिरस्य तमसो यो निकरः समूहः तस्य उल्लुण्ठनकरैः हरणकरैः, पणिभिर्वणिग्भिर्विततानां विक्रीणनार्थं प्रसारितानां रत्नौघानां किरणैरंशुभिः सपदि लोके संसारे समालोके सूर्यसदृशप्रकाशे रचिते सति समुदयन् प्रातरुद्गच्छन् अयं सूर्यः केवलं सरोजानां पद्मानां मैत्रीं सौहार्द-मेवावति रक्षति । अत्र रत्नैरेव प्रकाशो विधीयते। मित्रस्तु सरोजमैत्री-रक्षार्थमेवोदयते ।

87 अदभ्रमिति । अदभ्रं न दभ्रं अल्पमिति अत्यधिकं प्रवराणि पुरकाणि श्रेष्ठ-वसतयः (मोहल्ला इति भावः) तेषां चयं समूहं बिभ्राणे धारयति तस्मिन् गुरुणि नगरे ('प्रवरतुरगाणा' मिति पाठस्वीकारे श्रेष्ठानामश्वानां चयं बिभ्रति तस्मिन् पुरे) वसन् स रत्ननृपतिः प्रबला ये रिपवः शत्रवस्तेषां समूहस्य नितरामत्यधिकं अवस्कन्दात् आक्रमणात् (घाटीरीत्या मारणादिति

गङ्गासहायपण्डिताः) चञ्चन्तीं शोभमानां अवाचीं दक्षिणां दिशं रंबमहसा स्वतेजसा इन्दन् ऐश्वर्यं प्राप्नुवन् सन् अनुरराज अनुरक्तां चकार।

88 अथो इति। अथो दिल्लीभर्तुः दिल्लीपतेः परमं सुहृदं मित्रं यमदिशो दक्षिणदिशाया वरं श्रेष्ठं सैनापत्यं सेनापतित्व सूबेदारपदं परं वहन्तं बिभ्रतं अमुं राजघं, राज्ञो न तु क्षुद्रान् हन्ति इति राजघः, 'राजघ उपसंख्यानम्' इति वार्तिकोक्त्या क-प्रत्ययः, यथा नैषधे—"प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः" (१.१०) इति; रत्ननृपं चरेभ्यः स्पशेभ्यः संशृण्वन् आकर्णयन् प्रथमाया निकृतिः अपराधः रत्नकृत-जहाँगीरसाहाय्यं तेन क्रुद्धः कुपितः खुरमो निजामी च याकूतश्च निजामीयाकूतौ यवनयोद्धारौ तौ प्रमुखौ येषां ते भटा सैनिकास्तेषां वृन्दैः समूहैः सह ययौ रावरत्नमाक्रमितुं जगाम। निकृतिः अपराधः, यथा किराते—"न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः" (१.४५) इति।

89 निजामीयेति। निजामीयो निजामस्याय योऽमात्यो मन्त्री हब्शीसेनापतिर्मलिकाम्बरनामा तेन रचितं साहाय्यं सहायता तस्य भरतोऽतिशयात्, पञ्चम्यास्तसिल्, क्षितितले पृथ्वीमण्डले परमत्यधिकं लब्धोच्छ्रायं लब्ध उच्छ्रायो वृद्धियेन तं अपायं, विनाशं तितनिषुः विस्तारयितुमिच्छन्, 'तन् विस्तारे धातोः सन्नन्तादुः, खुरमस्य बलं सैन्यं तदेव रक्षोभटानां राक्षसवीराणां भरः समूहः अनेकाहं अनेकाहैर्गम्यते इति तं, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति 'अहन्' शब्दस्य नकारस्य लोपोऽजन्तत्वञ्च, पन्थानं मार्गं अचिरात् समाक्रम्य लक्षणयाऽतीत्य तं रामं रावरत्नरूपं रामचन्द्रमरौत्सीत् रुरोध। परम्परितरूपकम्।

90 त्रिलोकीमिति। त्रिलोक्यास्त्रिलोकस्य संरक्षा परिपालनं तस्याः प्रतिभुवं लग्नकं, 'प्रतिभूर्लग्नक' इत्यमरः, जामिन् इति भाषा, अमुं रावरत्नं एकाकिनमसहायं स्थितं जानन्, औवंस्य वाडवाग्नेः प्रतिभट सदृशो यः सुकोपो रोषातिशयस्तेनाकुला व्याकुला मतिर्बुद्धिर्यस्य सः, क्रव्यादां मांसभोजिनां यवनानां (राक्षसानामिव) क्रव्यं मांसं अत्तीति क्रव्याद्, इति क्विप्, तेषां क्रव्यादां पतिः स खुरमः स्वकान् निजान् भटान् सैनिकान् निदिदेश आदिष्टवान्—'प्राध्वं दूरपथं,' प्रगतोऽध्वानमिति 'उपसर्गादध्वनः' इति अच्, आध्नं पुरं

परितः सत्वरं कुरुत, यद्वा ब्राध्नं पुर परितः प्राध्वं अनुकूलं कुरुतेति । प्राध्वं अनुकूलं यथा रघौ—'सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते' (१३.४३) इति । उपमा ।

91 निजेति । निजस्य स्वामी पतिः खुर्रमस्तस्यादेशेन प्रसभस्य बलस्य रभसो वेगो येषां तेषां, रणस्य युद्धस्य रसाद् गात्रे शरीरे शीर्षकेन शिरस्त्राणेन युतं तनुत्राणं कवचं परिदधतां धारयतां, सपदि तत्कालमेव दारुणतरमतिशयेन कठोरं, स्फुरतां देदीप्यमानानां शस्त्राणां खड्गादीनां व्रातं समूहं दधतां वहतां तस्य खुर्रमस्य योधानां सैनिकानां आहोपुरुषिका अहमहमिकया पौरुषदर्पाविष्करणं बभौ शुशुभे । आहोपुरुषिका, अहो अहमेव पुरुष इति मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, अहोपुरुषेति पदात् वुञ्प्रत्ययः स्त्रीत्वे टाप् ।

92 अपध्वंसादिति । रणे युद्धे विजयी जयशीलो रत्नो रावरत्नस्तेन रचिताद् विहितात् प्राच्यात् पूर्वकालिकादपध्वंसादपमानाद्धेतोः गभीरं यथा स्यात्तथा संक्षुभ्यन् कम्पमानः खुर्रमस्य यन्महासैन्यं तदेव जलधिः समुद्रः, समुद्वेलं समुत्सृष्टमर्यादं वेल्लन् प्रचलन्, पटुर्यः पटहभेरीणां रणवाद्यानां ध्वनिर्नादस्तस्य मिषाद् व्याजान्मुहुर्बारं बारं गर्जन् वरं नादं कुर्वन् द्रुततमं शीघ्रमेव लोकस्य प्रजानां जगतो वा प्रलयं नाशं असुसूचयति स्म । रूपकालङ्कारोऽपह्नुतिश्च तदङ्गमिति तयोः सङ्करः ।

93 दधदिति । धानुष्काणां धनुर्धराणां सैनिकानां, 'धनुः प्रहरणमस्येति ठक्'; कलहस्य युद्धस्य रसोऽभिलाषः तस्मिन् धीरा धैर्यशालिनी तां षड्युतां षष्टिसहस्रमितां चमूं दधत् वहन्, स खुर्रमः, स्फुरन् देदीप्यमानो यः स्पर्धाबन्धः स्पर्धाभावस्तस्मात् समरभुवि युद्धभूमौ परिकरं प्रगाढं गात्रिकाबन्धं बद्ध्वा, धुरीणो धूर्वहः उदयन् उद्गच्छन् यो धाराधरो मेघस्तेषां निकरः समूहस्तस्य यो धीरः गम्भीरश्चासौ ध्वनिर्नादः तद्वद्धीरः ध्वनिस्तस्या रसात् अमलो यो गौडान्वयः गौडक्षत्रियवंशस्तत्र भूर्जन्म यस्य तं गोपालं तन्नामानंसैनिकं भटं अवादीत् जगाद । गोपालोऽयं पुरा रावरत्नस्य सेवक आसीत्, स एव खुर्रमेन रावरत्नं प्रति प्रेषित इति जहाँगीरेण स्वात्मचरिते 'जहाँगीरनामाख्ये (तुजुके-जहाँगीरी) ग्रन्थे स्वयमेव सङ्केतितमिति तत्र विस्तरशो द्रष्टव्यम् । अनुप्रासः उपमा च ।

94 रणेति । रणाय युद्धाय उत्सर्पन् प्रसरन् यो दर्पो गर्वस्तेन ग्रहिलौ आग्रहवन्तौ यौ गुरू महान्तौ दोर्दण्डौ भुजदण्डौ तयोर्महसा तेजसा समाध्मातं अतिस्फीतं रत्नं रावरत्नं त्वं मम दौत्येन सन्देशवाहकरूपेण इह निजगदेः कथयेः । हे रावरत्नं, त्वं ब्राध्नं पुरं आगरानगरं साधु प्रवितर मह्यं उपहारीकुरु नो चेददद्याह भवतो मेदोमांसैः क्षणाद् अचिरेणैव बलिं पूजां विधाता करिष्यामीति । अन्यथा रणभूमौ त्वां निहनिष्यामि ।

95 अयमिति । नयस्य निगमे शास्त्रे राजनीतिशास्त्रे पारीणा पारंगता सुमतिबुद्धिर्यस्य सः, श्रीरत्नस्यानुचरचरः रावरत्नस्य पूर्वकालिकः सेवको भटवरोऽयं गौडानां धुरीणो गोपालः सततं धरणीतले लोलेन चञ्चलेन मूर्ध्ना शिरसा अङ्घ्री रावरत्नस्य चरणौ नमन् प्रणमन्, प्रवरो यः खुरमस्तस्येति प्रवरखुरुमीयं वचो वचनं प्रवक्तुं गदितुं प्राक्रस्त प्रचक्रमे प्रोपसर्गपूर्वकक्रम्–धातोर्लुङि रूपम् । अनुचरचरः पूर्वं अनुचरः इति 'भूतपूर्वे चरट्चराः' इति सूत्रेण चरट्–प्रत्ययः ।

96 अहमिति । हे नृप रावरत्न, यदपि यद्यपि अहं आ सप्तपुरुषात् सप्तपूर्वजेभ्यः प्रभृति यौष्माकीणः भावत्कः विघसलवणाशी ऊच्छिष्टलवणभोजी अस्मिन् दौत्ये कर्मणि हृणीये जिह्रेमि लज्जे, तथापि अद्य जगति अवद्यं अनिन्द्यं परवशं परसेवक खुर्रमचरं मां तुरुष्काणां यवनानमियं तुरुष्कीया सेवा यन्मुखरयति वक्तुं प्रेरयति तद् भवान् क्षाम्यतु ।

97 श्रुतमिति । यद्वा यद्यथा मया वैयाकरणस्य व्याकरणाध्ययनकर्तुर्मुखतः श्रुतं किं तत्त्राह पाणिनेर्दाक्षीपुत्रस्य मते त्रिपाद्यां सपादसप्ताध्याय्यमन्तरायां पूर्वं पूर्वं शास्त्रं प्रति परं परं शास्त्रमसिद्धं, अप्रवृत्तमिव प्रभवति 'पूर्वत्राऽसिद्धमिति' तत्सूत्रवत् तथा हे नृपते मम पूर्वस्यां प्राक्कालजायां तवानुचरतायां इह विषये पराऽनन्तरकालिकी खुरुमीया खुरुमसम्बन्धिनी सेवा परं केवलमसिद्धैव भवतु ।

98 अवार्तमिति । प्रतिघया रोषेण आक्रमणेन वा, 'प्रतिघारुट्क्रुधौ स्त्रियौ' इत्यमरः, रिपूणां शत्रूणां अवार्तं नास्ति वार्तं कुशलं (यथा, सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजाना' मिति रघौ) यस्मिन् तत् अकुशलयुक्तं संवर्तं प्रलयं नाशं कुर्वाणो विदधानः, कलितं सुसज्जितं यद्बलं

सैन्यं तेन सार्थः सहितः, प्रणयेन स्नेहेन वसुना धनेन च सम्मानिता भटा सैनिका येन सः, विजयी जयशाली चासौ खुरुमोऽदय चिरमपि चिरकालमपि सुगापं मदयपं स्वजनकं मुगलसम्राजं जहाँगीरं स्त्रियाः पत्न्याः नूरजहाँनाम्न्याः वश्यं अधीनं पश्यन् तद्राज्यं तच्छासनं तत्सिंहासनं ग्रहीतुं वशीकर्तुं प्रयतते उद्यतते ।

99 सुत इति । यदपि यद्यपि इतः खुर्रमात् ज्यायान् ज्येष्ठः सौरत्राणि सुतः सुलतानजहाँगीरपुत्रः परवेजाभिधः परवेजनामा वरीवर्ती वर्तते तदपि तथापि सहजेन नैसर्गिकेण प्रौढेन महसा तेजसा हेतुनाऽसौ खुरुमो महत् पित्र्यं पितृसम्बन्धि राज्यं वशितुं स्वायत्तीकर्तुमर्हतितमां अतिशयेन योग्योऽस्ति । एतत् एव सामान्येन समर्थयति—अहो इति हर्षे । धरणी पृथिवी वीरैः शूरपुरुषैरेव भोग्या भोक्तुं योग्या भवति न तु चकितैः चञ्चलैर्भीतैर्वा पुरुषैः । अर्थान्तरन्यासः । परवेजोऽयं पित्रा चतुरयुत्या (४००००) जातैः त्र्ययुत्या (३००००) अश्ववारैः (सवार) इति मनसब-पदेन सम्मानितो बिहारप्रान्तस्य अधीशः (सूबेदार) आसीदिति मुगलेतिहासविदः ।

100 रणारण्येति । रणरूपेऽरण्ये प्रीणयन्ती नन्दन्ती या विजयस्य गजता गजसमूहः तस्या आलानानि बन्धनभूता विलसन्तः भुजा एव स्तम्भाः तैर्भीमा भीषणाः, समरे युद्धे सृमरं ससरणशील, 'सृ गतौ इति धातोः क्मरच्, प्रौढ महस्तेजो येषां ते यश एव वित्तं धनं येषां यशोवित्तास्तेन खुरुमेण वित्तैः धनैः कारणेन परममत्यधिकं सहिताः सहाययुक्ताः (महिता इते पाठे सम्मानिताः) सुभटा अमुं खुर्रम असुभिः स्वप्राणैरपि प्रियाकर्तुं प्रियाचरणेनाऽनुकूलयितुं वाञ्छन्ति । 'सुखप्रियादानुलोम्ये' इति डाच् ।

तुलनीयम्—"मनस्विनो मानधना धनार्चिता
धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः
प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्"

इति किराते भारविः (१.१९) ।

101 मुनेरिति । हन्तेति हर्षे । मुनेरगस्त्यस्य आज्ञामात्रेण व्ययितो नाशितो विभवो यस्य तं विन्ध्यं विन्ध्याद्रिमपि निजानां तनूनां गात्राणां सभौन्नत्यं प्रांशुत्वं तस्य

महसा तेजसा सुवन्ध्यां निष्फलं कुर्वाणातद्वारणगजाः तस्य खुरमस्य वारणानां गजानां गणाः संघाः रुषा रोषेण अरेश्शत्रोर्या लक्ष्मी राज्यश्रीस्सैव कमलिनी तां प्रसभ बलात् हठाद् वा उन्मूलयितुं मूलादुत्खातयितुं समीहन्ते इच्छन्ति। एकदेशविवर्तिरूपकम्, प्रतीपालङ्कारश्च । अत्र स्वौन्नत्यं प्रकटयन् विन्ध्यो गुरुणाऽगत्येनावरुद्ध इति पुराणकथाऽऽनुसन्धेया ।

102 प्रमाथीति । प्रत्यर्थिनां शत्रूणां यः प्रकरः समूहः स एव जलधिः समुद्रस्तस्य प्रमाथी मन्थनशीलोऽसौ खुरंमएकोऽसहायः समग्रानपि भटान् वीरान् अचिराच्छीघ्रं जेतुं प्रभवति जेतुं समर्थोऽस्ति । इदानीमधुनाऽन्याशापतिभिरन्यप्रान्ताधीशैः (इदानीं याम्याशापति-इत्यादि पाठे याम्याशाया दक्षिणदिशः पत्या) सहकृतस्य युक्तस्य पुरतः सम्मुखे वराकीं तुच्छां दिल्लीं समवितुं त्रिजगति त्रैलोक्ये कः समर्थः प्रभुः, न कोऽपीति काकुः । अतो भवता दिल्लीरक्षणे प्रयत्नं विहाय खुरंमस्यैव पक्ष आश्रयितव्या इत्याकूतम् । रूपकम् ।

103 तिरस्कृत्येति । रोषात् क्रोधात् अशेषान् समस्तानपि वीरान् सपदि तिरस्कृत्य अवमत्यासौ खुरंमः द्वित्रिदिवसैः द्वित्रैर्दिनै शुल्के शुल्काय अर्थग्रहणाय, 'निमित्तात्कर्मसंयोगे' इति सप्तमी, चर्मणि द्वीपिनं हन्ती तवत्'; मृधे युद्धे दिल्लीं तां नगरीं विवरिषुराच्छादयितुमिच्छुरस्ति, निपूर्वक-वृ-आवरणे धातोः सन्नन्तादुः । स चासौ, अहो इति संबुद्धौ हर्षे वा त्वया भवता तूर्णं शीघ्रं उपहारीकृतं उपायनीकृतं प्रदत्तमिदं तापीनगरं तापीनदीतटे स्थितं बुरहानपुरं आदद्य प्रथमं मङ्गलविधिं मङ्गलक्रियां रचयितुं कर्तुं वाञ्छति । त्वयोपायनीकृतेन बुरहानपुरेण स स्वजययात्रायाः प्रथमां मङ्गलक्रियां कर्तुमिच्छति ।

104 अथेति । अथ त्रिजगति त्रैलोक्ये सुसारं सारयुक्तं भवतः सेवाधर्मं पूर्वकृतसेवाकर्तव्यं स्मारं स्मारं पौनःपुन्येन स्मृत्वा किमपि तव हितकृत् कल्याणकरं वचनमिति भावः आख्यामि कथयामि, यदयं खुरंमो ध्रुवं निश्चितमेव इह दिल्लीभर्ता दिल्लीसम्राट् भविष्णुः भवनशीलः 'भुवश्च' इति सूत्रेण भूधातोरिष्णुच्-भवतेर्धातोश्छन्दसि विषये ताच्छील्यादिषु इष्णुच् प्रत्ययो भवतीति काशिका । अतो हेतोर्नयविदो नीतिज्ञस्य भवतस्तवायं जातुचिदपि किञ्चिन्मात्रमपि अद्धा साक्षात् विरोध्यो विरोधयोग्यो नैव भवति ।

105 शुभोदर्कमिति । अस्माद्धेतोः शुभाय मङ्गलमयाय उदर्काय भविष्यत्कालिकफलाय त्वरितमस्मै खुर्रमाय इह नगरं बुरहानपुरं उपदीकृत्य उपहृत्य त्वं दिल्लीग्रहणस्य विषये कार्ये निमित्तं कारणभूतं साधनं भवेः । अहो इति सम्बुद्धौ, बत इति हर्षे, प्राणैः पणैः पणभूतैर्जीवनैरपि क्रेये क्रेतुं योग्ये, विधितो दैवात् स्वयमुपनम्रे स्वयमेवोपस्थिते त्रिलोक्यां जङ्घाले अतिवेगवति सुयशसि सुकीर्तौ को विलम्बेत, न कोऽपि विलम्बं कुर्यादिति भावः । यद्यशो वीरैः प्राणपणैरपि क्रेयम् तत्तु दैवात् त्वां स्वयमेव प्राप्तम्, अतो हेतोर्भवता खुर्रमस्य साहाय्यं विधाय सुयश उपार्जयितव्यमिति ।

106 इतीति । इति इत्थं पूर्वोक्तप्रकारं श्रीरत्नाग्रे श्रीरावरत्नस्य पुरतः रहसि एकान्ते बहुतमामतिशयेन बह्वीं नयस्य नीतेर्विनयस्य च रीतिं परिपाटीं निरूप्य वर्णयित्वा वाग्मिनि प्रशस्तवाचि 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः तस्मिन् भटे सैनिके गौडान्वये गोपाले विरते तूष्णीम्भूते सति, स नृपतिर्भूपती रावरत्नो निजस्य विमलो निष्कलङ्को यो वंशः तस्य प्रणयिनं सहचरं क्षात्रं धर्मं क्षत्रियकर्तव्यं स्मरन् धिषणां बृहस्पतिं बुद्धया मत्या लघूकुर्वन् सन्, अलघुं लघुं करोतीति च्विस्तस्मात् शत्रन्तपदम्, तं गोपालं अवदत् जगाद । प्रतीपालङ्कारः ।

107 नवेति । नवः प्रत्यग्रो योऽम्भोदो मेघस्तस्य स्निग्धं मन्द्रं स्वरं यथा स्यात्तथा सदसि सभायां वदतो निगदतः, तस्य नृपते रत्नस्य स्मितेन उन्मीलाद्विकसत् यत्कुन्दं माघ्यपुष्पं तत्प्रतिमाः सदृशा ये रदाः दन्तास्तेषां वृन्दं समूहं तस्य छवीनां कान्तीनां ततिः पंक्तिः कर्त्री उदयमानामुद्गच्छन्तीं उदेष्यतः भविष्यत्काले प्रकटीभविष्यतः, सन्दृप्यतः दर्पयुक्तस्य खुरमस्य मदस्य विध्वंसेन विलसत् शोभमानं यद्यशः तदेव चन्द्रस्तस्य ज्योत्स्नायाश्चन्द्रिकायाः श्रियं शोभामुदवहत् धारयति स्म । पूर्वार्धे उपमा, द्वितीयार्धे च निदर्शना, तयोः संसृष्टिः ।

108 अहो इति । अहो इति सम्बुद्धौ, सख्यात् सौहृदात् यत् समयविहितं समयानुकूलं सुष्ठुः आयतिरुत्तरकालो यस्य तद्वच आख्यान् कथयन् सन् मे मम अमून् स्वीयान् स्वजनान् कथं वाऽतिशेते अतिवर्तते, बत इति हर्षे (अतिशेतेऽद्य न कथमिति पाठे कथं नातिशेते अपितु अतिशेते एव) । किन्तु

सुरत्राणस्य सुलतानजहाँगीरस्य स्नेहैः प्रेमभिः तैलादिस्निग्धपदार्थैश्च उपदिग्धा अभ्यक्ता ममैषा हृत्पट्टी हृदयमेव लेखाधारकाष्ठपट्टिका भवत उपदेशाक्षरमुपदेशवचनमपि न बिभृते न धारयति । तैलादिस्निग्धा पट्टिका अक्षरादिलेखं धारयितुं समर्था न भवति । रूपकम् ।

109 विवर्णीयामिति । यदि त्वं बिवर्णीयां पामराणां इमां नीचसम्बद्धां 'विवर्णः पामरो नीच' इत्यमरः, मैत्रीं कार्यैकिकफलां शरीरलाभमात्रयुक्तां, यद्वा कार्यैकिकफलां कार्यमात्रसिद्धिभूतां वदसि, तदा अयं दोषस्ते दृगतिथिः दृग्गोचरः कथं नाभवत्, अहो इति खेदे सम्बुद्धौ वा । यद्वा अहं शङ्के तर्कयामि नवाया यवनस्य संसदि सभायां निवसतितः निवासात्, पञ्चम्यास्तसिल्, भवान् चिरपरिचितं वंशप्राप्तं क्षात्रं धर्मं कर्तव्य विस्मृतं इव । 'ब'-प्रतौ शुद्धः शोभनश्च पाठः प्राप्यते— त्वया क्षात्रो धर्मः चिरपरिचितो विस्मृत इव' इति ।

110 पटुरिति । वाचो युक्तौ योजने 'पटुश्चतुररुचं अमुं खुर्रमं परभटान् विजेतारं जयशील' न लोकाव्ययेति षष्ठीनिषेधः, समिति रणे घोरं करालं गुरुसारं महाबलं असकृद् वारं वारं अवोचः अकथयः, तममुं पुरा दिल्लीभर्तुं पुरतः सपदि विद्रुतं पलायितं दृष्ट्वा विलोक्य तव तद्वचः कथमिव श्रुतीयामः श्रुतिमिव प्रमाणीकुर्मः विश्वासयोग्यं कुर्मः, 'उपमानादाचारे' इति क्यच् । तव एतद्वचनं प्रमाणायोग्यमेव ।

111 अथेति । अथ यदि तस्य खुर्रमस्य सैन्यस्य वाहिन्या ओघः समूहस्ते प्रलयस्य जलधिः समुद्रो मतः, तदा त्वं मां तस्य पाने निपुणं कुशलं अगस्त्यं कुम्भजमुनिं गणय मन्यस्व । अथामुं खुर्रमं अच्छाः कुशलाः प्रबला ये रिपवस्ते एव कान्ताराः वनानि तेषां दहनं अग्निरूपं वेद जानासि मन्यसे, तदा किमहं विशिखानां बाणानां विषं गरलं तदेव जलं तस्य वर्षी वर्षणशीलो नवघनः नवाम्भोदो न स्याम् न भवेयम्, अपितु भवेयमेव । रूपकम्, श्लेषश्च ।

112 मृधेति । मृधं युद्धं तस्मै तस्मिन् वा प्रोद्यन्ती प्रोद्गच्छन्ती या कण्डूः खर्जुस्तया विकटा ये परे शत्रवः तेषां ये काण्डीराः बाणवन्तः (धनुर्धराः) सैनिकाः, काण्डनाले तरुस्कन्धे बाणे' इति विश्वः, काण्डात् ईरन् प्रत्ययः, तेषां निधने मारणे विषये प्रचण्डे विकराले, विजयलक्ष्म्याः प्रतिभुवि लग्नके

मम दोर्दण्डे परं केवलं जाग्रति सति, एतस्य खुरुमस्य पितरि जहाँगीरे च जाग्रति जीवति सति, दिल्लीं खुरुँमस्य वशगां वदन् व्योम्नः आकाशस्य कुसुमं पुष्पमपि सुलभं मन्यस्व गणय । यथा खपुष्पं अवास्तविकं सत् सुलभं नैव तथैव खुरुंमस्य दिल्लीलाभोऽपि नास्ति सुलभः ।

113 हरिप्रस्थमिति । हन्तेति अनास्थायां असौ तव पतिः प्रभौ स्वामिनि रता अनुकूला अनुरक्ता ये भवादृशा भटाः सैनिकास्तेषां बलात् हेतोः प्रबोधे जागरे स्वप्ने वा हरिप्रस्थं इन्द्रप्रस्थं दिल्लीपुरं लभतां प्राप्नोतु, किन्तु मत् मम उरू महान्तौ यौ भुजौ बाहू तयोस्तेजः पराक्रमः तदेवाग्निः स एव वरणः प्राकारः कोट्टं यस्य तदेतत् ब्राध्नं पुरं आगरानगरं ग्रहीतारं वशयितारं वीरं या जनयति स भटसूः वीरजननी जगति संसारे का वा न कापि विद्यत इति काकुः । बत इति वितर्के । वरणः प्राकारः 'सुवुरुवृत्रो युच्' इत्युणादिसूत्रेण युच्, 'युवोरनाकौ' इति सूत्रेण योरन् ।

114 अथेति । खुर्रमस्य साहाय्यसम्पादनेन भवतो यशो भविष्यति इति यद् गोपालेन पूर्वमुक्तं तदेवोत्तरयति रावरत्नः । अथ एतस्य खुर्रमस्य दिल्ली-सद्ग्रहणे सुनिमित्तेन कारणभूतेन ब्रध्नपुरदानेन अर्जितं यशः त्वं यशोवित्तं कीर्तिधनं वेत्ता विन्दन् सन् सुबहु अत्यधिकं बहु मन्यते चेत्, बत इति खेदे, तदा पूर्वैः मत्पूर्वजैः क्षुण्णां प्रचलितां भटसीमां वीरमर्यादां विजहतो त्यक्तवतो मम तु अद्य स्थेष्ठा अतिशयेन स्थिरा, 'अतिशये इष्ठनि प्रियस्थिरेत्यादिना स्थादेशः, अकीर्तिरपयशः कथं नापवदतां न बाधताम्.' अपाद्वद इत्यात्मनेपददम् ।

115 कदाचिदिति । कदाचित् भयवशात् भयेन सलिलनिधिः समुद्रो गाम्भीर्यं गहनतामुज्झेत् त्यजेत्, कुलक्ष्माभृतां कुलपर्वतानां वर्गः समूहश्च स्वगुरुतामौन्नत्यं सपदि विजह्यात् यजेत्, शेषोऽहीशोऽशेषां समग्रां धरणीं पृथिवीं अपि त्यजेत्, किन्तु परं अस्थिपस्य अस्थिपालस्य राज्ञः कुलं वंशः स्वां निजां क्षात्रीं सीमां क्षत्रियमर्यादां कथमपि कदाचिदपि न त्यजति न जहातीति त्वं प्रतीहि जानीहि ।

116 अथ इति । अतो ब्रूमः वयं कथयामः यदसौ प्रवरः श्रेष्ठः खुरुमः स्वधाम्ना स्वतेजसा स्वबलेन तरसा वेगेन निजकुलजां स्ववंशजां कीर्तिं तद्रूपिणी दिल्लीं

सुखं सुखेन ग्रह्नाय झटिति गृह्णन्तु स्वायत्तीकरोतु। अथ तदनन्तरं स्वीयं तदोजः तेजः तेन विजितं स्वायत्तीकृतं यत् पित्र्यासनं जनकस्य सिंहासनं राज्यं तत् युनक्ति इति युक् तस्मै स्वायत्तीकृतपितृराज्याय अस्मै खुरमाय अयं वीर अहमित्यर्थः नियतं निश्चितमेव ब्रध्ननगरं प्रदाता प्रदास्यामि, दाधातो-र्लुटि रूपम् ।

117 इतीति । इति इत्थं श्रीमतो भोजस्य प्रवरः श्रेष्ठः तनुजः पुत्रो मान्यः मान-नीयः राजन्यानां क्षत्रियाणां व्रतं तदेव निगमो वेद तस्य पारीणं पारगामि-चरितं व्यवहारो यस्य सः रत्ननृपती रावरत्नः, निजस्य उदेष्यन्ती प्रकटी-भविष्यन्ती या कीर्तिः सैव श्रुतिः मन्त्रः तस्यां विलसन् य ओङ्कारः तन्निभया तत्सदृशया गिरो दिविषदां देवानामाद्यं प्रथमं सूर्यं कुलगुरुं चक्रे। उपमा, रूपकञ्च ।

118 अथेति । अथ प्रवरतरेण श्रेष्ठेन रत्नक्षितिभुजा कृतातिथ्यः कृतं विहित-मातिथ्यं यस्य सः, परमत्यधिकं तथ्यं यथार्थं क्षात्र चरित अभिहित-कथितोऽसौ गोपरत्नः सवैलक्ष्यं वैलक्ष्येण लज्जया खेदेन वा यथा स्यात्तथा, स्वहृदि निजचेतसि पतिकामं खुरमाभिलाषं विसुफलं असफलं पश्यन् खुरमस्य पुरतोऽग्रे श्रेष्ठं तदादिष्टं रावरत्नकथितं वचनमचष्ट अकथयत् ।

119 रह इति । अथ रह एकान्ते तदुदितं तेन गोपालेन उदितं कथितं तूर्णं शीघ्रं कर्णाभ्यर्णं कर्णसमीपं विदधत् शृण्वन् विवर्णो म्लानकान्ति मन्दरगिरेः मन्दर-पर्वतस्य परमत्यधिकं दृढं मन्थात् मन्थनाद्धेतोः क्षुभ्यन् कम्पमानः अर्णोनिधिः समुद्र इव जगतां अकाण्डे अनवसरे प्रलयकृत् नाशनः, विकटा ये भटाः सैनिका-स्तेषां पुष्टो वर्धितः स्फीतः उद्भटः भयंकरः यो मदो गर्वः यस्य सः, एतादृ-शोऽसौ खुरमः क्रुधा रोषेण युद्धाय अर्थात् रावरत्नेन समं युद्धं विधातुं अगात् जगाम । उपमा ।

120 विचिक्रंसोरिति । लोकैर्जनैः, विशेषेण क्रमितुं आक्रमितुं इच्छोः विचिक्रंसो अस्य क्रूरप्रकृतेः क्रूरस्वभावस्य खुरमस्य विकटे भीषणे संख्ये संग्रामे असंख्ये अपरिमिते बलजलनिधौ सैन्यसमुद्रे चित्ररुचयः नानाकान्तयः अन्तः मध्ये स्फूर्जन् विलसन् विषमतरः अतिशयेन विषमः य और्वदहनो वाडवाग्निस्तस्य

ज्वलन्त्यो या ज्वालाः शिखास्तत्तुल्याः तत्सदृशाः ध्वजाः केतवः सपदि ददृशिरे अवलोकिताः । उपमा ।

121 पुरस्कृत्येति । अथ उत्सको असौ खुरुमः अशेषान् सर्वान् दहननाडि अग्नि-नलिकां बन्दूकेति प्रसिद्धमस्त्रनलिकां धमन्ति सशब्दां कुर्वन्तीति दहननाडि-धमास्तान् भटान् सैनिकान् पुरस्कृत्य अग्रे विधाय, पश्चात् गजानीकं हस्ति-सैन्यं तदनु धन्विनिकरान् धनुर्धरसमूहान् गमयन् प्रेरयन् एतत्पृष्ठे महमदत-कीयाकुतमुखान् एन्नामकम्लेच्छसेनानीप्रमुखान् वीरान् विवेश्य सस्थाप्य स्वयं मध्ये तिष्ठन् सन् बलव्यूहं सैन्यव्यूहव्यवस्थां व्यतनुत विदधे । नाडिधम इत्यत्र 'नाडीमुष्टयोश्च' इति खश् । पाघ्राध्मस्थेति सूत्रेण धमादेशः; नाडीशब्दस्य ह्रस्वत्वं इति दिक् ।

122 अरीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण पृतनां चमूं व्यूह्य सज्जीकृत्य अरेः शत्रोः यो व्यूहः तस्य अरोहं अतद्व्यावृत्ति अभावं वा तितनिषुः विधित्सुः असह्य असहनीयं ओजस्तेजो यस्य सः, स खुरुमः सपदि पुरवरं बुरहानपुरं प्रगृह्य बलात् जिघृक्षुः गृहीतुमिच्छुः समरसे रणरसे पद यस्याः तया समराभिलाष-युक्तया सहस्राणां भटानां वीराणां षष्ट्या षष्टिसहस्रैः भटैः सुविकटोऽत्यधिक-भीषणः सतः शोभनस्य तापीपुरस्य ताप्तीनद्यास्तटे स्थितस्य बुरहानपुरस्य परिसरे समीपे अदीप्यततमाम् अतिशयेन राजते स्म ।

123 परमिति । अथ समरस्य रणस्य यो रसोऽभिलाषः स एव काम्यः यमितु योग्यः, यस्य त खुरुमं परमत्यधिकं वाम्य वामे भवं विरुद्धं कृत्वा, तं सुसन्नद्धं युद्धाय सज्जीभूतं शृण्वन् तरणिकुलस्य सूर्यवंशस्य रत्नं रत्नवदलङ्कारभूतः स रत्ननृपतिः रणमखे रण एव मखो यज्ञस्तस्मिन् उच्चैरतिशयेन प्रत्यर्थिनां रिपूणां यः प्रलयो नाशः तदेव फलं तितांसुः विस्तारयितुमिच्छुः भटा वीरा एव ऋत्विजः यज्ञकर्तारो ब्राह्मणाः तैः सार्धं सुदीक्षां शोभनां यजमानदीक्षां समबिभः संभर्ति स्म अधारयत् । सम्पूर्वकभृधातोः सामान्यभूते लुङि-अबिभृ+त् इति स्थिते गुणीभावे अबिभर्+त् इत्यत्र रपरत्वे हल्ङ्यादिलोपे रेफस्य विसर्गभावः । परम्परितरूपकम् ।

124 अयमिति । बलवतां बलशालिनां बलीयान् अतिबलशाली अयं रावरत्नः अभिषेणयन् शत्रुं प्रति सेनया सह गच्छन्, परैः शत्रुभिः सह मृधे युद्धे स्वयं

तनं : गात्रस्य गुप्त्यै रक्षायै वर्म कवचं न परिदधे न परिदधाति स्म । खलु निश्चयेन पादपूर्तौ वा । यत् यतो हेतोः जगतां लोकानां त्रितयं लोकत्रयं इति तस्य रक्षणे क्षमौ समर्थौ भुजौ बाहू येषां तेषां अस्थिपालान्वये अस्थिपालवंशे उद्भुवां जातानां हाडावंश्यानां क्षत्रियाणां अतिदृढ वीरव्रतमेव हि निश्चयेन कवचं वर्मास्ति । काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

अभिपूर्वकसेनाशब्दात् अभिषेणम्-इति नामधातोः पूर्वः समुपसर्ग-योजनात् समभिषेणम् इति धातोः शत्रन्तरूपम् । अभिपूर्वकसेना शब्दात् णिच् ल्युट् चेति अभिषेणनम् अस्मात् शब्दात् नामधातुरूपं अभिषेणयति । सेनया सह करणभूतया वा विजिगीषोः शत्रोराभिमुख्येन गमनं अभिषेणनं सम्यक् अभिषेणन समभिषेणनम् । 'यत्सेनयाऽभिगमनमरौ तदभिषेणनम्" इत्यमरः । इतः प्रभृति द्वात्रिंशदधिकैकशततमपद्यं यावत् पृथ्वीछन्दः । 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति लक्षणात् ।

125 विपक्षेति । विपक्षस्य शत्रोः यत्कुलं तस्य संक्षयं नाशं तितनिषो विस्तार-यितुमिच्छो, रणं युद्धं संग्रामभूमिं विविक्षोः प्रवेष्टुमिच्छो अस्य रावरत्नस्य पुरः अग्रे स्ववंशागतं स्ववंशेन कुलक्रमेण आगतं प्राप्तं, गजे सेनामुखे स्थिते हस्तिनि स्थितं सुशोभनं यद् वैजयन्तकं ध्वजः, "वैजयन्तो गृहे ध्वजः" इति हैमः, तत्र धृतं स्थितं चिह्नरूपं सुदर्शनं शोभनदर्शनमपि, द्विषां शत्रूणां परम-त्यधिकं भीमं करालं दर्शनं यस्य तत्, विजयि विजयशालि चारु सुन्दरं चक्रं राजचिह्नभूतं चक्रं, पक्षे विष्णोः सुदर्शनचक्रमिव अतिशयेन रराज । सुदर्शन-मपि भीमदर्शनमिति विरोधः, सुदर्शनमिति श्लेषः । विरोध श्लेषोपमानां संकरः । छन्दसो द्वितीयचरणे यतिभङ्गदोषः ।

126 वरिष्ठतरेति । वरिष्ठतरं अतिशयेन वरं यद्विष्टपत्रयं लोकत्रयं तत्र गरिष्ठा गुरुतरा या कीर्तिः तस्यै तत्फलप्राप्त्यर्थं, कराला या करबालिका तरवारिः सैव भगवती दुर्गा तां, यद्वा कराला करवालिका खड्गो यस्यास्तां खड्ग-धारिणीं भगवतीं कालिकां मुदा प्रसन्नमनसा, परं अत्यधिकं परेषां शत्रूणां कुलं वंशस्तस्या असृजा शोणितेन तितृप्सोः तर्पयितुमिच्छोस्तस्य राज्ञः उद्धराः महती समुच्छ्रिता पीता पिशङ्गवर्णा पताकिका वैजयन्ती, बलि पूजोपहार स्तस्य सुदीपिकेव सपदि पुरोऽग्रे व्यराजत शुशुभे उपमा, अनुप्रासश्च ।

127 अनूनेति । अनूनोऽत्यधिको निजो स्वीयो यो विक्रमः पराक्रमः स एव उद्धतः प्रबलस्तनूनपाद् वह्निस्तस्यार्चिषा ज्वालया विपक्षाणां शत्रूणां कुलं वंशस्तदेव कक्षकस्तृणं, कक्ष एव कक्षकः स्वार्थे कन्, तं दिधक्षुः दग्धुमिच्छुः सुविष्टपे जगति विशिष्टाः प्रमुखा ये सद्भटाः वीरशिरोमणयस्तेषां किरीटानां रत्नं अलङ्कारभूतो मान्य इति भावः, स रत्नः परं समरस्य कौतुकं यस्यास्तीति समरकौतुकी सपृतनः पृतनया सेनया सहितः जवाद् वेगेन स्वयं प्रतस्थे प्रातिष्ठत । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । रूपकम्, अनुप्रासश्च ।

128 जनेति । जनानां लोकानां असवः प्राणाः एव धनानि तद्वा असवः धनानि च तेषां तस्करं लुण्टकं यत्प्रधनं युद्धं तस्मै यो दर्पः गर्वस्स एव हालाहलो विषं येषां ते द्विषन्तः शत्रवस्तेषां भुजा बाहव एव भुजङ्गमास्सर्पास्तेषां प्रशमे नाशे तार्क्ष्यस्य गरुडस्य ध्वनिर्नाद इव ध्वनिर्यस्य सः, यद्वा जनासुधनतस्कराः प्रधनदर्पहालाहलाश्चैते द्विषद्भुजभुजङ्गमास्तेषां प्रशमे तार्क्ष्यध्वनिः, तस्य नृपस्य रावरत्नस्य वरः श्रेष्ठो दुन्दुभी रणवाद्यं सपदि क्षमायाः पृथिव्याः वलयः मण्डलं तस्य संक्षये नाशे क्षुभितः संचलितः सिन्धुः समुद्रस्तस्य शब्द इव शब्दस्तेन उद्धुरं गम्भीरं यथा स्यात् तथा साधु अध्वनीत् ध्वनति स्म । रूपकम्, उपमा च तयोः संसृष्टिः ।

129 असीमेति । असीमः सीमारहितो यः समरो रणस्तेन उल्लसन् रभसो वेगो येषान्तैस्ता दभिरश्वारोहैः सम्प्रेरणेन नोदनेन प्रधावन्त उरवो महान्तो ये सन्धवाः सिन्धुदेशोद्भवास्तुरगास्तेषामुद्धुरैस्तीक्ष्णैः खुरैरुद्धता उत्थापिता धूनयो रेणवः, बहला घना या वैरिणां रिपूणां वंशाः कुलानि ते एव वंशा वेणवृक्षास्तेषामटवीमरण्यानीं धक्ष्यतो दग्धां करिष्यतः नृपस्य प्रतापस्तेज एव शिखी वह्निस्तस्य प्रपिशुनाः प्रकर्षेण सूचकाः सुधूमा इव बभुः शुशुभिरे । रूपकम्, श्लेषः, उपमा च तेषां सङ्करः ।

130 अथेति । अहो इत्याश्चर्ये, परे शत्रवो ये भूभृतो राजानः पर्वताश्च तान् अनु. प्रवरो यः शस्त्रधाराणां, पक्षे शस्त्राणां धारेव धारा वर्षाधारा, तासां भरं परमत्यधिकं विकिरिषौ प्रक्षेप्तुमिच्छौ, महति विशाले तस्य राज्ञो बल सैन्यं तस्यौघः समूह एवाम्बुदो मेघ इव तस्मिन् नृपे सति, भटैः खुरमसैनिकैः

अकाण्डेऽनवसरेऽपि रिपूणां नाशं कुर्वन्तीति नाशकृतः (क्विप्) विकटा भीषणाः कोटयोऽग्रभागा यासां ताः शक्तयः शस्त्रविशेषास्तासां द्युतीनां कांतीनां छटा उद्भटा विकराला तडिद्विद्युदिव दूरात् प्रददृशे दृष्टा । श्लेषानुप्राणितरूपकोपमयोः सङ्करः ।

131 घटोद्भव इति । युधि उद्भटः प्रबलो भटो योद्धा स नृपः घटोद्भवोऽगस्त्य इव जयस्य यो रसोऽभिलाषः पक्षे जलं, तस्यातितृष्णा महती पिपासा यथा स्यात्तथेति तृष्णमिति अव्ययीभावपदम्, रोषाञ्जलौ रोषस्य रोष एव वाञ्जलिः करतलपुटं तस्मिन्नरिवारिधिं शत्रुसागरं विधित्सुः कर्तुमिच्छुः जगतः संसारस्य तद्रूपो यो विघसो भुक्तावशेषस्तस्य घस्मरो भक्षकः; 'सृघस्यदः क्मरच्' इति घस्-धातोः क्मरच्; प्रलयकालस्य कालानलः कालो मृत्युरेव वह्निस्तद्वत् प्रचण्डौ भुजौ तयोर्विक्रमो यस्य स नृपः समरस्य युद्धस्य सीम्नि सीमायां रेजेतमामतिशयेन राजते स्म । रूपकोपमयोः सङ्करः ।

132 अथेति । अथ समराङ्गणे युद्धभूमौ परभटैः शत्रुसैनिकैः चिक्रीडिषोः क्रीडितुमिच्छोरस्य नृपस्य प्रचण्डा भीषणा ये परिपन्थिनः शत्रवस्तेषां सन् यः कर्णेजपां सूचिकां दृशं दृष्टिं कर्म; द्वेषणा शत्रवस्तेषां व्रजः समूहस्तत्सम्बन्धिनो द्वेषणव्रजीयाः या हरिणीदृशो मृगनयना रमण्यस्तासां शत्रुनारीणामधरराग च्छटा सौभाग्यसूचकाधररागकान्तिः कर्त्री दरवशाद् भटादिव सपदि शिश्रिये अश्रयवती । उत्प्रेक्षा, पर्यायोक्तिश्चालङ्कारद्वयम् । अनेन युद्धे भर्तृनिधनेन शत्रुनारीणां वैधव्यदशाऽपि सूचिता ।

133 संस्फोटेति । संस्फोटेन लाङ्गूलोत्क्षेपेण स्फायमानस्याभिवर्धमानस्य स्फुरतो देदीप्यमानस्यातिरभस्य वेगस्य औत्कण्ठ्यं यस्य चासौ कण्ठीरवः सिंहस्तस्य य उच्चोध्वानः शब्दस्तस्य व्याजात् मिषात् रवन्तौ गर्जन्तौ, प्रविततौ विस्तारितौ विलसन्तौ शोभमानौ चित्रौ अद्भुतशोभौ यौ कोदण्डौ धनुषी इन्द्रधनुषी च ताभ्यां चण्डौ दुर्दर्शौ शम्पाया विद्युतः सम्पातः पतनं तद्वत् भीमो भीषणो यः प्रहरणानां शस्त्राणां निकरः समूहः तस्य ज्वालाजालेन शिखासमूहेन उज्जटालौ अतिशयतेजस्विनौ, प्रलयजलधरौ प्रलयकालभवौ मेघौ तद्रूपिणौ श्रीरत्नो दिल्लीशपुत्र खुर्रमश्च मिथः संजग्माते संगतौ बभूवतुः । समो गमृच्छिभ्यामित्यात्मनेपदम्, यथा माघे-संजग्माते तावपाया-

नपक्षौ सेनाम्भोधी धीरनादौ रयेण' (१८.१) इति। रूपकम्। स्रग्धरावृत्तम्, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति लक्षणात्।

134 संख्येति। संग्रामरंगस्य मध्ये इति मध्येसंग्रामरंगं, 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति अव्ययीभावपदम्, क्रूरो यो मार्तण्डस्तद्वत् चण्डेन युद्धेन संख्याऽसंख्यातोऽगणितो यो रोषस्तेन प्रबलं यद् बलयुग्मं सैन्यद्वयं तस्य प्रौढोऽभिवृद्धो दीप्यन् जाज्वल्यमानो यः प्रतापः तस्मिन्, पाठान्तरे दीप्तो दीप्तियुक्तो यः प्रतापः तस्मिन् वा परितः सर्वतः पतयति सति, धीरधीरं अतिगंभीरं ध्वनन्त्यो नादं कुर्वन्त्यः, कल्पान्ते प्रलयकाले व्यात्तः विततो यः कालानलः प्रलयकालिकवह्निः, पाठान्तरे व्यात्तं विततं यत् कालस्य यमराजस्याननं मुखमिव (व्यात्तकालाननिभेति पाठस्वीकारे) तन्निभास्तत्सदृश्यो नलिका 'स्तोप' इति प्रसिद्धानि गोलकक्षेपणयन्त्राणि युद्धे संग्रामे विदग्धान् कुशलान् वीरान्, व्यञ्जनया विशेषेण दग्धान् दग्धुं रविदृषदः सूर्यकान्तशिला इवोच्चैरतिशयेन अग्निं प्रावमन् वमन्ति स्म। उपमाद्वयस्य संकरः।

135 दोर्दण्डेति। दोर्दण्डयो दोष्णोर्यौ दण्डौ तयोर्या कण्डूः रणेच्छाजन्यखर्जुस्तया विकटाः कराला ये भटा वीरास्तेषां घटा घटना समूहस्तस्य गाढो यः संघट्ट परस्परसमर्दस्तेन निर्यत् निर्गच्छत् निर्मर्याद निःसीमं यदार्यवीर्यं श्रेष्ठशौर्यं तदेव ज्वलन् अनलो वह्निस्तस्य लसन्तः सन्तो ये स्फुलिंगा अग्निकणास्तैः प्रचण्डा भीषणाः, कल्पान्ते प्रलयसमये उच्चंडोऽतिकोपनो यः चंड्याः पार्वत्याः परिवृढः पतिर्हरः तस्य कुटिलं वक्रीभूतं प्रौढं च यत् लालाटं ललाटसंबंधि चक्षुः तृतीयनेत्रं तस्य स्फोटः स्फुटनमुन्मीलनं तद्वत् स्फीता अभिवृद्धा नालिकाभ्यस्तोपयन्त्रेभ्य उत्था उत्थिता हुताशा वह्नयो महति बलयुगे सैन्यद्वये विरेजुः शुशुभिरे। पूर्वार्धे रूपकम्, उत्तरार्धे उपमाः, तयोः संसृष्टिः। अनुप्रासश्च।

136 सारासारैरिति। अथ नालिकायन्त्रजो तोपयन्त्रसमुत्पन्नो जातवेदा अग्निः, अभिकाः कामुक्यः याः सुरवध्वोऽप्सरसस्ताभ्यः कान्तानां प्रेयसां समरनिहतभटानां यो मेलः संयोगस्तस्य कारैः रचयितृभिः, अयस्कान्तो लोहकान्तः-चुम्बकेति प्रसिद्धः प्रस्तरस्तद्वत् परेषां शत्रूणां गर्वलोहं गर्वो दर्पः स एव लोहोऽयोधातुस्तमिवाकर्षद्भिः स्वसम्मुखमपहरद्भिः, द्यावाभूमी द्यौश्च-

भूमिश्चेति द्यावाभूमी रोदसी 'दिवो द्यावा' इति सूत्रेण द्यावादेशः, स्तृणद्भिराच्छादयद्भिः; स्तृ आच्छादने धातोः शत्रन्तरूपम्; विमताः शत्रवो ये भटा वीरास्तेषां वधूनां पत्नीनां यो वर्गः समूहः तस्मै या वैधव्यदीक्षा तस्या या शिक्षा अध्यापनं तस्या आचार्यैरुपाध्यायैः शत्रुनारीवैधव्यप्रदैरिति भावः, शराणां बाणानां धारासारैर्धारावर्षैः सह क्षणं व्यरंसीत् विरमति स्म। 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम्। उपमा पर्यायोक्तिश्च।

137 ओंकार इति। अथ रणश्रुते रणरूपाया श्रुतेः वेदमन्त्रस्य ओंकारः प्रथमोच्चार प्रणवरूपो त्रैलोक्यस्य यः कल्पान्तो नाशः तत्संबंधी घनरवः प्रलयकालिकमेघध्वनिः, प्रत्यर्थिनो रिपवो ये क्षितिपाला राजानस्तेषां कालनस्य नाशस्य या कला कौशलं तस्य सन्नाट्ये नाटकाभिनये नान्दीध्वनिः आदौ सूत्रधारपठनीयमङ्गलश्लोकः आयास्यन् आगमिष्यन् यो जयरूपी कुंजरेन्द्रो गजश्रेष्ठस्तस्य प्रविलसन्ती या घण्टा तस्याः प्रचण्डो भीषणः स्वनो नादः; तत् तस्य रावरत्नस्य रणे युद्धे कार्मं कर्मशीलं कुशलं यत् कार्मुकं धनुः तस्मात् भव उत्पन्नः, 'कार्मं कर्मशीलं अस्य, छत्रादित्वात् णः, कार्मस्ताच्छील्ये' इति सूत्रेण निपातनात् टिलोपः', टंकारष्टंकार उच्चैस्तमामतिशयेन रेजे राजते स्म। मालारूपकम्। शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।

138 तूर्णमिति। तूर्णं शीघ्रं कर्णान्तं कर्णपर्यन्त कृष्टा उद्धृटा रटन्ती शब्दायमाना अटनिः प्रत्यचा यस्य सः प्रौढः कोदण्डो धनुस्तेन तस्माद्वा मुक्तैः क्षिप्तैः श्रीरत्नीयैः रावरत्नसबंधिभि पृषत्कैर्बाणैः सुंबद्धा आहताः, खरतरोऽतिकरालो य खुरमस्तस्योद्दण्डः उदायुधा योधाः भटाः, खण्डीभूताभ्यः खण्डिताभ्योऽगयष्टिभ्यः स्रवत् गलद् यत् असृक् शोणित, सत् यत् दिव्यं दिवि भवं स्त्रैणं स्त्रीसमूहोऽप्सरसां वर्ग तस्य पाणिग्रहणे उद्वहने विवाहविधौ कान्तश्चासौ काश्मीरस्य कुंकुमस्य लेपस्तमिव, अगे गात्रेषु, जातौ एकवचनम्, दधुः धारयन्ति स्म। उत्प्रेक्षालङ्कारोऽनुप्रासश्च।

139 गर्जन्तीति। आजौ संग्रामेऽञ्जसाऽनायासेन पटुतरा ये पटहा वाद्यविशेषा ढक्कादयस्त एव उद्दामा गम्भीरा मेघा गर्जन्ति स्म, रविकुलजस्य सूर्यवंशोद्भवस्य रावरत्नस्य धनुः प्रकर्षात् दर्पेण क्रूरा कराला नाराचाणां धाराः बाणवर्षा वर्षति स्म, एषा भूमिः परे ये भटाः शत्रुयोद्धारस्तेषां वपुषां गात्राणां गात्रेभ्यो

वा क्षरद्भिर्निःसरद्भी रक्तैः शोणितैः सिक्ता, दिव्यानां स्वर्गे भवानां कामुकीनां मैथुनेच्छावतीनामप्सरसां मनसिजसुलताः कामेच्छावल्ल्यः चित्रं यथा स्यात् तथा सांकुरा प्ररोहयुक्ताा आसन् । यद्वा मेघा इव वादयविशेषा गर्जन्ति स्म, किन्तु धारावर्ष तु रत्नधनुषा विधीयते स्म; संग्रामभूमिश्शोणितेन सिक्ता बभूव, किन्तु मनसिजवल्लीनामङ्कुराः अप्सरसां चेतःसु प्ररोहन्ति स्मेति चित्रमाश्चर्यं वर्तत इति शेषः । असंगतिरलंकारः, "कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः" इति लक्षणात् ।

140 युद्धक्रीडेति । अत्र संग्रामभूमौ दुष्टानां संत्रासहेतौ भयकारणे, मध्याह्ने द्योतमानो देदीप्यमानो यो द्युमणिः सूर्यस्तद्वत् वरा रुचिः कान्तिर्यस्य तस्मिन् मध्याह्नसूर्यवत् प्रकाशशीले अस्मिन् राज्ञि रावरत्ने तिष्ठति सत्यपि, तस्य राज्ञः इषुर्बाण स एव महांश्चासौ षिड्गको विटः कामी पुरुषः युद्धरूपायां सुरतक्रीडायां तदर्थं वा वृषस्यन्ती कामुकी, वृषं शुक्लं नरमिच्छति मैथुनायेति वृषस्यन्ती; वृषमिच्छतीत्यर्थे क्यच्, अश्वक्षीरेति सुगागमश्च; "लक्ष्मणं सा वृषस्यन्ती महोक्षं गौरिवागमत्" इति भट्टिकाव्ये (४.३०) । तादृशी चटुला चञ्चला या भटघटारूपा नायिका तस्याः कण्ठपीठानि कंठस्थलानि गृह्णन् बलादालिंगन्, निर्मन्दमत्यधिकं यथा स्यात्तथा माद्यन्ती मदशीला या द्विपानां गजानां ततिः पङ्क्तिः सैव युवतिस्तरुणी तस्याः सत्कुचौ कुचद्वयरूपिणौ उच्चकुम्भान् परिपुष्टकपोलान् मृन्दन् मर्दयन् सन् उच्चैरक्रीडत् निर्भयं केलिं चकार । परम्परितरूपकम् । षिङ्गः पल्लविको विटः' इत्यमरः । द्रष्टव्यं माघे —

"पन्थानमाशु विजहीहि पुरः स्तनौ ते
पश्यन् प्रतिद्विरदकुम्भविशङ्कि चेताः ।
स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति
षिड्गैरगद्यत ससम्भ्रममेव काचित् ।" (५.३४) इति ।

141 संस्फूर्जदिति । संस्फूर्जत् जाज्वल्यमानं यत् शाहजस्य खुर्रमस्य अंहः पापं पितृविद्रोहरूपिकर्म तस्य प्रवरा या जयार्थं रुट् तया रुषा स्पर्धावन्धादिव ईर्ष्याहठादिक रिरंसो रन्तुमिच्छोरस्य राज्ञः प्रस्फुरन्तः बाणरूपाः कम्राः कामुकाः, 'नमिकम्पीति रः', केलीच्छावन्तो नायकाः, वर्या श्रेष्ठाः यद्वा वरितुं योग्या ये वामाः शत्रवस्त एव वामाः रमण्यः तेषां (तासाञ्च) अवलीनां पंक्तीनां कण्ठपालीं कण्ठदेशं अतिदृढं सोत्कण्ठं औत्सुक्यसहितं

जगृहुरालिंगितवन्तः, बिम्बोष्ठं संचुचुम्बुः चुम्बन्ति स्म, प्रियमिव गदितुं चाटूनि कथयितुं कर्णपालीं कर्णान्तं च जग्मुः गतवन्तः। 'वाम-वामा' इति सभङ्गश्लेषः, जतुकाष्ठन्यायेन 'वामावलीना'मिति पदप्रयोगात्। स्पर्धा बन्धादिव, 'प्रियमिव गदितुं' इत्यत्र उत्प्रेक्षाद्वयम्। 'बाणवामा' इति विषयरूपेषु बाणेषु कामुकरूप-विषयिण आरोपाद्रूपकम्। अतः श्लेषोत्प्रेक्षा-रूपकाणां संकरः।

142 पार्थस्येति। अरिकुलजलधेः अरीणां शत्रूणां यत् कुलं वंशस्तदेव जलधि-स्तस्यान्तः मध्ये और्वायमाणैरौर्वो वाडवाग्निस्तद्वत् आचरणशीलैः, और्व इवाचरतीति और्वायते इति क्यङन्ताच्छानच् लुप्तोपमा; पार्थस्यार्जुनस्येव अनपार्थैरमोघैः क्रूरैः करालैः श्रीरत्नस्य बाणैः प्राणतो जीवनेभ्यः विप्रयुक्ताः वियुक्ताः, मदकलाः मदिष्णवः करिणो गजाः दम्भोलिना इन्द्रेण प्राक् झटिति विदीर्णा भिन्ना ये क्षितिधराः पर्वतास्तेषां शिखराणि तेषां व्रातस्य समूहस्य पातः पतनं यथा स्यात्तथेति, पतन्तः एकीभवन्तः एकत्रिताः मलिनाः कृष्ण-वर्णाः खौरुमाः खुरमसम्बन्धिनो मूर्ताः। मूर्तिमन्तः कीर्तिशैलाः बभुः शुशुभिरे। 'खौरुमाकीर्तिशैलाः' इति पाठस्वीकारे मूर्तिमन्तः खौरुमा अकीर्तिशैला इव बभुः, गजानां कृष्णवर्णत्वात् अकीर्तिसाम्यं विवक्षितम्। अस्माभिः स्वीकृत-पाठानुसारं तु खुरमस्य पराजयेन कीर्तिः पतिता नष्टा चेति सूच्यते। उपमा-चतुष्टयम्, मूर्ता इवेति उत्प्रेक्षा; कीर्तय एव शैला इत्यत्र रूपकम्, तेषां सङ्करः।

143 वर्षतीति। हा हन्तेति खेदे। अथ अस्य राज्ञश्चापे धनुषि उच्चैरतिशयेन चिरेण प्रवरतराः श्रेष्ठा ये पृषत्का बाणाः पक्षे पृषन्ति एव पृषत्कानि बिन्दवो वर्षाबिन्दवः, यद्वा प्रवरतराणि पृषन्ति येषां तानि कानि जलानि, तेषां उत्करान् समूहान् वर्षति सति, किंच पुनश्च प्रत्यर्थिनां रिपूणां सार्थे समूहे सन्ततं निरन्तरं जीवनानां प्राणानां जलानाञ्च ओघान् संघान् विकिरति विक्षिपति सति, पुनश्च विद्वेषिणां शत्रूणां यत् स्त्रैणं स्त्रीसमूहः तस्य नेत्रे चक्षुषि (जातौ एकवचनम्) बहुशोऽतिशयेन सान्द्रान् घनान् वाष्पोदपूरान् वाष्पमेवोदकं जलं तस्य अश्रुजलस्य पूरान् ओघान् स्रवति वर्षति सति, उदक-शब्दस्य समासान्ते उदादेशः, अरीणां शत्रूणां वनिता रमण्यस्तासां पत्रवल्ल्यः

पत्ररचनास्ता एव वल्ल्यो लतास्तासां समूहाः कथं अशुष्यन् शुष्यन्ति स्म । वल्ल्यो वर्षणाभावे एव शुष्यन्ति, न तु वर्षणे; अत्र तु वैरिवनितापत्रवल्ल्यः सत्यपि पृषत्कधारावर्षणे शुष्यंति स्मेति विशेषोक्तिः, सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः' । श्लेषद्वयम्, रूपकं च विशेषोक्तेरङ्गमिति अंगांगिभावसंकरः ।

144 जिह्वालेति । तत्र संग्रामे श्रीरत्नबाणैः कर्तृभिः पितॄन् पातीति पितृपो यमस्तस्य जनपदो देशः हृष्टं राष्ट्रं यस्मिन् सः, आनन्दितलोको व्यधायि कृतः, शत्रुनिधनेन यमलोक आनन्दितो बभूवेति भावः । कथम्भूतैर्बाणैः, जिह्वालेति, जिह्वालं लेलिह्यमानजिह्वायुक्तं (लक्षणया) यत् ज्वालजालं ज्वाला समूहो येषां तानि प्रहरणानि अस्त्रशस्त्राणि तैः कुटिलाः क्रूरा उच्चण्डा भयंकरा ये काण्डपृष्ठाः शस्त्रजीवाः सैनिकास्तेषां प्रोदचन्तौ यौ दोर्दण्डौ तयोर्या कण्डूः खर्जूः तस्या निकषणार्थं घर्षणार्थं ये ग्रावाणो निकषप्रस्तराः तद्रूपिभिः, पुनः कथम्भूतैः संगरे रणे उग्रैः करालैः, खरतरस्तीक्ष्णस्वभावो यः खुरुमः तस्य प्रेङ्खन्ती खेलन्ती, युद्धचन्तीत्यर्थः, योत्संख्याऽसंख्या सेना चमूस्तस्या कण्ठग्राहे कण्ठग्रहणकर्मणि प्रचण्डैः भीषणैः । रूपकमनुप्रासश्च ।

145 इत्थमिति । इत्थं पूर्वोक्तप्रकारं अरिः शत्रुस्तस्य यद्बलं सैन्यं तदेव जलधिः समुद्रस्तं मथनन्तं क्षोभयन्तं वीरं तमुर्वीपतिं राजानं रत्नं दृष्ट्वा रोषस्य क्रोधस्य यः प्रकर्षस्तस्माद्धेतोः खरः क्रूरो यः खुरुमस्तस्य या चमूः सेना तस्याः सन्तः काण्डपृष्ठाः शस्त्राजीवाः सैनिकाः स्वाम्यर्थे खुरुमस्यार्थे प्राणं जीवन तृणमिवाजौ रणे जहतः संत्यजन्तोऽजस्रं निरन्तरमोजायमाना ओजस्विवदाचरन्तः, तेन धीरेण राज्ञा सह खड्गाखड्गि, खड्गैः खड्गैः प्रहृत्येति अव्ययीभावसमासः, युयुधिरे युध्यन्ति स्म । रूपकम् ।

146 शस्त्रेति । अथ शस्त्राणामायुधानां ज्वालाजटाभिः त्रिभुवन तदेव भवनं गृहं दग्धुकामान् दग्धुमिच्छून्, 'तुं काममनसोरपि' इति अनुस्वारलोपः, अरीन् रिपून दृष्ट्वा विलोक्य युद्धे युद्धाय वा अतिधृष्टः अतिशयेन प्रगल्भः, क्रोधेन रोषेण संक्रूरा कठोरा दृष्टिर्यस्य सः, धरणेः पृथिव्याः परिवृढो भर्ता रत्ननृपतिः, स्वां निजां कालीं श्यामवर्णां धौरयं उद्दामं च यद् धाराजलं तेन विल्सन् योऽसिः खड्गस्तरवारिः स एव प्रौढा घना कादम्बिनी मेघमालां तां,

विमतानां शत्रूणां या ततिः पङ्क्तिः समूहस्तस्याः कल्पान्तो नाशः तस्य कालीं, यद्वा कल्पस्य सृष्टेरन्तको यमस्तस्य आलीं सखीं कालीं कालिकां इव तूर्णं शीघ्रं आविश्चकार कोषान्निःसारयामास। रूपकोपमयोः 'संसृष्टिः, कालीं कल्पान्तकालीं' इति यमकं च।

147 धीरेति। धीरं गहनं यद् ध्वान्तमन्धन्तमस्तेन प्रचण्डा भीषणा, त्रिभुवनस्य भयकृत् त्रासोत्पादिनी शत्रूणां रिपूणां सवर्तरात्रिः प्रलयकालिकरात्रिरूपिणी; कोषः खङ्गपिधानं स एव वल्मीकं तस्य मध्यात् सपदि तत्कालमेव समुदिता निःसृता व्यालीढानि दष्टानि मर्माणि यया सा व्याली सर्पिणी तद्रूपा, एकीभूता एकत्रिता या अरिनार्यः शत्रुरमण्यस्तासां दृशो नेत्राणि त्रासतो भयात् जहती त्यजन्ती कज्जलाली कज्जलपंक्तिरूपा, युद्धनिहत-शत्रुनारीनेत्राणि वं व्यकारणात् त्यजन्ती सौभाग्यचिह्नसूचकांजनरेखा इति भावः; तस्य राज्ञस्तेजोग्नेः प्रतापवह्नेः धूमधारा धूमशिखारूपिणी, तस्य राज्ञः कृपाणी तरवारिः इह रणभुवि संग्रामभूमौ शुशुभे रराज। मालारूपकम्, 'व्याली व्यालीढ' इति यमकञ्च।

148 उर्वीति। वैरिणां शत्रूणां सन्दोहो समूहस्तस्य मोहे मूर्च्छायां उर्व्यां पृथिव्यां ये वीराः शूराः अस्थिपालस्यान्वये वंशे भवा जाता विजयिनो ये प्रौढा भूपाला राजानस्तेषां मालापंक्तिस्तस्याः प्रोन्मीलन्ती विकसन्ती या क्रोधहलाहलस्य रोषरूपिविषस्य बहला निबिडा लतावल्लीरूपिणी, वीराणां श्रेणीनां शूरसमूहानां वुवूर्षवो वरितुमिच्छवः प्रवरा या सुरवध्वोऽप्सरसः तासां वृन्देन मुक्ताऽरिकंठे शत्रुकण्ठेषु लग्ना नीलोत्पलानामिन्दीवराणां स्रक् मालेव, तस्य राज्ञः कृपाणी तरवारिः युधि रणे बभौ शुशुभे। रूपकोपमयोः संसृष्टिः।

149 विद्विदिति। विद्विषां शत्रूणां लोकः समूहस्तस्याशनाय भोजनाय नाशायेत्यर्थः, क्षुभितानां कम्पितानां आघूर्णितानां तरलानां चंचलानां क्रूराणां निर्दयानां काल्याः भगवत्याः कालिकायाः कटाक्षाणां वक्रदृशां श्रेणी ततिस्तया राज्ञः कृपाण्या रणभुवि संग्रामभूमौ भिन्नाः खण्डीकृताः, खुरुमस्यानीकं सैन्यं तत्संबंधिनो मातंगसंवा गजसमूहाः, कुम्भस्थलीषु गण्डस्थलीषु बालश्चासौ सूर्यः प्राभातिको रविस्तस्य अंशवः किरणास्तद्वत् शोणामरुणां, प्रबलं यथा स्यात्तथा गलत् क्षरत् असकृत् मुहुर्मुहुर्यदसृक् रक्तं तदेव सान्द्रं घनं सिन्दूरं

हिंगुलं तस्य पूरः समूहस्तस्य व्यालेपो विशेषेण आलेपनं तस्य उद्दामा प्रौढाया लक्ष्मीः कान्तिस्तां अचिरात् झगिति अबिभरुः धारयामासुः। निदर्शनालंकारः।

150 संग्रामेति। अहह इति आश्चर्ये। दिल्ल्याः क्ष्मापालो दिल्लीशो जहाँगीरः स एव पद्माकरः कमलवनं तस्य वरेण श्रेष्ठेन सुहृदा मित्रेण सुभूम्ना अतिमहत्त्वशालिना, संग्राम एव अनन्तं व्योम तत्र नृत्यन्तः प्रखरतरा अतितीक्ष्णाः ये कराः किरणाः (नृपपक्षे नृत्यन्तौ प्रखरतरौ यौ करौ भुजौ) तेषां तयोश्च यत्प्रौढ धाम तेजस्तेन करणेन अतिमानं यथा स्यात्तथा अत्यधिकं दीप्यमाने जाज्वल्यमाने अमुष्मिन् सूरे शूरे राज्ञि, पक्षे सूर्ये सति, कालरात्र्या मृत्युरूपिण्या निशया संमूढं मूर्च्छितं तत् महत् विशालं सकलं खुरुमस्येदं खुरुमीयं सैन्यं जवाद् वेगेन सुदीर्घां महतीं मृत्युरूपिणीं। निद्रां कथं प्राप प्राप्नोति स्म। श्लेषानुप्राणितपरम्परित रूपकम्, विरोधश्च विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' इति काव्यप्रकाशोक्तलक्षणात्।

151 संग्रामेति। संग्राम एवान्तः पुरं तस्यान्तर्मध्ये निजस्य राज्ञो रावरत्नस्य करः कमलमिव तदालम्बत इति आलम्बिनी रोलम्बमाला भ्रमरपंक्तिस्तस्या विभ्रान्तिं भ्रान्तिं सन्दिशन्तीं ददतीं, विलसन्ती शोभमाना याऽसिलता खङ्गवल्ली तां नायिकाभूतां स्वपाणौ कुर्वतो धारयतः उद्वहतोऽस्य क्षोणीभर्तुर्नृपतेरग्रे पुरो रणस्य रसेन युद्धाभिलाषेण विलसन् यो गाढो घनो रागः प्रेमा यस्याः साऽपि विद्वेषिणां शत्रूणां सेना चमूस्तद्रूपिणी प्रतिनायिका परममत्यधिकं अवमताऽनादृता सती अतएव दूना खिन्ना तूर्णं झटिति पराची पराङ्मुखी आसीदिति चित्रमाश्चर्यम्। एकदेशविवर्तिरूपकमलङ्कारः। मम्मटमते एकादृक्स्थलेषु रूपकमेव स्वीकर्तव्यम्, न तु समासोक्तिः। तुलनीयम्—

"जस्स रणन्तउरए करे कुणंतस्स मण्डलग्गलअम। रससंमुही वि-सहसा परम्मुही होइरिउसेणा।" इति एतदुदाहरणप्रसंगे प्रदीपकृतो गोविन्दठक्कुराः—

"रणेऽन्तःपुरत्वमारोप्यं शाब्दम्। मण्डलाग्रलताया नायिकात्वं रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वं चारोप्यं न शाब्दम्। किन्तु अन्तःपुरत्वारोप-

सामर्थ्यादेवावसीयते । अन्यथा तस्यापर्यवसानात् । अत एकदेशे विशेषण वर्तनादेकदेशविवर्ति" इति । तद्व्याख्याने उदद्योते नागोजिभट्टाः—

"यद्यपि लिङ्गविशेषात् करग्रहणरससम्मुखत्वादेर्नायिकाधर्मत्वेन प्रसिद्धत्वाच्छिलष्टत्वाच्च समासोक्तिविधयैव नायिकात्वावगतिर्वक्तुं शक्या, तथाप्यन्तःपुरत्वारोऽपि तत्र तन्त्रमित्याशयः" इति ।

152 इत्थमिति । इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण श्रीरामराजस्य प्रखरतरोऽतितीक्ष्णो लसन् शोभमानो यो मण्डलाग्रः खड्गः स एव प्रचण्डा भयकराऽतिकोपना व्याली सर्पिणी तया व्यालीढं सन्दष्टं सैन्यं यस्य सः, प्राणानां जीवनस्य सन्त्राणे रक्षणे गृध्नुर्लुब्धः खुरुमो बहु वितताः प्रसारिता ये मिथः परस्परं हस्तास्तेषां तालः करतलध्वनिर्येषां तैः हसद्भिः पौरैः नगरवासिभिर्जनैः सुधीरः धैर्यशाली विपरीतलक्षणयाऽधीरः उच्चैराक्रुश्यमानः निन्द्यमानः क्षणमपि समरे रणभूमौ नैव तस्थौ न तिष्ठति स्म, पलायित इति भावः । रूपकम् ।

153 एतस्मिन्निति । अहो इत्याश्चर्ये, हन्तेति खेदे । एतस्मिन्नन्तरे अत्रान्तरे रत्नराजं स्वेन पत्या स्वामिना खुरुमेणाभियुक्तं युद्धाय संलग्नं निपुणं सनिश्चयं यथा स्यात्तथा विज्ञाय ज्ञात्वा स्वाम्यर्थं त्यक्तजीवैस्त्यक्तप्राणैः कपटपटुतरैः कपटेऽतिकुशलैः खौरुमैः खुरुमसंबंधिभिः सुमहमदतकीमुख्यैः निःसीमैरसंख्यैः योधैः मार्दं मृदा निर्मितं वप्रं प्राकारं द्रुतमिव शीघ्रमिव निर्भिद्य सद्यो झगिति शून्यस्य तापीपुरस्य बुरहानपुरस्य मध्ये विविशे प्रविष्टम् ।

154 खौरुमा इति । विवरदृशः छिद्रान्वेषिणः सारमेयाः कुक्कुरा इव विशन्तः तापीपुरे प्रविशन्तः, आत्मने श्लाघमानाः आत्मानं धन्यं मन्यमानाः, "श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" इति चतुर्थी, मुदिताः प्रसन्नाः खौरुमा खुरुमसम्बंधिनो भटौघाः सैनिकसमूहाः चतुष्कापणं नगरस्य चतुष्के स्थितं हट्टं वश्यं कृत्वा हस्तगतं विधाय, पत्ये स्वामिने खुरुमाय निजविजयं व्याख्यातुकामा गदितुकामा इव इत्युत्प्रेक्षा, भेरीणां यो भांकारस्तेन घोरो यो ध्वनिः पटूनां पटहानामभ्रंलिहो यो नादश्च तौ एव दूतस्तं चरं उच्चैः प्रेषयामासुः, तापीपुरविजयं रणवाद्यघोषेण शंसितवन्तः ।

155 श्रुत्वेति । तापीपुरस्येदं तापीपुरीय यद् ग्रहणं स्वायत्तीकरणं तेन मुदितानां तेषां खुरुमभटानां दुन्दुभिध्वानं दुन्दुभिशब्दमुच्चैः श्रुत्वाऽऽकर्ण्य कोपस्य क्रोध

स्याटोपेन दर्पेण प्रचण्डं भीषणमुत्कटं विषमं कुटिल वक्रं नटत् कम्पमानं यद् भ्रूद्वय भ्रुवोर्युगलं तेनादभ्रमत्यधिक भीमो दुर्दर्शः वन्द्यो मान्यश्चासौ वृदावतीशो बुन्दीनृपती रावरत्नो निजभुजमहसा निजभुजयोरतेजसाऽरिसेनां शत्रचमूं द्राग् झटिति विद्राव्य पलायनपरां कृत्वा दर्पेण गर्वेणाध्यायमानः स्फायमानोऽभिवर्धमानः संगराय युद्धाय नगरं बुरहानपुरं अनुव्यसेधीत् अयासीत् यद्वा नगरं प्रति सेना प्रवेष्टुमालापितवान्। वि-पूर्वक-स्वादि-सिध्-धातोर्लुङि रूपम्, सिध् शास्त्रे माङ्गल्ये च। नात्र सिध् ससिद्धौ इति दिवादेर्धातो रूपम्, तत्र तु लुङि असिधत् इति रूपस्य सिद्धेः।

156 कृत्वेति। असौ नृपाणामग्र्योऽग्रेसरः परेषां रिपूणां बलस्य सैन्यस्य दलनं नाशकं ज्ञानबन्धुं तन्नामानं गजेन्द्र स्वं करिणं अग्रे कृत्वा, परेषां शत्रूणां कर्णपालीं गर्जन्त्यो या ढक्कास्तासां विरावैर्ध्वनैः सपदि बधिरयन् बधिरीकुर्वन्, कल्पान्ते प्रलयकाले व्यात्त विवृतं यत् कालस्य यमस्याननं मुख तस्य या रसना जिह्वा तद्वत् तीक्ष्णा या निस्त्रिंशयष्टिः खड्गयष्टिस्तया स्फूर्जन् देदीप्यमानो यो दोर्दण्डस्तेन प्रचण्डो भीषणः पुनरपि रिपुभिः संप्रहारे युद्धे विजह्रे विहरति स्म। वि पूवक-हृधातोर्लिटि आत्मनेपदि रूपम्। उपमा।

157 शत्रुव्रातीयेति। रणस्य युद्धस्य यो रसोऽभिलाषस्तस्य रभसो वेगस्तस्माद्-धेतोरक्रमं क्रमरहित यथा स्यात्तथा युद्धचमानै शत्रूणां व्रातः समूहस्तत्सब धिभिर्योधभटैः सार्धं स्पर्धिष्णु स्पर्धमानः, रोषेण रौद्रौ भीषणौ अक्ष्णोर्नेत्रयोः कोणौ प्रान्तभागौ यस्य स, संगरः संग्राम एव आखेटो मृगया तत्र चण्डः प्रचण्डः। दुर्दर्शः एव उर्वीवलयस्य पृथ्वीमण्डलस्य परिवृढः स्वामी रावरत्न उच्चैरतिशयेन श्येनस्य अतिपातं वेगेनाक्रमणार्थं नभसः पतनं यथा स्यात् तथा, प्रसभं बलात् अभिपतन् आक्रामन् विलसन्ती शोभमानाऽसिलता तरवारिर्यस्य सः शक्तीशक्ति शक्त्या शक्त्या (शक्तिभिः शक्तिभिर्वा) प्रहृत्येति समासः, प्रसभमत्यधिकं क्रूरं भीषणं यथास्यात्तथाऽक्रीडत् क्रीडति स्म।

158 बाणैरिति। प्राणानां जीवनानामन्तकारैर्नाशकैर्बाणैः शरैः शतैरसिभिः खड्गैरपि मर्मभेदे मर्मणां छेदे भेदने शक्ताभिः समर्थाभिः शक्तिभिः शस्त्रविशेषैः भल्लैः, दुर्विगाहे दुःखेन गाढुं शक्ये दुष्प्रवेश्ये महति परबले शत्रुसैन्ये योद्धुं युद्धं विधातुमस्मिन् नृपेऽभ्युद्यते सति आधोरणेन निषादिना नुन्नः

प्रेरितोऽस्य राज्ञो ज्ञानबन्धुनामा प्रमुखो गजः, निर्मदं यथा स्यात्तथा अर्थादत्यधिकं स्यन्दमानः स्रवन् यो मदो दानजलं तस्य परिमलेन सुगन्धिना अन्ता विद्वेषिणां रिपूणां नागा हस्तिनो यथा स्यात्तथा परेषां शत्रूणां बलस्य सैन्यस्य दलनं मर्दनं चक्रे विदधे ।

159 दर्पादिति । दर्पादन्धोऽन्धो भवतीत्यर्थम विष्णुः इति विष्णुवत्, दन्तद्वयेन परेषां शत्रूणां भटानां योधानां विलसन्ती या वाहिनी सेना सैव वाहिनी नदी तस्याः कूलस्य तटस्य कषं कषणं (वप्रक्रीडयेति भावः) कुर्वन् विदधत्, प्रविकटा भीषणा या करटयोः कपोलयोरुद्दण्डाऽतिशया कण्डूः खर्जूस्तया प्रचण्डो दुर्दर्श, प्रसभं यथा स्यात्तथा बलादरीणां या वध्वः पत्न्यस्तासां यः सार्थः समूहस्तस्य सौभाग्यमेव वल्ली लता तां शुण्डादण्डेन मूलादुन्मूलयन्नुत्खातयन् तद्गजेन्द्रः तस्य रत्ननृपते हस्तिवरो ज्ञानबन्धुः वने इव संगरे संग्रामे विहरन् सन् रेजे शुशुभे । श्लेष-रूपकोपमानां संकरः ।

160 इत्थमिति । इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण विलसन् शोभमानोऽरीणां शत्रूणां वधूनां पत्नीनां यो वर्गः तस्मै या वैधव्यस्य सौभाग्यनाशस्य दीक्षा शिक्षा तस्या हेतोर्यद्वा तया हेतुना संजाता समुत्पन्ना याऽकीर्ति तस्या लेपादिवेत्युत्प्रेक्षा, मलिना कृष्णवर्णा तनुः शरीरं यस्य तं, कालो मृत्युः तद्वत् उत्करालमतिभीषणं तद्वारणेन्द्रं तस्य राज्ञा गजप्रवरं वीक्ष्य दृष्ट्वा नितान्तमत्यधिकं तान्ताः क्लान्ताः, ताम्यतेक्तः, सुमहमदतकीमुख्याः खौरमा योधाः प्राणानां त्राणाय रक्षणार्थं शीघ्रं वप्रं नगरप्राकारं विविशुः प्राविशन्, द्वारि चण्डं भीषणं दृढं कपाटञ्चापिदधुः पिहितवन्तः ।

161 क्रूरेति । क्रूरया क्रव्यस्यापक्वमांसस्याशनायया बुभुक्षया ज्वलन् उदरदर्या उदरगुहाया यो दारुणो भीषण उद्दामो महाँश्च यो वह्निर्जठराग्निः भव्यादनुकूलात् दैवात् अयत्नात् सुचिरमुपनतं प्राप्तं यावनं यवनसंबंधि भोजनं प्राप्य लब्ध्वा, आनन्देन हर्षेणामन्दं यथा स्यात्तथा सन्दानितं संयतं हनुयुगलं येनेदृक् कालो यमः किं नु इति सन्देहे, त्रस्ता भीता ये एतस्य राज्ञः शत्रवस्तेषां गोत्रं कुलं तेन द्रुतं पिहितं अनावृत मुखं यस्य स शालः प्राकारः शशाले चचाल चकम्पे । शल् चलने इति भ्वादेर्धातोरात्मनेपदि लिटि रूपम् । वितर्कालङ्कारः, सन्देहो वा ।

162 भास्वतीति । अथ भास्वति कान्तिमति अस्मिन् पक्षेऽस्मिन् भास्वति सूर्ये निकटं समीपं प्रयाते सति, निर्वाणकाले प्रौढा महती याऽर्चिर्दीप्तिर्येषां ते प्रौढार्चिष्काः, समासान्ते कः, प्रदीपा दीपा इव अचिरात्पुनरोजायमानाः ओजस्विन् इवाचरन्तः, ओजायते इति क्यङ् तस्माच्छानच् तेऽरिभटाः रिपुयोद्धारो ज्वालयाऽग्निशिखया करालान् भीषणान् वप्रस्य प्राकारस्याग्रे उत्तुगानि उच्चानि यानि वातायनानि गवाक्षास्तेषां विवरेषु छिद्रेषु लसन्ति यानि नालिकायन्त्राणि बन्दूकास्त्राणि तेभ्यो निर्यन्तो निर्गच्छन्तो ये गोला अयोगोलकास्तान् शरान् बाणान् दारुणान् तीक्ष्णानश्मसंघान् प्रस्तरसमूहाँश्चापि ववृषुः वर्षन्ति स्म । उपमा ।

163 कल्पान्तेति । कल्पान्ते प्रलयकाले क्रूरा निर्दया ये सूराः सूर्याः पक्षे क्रूराः ये सूराः शूरवीरा स्वपक्षीयभटाः तेषामुत्करः समूहस्तस्य कुटिला वक्राश्च ये करा हस्ताः किरणाश्च तेषामुद्दामेन धाम्ना तेजसा करणेन, प्रत्यर्थिनां रिपूणां पक्षं क्षिप्रं शीघ्रमेव दिधक्षुः दग्धुमिच्छुरेषः क्षितिपतिर्भूपतिरचिरात् कपाटं दुर्गद्वारं दर वा प्रज्वाल्य भयवशतः सत्वरं न्यस्तान्युज्झितानि शस्त्राणि यैस्तान् महमदतकीसहितान् खौरुमान् खुरुमसंबंधिनो योधमुख्यान् सैनिकप्रमुखान् निःसंख्यान् दाक्षिणात्यान् खुरुमसहायकानपि जीवग्राहं जीवस्य जीवितस्य ग्राहो ग्रहणं यथा स्यात्तथेति समूलाकृतेत्यादिना णमुल् न्यगृह्णात् निगृह्णाति स्म, बन्दीचकार ।

164 निन्दन्त इति । अथ मिथः परस्परं स्वपतिं खुरुमं अमन्दमत्यधिकं निन्दन्तः, अमंदं यत् मन्दाक्षं लज्जा तेन रूक्षा प्रेक्षा दर्शनं येषां ते, न्यञ्चन्ति नम्रीभूतानि शिरांसि मस्तकानि येषां ते, स्वेषां विलसत् यदयशः अकीर्तिः तदेव कालिमा कार्ष्ण्यं तं कालिमानं शिरसि कृष्णकेशव्याजेन वहन्तस्ते खुरुमीया सैनिकाः, उद्धत्तं अत्यधिकं कृत्तानि छिन्नानि यानि गात्राणि तेभ्यः क्षरत् गलत् असकृद् वारं वारं यदसृक् रक्तं तदेव सान्द्रं घनं सिन्दूरं हिंगुलं तेन लिप्ताश्चर्चिताः मूर्ता मूर्तिमन्तो जयेभा जयगजा इव रेजुः शुशुभिरे । रूपकोत्प्रेक्षयोरंगांगिभावसंकरः ।

165 प्रचण्डेति । प्रचण्डं यद् ब्रह्माण्डस्य स्फुटनं स्फोटः तदर्थं घटमाना एकत्रीभवन्ती याऽम्बुदघटा प्रलयकालिकमेघसमूहः तस्या यः सुधीरमतिगभीरं

यथा स्यात्तथा उदयन्नाविर्भवन् यो ध्वानो गर्जनं तस्य प्रतिभटः समानधर्मा तत्सदृशो रटन् शब्दं कुर्वन् यो दुन्दुभीनां रणवाद्यानां गणः समूहो यस्य स इति बहुव्रीहिपदम्, एतादृशः स नृपती रावरत्नोऽथ शत्रुध्वंसानन्तरं गेहान् स्वनिवास प्रति समगात् संजगाम। उपमा। शिखरिणी छन्दः, लक्षणं प्रागुक्तम्।

166 उच्छलदिति। व्रजन् निवासं प्रति युद्धात् परावर्तमानो रावरत्नः उच्छलत् छिन्नदेहानां गजाश्वपदातीनां गात्रेभ्यो वेगेन निःसरत् यत् क्षतजं शोणित तस्य च्छटा तया विकटोऽतिमदयुक्त आसवो मद्यविशेषः, शोणितासव, तस्योत्कट अत्यधिकं यत् पानं तेन शौण्डा मत्ताश्चण्डा भीषणाः कोपना ये पिशाचकास्तेषां स्फुरन्नुद्भटो विकटो योऽट्टसुहासको महद्धास्यं यस्मिन् तत्, निजस्य तेजसः प्रतापस्य व्यञ्जकं सूचकं, हरस्य भगवतस्त्रिलोचनस्य यन्नर्तन ताण्डव तस्य आरम्भः तस्य सम्भ्रम आवेगस्तस्य विभ्रमो विलासो विभ्रान्तिश्च यस्मिन् तत्, समरस्य युद्धस्याजिरं प्राङ्गणं क्षण ऐक्षत दृष्टवान्। हरनर्तन छन्द। अत्र वसुशरशरयतियुता रसजजभरगणानां योजनाऽस्ति। रूपकम्, भ्रान्तिमाँश्च तयोः सकर, मुद्रालङ्कारोऽपि।

167 धारावर्षमिति। अथ धारावर्षं धारासारं वर्षन्तो ये वर्षासमयस्य प्रावृट्कालस्य घना मेघास्तेषां घनं बहलं च यत् जल तदेव मदो यस्यास्तया, विकट यथा स्यात्तथा तटयुगलस्य कूलद्वयस्य कर्षणे घर्षणे निपुणया कुशलया, उच्चैरतिशयेन मत्ताक्रीड मत्तानामुन्मदानामाक्रीडा खेलनं यथा स्यात्तथेति तद्वत् वा क्रीडनया, उपमाने कर्मणि चेति णमुल्, तादृश्या नद्या आरुद्धं अवरुद्धं भीतं त्रस्तं खुरमं सकलजनानां शरणे रक्षके भुजौ यस्य सः, जिष्णुर्जयशीलः श्रीमान् रत्नः, त्वरिततरा शीघ्रतराः बहुतराः बहुसंख्यका तरय नावस्तासां वितरणैः साहाय्यार्थं दानैः अगौप्सीत् ररक्ष, गुप्-धातो-र्लुङि रूपम्। मत्ताक्रीडं छन्दः। "मत्ताक्रीडं मौ त्नौ नौ नल्गिति भवति वसुशरदशयतियुतम्।" उपमालङ्कारः।

रत्न-खुरमयोर्युद्धं बुरहानपुरे चत्वारिंशदधिकैकसहस्रमिते हिजरीवर्षे (११४० हि०) इलाहीमासे तदनुसारं अशीत्यधिकषोडशशततमे वैक्रमाब्दे भाद्रे मासि बभूव। तत्र पराजितः खुरमः स्वसेनया सह बुरहानपुरे संरुद्धः।

जयशीलोऽपि रावरत्नो भीतं तं नौकासाहाय्यप्रदानेनोपकृतवान् इति मुगलेतिहासग्रन्थेषु विशेषतो द्रष्टव्यम् ।

168 श्रीमानिति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण दिल्लीपालस्य मुगलपातशाहस्य जहाँगीरस्यातपत्रं शासनसूचकं छत्रं रक्षन्, रिपोः खुरुमस्य यो जयस्तेन लसत् यत् स्त्र यशस्तदेव छत्रं उच्चैर्बिभ्रत् धारयन् स श्रीमान् शोभायुक्तो रत्नः स्वभुजयोर्दोष्णोः महसा तेजसा ब्रध्नसंज्ञं तन्नामकं पुरं संगोपायन् रक्षन् पुनरपि विजयानन्तरं आत्मनो ये वंश्या वंशोद्भवा हाडा-कुलजा राजानस्तेषां प्रतिष्ठां प्रतिष्ठारूपां वंद्यां प्रशंस्यां बुन्दीं पुरीं ययौ । रूपकम् । मन्दाक्रान्ता छन्दः ।

169 दिवमिति । चकत्तकुलोद्भवे चकत्तानां चुगताई-मुगलानां यत्कुलं वंशस्तत्रोद्भवो जन्म यस्य तस्मिन् दिल्लीनाथे दिल्लीपतौ जहाँगीरे दिवं स्वर्गमुपगते प्राप्ते मृते सति, स रावरत्नः सुरजननृपात् प्रभृति निजस्य सख्यकं मित्रतां उच्चैरतिशयेन स्मरन्, शरणागतं स्वरिपुं पूर्वं निजशत्रुं तं खुरुमं दिल्लीपतिमकरोत् । एतदेव सामान्येन समर्थयति कविः—साधवो नत्या शरणागतस्य नम्रीभावेन नमनेन क्रोधं रोषं त्यजन्ति जहति, हि इति निश्चयेन । अर्थान्तरन्यासः । हरिणी छन्दः, 'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति लक्षणात् ।

रावरत्नो जहाँगीरनिधनान्तरं सिंहासनार्थे खुरुमपरवेजयोः संघर्षे खुरुमस्यैव पक्षं गृहीत्वा राज्यप्राप्तौ तस्य साहाय्यं व्यधात् ।

170 श्रीरत्नेति । भूयसो महतः श्रीरत्नक्षितिपालस्य रत्ननृपस्य यन्निर्मलं निष्कलंकं यशस्तदेव क्षीराम्बुधिर्दुग्धसमुद्रस्तस्मात् अयं भव्यः खुरुमोऽमलः सुधांशुश्चन्द्रः समुज्जृम्भितः उद्भूत इत्यहं मन्ये, यस्मात् यतो हेतोर्यथा यथा स खुरुमचन्द्रोऽनन्ताङ्गणे गगनप्राङ्गणे स्वेन धाम्ना समुदयं आरोहन् उदयं प्राप्नुवन् तस्य रत्नयशोम्बुधेः मेदांसि लक्षणा ऐश्वर्यादि तथा तथा उच्चकैरतिशयेनोपचिनुते वर्द्धयति । रूपकोत्प्रेक्षयोः संकरः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ।

171 तौरुष्कमिति । विषमं कठोरं तौरुष्कं तुरुष्कसंबंधि व्रतं गोवधरूपं व्यवहारं म्लेच्छकर्म प्रथयतो विस्तारयतस्ततस्तस्मात् खुरुमात् गवां धेनूनां समूहं रक्षित्वा गोरक्षां विधाय स्वयशसा स्वकीर्त्या दिक्चक्रं दिङ्मण्डलं उद्भासयन् प्रकाशयन् स रावरत्नो निजं स्वकीयं भूयिष्ठं धरणीभरं महद्राज्यभारं

शत्रुशल्याभिधे नप्तरि पौत्रे कृत्वा नीलनीरदनिधं नीलमेघसदृशं अभिरामं सुन्दरं धाम श्रीकृष्णं ययौ मोक्षं प्रापेत्यर्थः । उपमा ।

172 योऽन्तर्वाणीति । अमुष्य सुकवे बिश्वनाथस्य सत्काव्ये शत्रुशल्यचरिते श्रीरत्नराजः स्तुतः कविनेति भावः । इति शम् ।

॥ इति श्रीशत्रुशल्यचरितविद्योतिन्यामेकादशः सर्गः ॥

॥ द्वादशः सर्गः ॥

1 श्रीमद्रत्नेति । श्रीमतो रत्नक्षितिपालस्य रावरत्ननृपस्य नप्ता पौत्रः । अथ तथा च गोपीनाथात् तन्नाम्नः पितुर्लब्धोऽवतारो येन स प्राप्तजन्मा सुत इत्यर्थ । सम्प्रति अधुना लोके जगति उच्चैरत्यधिकं प्रथितः प्रसिद्ध मुख्य-प्रमुखो वीरो वीराग्रणीः शत्रुशल्यो जयतात् । सर्वोत्कर्षेण वर्तताम् । वातोर्मी छन्दः । "वातोर्मी यं गदिताम्भौ तगौगः" इति लक्षणात् ।

2 दुर्दान्तानामिति । जगतां संसारस्य पालकेन रक्षकेण दोर्ष्णोर्भुजयोर्धाम्ना प्रतापेन । दुर्दान्तानां दुष्टानां द्रुतं शीघ्रं जिष्णोर्जयशीलस्यैतस्य गोपीनाथे-र्गोपीनाथसुतस्य शत्रुशल्यस्य कुशलानि कर्मं । ध्वस्ता नष्टा त्रिजगतो विश्व-स्य त्राणस्य रक्षणस्य चिन्ता यस्य तस्मात् । विष्णोर्लक्ष्मीपतेः । नाथे आशासे इच्छामि । अहमिति शेषः । अहं हरेस्तस्य शत्रुशल्यस्य मङ्गलानि आशंसे इति भावः । नाथ्धातोराशंसार्थं एवात्मनेपदित्वम् न तु याच्ञार्थे, तत्र तु परस्मैपदित्वमेव । अतो नाऽत्र याच्ञार्थोऽस्माभिरङ्गीकृतः । अनुप्रासः ।

3 पाप इति । यो हरिरत्र पापे दुष्टे तिष्ये कलौ युगे धर्मः सुकृतं, सत्यं ऋतं, स्वीया निजा स्वर्चा शोभना पूजा, करुणा दया च तेषामसङ्कुचकानां विरोधिनां । पराचां परा अञ्चतीति पराक् क्विप्, तेषां प्रतिकूलगामिनां शत्रूणाम् । व्यस्तस्थित्यां व्यस्ता चञ्चला स्थितिस्तस्यां । स्थितेर्मर्यादाया योग्यमनुकूलं अमुं शत्रुशल्यं चक्रे निर्ममे । स हरिर्विष्णुः । अस्य मुदे युवराज-स्यास्य आनन्दाय स्तात् भवतु ।

4 य इति । यः शिवः । अमुं शत्रुशल्यं जठरे कुक्षौ वहन्तीं दधानां तां गौरीं मातरं स्वप्ने शेषस्यानन्तस्योदञ्चन्त उत्थिताः सन्तः ये फणा मूर्धानस्तेषां स्वचिह्नं स्वलक्ष्म मौलौ मस्तके अददर्शत् वारम्वारं प्रादर्शयत् । स ईशः शिवोऽस्य मङ्गलं कल्याणं ध्रुवं निश्चितं विधत्ताम् कुरुताम् ।

5 अग्र इति। अग्रे पुरतो धावन्ती या शतचिन्तामणीनां शतानां चिन्तारत्नानां श्रीः शोभा तद्वत् दृक्पातेन कृपाकटाक्षेणोल्लसन्तः शोभमाना ये इभ्या हस्त्यादिस्वामिनः, समृद्धा इत्यर्थः, द्विजा ब्राह्मणास्तेषामिष्टापूर्तयज्ञाग्निहोत्रादिभिः सुकृतैः मेदुराङ्गाः परिपुष्टाः सुहिताः हितैषिणो गीर्वाणानां देवानाम् घाः समूहाः अस्मै राज्ञे मुदमानन्दं दिशन्तु वितरन्तु। उपमा।

6 निःसंख्येयानिति। कः संख्यावान् विद्वान् परमत्यधिकं निःसंख्येयापरिगणनीयान् एतद् गुणौघान् भुवि पृथिव्यां संख्यातुं गणयितुं ईष्टे समर्थोऽस्ति। न कोपीत्यर्थः। किन्तु अद्य गुणा एव पीयूषममृतं तस्य वार्धेस्समुद्रस्यैतस्य शत्रुशल्यस्य बिन्दुं शीकरं लब्धुं प्राप्तुं मे रसज्ञा रसज्ञाने प्रवीणा जिह्वा तरला चञ्चला। अस्तीति शेषः। रूपकम्। काकुवक्रोक्तिः। 'रसज्ञा' इत्यत्र परिकरालङ्कारः, केषाञ्चिन्मते परिकराङ्कुरः।

7 लीलागारमिति। युग्मम्। त्रिजगतस्त्रिलोकस्य जैत्रलक्ष्म्या विजयश्रियो लीलागारं विलासभवनं सती या विद्या सद्विद्या, यद्वा शैवागमानुसारं पराशक्तेः सद्विद्यारूपी परिणामः तस्याः विश्रान्तिगेहं विश्रमस्थलं। क्षत्ररीतेः क्षात्रव्यवहारस्य परमोत्कृष्टा सीमाभूमिः सीमास्थलं मर्यादेति भावः। औदार्यादिगुणस्य आदिः प्रधानो मुख्यो गुरुरुपाध्यायः। अग्रेणान्वयः।

8 आनन्दानामिति। सत्प्रजानां सतीनां जनतानामानन्दानां प्रमोदानां प्रभव उत्पत्तिः। विदुषां पण्डितानां सुमनांसि शोभनानि चित्तानि तान्येव सुमनांसि पुष्पाणि कुमुदकुसुमानि तेषां कैरविणी कुमुदतडागः तस्य चन्द्रो विकासकारी शशी। रत्नक्षोणीपती रावरत्नस्तस्य वंशः कुलमेव वंशो वेणुस्तस्य मुक्ता। एतादृशः सोऽयं शत्रुशल्यः। "सोऽयं देवदत्त" इत्यादिवद्भागलक्षणा। उदित उत्पन्नः सन् राजति शोभते मालारूपकम्।

9 इन्द्रोऽपीति। अयं शत्रुशल्यः। इन्द्रोऽपि शचीपतिरपि तद्वदैश्वर्यशाल्यपि शतमन्युप्रहर्ता शतमन्यो इन्द्रस्य वज्रस्य च प्रहर्ता प्रहारकः; पक्षे शतानां जनानां मन्योः शोकस्य प्रहर्ता निवारकः। पावकोऽपि अग्निरपि तद्वद्भास्वरोऽपि यद्वा पावनकर्ताऽपि, सततं निरन्तरं तापं प्रजानां सन्तापं हर्ता, प्रजानां दुःखहारी, तापस्यौष्ण्यस्य हर्ता निवारकः। अग्निस्तु तापकरो भवति न तु

तापहर इति व्यतिरेकः। धर्मेशो धर्मराजः, राजपक्षे प्रजानां धर्मनियन्ताऽपि त्रिजगते दत्तो जीवो जीवनं येन सः प्रजाभ्य प्राणप्रद इत्यर्थः। यमस्तु नैतादृशः जगतां प्राणहरत्वात्, पूर्ववद् व्यतिरेकः। भूम्यां पृथिव्यां रक्षो निशाचरोऽपि, उत्फुल्लो विकसितः, प्रसन्नीकृत इति भावः, रामो दशरथसुत येन स इति विरोधः। परिहारे, भूमीरक्षः भूम्याः पृथिव्याः रक्षः पालकः, उत्फुल्लः प्रसन्नीकृतो रामो विष्णुर्येन स रामभक्तत्वात्, नैतादृशं रक्षः (राक्षसः); यद्वा प्रसन्नीकृताः रामाः स्त्रियः येन स शत्रुशल्यः। श्लेषविरोध-व्यतिरेकाणां सङ्करः।

10 गोत्रद्वेषीति। युग्मम्। मघवा इन्द्रो गोत्रद्वेषो गोत्रान् पर्वतान् द्वेष्टि। पुनश्च गोत्रं कुलं द्वेष्टि विरुध्यति। नैतादृशः शत्रुशल्य, असौ तु गोत्रप्रेमी। वह्निरग्निः कृष्णवर्त्मा धूमयुक्तः, पुनश्च पापाचारी नैतादृशो राजा। प्रेतानां मृतानामधिपतिः स्वामी यम चण्डदण्डः चण्डः क्रूरो दण्डो यस्य सः, अतिनृशंसः। नासौ तादृशः। नैऋतो नैऋत्यकोणस्य स्वामी राक्षसो रात्रौ निशायां क्रूरं विचरति, निशाचरत्वात्; न त्वयं शत्रुशल्यः। प्रचेताः पश्चिमदिशायाः पतिर्वरुणो लोके जगति जडराजः जलानां राजा, पक्षे जडानां मूर्खाणां राजा मूर्खराट् इति ख्यातः प्रसिद्धः श्लेषे डलयोरभेदः। एष शत्रुशल्यस्तु विदुषामधिपतिः। श्लेषानुप्राणितो व्यतिरेकः।

11 वायुरिति। वायुर्वायव्यस्वामी पवनो लोलप्रकृतिः चञ्चलस्वभावः सदा प्रवहणशीलत्वात्, किन्त्वसौ स्थिरमतिः। किन्नराणां यक्षाणां, पक्षे किन्नराणां नपुंसकानामीशः स्वामी उत्तरदिक्पतिः कुबेरोऽन्वर्थः सार्थकाभिधानयुक्तः। असौ शत्रुशल्यस्तु नराणामीशो, न तु किं-नराणां। विरमाक्षः शिवः ईशान-कोणपतिः तिर्यक्दृष्टिराकेकरनेत्रः, विषादी विषमत्तीति कालकूटभक्षकः, पक्षे विषादोऽस्यास्तीति विषादी शोकयुक्तः; नैतादृशोऽसौ शत्रुशल्यः, एष तु समदृष्टिः, विषादरहितश्च। इत्यनेन प्रकारेण सर्वे अष्टौ आशापाला दिक्प-तयः भूमिभर्तुरस्य पृथ्वीपतेः शत्रुशल्यस्य साम्यं तुलनामौपम्यं कथं वा बिभृयुर्धारयेयुः। श्लेषपुष्टो व्यतिरेकः।

12 यद्यपीति। यद्यप्यस्मिन् रविवंशे सूर्यकुलेऽत्युत्कृष्टा प्रभूता बहवो राजानो भुवि पृथिव्यामभूवन् भवन्ति स्म। किन्तु तथापि क्षोणी पृथिवी ननु

निश्चितमेव राजन्वती सुराजयुक्ता, यत् यतः एषां राज्ञां मुकुटं शिरोभूषणं, प्रमुख इति भावः, शत्रुशल्यो राजति शोभते । काव्यलिङ्गम् ।

13 व्यूढोरस्क इति । व्यूढं पृथुलं उरो वक्षो यस्य सः, समासान्ते कः । परमत्यधिकमाजानुबाहुर्जानुपर्यन्तलम्बिभुजद्वयः । शालः शालवृक्षस्तद्वत् प्रांशुस्तुङ्गः । घनो निबिडः संश्लिष्टः सुगठितः सन्धिर्देहास्थिसन्धिर्यस्य सः । अम्भोजं कमलं तद्वदक्षिणी नेत्रे यस्य सः । नवं प्रत्यग्रं यच्चाम्पेयं चम्पकपुष्पं तद्वद्गौरः । अयं शत्रुशल्यः । किमिति वितर्के देहधारी मूर्तिमान् क्षात्रो धर्म । उपमात्रयं, वितर्कश्च । कविनाऽत्र कालिदासस्योक्तिमाश्रित्य भावच्छाया गृहीता—"व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।। आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ।।" इति रघुवंशे (११.३) ।

14 एतस्येति । अहो इति हर्षे । एतस्य शत्रुशल्यस्य घनो यो धम्मिल्लः केशपाशस्तस्य वेल्लन्ती स्फुरन्ती लक्ष्मीः कान्तिस्तया सैंहिकेयो राहुर्निकृतः तिरस्कृतोऽपमानितः अत एव स एतस्य वक्त्रस्य मुखस्य च्छविलेशेन कान्तिस्वल्पांशेनैव तुल्यं इन्दुं नूनं मुहुर्वारम्वारं दुनोति पीडयति । पर्यायोक्तिः, प्रत्यानीकश्च ।

15 मित्रानन्दीति । सोऽयं शत्रुशल्यः किमु वितर्के, दोषाम्भसः दोषजलात् गुणदुग्धं गुणक्षीरं विचिन्वन् गृह्णन् मित्रानन्दी मित्राणां सुहृदामानन्दकर्ता हंसो मरालः । यत् येन हेतुना असौ बक्राः कुटिलाः श्यामाः कृष्णवर्णाः अलिके भाले लग्नाश्च येऽलकाः केशास्तेषां स्नैग्ध्ये चिक्कणतायां स्नेहे च लुभ्यन् तेभ्यो मूर्ध्नि मस्तके वासं निवासमदात् ददौ । वितर्कालङ्कारः ।

16 ऊर्ध्वमिति । एतस्य भूमीभर्तुः राज्ञ ऊर्ध्वमुन्नतं विततं विस्तीर्णं वृत्तं वृत्ताकारं रम्यं शिरो मस्तकं सीमाहीना विःसीमा या क्षितिः पृथिवी सैव साम्राज्यं तस्य दूतीं सन्देशवाहिकां तद्रूपिणीं सहजं स्वाभाविकं यच्छत्रमातपत्रं तस्य लक्ष्मीं शोभां नित्यं सर्वदोच्चैरतिशयेन धत्ते वहति दधाति । निदर्शना ।

17 अस्मिन्निति । अहो इति हर्षे । एतस्यालिकं भालं राज्ञेऽस्मिन्नुच्चैरतिशयेनानुरागं प्रेम वहन्त्या दधत्या देव्या भूमेः सम्राज्ञीरूपिण्याः पृथिव्याः स्वाभिप्रायस्य स्वमनोभिलाषस्य प्रेम्णो यदमृतं तस्य संवावदूकं कथयितारं प्रकाशयितारं स्मरलेखस्येदं स्मरलेखीयं पत्रं कामपत्रिकारूपं तर्कयामि । वितर्कः ।

18 पातिव्रत्यमिति । धरित्र्या भूमेः पातिव्रत्यं, श्रियः दुर्दान्तानां दुर्दमनीयानां शत्रुराज्ञां जैत्रीया जेतुं योग्या या लक्ष्मी राज्यश्रीः, अस्मिन् त्रैलोक्ये प्रसरन्त्याः प्रसरणशीलाया मूर्तेश्च विचित्रा अद्भुताः तिस्रः त्रिसङ्ख्यकाः सीमा रेखा इव । उत्प्रेक्षा ।

19 व्यस्तानिति । लोके संसारे व्यस्तानितस्ततो विकीर्णान् सद्गुणौघान् औदार्यादिगुणसमूहान् सृजता, अमून् गुणानेकत्र एकस्मिन् पुरुषे रचितुं स्रष्टुं कामुकेनाभिलाषुकेण द्रुहिणेन ब्रह्मणा अमुं शत्रुशल्यं कुर्वाणेन विदधता रचयताऽद्य सम्प्रति राज्ञोऽस्यालिके ललाटे न्यस्ता निक्षिप्ता वलयो रेखा उच्चैरतिशयेन भान्ति शोभन्ते । उत्प्रेक्षा ।

20 श्रीमदिति । श्रीमत् शोभायुक्तं कण्ठं यस्य स शत्रुशल्यः; पक्षे श्रीकण्ठः शिवः; वराणि श्रेष्ठानि दुर्गाणि कोट्टानि यस्य सः, पक्षे वरा श्रेष्ठा दुर्गा तत्कलत्रं पार्वती यस्य सः । द्वाभ्यामधिकां तृतीयां चक्षुर्गलातिरिक्तां शास्त्रदृष्टिं, भालस्थं तृतीयनेत्रं बिभ्रत् दधत् । भूत्या ऐश्वर्येणाश्लिष्ट आलिङ्गितः; पक्षे विभूत्या भस्मनाऽऽश्लिष्टः, भस्मनालङ्कृतः । सुशोभनं यल्ललाटं तदेवार्धचन्द्रो यस्य सः, पक्षे सुललाटे भालेऽर्धचन्द्रो यस्य स चन्द्रशेखरः । अयमीशो राजा शंकरश्च । अस्मिन् त्रैलोक्ये त्रिजगति शिवरूपो विभाति । श्लेषानुप्राणिता भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिः, शास्त्रदृष्टिमिति व्यस्तरूपकं तदङ्गम् । तुलनीयम् श्रीहर्षे – "दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसरावरोधिनीम् । बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्" (नैषधीये १.६) इति ।

21-22 मन्वान इति । स्वकशिल्पं स्वनिर्माणं शशाङ्कं चन्द्रमल्पं मन्वानो वेधा ब्रह्मा । नवमभिनवमन्यमितरमिन्दुं चन्द्रं कुर्वन् रचयन् सन् उभयोर्द्वयोः ईशनाम्नोः ईशयोः राज्ञो महादेवस्य च, गोपीनाथसुतस्य स्मरहतुः शिवस्य च प्रियाय 'प्रियं कर्तुं' अस्मिन् त्रैलोक्ये जगति शम्भोः शिवस्य मूर्ध्नि मस्तके एकं चान्द्रं चन्द्रसम्बन्धि अर्धं अर्धखण्डं प्रणिधाय प्रतिष्ठाय अथ तदनन्तरं भूमीपालप्रवरस्य राजश्रेष्ठस्यैतस्य शत्रुशल्यस्य ललाटच्छद्मना भालव्याजेनान्येयमन्यमर्धं चन्द्रवदुज्ज्वला कीर्तिर्यस्य तस्मिन् राज्ञि शत्रुशल्ये ध्रुवं

निश्चितमेव न्यधत्त निहितवान् । अतिशयोक्त्यपह्नुतिवस्तूत्प्रेक्षाणां सङ्करः ।

23 सूत इति । चेत् यदि सिंही सिंहिका राहुमाता ऽन्यमपरं नवं सैंहिकेयं राहुं सूते जनयति यो राहुरिन्दोश्चन्द्रमसोऽङ्कं कलङ्करूपं मृगं हरिणं प्रमृज्यात् दूरीकुर्यात् । पक्षे, सिंही सिंहवधू नवं सैंहिकेयं सिंहपोतं जनयति यो चन्द्रस्थितं मृगमपि हन्यात् । किञ्च चन्द्रोऽयं क्षयं नैयात् न गच्छेत्, तदाऽसौ चन्द्र इदमास्यस्य अस्य मुखस्य शोभां कान्ति कामं धत्तां धारयेत् । अतिशयोक्तिः । इयं यद्यर्थातिशयोक्तिरिति तृतीयो भेद इति मम्मटाचार्याः । इयमेवासम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्तिरिति पण्डितराजस्य मतम् । यथा रसगङ्गाधरे तदुदाहरणम्—"तिमिरशारदचन्दिरचन्द्रिकाः कमलविद्रमचम्पककोरकाः ।। यदि मिलन्ति कदापि तदाननं खलु तदा कलया तुलयामहे ।।" इति ।

24 एतस्येति । सकलाभिः पूर्णाभिः कलाभिः चन्द्रांशैः हेतुभिः काञ्चिद्विशिष्टां भव्यां रमणीयां सुषमां कान्ति अद्याधुना विभ्रत् दधत् एतस्य राज्ञ आस्यं मुखं ताभ्यः पूर्णाभ्यः कलाभ्यो विमुखेन रहितेन पराङ्मुखेन (रात्रौ संकोचकारणात्) पङ्कजेन कमलेन तुल्यं समानं को वा विद्वान् पण्डितः वदतां जानताम् । 'भासनोपसम्भाषा ज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वद" (१,३.४७) इति वद्धातोर्ज्ञानार्थे आत्मनेपदित्वम् ।

25 मध्येनीरमिति । यत् यस्माद्धेतोः धृता या रोलम्बमाला भ्रमरपङ्क्तिः सैव सन्ति रुद्राक्षाणि रुद्राक्षमाला यस्य तत्, एकाङ्घ्रिनालं एकोऽङ्घ्रिः चरणः स एव नालं कमलदण्डो यस्य तत, चिरं बहुकालं मध्येनीरं नीरस्य जलस्य मध्ये; 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः; तिष्ठत् पद्मं कमलं, पद्मजातिरिति भावः दिनेशं सूर्यं भजते उपास्ते, तत् तद्वक्त्रच्छवि तस्य शत्रुशल्यस्य मुखशोभामाप्तुं प्राप्तुं इत्यहं मन्ये नु इत्यहं सम्भावयामि । हेतूत्प्रेक्षा ।

26 काममिति । एतत् पद्मं कमलजातिरद्याधुना सूर्यं रविं कामं यथेष्टं भजतां सेवताम् । लक्ष्म्याः कान्तेर्धनस्य च उत्कोचं अपप्रदानरूपं द्रव्यं उच्चैः पदं वा ददातु दद्यात् तथापि तद्भूरिभास्वद्वक्त्रौपम्यं शत्रुशल्यस्य भूरिभास्वतः अतिशयशोभाशालिनो वक्त्रस्य मुखस्य साम्यं न तु लभते नैव प्राप्नोति । हा इति खेदे । प्रतीपम् ।

27 संजीवातिवति । तस्य राज्ञो भास्वद्वर्णौ देदीप्यमानकान्ती चारू सुन्दरौ कर्णौ प्रभविष्णोः समर्थस्य विष्णोर्भगवतः पुरुषोर.मस्य नाम्नाममृतं नामपीयूषं पातुं धयितुं आविर्भूते प्रकटिते चेतसो मनसः प्रसृती करतले, स्तः इति शेषः । इत्यहं तर्कयामि कलयामि । उत्प्रेक्षा ।

28 मान्यस्येति । अखिलराजन्यवृन्दे समस्तराजके मान्यस्य समादरणीयस्यास्य कर्णद्वन्द्वच्छलतः श्रोत्रयुगलव्याजात् अयं नवाङ्कः नवसङ्ख्याङ्कः एतस्य राज्ञो द्विनवानामष्टादशानां सद्द्वीपानां प्रसभं बलात् जैत्रलक्ष्मीं जयश्रियं व्याख्याति कथयतीव । अपह्नुत्युत्प्रेक्षयोः सङ्करः । नवाङ्कस्तु लिप्यां श्रोत्राकारो लिख्यत इति स्पष्टमेव ।

29 त्रैलोक्यस्येति । यद्दोर्दण्ड यस्य शत्रुशल्यस्य भुजदण्डः सुचिरं बहुकालं त्रैलोक्यस्य जगत्त्रयस्याधि कष्टं सन्तापं बाधमानः पीडयन् सन् नाशयन्निति भावः, अस्य राज्ञः प्रत्यर्थिनां विरोधिराज्ञां स्त्रीजनस्य अवरोधिकजनस्य वैधव्यदीक्षां भर्तृवधजनितस्थितिरूपिणीं शिक्षां, अथ तथा च दारिद्रस्यास्य याचकानां निर्धनताया उच्चैरतिशयेन दारिद्र्यं नाशं निःसत्त्वं परं व्यधत्त चकार । अग्रेणान्वयः । पर्यायोक्तिरलङ्कारः । तुलनीयम्—"अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् । मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ।" (नैषधे १·१५) इति ।

30 एतदिति । पूर्वेणान्वयः । इति पूर्वोक्तमेतज्जन्मास्माद्राज्ञ उद्भूतं द्वैधमपयशोऽकीर्तिद्वयं, अमुष्य भूमीभर्तू राज्ञो वक्त्रस्याननस्य श्यामयाः कृष्णवर्णयोरलकपट्टयोर्द्विफालबद्धयोश्चिकुरयोरपदेशाद् व्याजेन अद्धा स्फुटमेवामुष्य शत्रुशल्यस्य उपश्रुति श्रुत्योः कर्णयोः समीपमित्यव्ययीभावः, सम्प्राप्य ध्रुवं निश्चयमेवोच्चैरतिशयेन विभाति । नेदमलकपट्टद्वयमपि तु शत्रुशल्यस्यापयशोद्वयं, यत्तेन शत्रुनार्यो विधवाः कृताः, याचकानां दारिद्र्यञ्च दरिद्रीकृत इति पापद्वयं विहितं, तदेव द्विफालबद्धश्यामचिकुररूपेण प्रकटितम् । अपह्नुतिः पर्यायोक्तिश्च तयोः सङ्करः । तुलनीयम्—"विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः । अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ।" इति नैषधे (१.१६) ।

31 एतदिति । अहो इति आश्चर्यं । एतस्य राज्ञो नेत्रयोरक्ष्णोः छविः शोभा नियतं निश्चयेन मग्नस्य खञ्जनस्य पक्षिणः कुटिलौ वक्रौ श्यामरूपौ कृष्ण-वर्णौ च पक्षौ गरुतौ अस्य सुभ्रुवोः भ्रुकुटयो युग्मं तस्य च्छलतो व्याजात् अद्य सम्प्रति भातः शोभेते । रूपकापह्नुत्योः सङ्करः ।

32 एतदिति । अमुष्य राज्ञ उच्चैरतिशयेन,रालां वक्रां भ्रुवं, उदारा चातिशयेन ऋज्वी नासा तद्रूपो योऽवातस्थलदीपः निवातदीपस्तस्य द्वैधीभूतां विभक्तां कज्जलश्रेणिरेखां कज्जलपंक्तिं मन्ये सम्भावयामि । उत्प्रेक्षा ।

33 एतदिति । एतस्य नेत्रयोरक्ष्णोर्या छविः कान्तिस्तस्याः पूरेणौघेनाति भीत-स्त्रस्तोऽयं मृगकः मृगशिशु चन्द्रङ्कुपोतको मृगाङ्के चन्द्रे सतस्थे सस्थितः । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदित्वम् । तत् किमनेन पशुना ज्ञानशून्येन मृगेणैतस्य शत्रुशल्यस्य मुखभासा वक्त्रकान्त्या इन्दोर्विधोः जयो विजयो न दृष्टः नावलोकितः । इत्यहं शङ्कां कल्पयामि । उत्प्रेक्षा ।

34 अश्रान्तमिति । चेत् यदि एष सुपुमान् शोभनो पुरुषः, पुलिंगे प्रयुक्तः मित्रः सूर्यः; पक्षे मित्रं सुहृत् अम्भोजानां सखा; स्वस्य उद्यन्त्यो या भासः कान्त :-स्तासां वृन्दैः समूहैरश्रान्तमम्लानं तरुणं प्रत्यग्रं रक्ताम्भोजं रक्तकमलं अनुगृह्णाति अनुग्रहपात्रं विदधाति तर्हि तद् रक्ताम्भोजमस्य राज्ञः श्रीमतो श्शोभावतोर्नेत्रयोर्लोचनयांश्छविं कान्तिं जातु कदाचित् धत्तां धारयतु । असम्वन्धेऽसम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिः ।

35 जन्मक्षेत्रमिति । यत् यतोऽस्य क्षोणीभर्तुर्भूपस्य दृक्पातो दृष्टिनिक्षेपः शत-चिन्तामणीनां शतानां चिन्तामणिरत्नानां जन्मक्षेत्रं जन्मभूमिः, मनोभिलाष-दातृत्वात्; सहस्राणाञ्च द्युतरूणां कल्पवृक्षाणां बीजं कल्पितवस्तुत्वात् अस्तीति शेषः । तत् तस्माद्धेतोः अस्य शत्रुशल्यस्य नयनं केन तुल्यं न केनापि सदृशं, किलेति वाक्यालङ्कारे । असमालङ्कारः । "सर्वथैवोपमानि-षेधोऽसमालङ्कारः" इति रसगङ्गाधरे पण्डितराजः ।

36 अन्योन्यस्येति । अस्य राज्ञो नेत्रे अक्षिणी अन्योन्यस्येतरेतस्य श्रुतिर्देशस्य कर्णप्रान्तस्याक्रमणार्थं कलहं विवादं कर्तुंकामे कर्तुंमनसी, तुं काममनसोर-पीति नुम्-लोपः । सम्भाव्योत्प्रेक्ष्य द्रुहिणेन वेधसाऽस्य नासा नासिका किमिति

वितर्के एतयोर्नेत्रयोः सीमादण्डः सीमाविभाजको दण्डो निरमायि निर्मितः ।
हेतूत्प्रेक्षावितर्कयोः सङ्करः ।

37 पीनाविति । परं पूर्णौ उत्फुल्लौ पीनौ परिपुष्टौ, चञ्चत् देदीप्यमानं नवं प्रत्यग्रं यच्चाम्पेयं चम्पक पुष्पं तद्वच्चारू मनोहरौ वृत्तौ वृत्ताकारौ एतस्य कपोलौ गण्डौ, इन्दुं चन्द्रं जिगीषोर्जेतुमिच्छोरेतस्य वक्त्रस्याननस्य श्रियः कान्त्या आरोहार्थं आरोहणार्थं द्वे रथचक्रे अनुभातः शोभेते अनुहरतो वा । उत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्करः, उत्प्रेक्षोपमयोर्वा ।

38 सदिति । नु इति वितर्के । सन् शोभनो यः शृङ्गारः शृंगाररसस्स एवामृतं पीयूषं तेन सिक्तं अङ्कुरं यस्य तस्य सौन्दर्यश्रीः सौन्दर्यशोभा तस्या वरः श्रेष्ठः सन् शोभनो यो दाडिमो दाडिमवृक्षस्तस्य । बाल उषसि उदगच्छन् य आदित्यः सूर्यः तत्प्रतिमस्य तत्सदृशस्यैतस्य कपोलस्य अर्थात कपोलयोर्व्याजात् छद्मना पक्वं पचेलिमं फलयुग्मं फलद्वयं लग्नम् । रूपकापह्नुतिवितर्काणां सङ्करः ।

39 क्रोधाम्भोभिरिति । क्रोधस्य रोषस्याम्भोभिर्जलैः सततं निरन्तरं सिक्तभूमेः सिञ्चितप्रदेशस्य क्षात्रं क्षत्रियसम्बन्धिनं धर्मद्रुमं धर्मरूपिणं वृक्षं आलम्बिताया आश्रिताया मानवल्ल्या स्वाभिमानलतायाः परममत्यधिकं आविर्भूताः प्रकटिताः अङ्कुराः अत्र शत्रुशल्यानने श्मश्रूणि श्मश्रुरूपेण प्रतिभान्ति किं शोभन्ते किमु । रूपकवितर्कयोः सङ्करः ।

40 चापमिति । अमुष्य स्त्रीसम्बन्धिन मानं दर्पं निजिघांसोः खण्डयितुमिच्छो राज्ञः एतत इदं श्मश्रु ध्रुवं निश्चितमेवानङ्गं कामदेवसम्बन्धि चापं, यत् यतोऽस्यनासा रन्ध्रव्याजाच्छिद्रद्वयापदेशात् नालीकानां नलिकाप्रेयमाणलघुशराणां नलिके शराधारनलौ तद्रूपौ अनिलं सर्वदा राजतः शोभेते । पूर्वार्धे उत्प्रेक्षा, उत्तरार्धे ऽपह्नुतिः । नेयं रन्ध्रद्वययुक्ता नासिका, अपितु स्त्रैणं मानं निजिघांसो राज्ञो नालीकानां नलिके । तयोः उत्प्रेक्षापह्नुत्योः सङ्करः । तुलनीयम् —

"धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ ।
नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः" ॥
इति (नैषधे २.२८)

41 स्मार इति। किमिति सन्देहे। अस्यराज्ञ इयं श्मश्रुपंक्तिः त्रिजगतो जैत्र-लक्ष्म्या विजयश्रियस्तद्रूपिण्या नायिकायाः स्मारः स्मरसम्बन्धी कामशंसी लेखः पत्र दुर्वाराणां दुष्टानां शत्रुवीराणां ओजस्तेज एव दवो वनाग्निस्तस्मै, तच्छान्त्यर्थमिति भावः, सती मेघमाला पयोदपङ्क्तिः, वक्त्रस्याननस्य यः श्वासो निःश्वासः स एव स्फुरन्नामोदः सुगन्धिः तत्सङ्गा भृंगाली भ्रमर-पङ्क्तिः। सन्देह, रूपकञ्च तदङ्गमित्यङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

42 कुन्द मिति। कुन्दं माघ्यपुष्प मन्दं तुच्छं स्वल्पं वा रचयन्तो विदधतो, धीरं धैर्यशालिनं कठोरं वा हीरं हीरकरत्नं वज्रं उच्चैरतिशयेन हरन्तः तच्छोभा-मपहरन्तोऽस्य शत्रुशल्यस्य दन्ता रदा एतद्वक्त्रे तन्मुखे समुखं मुखेन सह संक्रमन्त्या निवासं कुर्वत्या वाचां देव्याः सरस्वत्याः स्मितस्य हासस्य कलिकाः कोरकाणि किम्। प्रतीप-वितर्कयोः संसृष्टिः।

43 सद्द्वीपानामिति। एषेयं एतस्य दन्तानां रदानां द्वयधिकत्रिंशत् द्वात्रिंशत्सङ्ख्या अष्टादशानां सद्द्वीपानां पृथक् अधिचतुःसद्दशानां चतुर्दशानां लोकानाञ्च भूर्भुवादीनां प्रसभं बलात् जैत्रकीर्ति विजययशो व्याख्याति कथयतीवेति सम्भावना। उत्प्रेक्षा।

44 रक्ताम्भोजेति। अस्य शत्रुशल्यस्य, रक्ताम्भोजं रक्तकमलं तच्छदस्य तद्दलस्य तुल्या सदृशी रसज्ञा जिह्वा ध्रुवं निश्चितमेव अष्टादशापि गहनान् गभीरान् विद्याम्भोधीन् विद्य समुद्रान् अष्टादश शास्त्रसागरान् पारयन्त्या पारं गच्छन्त्या एतद्बुद्धेः बुद्धिरूपिण्याः वरनावः श्रेष्ठनौकायाः पताका, अस्तीति शेषः। उपमापरम्परितरूपकयोः संसृष्टिः। रूपकञ्चोत्प्रेक्षाया अङ्गम्। "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः, उत्प्रेक्षावाचकाः" इति। अष्टादश विद्याः, यथा—' अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्यास्त्वेताश्चतुर्दश" इति चतुर्दश विद्याः, पुनश्च 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चार्थशास्त्रकम्" इति चतस्रः, साकल्येन अष्टादश।

45 कल्पानल्पेति। कल्पस्याभिलाषस्यानल्पो यो द्रुमो वृक्षो महान् कल्पवृक्षः तस्य सत्पल्लवाभा सुन्दरकिसलयकान्तिः, अमुष्य राज्ञ एषा रसज्ञा जिह्वा ध्रुवं निश्चितमेव रससंगीतकस्य शृंगारनाट्यस्य सकलानां कलानां

तौर्यत्रिकादीनां उच्चैरधिकं पारं प्राप्ता नदीष्णा नर्तकी नटीति सम्भाव्यते ।
उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः । एतत्पद्यत्रयेण सह तुलनीयम्—

"अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी
त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया
नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ।।"
(नैषधे १.५) इति ।

46 एतस्येति । एतस्य राज्ञो दीर्घौ पीनौ मांसलौ विलसती सृक्के ओष्ठप्रान्तभागौ ताभ्यां रम्यौ सुन्दरौ वरबिम्बीफलाभौ श्रेष्ठबिंबसदृशौ रक्तौ ओष्ठौ स्त्रीणामन्तःपुरिकाणामन्तःकरणस्थेन मनोगतेनानुरागेण प्रेम्णारङ्गेण च व्यालिप्ताङ्गौ इव विभातः शोभेते । ओष्ठयोरनुरागेण व्यालिप्ताङ्गत्वमुत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा । 'वरबिम्बीफलाभौ' इत्यत्रोपमा । तयोः संसृष्टि ।

47 नारङ्गीयामिति । नारङ्गीयां नारङ्गफलसंबधिनीं छविं कान्तिं बिभ्रद्धत्, चारुकूर्चं रम्यश्मश्रु, पीनं मांसलमेतस्य शत्रुशल्यस्य चिबुकं सशोणैः रक्तवर्णैर्माणिक्यैः नीलैश्च रत्नैः नीलमणिभिश्च खचित जटितः गुम्फितो वा, खेलन्ती क्रीडन्ती या देहद्युतिः तस्या लक्ष्म्याः शोभायास्तद्रूपिण्या नायिकायाः कन्दुकः लीलाकन्दुकः किमु । रूपक-वितर्कयोः सङ्करः । तेन च सह निदर्शनायाः (नारङ्गीयां छविं बिभ्रत् इति) संसृष्टिः ।

48 एतदिति । त्रिवल्या त्रिरेखया भ्राजमानः शोभमानः, घनं, निबिडं संश्लिष्टं मांसं यस्य सः, कम्बुस्पर्धी शंखस्य स्पर्धाकरः तत्सदृश इति यावत्, एतस्य कण्ठो गलः सौवर्णः सुवर्णनिर्मितं यदेतस्य राज्ञो मुखमेव पद्मं वक्त्रकमलं तस्योरुर्महान् नालो नालदण्डः, रसस्य शृङ्गारस्य, पक्षे जलस्य कुल्यायाः कृत्रिमायाः क्षुद्रसरितायाः 'नहर' इति भाषायां प्रसिद्धायाः प्रणालः नालिकारूप उच्चैरतिशयेन राजति शोभते । उपमा-रूपक संसृष्टिः ।

49 वीणानादमिति । वीणायास्तन्त्र्या नादं ध्वनिं परुषं श्रुतिकर्कशं कुर्वतो विदधतोऽस्य क्षोणीभर्तुर्महीपतेर्मधुरस्य स्वरस्य ध्वनेर्यो ना जनः उच्चैरतिशयेन परपुष्टोपमां परपुष्टस्य कोकिलस्य उपमां तत्स्वरौपम्यामिच्छति दातुं

वाञ्छति, अमुष्य जनस्य जिह्वा शतधा शतशो भिन्ना खण्डिता स्यात् । हन्त इति खेदे । प्रतीपम् ।

50 सिद्ध इति । चारुर्मनोहरो मञ्जुध्वानो ललितभङ्कृतिरेतस्य राज्ञः स्वरो ध्वनिः प्रमदानां कामिनीनां चित्तानां मनसां मोहे आकर्षणे सिद्धो मन्त्रः वशीकरणमन्त्रः, सकलानां समस्तानां कलानां चतुषष्टिसंख्यकानां मूलं यन्त्रं मूलभूतं देवाराधनधारकं यन्त्रं यद्वा लौहादिनिर्मितं यन्त्रं, अथ च स्मरचापस्य कामकार्मुकस्य केङ्कारटङ्कारध्वनिः । इति मन्येऽहं सम्भावयामि । मालोत्प्रेक्षा, न तु मालारूपकम् । 'मन्ये' इति मुखतः प्रयोगेण साध्याध्यवसायस्यैवालङ्कारविच्छित्तिहेतुत्वात् न तु आरोपस्येति सुस्पष्टम् ।

51 मादयदिति । मादयन्तो मत्ता ये स्तम्बेरमा गजास्तेषां कुम्भानां गण्डस्थलानां प्रभेदो भेदनं, तस्मिन् कर्मणि प्रत्याख्यातस्तिरस्कृतः उद्धतस्य प्रचण्डस्य सिंहस्य मृगराजस्य अनुभावस्तेजो बलं येन सः वीरः शत्रुशल्यः युद्धे सङ्ग्रामे आराद् दूरादेव, आराद् दूरसमीपयोरित्यमरः, स्निग्धस्य जलपूर्णस्य अतएव श्यामवर्णस्याम्भोदस्य मेघस्य स्तनितं गर्जितं तद्वदुदारं गम्भीरं स्वं निजं स्वरं सिंहनादं विदधाति करोति । पूर्वार्धे प्रतीपम्, उत्तरार्धे उपमा, तयोः संसृष्टिः ।

52 ग्रीवेवि । सप्ताम्भोधयः सप्त सागरास्तैः स्फुरन्ती शोभमानोर्वी मही तस्याः भरस्य, यद्वा तां भरतीति भरस्तस्य सप्तसागरवेष्टितपृथिवी भर्तुरस्य शत्रुशल्यस्य परममत्यधिकं वर्तुला वृत्ताकारा पीवा परिपुष्टा ग्रीवा लोकशिल्पं जगन्निर्माणं तन्वानेन विस्तारयता कुर्वता द्रुहिणेन वेधसा रचिता निर्मितेयं ध्रुवं सौवर्णी सुवर्णमयी धूः धुराऽस्तीति शेषः । उत्प्रेक्षा ।

53 एतदिति । किमिति वितर्के, अयं कलिकालेन कलियुगेनाकुलः व्याकुलीकृतो वृषरूपी धर्म अद्याधुना एतच्चित्ते शत्रुशल्यमनसि लीनस्तिरोहितः । यस्मात् यतो हेतोरेतस्य विपुलौ विस्तृतौ यौ स्कन्धावंसौ तयोर्लक्ष्यादपदेशादस्य वृषरूपिणो धर्मस्य ककुदं पृष्ठास्थि उच्चैर्लक्ष्यते । काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षापह्नुतिवितर्काणां सङ्करः । पुराणेषु धर्मस्य वृषरूपिता प्रसिद्धा, यथा श्रीमद्भागवते,

> "धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम् ।।
> पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ।।" इति (१.१६,१८)

"त्वं वा मृणालधवलः पादैन्यूं न पदा चरन् ।।
वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो नः परिखेदयन् ।।
इति च । (१.१७.१८)

54 एतदिति । रुचिरौ सुन्दरौ वृत्तौ वृत्ताकारौ पीनौ मांसलौ च वामावर्तौ वामभागे आवृत्तिशालिनौ जानुप्रणयौ आजानुलम्बिनौ ज्याकिणाङ्कौ धनुः प्रत्यञ्चाघर्षणचिह्नयुक्तौ गजहस्तोपमानौ करिशुण्डादण्डतुल्यौ एतस्य बाहू भुजौ साम्राज्यश्रीः राज्यलक्ष्मीस्तस्या लसन्तौ शोभमानौ आलम्बदण्डौ आलम्बनयष्टी इति शङ्केऽहं कल्पयामि । उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ।

55 कीर्तीति । कीर्तेर्यशसः स्फूर्जतो देदीप्यमानस्य पटस्य वाससः वेम्नः वस्त्रवायदण्डस्य, 'पुंसि वेमा वायदण्ड.' इत्यमरः, उरू महान्तौ तद्रूपिणौ, शत्रूणां प्राणाशनाः प्राणवायुभक्षकाः ये सर्पा नागाः तद्वत् प्रशण्डौ भीषणौ; विदुषां पण्डितानां कामामरवृक्षस्य कल्पवृक्षस्य अवरोहौ आधारस्तम्भौ एतस्य राज्ञो बाहू भुजौ कस्य तुलनां साम्य धत्तां दधतां वहताम्. न कस्यापीति भावः । अङ्गभूतोपमारूपकांगिभूतासमालङ्काराणां सङ्करः ।

56 प्रत्यर्थीति । प्रत्यर्थिनां शत्रूणां या श्री राज्यलक्ष्मीस्तस्या प्रतिहारागला द्वारार्गला तस्या आभा कान्तिरिवाभा ययोस्तौ, त्रिजगतां त्रिलोकस्य त्राणे रक्षणे दक्षौ कुशलौ एतस्य बाहू भुजौ, वृत्तो वृत्ताकारः श्यामः कृष्णवर्णः प्रततो वितृतो यो ज्याकिणाङ्कः धनुर्गुणघर्षणचिह्नं तस्य व्याजाच्छलेन वैरिवृन्दं शत्रुसमूहं शून्यं शून्यरूपं वदतः कथयतः । पूर्वार्धे उपमा, उत्तरार्धेऽपह्नुतिः । नासौ ज्याकिणाङ्कः, अपितु राज्ञोऽस्य वैरिसमूहाभावसूचकः शून्याङ्कः । गणितेऽङ्काभावो वृत्ताकारेण शून्येन कृष्णवर्णमस्यादिना लिख्यते । प्रतिहारः द्वारः इति शब्दरत्नावली, यथा रघौ—

"ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा
पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक् सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य
नीत्वा कुमारीमवदत् सुनन्दा ।।

57 भातीति । अस्य राज्ञः शत्रुशल्यस्य श्लिष्टः सुसन्धिर्मणिबन्धः प्रकोष्ठः भाति शोभते; कीदृशः, पाणिर्हस्त एव स्फूर्जन् देदीप्यमानो यः सुरवृक्षः कल्पद्रुमस्तस्यालवालस्तरुमूलसेचनार्थमाधारस्थलं; यो मणिबन्धः क्षोण्याः भूमेः यः पाणिग्रहः पाणिपीडनविधिः तस्य सत् यत् कङ्कणं विवाहसमये आबद्धं दोरकादि तस्य आभा इवाभा कान्तिर्यस्यास्तां प्रोन्मीलन्ती विकसन्ती या वरा श्रेष्ठा माला सुमनःस्रक् तां स्रजं बिभर्ति धारयति । रूपकोपमयोः संसृष्टिः ।

58 कासार इति । किमिति वितर्के । एतस्य पाणिर्हस्तः नवरक्तोत्पलाभ नवं प्रत्यग्रं रक्तं च यदुत्पलं कमलं तस्येवाभा यस्य सः, पक्षे नवानां रक्तोत्पलानामाभा यस्य सः । तनुः शरीरं तस्या लावण्यलक्ष्म्याः सौंदर्यश्रियः कासारस्तडागः । अस्तीति शेषः । यस्माद् हेतोः अस्मिन् हस्ते तडागे च मृणालानि बिसानि उरवो महान्तो मीना मत्स्याः तैः सहिताः समृणालोरुमीनाः, लसन्तः शोभमाना अम्भोजानि कमलानि शङ्खाः कम्बवश्च संलक्ष्यन्ते दृश्यन्ते । तडागे मृणालमीनपद्मशङ्खा भवन्त्येव, शत्रुशल्यपाणौ च चक्रवर्तित्वसूचकान्येतानि सामुद्रिकलक्षणानि चिह्नानि सन्तीति स्फुटम् । श्लेषोपमावितर्काणां सङ्करः । नृपाणामैश्वर्यशालिनाञ्च हस्तरेखालक्षणं यथा बृहत्संहितायाम्—

"तिस्रो रेखा मणिबन्धनोत्थिताः करतलोपगता नृपतेः ।।
मीनयुगाङ्कितपाणिर्नित्यं सत्रप्रदो भवति ।।
वज्राकारा धनिनां विद्याभाजां च मीनपुच्छनिभाः ।
शंखातपत्रशिबिकागजाश्वपद्मोपमा नृपतेः ।।
कलशमृणालपताकांकुशोपमाभिर्भवन्ति निधिपालाः ।
दामनिभाभिश्चाढ्याः स्वस्तिकरूपाभिरैश्वर्यम् ।"
इति (६७.४४-४६) ।

59 एष इति । एष शत्रुशल्योऽङ्गश्रियो देहशोभायाः वरदर्पेण श्रेष्ठाभिमानेनाद्य सम्प्रति तं कन्दर्पं कामदेवं समलुण्ठत् संलुण्ठति स्मेति मन्येऽहं सम्भावयामि, यत् यस्माद् हेतोरेव करे निजहस्ते तस्य कामदेवस्य राज्यस्य लक्ष्म चिह्नभूतं मीनं केतुं मत्स्याङ्कितध्वजं प्रवरं श्रेष्ठमातपत्रं छत्रञ्च धत्ते धारयति । यतोऽस्य हस्ते मत्स्यं ध्वजः छत्रं च विद्यन्ते तानि कन्दर्पराज्यश्रीचिह्नरूपाणि

सन्ति, अत एतेन नियतमेव कन्दर्पस्य राज्यश्रीर्लुण्ठितेति मया कविनोत्प्रेक्ष्यते। काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

60 शोणेति। शोणा रक्तवर्णाः प्रेङ्खन्तो देदीप्यमाना नखा एव सन्ति शोभनानि कुड्मलाग्राणि यासां ताः, सुशोणा अरुणाभाः स्फुटरूपा व्यक्तशोभा अस्य शत्रुशल्यस्याङ्गुल्यः करशाखाः अद्य सम्प्रति स्फूर्जन् शोभमानो यः सुरवृक्षः कल्पद्रुमस्तदुपमस्य तत्सदृशस्यैतस्य राज्ञो दोष्णोर्भुजयोः काण्डौ तत्स्कन्धौ तत्सम्बन्धिन्यो दोःकाण्डीया शाखाः भान्ति शोभन्ते किमु। उपमा-वितर्कयो-रङ्गाङ्गिभावसङ्करः।

61 एतदिति। चारु मनोहारि पीनं परिपुष्टं विपुलं विस्तीर्णमेतद्वक्षः एतस्य राज्ञ उरःस्थलं जयलक्ष्म्या विजयश्रियः तद्रूपिण्या अङ्गनाया नायिकाया लीलागारं केलिगृहं। दृप्यन्तोऽभिमानिनो ये विद्विषो ऽरयस्तेषां नगरीणां लुण्ठने भञ्जने सुकपाटस्य द्वारस्य शोभां कान्तिमगृहणात् जग्राह इत्यहं मन्ये कल्पयामि। अहो इत्याश्चर्ये हर्षे वा। परम्परितरूपकनिदर्शनोत्प्रेक्षाणां सङ्करः। तुलनीयम्—

"अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने
ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्—
कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता॥
(नैषधे १.२२) इति।

62 सौवर्ण इति। धरित्र्याः पृथिव्या अयं सौवर्णः सुवर्णनिर्मितो जयपट्टः विजय-सूचकः पट्टः पीठः फलकं वा, सौन्दर्यश्रिय सौन्दर्यलक्ष्म्याः तद्रूपिण्या नायिकायाः सुविहारैकभूमिः विशिष्टं केलिस्थलं, भगवतो विष्णोर्भक्तिरूपिण्या देव्या मूलं पीठं मूलाधिष्ठानं सिंहासनं वा एतद्रूपं राज्ञोऽस्य वक्ष उरो द्विषतां शत्रूणां क्षोभं भयं वित्रासं धत्ते धारयति वितनुत इति भावः। मालारूपकम्।

63 फुल्लाम्भोजमिति। यत् यस्मात् विलसत् सौरभं सुगन्धियुक्तं फुल्लं विकसित-मम्भोजं पद्मं भ्रमरं द्विरेफमुच्चैरतिशयेन कर्षति आवर्जयति इत्यत्र किमिव चित्रमाश्चर्यं नास्ति। किन्तु हरेर्विष्णोः पादारविन्दं चरणकमलं स्वं प्रति

कर्षन्नावर्षणं विदधत् अस्य राज्ञो हृद्रोलम्बो हृदयरूपी रोलम्बो भ्रमरो नोऽस्माकमद्भुतमाश्चर्यं प्रतनोति करोति। रूपकविषमयोः सङ्करः।

64 पीनेति। तत् पीनं मांसलं परिपुष्टं स्निग्धं सुचिक्कणं एतकस्यैतस्योद्दामं विस्तीर्णं पृष्ठं पृष्ठभागः सुचिरं रम्भायाः कदल्याः पत्र दलं भाति शोभते। तत्र दले तावत् अहं शूरान् वीरान् युष्मच्छत्रून् भवद्वैरिणः परिरम्भार्थमालिङ्गनार्थमीहे वाञ्छामीत्थं इति लिखितम्। पूर्वार्धे रूपकम्, उत्तरार्धे उत्प्रेक्षा तयोः सङ्करः।

65 शासतीति। अस्मिन् राज्ञि चतुरम्भोधिवप्रां चत्वारोऽम्भोधयः समुद्रा एव वप्राः प्राकारा यस्यास्तां गुर्वीं महतीं उर्वीं महीं स्वैर्निजैर्विचित्रैरद्भुतैश्चरितैः कार्यैः व्यवहारैः शासति पालयति सतीति सति सप्तमी। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२.३.२७)इत्यस्य सूत्रस्य वृत्तौ 'यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यादिति सिद्धान्तकौमुद्यां भट्टोजिदीक्षिताः। अन्यो बलिभाक् करग्रहीता राजा शासको न नास्ति इत्थं निर्वलिश्रि निर्वलिः त्रिवलिरहिता श्रीः शोभा यस्य तदिति बहुव्रीहिसमासान्तं पदम्; एतज्जठरं राज्ञोऽस्योदरमुच्चैरतिशयेनाख्याति। कथयति संसूचयति। वस्तूत्प्रेक्षा।

66 एतदिति। सुगभीरोऽतिगहनोऽपसव्यावृत्तः दक्षिणावर्तो वृक्षे वृत्ताकारोऽस्य राज्ञो नाभिः तुन्दकूपं लावण्यस्य सौंदर्यस्य वापी वापिका किमु इति वितर्के। यद्यतो हेतोरस्या वाप्या इयं रोमाली जलनीली शैवालराजिः, एषा मलिना कृष्णवर्णा भृङ्गश्रेणी चात्र लक्ष्यते, यद्वा एषा वापी यतो भृङ्गश्रेण्या मलिना श्यामा लक्ष्यते; 'भृङ्गश्रेणी मलिना इति पदद्वयम्, यद्वा भृङ्गश्रेणीमलिना इति समस्तपदं वाप्या विशेषणम्। वितर्कालङ्कारः। 'नाभिः' इति पुंसि प्रयोगः, यद्यपि लिङ्गानुशासनानुसारं नाभिशब्दस्य जठरकूपार्थे स्त्रियामेव प्रयोगो व्याकरणसम्मतः। यथा—'नाभिरक्षत्रिये' इति सूत्रस्य सिद्धान्तकौमुदीकारेण "इयं नाभिः" इति उदाहरणं प्रत्तम्। तत्रैव च "उभावप्यन्यत्र पुंसि" इति सूत्रान्तरेण नाभिशब्दस्यान्यत्र पुंसि प्रयोगो निर्दिष्टः" नाभिः क्षत्रियः" इति। भारविणा किराते उदरकूपार्थेऽस्य शब्दस्य पुंसि प्रयोगो विहितः, यथा—

"समुच्छ्वसत्पङ्कजकोशकोमलै—
रुपाहितश्रोण्युपनीविनाभिभिः ।
दधन्ति मध्येषु वलीविभङ्गिषु
स्तनातिभारादुदराणि नम्रताम् ॥"
(८.२४) इति ।

तत्र घण्टापथव्याख्यायां मल्लिनाथेन 'पुंलिगतायां तु कविरेव प्रमाणं" इति सङ्केतयता प्रयोगस्याऽस्य पुंस्यसाधुत्वं संसूचितम् । सिद्धान्तकौमुदीकारेण "वस्तुतस्तु लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वालिङ्गस्ये" ति भाष्यात् पुंस्त्वमपीह साधु इति वदता नाभि-शब्दस्य पुंसि प्रयोगस्यादि साधुता घोषिता । अनेन विधिनाऽत्रापि यथाकथञ्चित् समाधेयमिति दिक् । यद्वा एतन्नाभिः सुगभीरापसव्यावृत्ता वृत्ता किमु लावण्यवापी इति पाठान्तरकल्पनेन दोषोऽयं परिमार्जयितव्यः । एतत्पाठकल्पनेनोपमेयोपमानयोर्नाभिवाप्योर्लिङ्गाभेदेनोपमानदोषस्यापि निवारणं भवेदिति सुस्पष्टम् ।

67 दिक्पालानिति । तान् प्रसिद्धान् दिक्पालानिन्द्रादीन् ग्रामटीशान् स्वल्पग्रामस्वामिन इव तुच्छान् विदधत् कुर्वन्, विभूत्या समृद्धया पराक्रमेण च पराभवन्नित्यर्थः असौ शत्रुशल्यः यस्य मृगराजस्य (सिंहस्य) राजशब्दं राजोत्तरपदयुक्तमुपाधिं सहते, कान्तारस्थात् वने निवसतः, अस्य शत्रुशल्यस्य भयार्दित भावः, मृगाणां वन्यपशूनां राज्ञ सिंहस्य मध्यलक्ष्मीं कटि शोभां श्रियञ्च सारभूतां राज्यलक्ष्मीमसौ शत्रुशल्यः यत् यतो हेतोः उच्चैरतिशयेन गृह्णाति । काव्यलिङ्गम् । 'ग्रामटी' ति स्वल्पार्थे टिकच् ।

68 रम्भाकाण्डमिति । रम्भाकाण्डं कदलीस्कन्धं सततं निरन्तरं भर्त्सयन्तावपमानयन्तौ करभाणां करभस्य मणिबन्धावधिकनिष्ठिकापर्यन्तस्य करबहिर्भागस्य आभां शोभां हरन्तौ मुष्णन्तौ एतस्य राज्ञः शत्रुशल्यस्योरू जानूपरिभागौ लावण्यश्रियः सौंदर्यलक्ष्म्याः वरः श्रेष्ठो यो हिन्दोलस्तस्य वेल्लन्तौ कम्पमानौ लीलास्तम्भौ क्रीडास्तम्भौ तयोर्भ्रमं भ्रान्तिमुच्चैरतिशयेन विधत्तः कुरुतः । भ्रान्तिमानलङ्कारः ।

69 एतस्येति । अहो इत्याश्चर्ये । एतस्या राज्ञो महती गुरुणी वृत्ते वृत्ताकारे पीने परिपुष्टे मांसले सुसमे समानाकृतिनी सन्धिगूढेऽस्थिसन्धौ सुश्लिष्टे द्वे जानुनी

जङ्घोपरिभागौ लावण्यश्रियः सौन्दर्यलक्ष्म्याः प्रवरोद्याने श्रेष्ठोपवने जाते समुत्पन्ने जम्बीरीये जम्बीरनिम्बुसम्बन्धिनी द्वे रुचिरे मनोहारिणी फले किम् ? वितर्कालङ्कारः ।

70 दिव्येति । दिव्यं यदुद्यानं नन्दनवनं तत्रोद्भव उत्पत्तिर्यस्या सा जाम्बूनदीया सौवर्णी या रम्भा कदली तस्याः स्तम्भश्रियं काण्डशोभां उच्चैरतिशयेन जिघांसू हन्तुमिच्छू एतज्जङ्घेऽस्य राज्ञो जङ्घे करिणां हस्तिन कर्कशस्य कठोरस्य करस्य शुण्डादण्डस्य साम्यं समानतां कथं धत्ताम् ? कथमपि न वहताम् ? प्रतीपम् । तुलनीयम्—

'नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वा-
देकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं
जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥
(कुमारसम्भवे १.३६)" इति ।

परमत्र विशेषः यत्कुमारसम्भवे कविना कल्पनैषा उर्वोर्वर्णने सम्पादिता, अत्र त्वेषा जङ्घयोर्वर्णने कल्पिता ।

71 गुल्फौ इति । तावत् वलती कम्पमाने चञ्चती देदीप्यमाने चामीकरजम्बुनी स्वर्णजम्बुफले त एवोपमानं ययोस्तौ अस्य नृपते राज्ञो गुल्फौ एनं शत्रुशल्यं श्रिता आश्रिता ये जना वनीयकादयस्तेषां सर्वार्थदौ समस्तसम्पत्तिप्रदौ यौ अङ्घ्री चरणौ तावेव स्फूर्जन्तौ शोभमानौ यौ कल्पद्रुमौ तत्र लग्ने द्वे फले किम् ? उपमावितर्कयोः संसृष्टिः ।

72 कूर्मोन्नतौ इति । कूर्मवदुन्नतौ अरुणौ रक्तवर्णौ गूढगुल्फौ अनभिव्यक्तगुल्फौ स्निग्धौ सुचिक्कणौ पीनौ मांसलौ अशिरालौ अव्यक्तधमनिकौ एतस्य शत्रुशल्यस्याङ्घ्री चरणौ यत् यतो हेतोः सरोजं पद्मं पद्मजातिं जयतः, एतत् तत् ध्रुवं निश्चयमेव तत्स्थां सरोजसम्बन्धिनीं लक्ष्मीं शोभामादातुं ग्रहीतुम् । काव्यलिङ्गोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ।

73 भास्वदिति । मृद्व्यः कोमलाः लग्नाः संसक्ता अङ्गुलयो ययोस्तौ, शोणा रक्तवर्णाः प्रेङ्खन्तः स्फुरन्तो ये नखाः नखराः तेषां कान्तिशशोभा ययोस्तौ,

भास्वन्तौ शोभमानौ पार्ष्णी पादपृष्ठभागौ ययोस्तौ, त्यक्तस्वेदौ स्वेदरहितौ, तदङ्घ्री तच्चरणौ यद् भूमिं पृथिवीं न स्पृशतः, कूर्मोन्नतत्वात् तदस्य राज्ञः स्वस्यात्मनो देवावतरत्वं पृथिव्यां देवरूपेणावतरणं वक्तुम् । काव्यलिङ्गम् । पुराणानुसारं देवाः पदा भूमिं न स्पृशन्ति । राज्ञां चरणयोर्वराहमिहिरेण तल्लक्षणं वर्णितम् ।

"अस्वेदनौ मृदुतलौ कमलोदराभौ
शिलष्टाङ्गुली रुचिरताम्रनखौ सुपार्ष्णी ॥
उष्णौ शिराविरहितौ सुनिगूढगुल्फौ
कूर्मोन्नतौ च चरणौ मनुजेश्वरस्य ॥"
बृहत्संहितायाम् ६७ २) इति ।

74 ऊर्ध्वामिति । अहो इति हर्षे । यत् यतः पद्मरम्यौ कमलमनोहारिणौ एतदीयौ एतत्सम्बन्धिनौ चरणौ पादौ दीर्घां विस्तृतां ऊर्ध्वामूर्ध्वगामिनीं रेखां लेखां धत्तो धारयतः तत् लोके जगति अधस्तात् रचितान् पादाधः स्थितान्, विलसन्त्यश्चार्व्यः शोभनाः चूडाः शिखा येषां तान्, राज्ञां करदभूपानां मूर्ध्नः शिरांसि शसतः कथयतः । काव्यलिङ्गम् । तुलनीयम्—

"अधो विधानात्कमलप्रवालयोः
शिरःसु दानादखिलक्ष्माभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा
पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥"
(नैषधे १.१८) इति ।

75 एतस्येति । अहो इत्याश्चर्ये । अयं द्विजराजो विधुरदद्याधुना तस्य राज्ञः मुखशोभया वक्त्रकान्त्याऽभिभूतः पराभूतो भीतस्त्रस्तः, इत्यहं मन्ये कल्पयामि । अत एवासौ चन्द्रः राज्ञोऽस्य प्रेङ्खन्तः स्फुरन्तो ये नखास्तेषां सङ्घैः समूहैः तद्रूपिणीभिः स्वकलाभिः शत्रुशल्यस्यास्य पादपद्मं चरणकमलं शरणं प्राप्तः शरणमागत इत्यप्यहं मन्ये सम्भावयामि । उत्प्रेक्षाद्वयोः सङ्करः ।

76 एतस्येति । सद्यो झगिति मादयन्तो मदशालिनो ये द्विरदा गजास्तेषां इन्द्रस्य श्रेष्ठमददन्तिनः ऐरावतस्य गतिरुपमानं यस्याः साऽतिमन्द्राऽतिमन्थरा तस्य

राज्ञ अङ्घ्र्योश्चरणयोर्गतिर्गमनं जगत्सु लोकेषु इतरेषामन्येषां राज्ञां भूपानामाज्ञां निदेशं सततं निरन्तरं मन्दीभूतां प्रभावरहितां शंसति कथयतीवेति वस्तूत्प्रेक्षा। यद्वा सततं निरन्तरं शंसतीवेत्यन्वयो विधेयः। उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः।

77 एतस्येति। इत्थमनेन प्रकारेण विलसन्ती शोभमाना लक्षणाली सामुद्रिकलक्षणानां आली पङ्क्तिः समूहः एतस्य युवराजस्य स्फुरन्तं देदीप्यमानं ओजसस्तेजसः प्रकर्षमुच्चैरतिशयेन शंसति संसूचयति। सेयं लक्षणाली एतस्य राज्ञः शत्रुव्रात रिपुसङ्घं मेघसङ्घं पयोदसमूहं वातोर्मी वायुलहरीव शतधा विधत्ते शतशः खण्डयतीत्यर्थः। उपमा। वातोर्मीछन्दसो निर्देशान्मुद्रालङ्कारश्च। लक्षणं प्रागेवोक्तम्।

78 कूपैकाङ्कुरुह इति। कूपे रोमकूपे एकोऽङ्कुरुहः एककेशो यस्य सः। अस्य प्रतिरं मकूपमेकमेव रामोत्पद्यत इति भावः। प्रदक्षिणे दक्षिणभागे वलन्ती आवतयुक्ताधाराद्वयप्रस्तुतिर्धाराद्वययुक्ता प्रस्तुतिर्मूत्रोत्सर्जनं यस्य सः। निम्नात्रिः त्रिवली यस्य सः। नवो यो नीरदो मेघस्तत्सदृशः मेघश्यामः, चतुर्षु शरीरावयवेषु भुजाक्षिनासिकाहनुषु दीर्घो विस्तृतः। स्फुरद् देदीप्यमानं स्निग्धमित्यर्थः पञ्चकं पञ्चानां वाग्जिह्वादन्तलोचननखानां समूहो यस्य सः। षट्सु कुक्षि-उदर-वक्षो-नासिका-स्कन्ध-भालेषु उच्च उन्नतः। बहुशोणमतिरक्तं सप्तकं सप्तानामङ्गानां करतल-पादतल-अपाङ्ग-तालु-जिह्वा-ऽधरोष्ठानां समूहस्तेन युतो युक्तः। अष्टाशाविजेता पूर्वादृयष्टदिशां जेता। नवानां द्वीपानामीशः स्वामी। कमलं पद्ममेवोपमानं दशकं दशानां शरीरावयवाणां जिह्वौष्ठतालवास्यमुखनेत्रस्तननखहस्तपादानां समूहो येन सः। एतादृशः सामुद्रिकलक्षणसम्पन्नोऽयं सम्राट् राजते शोभते। एतानि लक्षणानि राज्ञां महापुरुषाणाञ्च सन्तीति सामुद्रिकलक्षणविदां मतम्। तुलनीयं वाल्मीकिरामायणे रामवर्णनम्—

'रामः कमलपत्राक्षः सर्वभूतमनोहरः।
तेजसादित्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसम- ॥

× × ×

त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च त्रिसमस्त्रिषु चोन्नतः ।
त्रिताम्रस्त्रिषु च स्निग्धो गम्भीरस्त्रिषु नित्यशः ॥

× × ×

दशपद्मो दशबृहत्त्रिभिर्व्याप्तो द्विशुक्लवान् ।
षडुन्नतो नवतनुस्त्रिभिर्व्याप्नोति राघवः ॥

(रामायणे ५ ३५.४-२०)

किन्त्वत्र वर्णने भिन्ना परिपाटी दृश्यते । वराहमिहिरेण राज्ञां सामुद्रिकलक्षणं यद् वर्णितं विश्वनाथस्य वर्णने तस्य प्रभावोऽधिक परिलक्ष्यते । यथा —

(१) कूपैकाङ्करुहत्वम् —
"रोमैकैकं कूपके पार्थिवानां
द्वे द्वे ज्ञेये पण्डितश्रोत्रियाणम् ॥
(६७.५) इति ।

(२) प्रदक्षिणबलद्धाराद्वयप्रस्तुतित्वम् —
"द्वित्रिचतुर्धाराभिः प्रदक्षिणावर्तवलितमूत्रभिः ।
पृथिवीपतयो ज्ञेया विकीर्णमूत्राश्च धनहीनाः ॥
(६७.११) इति ।

(३) अन्येषां लक्षणानां वर्णने कविनाऽत्र वराहमिहिरस्य क्वचिदनुसरणं विहितं क्वचिन्न विहितम् । बृहत्संहितायां तु तानि निम्नाङ्कितानि—

'त्रिषु विपुलो गम्भीरस्त्रिष्वेव षडुन्नतः चतुर्ह्रस्वः ।
सप्तसु रक्तो राजा पञ्चसु दीर्घश्च सूक्ष्मश्च ॥
नाभी स्वरः सत्त्वमिति प्रशस्तं
गम्भीरमेतत् त्रितयं नराणाम् ।
उरो ललाटं वदनं च पुंसां
विस्तीर्णमेतत् त्रितयं प्रशस्तम् ॥
वक्षोऽथ कक्षा नखनासिकास्यं
कृकाटिका चेति षडुन्नतानि ।
ह्रस्वानि चत्वारि च लिङ्गपृष्ठं
ग्रीवा च जङ्घे च हितप्रदानि ॥

नेत्रान्तपादकरताल्वधरोष्ठजिह्वा
रक्ता नखाश्च खलु सप्त सुखावहानि ।
सूक्ष्माणि पञ्च दशनाङ्गुलिपर्वकेशाः
साकं त्वचा कररुहा न च दुःखितानाम् ।।
हनुलोचनबाहुनासिकाः स्तनयोरन्तरमत्र पञ्चकम् ।
इति दीर्घमिदन्तु पञ्चकं न भवत्येव नृणामभूभृताम् ।।
(६७.८४) इति ।

(४) स्फुरत्पञ्चकत्वम् —
"स्नेहः पञ्चसु लक्ष्यो वाग्जिह्वादन्तनेत्रनखसंस्थः"
(६७.१०१) इति ।

(५) कमलोपमानदशकत्वम् —
"जिह्वौष्ठतालु चास्यं च मुखं नेत्रे स्तनौ नखाः ।
हस्तौ पादौ च शस्यन्ते पद्माभा दश देहिनाम् ।।" इति
भट्टोत्पलविरचितायां बृहत्संहितायां विवृतौ समुद्धृतं गर्गमतम्" ।
(पृ. ७६७)

79 इदानीमिति । दानीया दानयोग्या ये द्विजा ब्राह्मणास्तेषां निकरस्समूहस्तस्य दारिद्र्यं द्रविणाभावस्तस्य दलने निवारणे सदा सर्वदा कल्पद्रुमं कल्पवृक्षमपि सुमन्दं अल्पं अतितुच्छं रचयन् विदधत्, तं प्रसिद्धं धरणिधराणां धौरेयं धूर्वहं श्रेष्ठं मेरुं सुमेरुमपि धैर्ये धीरतायां लघूकुर्वन् स्वगौरवेणाधःकुर्वन् असौ वीरः शत्रुशल्य इदानीमधुना प्रवरतरायामतिश्रेष्ठायां बुन्द्यां नगर्यां विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्तते । प्रतीपद्वयस्य संसृष्टिः । शिखरिणी छन्दः । रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" इति लक्षणात् ।

80 पशुरिति । अथ सुरधेनुः स्वर्गौः कामधेनुः पशुः, कल्पवृक्षः कल्पद्रुमः स्थावरः गतिरहितः, बलिर्विरोचनपुत्रोऽपि बुधानां देवानां (पण्डितानाञ्च) शत्रु द्वेषी, कर्णो राधेयः शापदग्धः भगवता परशुरामेण दत्तशापत्वात् शक्तिरहितः । हन्तेति खेदे, चिन्तामणिश्चिन्तारत्नं दुरुपलेषु क्षुद्रप्रस्तरेषु गणनीयः प्रस्तर-प्रायः । अत एते सर्वे शत्रुशल्यस्य राज्ञः साम्यं सादृश्यं कथं लभन्ताम् । तस्य

समानतां कथमपि कर्तुमेते समर्थाः न सन्ति । अहह इति हर्षे । मालिनी छन्दः । लक्षणं प्रागुक्तम् ।

81 योऽन्तर्वाणीति । श्रीविश्वनाथस्य सत्काव्ये श्रीशत्रुशल्यचरिते सामुद्रिकं वर्णनम् ।

"इति श्रीशत्रुशल्यचरितविदचोतिन्यां पूर्वार्धे द्वादशः सर्गः ।।"

— समाप्तोऽयं काव्यस्य पूर्वार्धः —

English Translation

ŚATRUŚALYA-CARITAM

CANTO—I

1. Victorious is the assemblage of effulgence of Murari's body, adorned with the rich and lovely anointment of musk and as gross as the new cloud, when in contact with the brilliant reddish yellow pair of jars in the form of Sri Radha's breasts during her embrace.

2. May The Primeval Person (God Visnu), the reservoir of Sri Rukmini's art of love, with his foot stool resplendent by the rays of gems studded on the crowns of the gods, bowing down, surpass others for ever.

3. Let the Prayaga of Hari's feet purify us, where the Ganges has been converted into tri-coloured Triveni due to the rays of 'Vaidurya' (lapis lazulis) and 'Māṇikya' (rubies) studded on the edges of the crowns of gods bowing down before him.

   Note : The Ganges coming out of Hari's feet is white in colour, but being mixed with the radiance of blue lapis lazulis and red rubies, it assumes the form of Triveni, mixed with the currents of Yamuna and Saraswati.

4. We extol perpetually the lovely lotus in the form of Goddess Laksmi's face, which blooms forth as if being observed by the sun and moon together in the form of Murari's eyes.

5. We pay our obeissance to that father (father of the Universe; father of the poet also) Narayana, fearing the Garuda (the son of Vinatā) of the sacred formulae (syllable) of whose name, the terrified snakes of the three big sins of soul, mind and body run away bewildered.

6. May the Sun-god, who has put his feet of rays on the tops of the mountains like the heads of the kings, and who has prompted the chanting of Vedas early in the morning, and who is the cry of approbation for the way-farer and destroyer of the weariness of the lotus, protect us from the evil misfortune.

7. May Lord Sun, the ornament of the lotus-groves, excessively pleasing the "Rajhamsa" swans like the noble kings, but cruel towards the darkness, the thief of wordly riches, purify my sight of intelligence immediately.

8. Why should this sun not blossam forth my speech like the lotus-bud, sealed by the censorious evil talks of the cruel behaviour of haughty disputatious persons like the moon, the creator of night (also, the abode of the evil of night), and immersed in the mass of stupidity (the watery mass of ponds).

9. I am trying to commend the lineage of the sun, as if trying to catch the moon by hand, to swim across the ocean by both the arms, and to climb over the Mt. Meru with the pair of feet.

10. Even the poet Vālmīki, born out of an ant-hill, who is a shady tree for dispelling the exhaustion of goddess Saraswatī, descending on this earth from the celestial regions, became the bard of this dynasty with his poetic composition overflowing spontaneously.

11. 'The liberal' pious acts of the great kings born in this dynasty are —the ocean (the act of the sons of Sagara), the Ganges (the act of Bhagiratha), and the bridge which has its source as the sportive act of anger (as the act of Rama), being a comet of destruction for the family of Rākṣasas.

12. Moreover, the wife of the sage(Ahalyā) immersed in the holy place of the dust of the lotus of his (Rama's) feet, did abandon her stony body at once, destined permanently on account of her sinful adultery with Indra.

13. Had that race of the Lord of the day (i.e. sun) not prompted my talkativeness for its laudation, I would have preferred the restriction of silence, after having very well observed my sluggish intelligence.

14. Though the learned poets have already brought the gem of glory out of the ocean of solar dynasty; does my tongue, an organ of taste, not desire, for the nectar in the form of King Śatruśalaya's glory ? **Note** : Other poets, like Vālmīki, Kālidāsa, Jayānaka, Naya Chandra Suri and Chandra Shekhara have brought out only other gems, the nectar is still to be churned and brought out, and my tongue craves for that nectar. The poet wants to suggest the importance of his composition, which he compares to nectar.

15. The architect of the edifice of this world, Lord Brahmā created sages out of his mind, and Vasistha was supermost and richest by religious austerity among them all. This Vasistha has been the 'Purohita' (Chief-Priest) of the solar dynasty.

16. The lord of Brahmins, Vasistha, undoubtedly surpasses other sages like the enemy of demons, Lord Vishnu, surpassing other gods, as

he is endowed with the pair of eyes as sun and moon, in the form of the bright lustre of his faithful (Pativartā) spouse Arundhatī and his own Brahmanical splendour blazing (shining) together incessantly.

17-18 Having observed the earth over—burdened by the weight of Villainous, warriors, lifted any how by the Lord of Snakes, Śeṣa Naga, and the defeat of Dharma by Kali-Yuga, with his sight of meditation, the great sage Vasistha, desiring the growth of Kṣatriya warriors winnowed by the sacrifice, lighted the flaming sacrificial fire on the altar and offered oblation to it with the sacred formulae (Mantra) prescribed by Vedas.

19. The sage Vasistha. foremost of all the knowers of Atharvan magic, having covered the altar of fire wiih 'Sara' grass (or arrows), offered ablation of mustard, honey, clarified butter and sesamum to the sacred fire with chanting of exclamatious like 'Vaṣat' (वषट्).

20. Then all of a sudden rapidly arose the furious assemblage of numerous blazing lustres like the solar globe itself from the fire-altar, as if from the mouth of the god of Death himself.

21-22 Is it the Sun (lit. Twelve-formed one) ? But he does not travel on earth. Is it the Fire-god ? But that does not spread in the quarter (because it burns upwards). Is it Yama, the doer of dreadful acts like Pralaya ? But he is not brilliant bodied (since he is black in colour). That lustrous mass (emerging) from the fire-altar, whose limbs were adorned with the brilliant halo, who had glittering quarrow, and his body covered with armour, and who was equipped with (four) arms bearing bow, spear, arrows and sword, was proclaimed as Lord Visnu (the upholder of the disc 'Sudarsana) himself by the public after due contemplation as above.

23. Thence arose a frightful human being, corners of his eyes reddened with immense anger, able to conquer the Lord of adversaries with the lustre of his luminous figure, endowed with powerful staffs of arms as long as touching his knees.

24. The sage Vasistha, his eyes tiding with tears of joy, his body instantly trembling with growing horripilation, was delighted with the joy of the ocean, beholding him like nectar-rayed (full) moon.

25. As this person was born as the fire of austerity of the sage, Vasistha himself, from the fire-sticks (Arani) churned by the great Atharvan Priest, he was named as 'Anala' (Fire himself).

26. Since he came down on this earth, bearing four arms, capable of

removing the burden of the earth in the form of villainous kings, haughty with itching sensations on their arms, he become famous (i.e. he was termed) as Cāhuvāna in this world.

27. Then the sage soon installed him on the kingdom of earth in auspicious 'Muhūrta' with the pure and pious water brought from the various holy 'Tīrthas' and consecrated by the Vedic Mantras.

28. The sage Vasistha, son of Mitrā-Varuna, beholding that sole wonderful warrior of the solar clan, with his eyes full of the nectar of over-whelming joy, blessed him at once—"Be victorious over the foes."

29. The terrific, valourous lustre of him, installed on the kingdom of earth by the sacred sage, knower of all the mysteries of Vedic hymns, shone forth like the lustre of a gem, sharpened on the whetstone.

30. He was Dharma himself, but not harsh in punishment (like Yama); he was Bhima (frightful for the foes), but not enemy of minsterels (not an enemy of the Magadhan King Jarāsandha like Bhimasena, the son of Kunti), he was crowned warrior (Kirītī-Arjuna) but not averse to kindness etc. (like Arjuna, who was averse to the Mahābhārata warriors like Kripācārya, etc.), his name was 'Anala' and also 'Nala' (नाम्नाऽनल: and नाम्ना नल:), but he could not be overpowered by Kaliyuga (as Nala was, per Nala episode of Mahābhārata). (**Note** : The figures of speech 'Śleṣa' and 'Virodha').

31. Though 'Anala' (Fire) by name, he had irrigated this earth, as if fallen unconscious, after being tormented by the heavy taxes imposed by cruel kings like the torturous heat of the sun and burnt by the wild fire nf maladministration, with the flood of pure water of his flawless life bestowed by him.

32. He, the courageous one, bearing the staffs of his arms, capable of protecting the three worlds, after having killed the demon Dhūmraketu, the cause of vice, slew (murdered) the haughty Jambhaketu.

33. Uttānaka, soliciting for the fees (Daksinā) of his guru and receiving ear-rings of Indra, being impeded and robbed by Taksaka, while fetching them, thought of Indra himself for help and contemplated on him.

34. Then Indra, the upholder of the 'Vajra', pleased with Uttanaka's invocation, threw the terrific thunderbolt on the nether lands for cutting Takṣaka, and for dispelling the fear of Uttanaka.

35. Tormenting the heavy back of the great Tortoise (Kurmāvatāra), and shaking all the hoods of Sesa Nāga, the fall of the thunder-bolt

after breaking the earth, terrified that serpent Takṣaka.

36. The trembling serpent Takṣaka, his pride shattered by the fall of thunder-bolt, returned those two precious ear-rings to the lord of Brahmins, Uttanaka, with folded hands.

37. (One day, it so happened) The great sacrificial cow, Kāmadhenu, of Vasistha, the son of Mitra-Varuna, fell into the earthly pit created by the fall of thunderbolt, while grazing nearby, and the sage brought her out of the pit through his magical power.

38. Then the kind sage, having at once gone to the Himālayas, the father of goddess Gauri and having brought its top, named Arbuda, filled up that cavity with it for the welfare of the world.

39. Even the Vindhyas became useless in respect of its lofty height and prominence, reaching the heaven, crossing the limits. Whose speech does not become **sluggish** in describing, this mountain, Arbuda ?

40. This moutain is endowed with lofty peaks (प्रस्थवान् is weighable with the weight of 'Prastha) but is also vast in dimension (endowed with a body immeasurable and unweighable), it has profound beauty of bamboo trees (सद्वंशलक्ष्मी:, born of a rich family), but not lying on earth (नो कुलीन:, not noble), it has huge bushes (प्रवृद्धगुल्म:, has enlarged spleen) but rich with minerals (धृतोरुधातु:, has good bodily secretion of seven Dhatus, like serum, blood, flesh, fat, bones, majja and semen), and creates fear but resplendent with fearless environment.
(**Note** : Figures of speech 'Śleṣa' and 'Virodha'.

41. The lunar deer, with his neck curved for grazing the grass, mistaken by the illusion of the lustre of blue sapphires on the high tops of this mountain, become the target for the hunting pastime of the children of the warriors here.
(**Note** : Figure of speech 'Bhranti').

42. The cloud, full of sweet mass of waters, leaning on its table-land, broke up the penance of the Chātaka birds flying high above, for the drinking of Swāti water with their upward beaks.

43. The group of Vidyādharies (demi-goddesses), invisible even to the sun since living in the deep houses of the caves of this mountain, dallied with their lovers full of immense love even in the day time (thinking it as a night).

44. Sri Cāhuvāna, resided on the Arbuda mountain, with lofty peaks licking (i.e. touching) the sky, having slain the demons, enemies of Dharma with his sharp sword.

45. The great hero, engaged in the establishment of fearlessness for the three worlds, prompting his subjects for the path of righteousness, procreated a son named Sāmanta, as brave as another lustre of the military tribe (Kṣatra) itself.

46. We surmise that he (Sāmanta) was really the sun himself, who had placed the weight of his feet on the heads of the kings like the weight of solar rays on the peaks of the mountains, and had conquered the fortunes of the quarters and endowed with the beauty of the face winning over the quarters, having illuminated the fortune (Lakṣmī) by gathering tributes from the tributary rulers, like the sun, radiant with his rays blooming forth the lotuses (or in whose luminous hand the beautiful mark of lotus as an "auspicious bodily mark of palmistry was visible).
Note : Figure of speech श्लेष in महीभृत्कुलमूर्धदत्तपादप्रभारं, जितदिङ्मुखश्री, and स्फुरत्करोद्भासितचारुपद्मः translated with double meanings).

47. The king Mahādeva, was born from him (Sāmanta), the graceful movement of whose eyes was overwhelming with the bestowing of grants and hence fulfilling the desires of the mendicants and who had delighted the good persons with the fervour of his graceful deeds.

48. Of him was born a son, the first god of the earth like Kārtikeya, who had pleased the noble with his wonderful mighty valour like mother goddess Pārvati with his wonderful valour, had a great army like Mahāsena bearing a befitting epithet and had gracious power like the powerful 'Sakti' (Javeline) borne by Kartikeya as his arm. (**Note :** श्लेष in नन्दितार्यः, स्फुरन्महासेनः and उदारशक्तिः which have two meanings translated as above).

49. From him was born king Bindusāra, with the stretch of his arms running upto the three worlds, himself uncheckable by innumerous warriors in a battle; and endowed with good thoughts shining with the desire of performing righteous deeds.

50. He was termed as Bindusāra on the earth, because his glory was without a slight drop of disfame, and his valour had transformed the ocean of the great armies of his enemies into just a drop during the fight.

51. From him was born Udārahāra, bearing permanently the garland of brilliant glories; with its middle gem as beautiful as the moon, glittering like the spotless pearls of stars and charming with the beautiful threads of his meritorious qualities.

45. The great hero, engaged in the establishment of fearlessness for the three worlds, prompting his subjects for the path of righteousness, procreated a son named Sāmanta, as brave as another lustre of the military tribe (Kṣatra) itself.

46. We surmise that he (Sāmanta) was really the sun himself, who had placed the weight of his feet on the heads of the kings like the weight of solar rays on the peaks of the mountains, and had conquered the fortunes of the quarters and endowed with the beauty of the face winning over the quarters, having illuminated the fortune (Laksmī) by gathering tributes from the tributary rulers, like the sun, radiant with his rays blooming forth the lotuses (or in whose luminous hand the beautiful mark of lotus as an "auspicious bodily mark of palmistry was visible).
Note : Figure of speech श्लेष in महीभृत्कुलमूर्धदत्तपादप्रभारं, जितदिङ्मुखश्री, and स्फुरत्करोद्भासितचारुपद्म: translated with double meanings).

47. The king Mahādeva, was born from him (Sāmanta), the graceful movement of whose eyes was overwhelming with the bestowing of grants and hence fulfilling the desires of the mendicants and who had delighted the good persons with the fervour of his graceful deeds.

48. Of him was born a son, the first god of the earth like Kārtikeya, who had pleased the noble with his wonderful mighty valour like mother goddess Pārvati with his wonderful valour, had a great army like Mahāsena bearing a befitting epithet and had gracious power like the powerful 'Sakti' (Javeline) borne by Kartikeya as his arm. (**Note** : श्लेष in नन्दितार्य:, स्फुरन्महासेन: and उदारशक्ति: which have two meanings translated as above).

49. From him was born king Bindusāra, with the stretch of his arms running upto the three worlds, himself uncheckable by innumerous warriors in a battle; and endowed with good thoughts shining with the desire of performing righteous deeds.

50. He was termed as Bindusāra on the earth, because his glory was without a slight drop of disfame, and his valour had transformed the ocean of the great armies of his enemies into just a drop during the fight.

51. From him was born Udārahāra, bearing permanently the garland of brilliant glories; with its middle gem as beautiful as the moon, glittering like the spotless pearls of stars and charming with the beautiful threads of his meritorious qualities.

52. From him, endowed with wonderful glory, was born a son, named Aśoka as beautiful as the cupid himself; lord of the fortune, overcoming the foes and uprooting perpetually the grief of his subjects.

53. From him was born Śakāvidāra, the place of resort for the fortune of victory (Jaya Lakşmi). He then procreated a son, Sri Vīrasimha, who had terrified, the clan of his foes excessively.

54. He, a lion for the elephants of his enemies, procreated Varasiṃhadeva, comparable to Indra, whose hand had destroyed the great poverty of the medicants by the gifts bestowed in hundreds of crores like Indra destroying the demon Bala with the blow of 'Vajra'.

Note : The words बल (1. Power, 2. Bala demon) and शतकोटि (1. gift of multi-crores, 2. blows of thunderbolt have 'double entendre).

55. Then was born his son Vīradanda, who had weilded his spectre (the staff of punishment) with his mighty valour for his foes; who himself be got Arimantra, a magical formula for the destruction of his rivals.

56. From Arimantra was born the king Mānikyarāja firm and steady in the battles, the bore the burden of his kingdom, having procreated ten wonderfully agreeable sons.

57. The king Manikyaraja, the beauty of whose lotuses of feet was rubbed by the lusture of gems studded on the crowns of the bowing heads of the kings (Lit. masters of earth) had been holding the umbrella of glory as white as the rays of the glittering autumnal moon.

58. Being slowly overpowered by the approaching old age, the king Manikyaraja, ruling over the earth with the pillars of victory in the form of his arms, worshipped the groups of gods (lit. those without old age) residing in the mid-land between the two rivers, famous as the secret place of deliverance, where the Triveni, bestows all the four aims (Dharma, Artha, Karma and Moksa).

59. Then was born the ornament of his dynasty, the great king, Loharāja, with the beams of his arms waving when embraced by the fortune during the amorous sports of striking victories over the three worlds, who, having performed meritorious-deeds on earth and having killed the demon Carmaśarmāsura, gratified the goddess Khaḍgakālā with the sumptuous offerings of his (the demon's) flesh and fat.

60. Thus the birth of the Cāhumāna ends in the beautiful poem, Sri Śatruśalyacarita, a composition of the learned poet Viśwanātha, who was born in the womb of Rukminī, by Sri Vaidya Nārāyaṇa, the head-gem of the goddess Saraswatī, the pearl-gem of the bamboo-like family of great Vaidyas; the sun for the lotuses of literacy compositions.

CANTO—II

1. In his lineage, the sole repository of the merits, generosity, valour, etc., was born Sri Vāsudeva. the first god of the earth; who had worshipped the god Vāsudeva; like the moon born out of the ocean.

2. He, possessing the beauty of his fair body as blue as 'Nympaea lotus' (blue water lily), stout fleshy shoulders and broad thick chest, was the Erotic Sentiment itself though also the Heroic sentiment, attracting the worlds (i.e. public) with the weight of his vanity.

3. His beauty was excellent like his form; his form was as delicate and soft as his speech, the sweetness of his speech was as unfathomable as his intelligence; and his intelligence was inferrable by the fruition of its result.

4 He always treated his brave soldiers like his friends; his friends as his relatives, his relatives as his own self, and his self as Indra with his fortunes.

5. His hand was a Kalpavṛkṣa (the celestial tree of Desire), his kind glance a 'Chintāmaṇi' (the gem of wish), the sweetness of his speech "Kāmadhenu" (the heavenly cow). Why should then he not fulfil the wishes of the good people ?

6. It is strange that this lion among human beings is a lover of mighty elephants of good breed (while the lion is averse to elephants). Truly he is the victorious Indra, who has sealed the demon Bala (has bestowed the gold coins). Decidedly he is Lord Śiva, whose good conduct fulfils all the wishes (who has the conduct of destroying the cupide कामदसच्चरित्र:) and he is the Lord of Fortune (Viṣnu, the lord of Laksmi, श्रीश:), and his eyes are as long and lovely as the lotus.

7. Truly he is the lord of Fortune (Lord Viṣnu, the husband of Laksmi as well as a great man (the supreme Being. पुरुषोत्तम), but he has not uprooted the earlier gods (i.e. demons). He is the God Cupid, but not the enemy of all the beings (सर्व शत्रु:) or the enemy of God Śiva (सर्वशत्रु: for the sake of 'double entendre). He is the giver (bestower) of riches, a Kubera, but not a friend of the crooked one (a friend of uneven-eyed one i.e. Śiva like Kubera).

8. The Śākambharī region bears immensely the fortune of prosperity,

laughing over the fortunes of the heavens, with his master as Indra, surpassing it, while he (Vāsudeva), the upholder of the superior valour, was ruling over it.

9. In him (i.e. during his kingship) the state of decline only belonged to the digits of the moon during dark fortnight and also of one full of evils, but not to the arts and skills of the people, who on the contrary always prospered; the low or mean action only belonged to water (flowing downwards), not to the citizens, and the company of fools (or the company of water जडैकसङ्गः) belonged only to the lotus, and not to the human beings living in his kingdom.
(**Note** : Figure of speech परिसङ्ख्या based on श्लेष).

10. Fickleness of nature and the tendency of crossing over the ears were visible only in the eyes of the damsels having intoxicated glances, as no where else in his kingdom fickleness of character and discarding the Vedic precepts were to be seen. Following the crooked people was not found anywhere, only the pair of the eyebrows followed crookedness. The mispronouncing of lover's or beloved's name (गोत्रस्खलनं) could be found only during the erotic sportings of the lovers, as no where else the falling down of the people from the family tradition (गोत्रस्खलनं) was to be seen.
(परिसङ्ख्या based on श्लेष of लोलत्वं, श्रुतिलङ्घनत्वं, जिह्वानुगत्वं and गोत्रस्खलनं, having two meanings each).

11. The manifestation of sound (as the theory about origin of language) was only in case of the Grammarians, as explosion or outburst of sound was not found at any other place; the language of deceit and discussion was only to be found in the polemic debates of the Naiyāyikas, as the public did not resort to deceitful language and unnecessary litigation; only in the philosophical theory of Mimāmsakas there was absence of inquiry about Ishwara i.e. God (as the efficient cause of this Universe), the pubic being believer in God talked about Him; and only in the philosphical views of Vedāntins, the whole universe was illusion, the people never speaking untruth.
(**Note** : परिसङ्ख्या based on श्लेष).

12. Such was that king, with the prosperous fortune of his valour, doubly increased by the sacred formulae applied by Vaśistha, that even the least violation of the heroic military norms was never visible in case of soldiers, like the downfall of Triśanku from the path of stars.
(**Note** : श्लेष in नक्षत्रमार्गस्खलनं—न क्षत्रमार्गस्खलनं).

13. He is like the ocean, the basis of lives of all the human beings (the basis of waters). the root cause of Fortune (the root cause or father of the goddess Lakṣmī); and endowed with terrible valour blazing internally like the hidden submarine fire and also the confluence of armies (or rivers in the case of ocean).

14. This noble king, dextrous in performing the righteous deeds, having shattered the allies of the families of his too much haughty foes, and famous in the three worlds as a source of victory, bore (i.e. ruled over) the earth like Indra, ruling over heaven; being capable of performing his actions at this celestial royal assembly Sudharmā, and having cut down the wings of great haughty mountains and known to be the cause (i.e. father) of Vijaya (the Mahābhārata hero Arjun). (Note : उपमा based on श्लेष).

15. Trodding over the three world with his foot, and tying the powerful demon king Bali (or collecting tributes) even in the nether region, he varily bore the beauty of Trivikrama (Virāt) himself, entering the sacrifical arena.

16. His terrific arrow, competent in piercing through the vital parts of the bodies of his adverseries, being only covetous for the target, blazed forth immensly, and the sword resposed in his hand (also full of demerits दोष श्रित:), firmly handled by the fist was merciless for the band of desperedos.

17. His assembly, following the legal norms as guided by the sage Vaśiṣtha, inhabitated also by great Brahmins, brave warriors, guardians of forts, and fighters with lances (lancemen), defeats or humiliates the assembly of gods, Sudharmā, inhabitated by just one Moon, Visnu, Durgā, Śiva and Kārttikeya.

18. The threshold of his abode was like Amarāvatī (the capital city of Indra), a birth place (i.e. mine) of elephants like the Vindhya regions; a source of horses like the marshy land (or field) of Sindhudeśa, and a place of response for the great kings.

19. Never was such a glance of him, which did not bestow grace upon his people; never was such a people in his kingdom; who was not prosperous; never was such a prosperity of his public, which was not for the welfare of others.

20. He took up the earth in his hand like a lady (wife), with the attesta-

tion (evidence) of the fire of his mature valour as a witness, and that faithful consort (i.e. earth and wife), considering herself most fortunate, bore forth his wishes, in consonance with her lord.

21. Bearing the burden of earth, capable of being born by all the hoods of Śesa Nāga, this heroic person at once bent down the heads of his adverseries, bearing the crowns studded with dazzling gems.

22. Once this hero desired constantly to conquer the earthly region, having consulted with his ministers about three powers-Prabhuśakti, Mantraśakti, and Utsāhaśakti—as well as four efforts—sāmā, dāma, daṇḍa, and bheda—as prescribed by the political treatises.

23. The hero, properly blessed and consecrated with the religious act of Swastyayana by the learned Brāhmanas, eagerly ordered his ministers to march for invasion at an auspicious period.

24. Then his noble-souled ministers began to equip his four-fold army of chariots, elephants, horsemen, and infantry with their power redoubled by the news received from his wandering spies in the different regions of the rival kings.

25. Then the eight-fold resounding of the war-drums beaten, at once arose like the roaring sound of the ocean of his army, obstructing the power of hearing by ears, breaking the jar of cosmos and destroying the ten quarters.

26. The noble persons bore the royal umbrella as white as the Kunda flower and the moon, befitting the resemblance of his glory over the head of the king, desirous of riding a beautiful chariot.

27. The king, armed with bow, quiver, sword and spear at once marched, being fanned by the moving pair of bright choweries and being respected by the brave warriors with their bowing heads.

28. At that time his yellow-clothed flag shone forth like the yellow-attired form of Lord Visnu, destroying the darkness of foes like the solar light, and illuminated like the Fortune of victory itself.

29. His mightly valour was shining forward like the commanding hero of the front line and then followed thousands of armed warriors bearing the fire-arms i.e. muskets.

30. After that followed the group of mighty intoxicated elephants and after it his guards—the company of warriors–amidst whom the hero, destroyer of his foes, himself went along on his chariot equipped with galloping horses.

31. After him were marching proudly the warriors of the striking force, who had terrified the horde of enemies with their furious arms, and who were like tying posts for the elephant of victory.

32. The ocean presented the tribute of depth, the mountains the tribute of loftiness, the celestial trees—Kalpavṛkṣas—the tribute of bestowing the desired objects, to him, marching for conquest.

33. The band of his armies—a thief instantly stealing the riches of the lives of his enemies—scattering dust in all the quarters and blinding the eyes of the rivals, extinguished (washed off) the Sun, the lamp for the eyes of all the worlds.

34. That dense cloud of the army, pouring down torrential rain-waters of dazzling sharp edges of swords, dried up afterwards the rivers in the way, flowing with the ichor dripping down from the temples of the elephants of the four quarters.

35. The king, equipped with elephants and other army marched towards west, breaking up the bridge of foes, and trampling down the forest of high conceit of his rival kings.

36. Then the king Vāsudeva, equipped with dreadful arrows, captured the warriors of Kāsmira, Sindhu, Vanga, Hūṇa and Trigarta having glittering quivers, like Garuda capturing the snakes.

37. He at once cut down and scattered the rain or rainy clouds of the arrows of these warriors, approaching the battle-field with their encircled bows, through the flood of his swift arrows discharged from his bow.

38. The rivals, desirous of the dominion of heaven, after being initiated and consecrated for the sacrifice of big battle, offered the oblation of their own lives to the furious fire of his valour, ignited by the fire-sticks (araṇī) of the staffs of his arms.

39. The bloody evil-actioned sword handled in the hand by him, the king Vāsudeva forcibly captured the foes at their necks i.e. cut down their throats by embracing them like a bad-charactered libidinous lady;

and likewise the fortune of victory also gladly embraced the king himself.

40. He carried the foes,—easily to be conquered and destroyed, sitting forcibly in the market-place of the battle-field and displaying their lives as purchasable commodities, to be purchased only by righteousness—to the heaven with the volley of his arrows.

41. Having forcibly uprooted the band of adverseries at once and instantly capturing the west, the hero marched towards the quarter of Kubera, the lord of Punyajanās i.e. Yakśas, holding his sword, attracted towards the necks of the foes, like the necks of paramours.

42. Kubera now untruly became the lord of lords (Rājarāja, the epithet of Kubera) in the world, while the king Vāsudeva had marched towards the North, but verily he was the giver of riches (Dhanada), since he bestowed millions of riches of the different kings upon the king Vāsudeva.

43. The victorious king, charming with the sportive activities of fighting, marched haughtily towards Uttarakurus, running for combat, unbearing the pride of the staffs of the arms of his adverseries.

44. The kings of Uttarkurus, dextrous in millitary training, heated by his force of arms, approached him as dazzling as the sun for contest, emitting but their own valour like the solar gems (Sūryakāntamaṇi), emitting out their fire when heated by the solar-rays.

45. He shot them with his arrows entering their bodies as terrific as the growing fire of the Destruction (Pralaya), dispelling them, marching towards him wtth their infatuated conceit of valour of the staff of their arms itching for the combat.

46. The great Kuru warriors could not behold him, dazzling like the hot Sun of Vaiśākha or summer season, with his sharp arrows piercing like the solar-rays, discharged from his dreadful bow outstretced upto the end of his right ear.

47. Then the enemies, whose bodies were inflicted by the poison of the snakes of his arrows, at once approached the resort of this lotus-like pair of feet, a doctor curing poisonous effect for the safety of their lives.

48. Then having conquered Videhas, swooning on account of his invasion,

powerful Audras, deep Magadhās, and the ugly Kāmarūpas, he transformed (lit. made) Mt. Meru as the pillar of his victory.

49. The king Vāsudeva, skillful in removing the great grief of Lakṣmī, dispelling the Dasyus like the dense darkness with the Sun-god 'Puṣan', skillful in removing the grief of the lotus and dispelling the darkness with the heat of his rays.

50. The king of Anga drew him towards himself, like the eastern mountain drawing a cloud, pouring incessently the rain of the sharp edges of swords, bearing the flashing lightening of the flame of weapons; and roaring loudly with the sound of war-drums beaten vehemently.

51. The mighty courageous hero, the sole diamond of the dynasty of Chahumāna, rapidly conquered the king of Angas with his army of intoxicated elephants, and the haughty cavalary forces equipped with gallopping steeds.

52. The auspicious-gloried one, the sole wrestler contesting the match of battle, after having disturbed the Utkala-kings with his arrows more dreadful even than the snakes, cut down the lanced Bhilas with his powerful spears.

53. He, unable to bear the union of the Ganges and the ocean, made also the Saraswati river, fattened with the blood oozing out from the chests of the allies i.e. soldiers of his rivals kings, pierced by the points of his spears to join her husband i.e. the ocean.

54. The Eastern quarter, tortured by the powerful arrows of this mighty warrior, sole hero of the world, placed forcibly the city of Viśāla, like the fortune of victory, as a maiden placing the garland in the neck of her wooer, herself being inflicted by the arrows of Cupid, the Love-god, equipped with five uneven darts.

55. The East, the quarter of Lord Indra, taken by him in hand (i.e. captured), delighted the king having his arms befitting a chivalrous hero, fulfilling his desires, with her face blushing (lit. glittering) like the morning solar disc, as a lady wedded to her wooer.

56. Then the king, endowed with mighty prowess, dextrous in destroying the adverseries, intoxicated with haughtiness, and himself dreadful at sight for the innumerable foes in the battle-field, marched towards the Southern region.

57. No sooner that mighty hero, proud of his sportive combats, stretched along the ends of his bow, than the high head of the king of Vidarbha was lowered down.

58. He i.e. the king of Vidarbha, then offered thousands of elephants unrestrained as they were emitting ichor, and galloping horses as well as multitude of precious gems with glittering beams as tributes to him.

59. Having pierced the firm Āndhras with his crescent-shaped arrows, exhausting the enemies, and having conquered the mighty warriors of Golkundā, the hero contesting with the rival kings, rapidly marched towards the lord of Devagiri.

60. The king of Devagiri, desiring to restrain him rapidly, like the haughty Rāvaṇa, the lord of Laṅkā restraining Rama, fought against him competitively, discharging the serpent-noose (nāgapāśa) of the showering arrows.

61. The king Vāsudeva, with his valour redoubled by the excessive rage, cut down at once the serpent-noose of the arrows, discharged by the enemy in the battle-field with the heavy winds formed by the wings of the multitude of his flying arrows like flying Garudas.

62. The Lord of Devagiri, equipped with four-fold army of chariots, elephants, cavaliers and infantry soliders, attained the five-folded form (i.e. died) instantly only with his single arrow, and achieved the abode, (lit. position) of Indra (i.e. heaven), breaking through the Sun, the seven-horsed diety.

Note : It is a belief according to Indian tradition that a Yogi and a warrior, killed in battle, attain the heavenly state, piercing the solar globe and passing through it.

63. His (king Vāsudeva's) sword bathed during the battle in the sacred stream (tīrtha) of blood flowing from the temples of the tuskers of his rival kings, like the tritha of the sacred river flowing through the huge mountain rocks; and lo, the lower lips of the consorts of his enemies became devoid of red colour and their eyes had the collirium washed off at once.

Note : Even though the spouses of his enemies had not taken any bath, they had such symptoms due to the demise of their husbands slain by the king Vasudeva's sword, and hence applying neither red colour to their lips, nor collirium to their eyes, being widowed themselves.

64. Having conquered the brave Dravidians rapidly and having made the Karṇāṭa as tributary, that great king in the form of lion caused the Firangas to flee from the battle-field like the deer at the sight of a lion.

65. The right southern people, abandoning enemity (another meaning, left-sidedness, Vāmabhāva) like the right-sided ones, obeyed his orders, touching his feet with their heads, knocking down the crowns on the ground.

66. The ocean of enemies offered him the moon of his glory and the Lakṣmī of the fortune of victory, after being churned by the Mt. Mandāra of his staff-like arms with the help of Vāsuki, the king of serpents in the form of his poisonous arrows.

67. Having uprooted the proud enemies and re-appointed humble ones, that fortunate hero among human beings marched towards the Gurjaras after having received the presents from them.

68. He, equipped with the bow, capable of winning over the haughty kings, instantly bore the radiance of the terrible mid-day Sun, scorching the forehead; while discharging the volley of arrows in the battle-field.

69. Having shattered the king of Gurjaras; Śrīvāsudeva, the foremost lord of the earth, who had even surpassed the lord of gods i.e. Indra with his royal lustre, went to Saurāṣṭra, delighting the people of his own kingdom.

70. He, the fright incarnate for the itching sensation of the arms of these foes, fought such a battle that the sun was covered by the shower of arrows, and the friends and foes among warriors could be discerned only by names.

71. The warriors struck each other forcibly, biting tightly their lips and considering their duty towards their master uppermost.

72. Thus there arose a quarrel among the nymphs, beholding the brave warriors approaching, heaven, having fought in the battle, ignoring their own lives—"This is my lover; and not yours, etc,".

73. This king, lofty with his prestige, splendid in battle with his dazzling sword and pungent arrows, shone forth immensely with his excessive

wrath after beholding the energetic army of the adverseries.

74. No sooner the redness of rage appeared in the eyes of the king, exhibiting mighty prowess in the battle; than the red colour of the 'bimba'-like lower lips of the ladies (lit. the heavy-hipped ones) of the rival warriors was, wipped out at once.

74. The brave hero at once angrily managed the satisfaction for the hungry arrows like starving serpents in the battle with the feast of the lives of his enemies, out of kindness towards them.

76. His anger is not the God of disaster. Verily, it is not his mouth, but the bow of the king. The arrows discharged by him and the crooked tongue of his sword was hardly visible in the battle (lit. was invisible).

77. His sword, the night of Death for his rivals, intoxicated after having drunk the liquor of the blood of his enemies, ate for a long time the lives of his foes with the condiments of their flesh like a glutton lady goblin.

78. Alas, he made that spouse of the rival king being laughed at by the village folk, who was never beheld even by the Sun, having veiled herself by from head to foot.

79. The stage of the battle-field sang his glory, with the notes of winds passing through the hallow openings of the heavy throats of his beheaded foes cut down by his sword, together with the biosterous laughter of the dancing goblins.

80. Having decidedly carried the rich army of the king of Sāurāṣṭra to the harem of Yamarāja, this king, haughty with prestige, snatched from him the war-elephants and the horses of Saindhava breed i.e. of the Sindhu region.

81. Fearful at sight in the battle, like the mid-day sun, burning with his rays amidst the sky, this victorious king ran forcibly and rapidly to capture the king of Mālavā.

82. Hearing about the king (i.e. Vāsudeva), whose mighty arms were haughty due to the excessive heat of prowess, approaching towards Mālvā, the diplomate king of Mt. Maṇḍapa (i.e. Māḍṇu) at once established friendship with him.

83. Then this steady king Vāsudeva, who had destroyed his foes, having accepted the king of Maṇḍaps as his friend, marched towards the Dhanva (desert) region, bending down the earth with his army.

84. Then ensued his furious fight, firm in strike, against the desert princes; which had filled the sky and earth with the resouding twang of the hard ends of the bows.

85. Having attired themselves in the most charming armours, the warriors of the desert region, discharging the volley of arrows, piercing through the vital parts of the body, played the game of dice of battle for a long time, staking their own lives.

86. His sword appeared instantly shining forth like the lightening amidst the dense cloud of the huge army, dreadful because of the roaring sound arising from the grinding and clashing weapons of each other.

87. The king at once surpassed them all, blunting the sharp edges of their javalines, making dull and useless their swords, and cutting down even the volleys of their arrows, with his own arrows discharged from the powerful bow.

88. The Samsaptaka warriors of the desert region fought a fierce fight even abandoning all of their vehicles and shouting again and again 'Rama, Rama'.

89. The desert warriors, clad in beautiful gold armours. pierced by the arrows in their bodies while fighting. emitted too much of blood like the summits of the mountain of gold, emitting the mass of red minerals like Gairika (i.e. red-chalk).

90. The king at once transformed that arid desert region into a land irrigated by the river of flowing blood of his foes, where even the ocean could even not obtain a drop of water in the dream.

91. Cutting down the tree of the fortitude of the great warrior youths of the desert with the axe of his mighty sword, he shone forth again sharpening it on the whet-stone of their bodies.

92. He established the purity and faithfulness of the earth, like the purity and faithfulness of the wife, having performed the ordeal (Divya) in the ponds of blood, oozing out at once from the bodies of the enemies shattered by his sword.

NOTE—The faithfulness of a lady towards her lord was established by some type of ordeal out of ten prescribed ordeals like Agni-divya, Jala-divya etc., e.g. Sita establishing her purity through fire. Here the poet has taken the imagery from jaladivya Parıkṣāh.

93. The king Sri Vāsudeva, after having uprooted the king of the desert with the volleys of his arrows touching his ears and acting like death for the rival warriors, installed his son in his position (status).

94. Fighting against rival kings in the battle, the courageous king Vāsudeva, having milked the riches from the earth, tightly tied the elephant of victory to the post of his own arm with the ropes of his merits.

95. The rival king any how alive, though noble, entered the sea out of fear like the Mt. Menāka lying down low on the earth, while the king Vāsudeva was cutting down the allies of the families of his foes with the volley of his arrows swifter than the thunderbolt of Indra, cutting down the wings of the mighty mountains.

NOTE: The poet has used "double entendre" in—

i) गोत्र i.e. family and mountain,

ii) पक्ष i.e. ally and wing,

iii) कुलीन i.e. noble and lying low on the ground,

iv) भूभृत् i.e. king (rival) and the mountain (i.e. Mt. Menāka).

96. He, the diamond of the solar race, the sole brave hero in the whole world, who had conquered the globe of earth and had surpassed Indra by his valour, made at once the four oceans as the four pillars of victory in the respective four quarters after killing down the rival kings.

97. The initiated and consecrated Emperor Dıkshit Vāsudeva, whose glory had reached the three worlds, and whose form was noble and charming, and who had worshipped the gods, and had knots of his fingers hard on account of their rubbing against the bow-string, performed the sacrifice, pouring down the rain of gold bestowed incessantly upon the mendicants.

98. The incessant oblation offered by the priests, performing the sacrifice with the auspicious wooden ladel, appeared splendid in the extensive

sacrificial ceremony. The sound of the bold chanting of Anuvākyā hymn, recited by the chief priest or priests at the time of final offering of oblation, served as the proper messanger for inviting the group of gods.

99. The king, Vāsudeva, of pious and spotless form endowed with his lotus Like feet, radiant with the gentle smile of the morning Sun of the rubies studded on the crowns worn by the heads of the assemblage of bowing kings, enjoyed the abode of Indra (i.e. heaven) like the nectar, after having bestowed sumptuous riches upon the learned.

100. Thus finishes the description of the sacrifice performed by Vāsudeva in the poem Śatruśalyacarita, composed by Viśwanātha, born in the womb of Rukmiṇı by Sri Narāyaṇa etc.

CANTO—III

1. Then the king Gopāla, born in this dynasty, the ear ornament of the whole world, protected the great earth like a cow, plundering the wretched Dasyus and prospering the righteous deeds.

2. The great king (lit. Swan among the kings), delightful for the eyes of the public, but envious of the evil folk (lit. abode of the evil deeds) married (lit. held in his hand) the noble lady in the form of this earth like a goose, resplendent with the charm of the splendid heart like a swan resplendent with the charm of Mānasa lake.

3. This king, having attained the vast kingdom with his innumerable qualities like valour, nobility etc. earned by his instant rising glory, placed his foot on the throne as well as the heads of the tributary kings.

4. Lowering down the rival kings just like the petty officers of hamlets, he with the furious heat of his majesty like that of a submarine fire, transformed his soldiers competable with Indra through the riches or fortunes bestowed by him upon them.

5. This king, who had burnt the band of his foes, being equipped with brilliant lustre of dignity, milked ample riches like a milkman, having made his own dignity a calf and having distilled (i.e. milked) the earth as a celestial cow.

6. Once the deity Somanātha, whose pride was restrained by the ocean itself, appeared in the dream of the king, instructing dutifulness to his subjects.

7. He addressed him in a charming voice, as sweet as the fine nectar; satisfying the travellers with his flowing waves, equipped with love and majesty and full of deep meaning.

8. "O King, the wicked Yavana kings will be born, slaughtering the cows and uprooting the religion or righteousness. You should protect this earth from them".

9. "Placing me in a golden jar, you should face the foes immediately. Myself, pleased, shall bestow upon you the Vāruṇāstra, with which you will kill these wicked Yavanas".

10. Having given this good advice, and having addressed the king like this, the God Somanātha disappeared. The king too woke up in the morning, contemplating about this strange purport of the dream in his heart.

11. The respected Brahmins, asked by him told, "O king, this dream has auspicious results. It suggests the fortune of all pervading kingdom for you, after having crushed (lit. made unconscious) the Mlecchas".

12. Having heard these words of the Brahmins, knower of the sacred hymns, he, having large eyes touching the ears, did according to what he had observed in the dream, with his heart delighted with over-flowing joy.

13. The powerful king started to conquer the Mlecchas in an auspicious period of victory, suggested by the astrologers, after duly considering the four efforts and three policies, and the activities of the enemies through his spies wandering in disguise.

14. It is strange that the roaring sound of his mighty war-drums, an-impediment for the shower of ichor from the temples of the celestial elephants of the four quarters, caused the pouring down of rain in the form of tears in the region of the eyes of the spouses of his rival kings.

15. This sole leader of the battle, looking furious out of rage, made at once the haughty Mlecchas unconscious, exhibiting the sharp Vāruṇāstra, inflicting the vital parts of the bodies of his enemies at the Mt. Devagiri.

16. The king Sri Gopāla, the Kalki for the destruction of Mleccha kings, having captured Devagiri and having entered the Mt. Aseri paid obeissance to the goddess Āśāpurā there.

17. Then the goddess Āśāpurā, the exhibiter of the multitude of wishes, bestowed upon this king a boon, "May you beget a son alike yourself, who would rule over the earth, having conquered the adversaries.

18. Then Sri Gopāla, the sole destroyer of the family of foes, daily contemplating the son of the cowherd (i.e. Lord Krişna) in his mind, begot a son named Candrasena; his desires already fulfilled by the goddess Āśāpurā very well.

19. This brave Candrasena was truly the Moon himself, as he was renowned as the lord of Brahmins (Dvijarāja—an epithet of the moon); was pleasurable with his moonlight of glory, rising with all of his digits and as he was the destroyer of the fortunes of his enemies like the Moon the destroyer of the lotus species, his (her) natural enemy.

20. The king Candrasena, who had burnt the army of his foes with his prowess, while shining (i.e. residing) at Āserī, procreated a son, chief of his family like Indra and a daughter resembling the goddess Śakti i.e. Durgā herself.

21. This wonderful prince, bearing the natural lustre like that of the multitude of the cruel (twelve) Suns, rising at the time of the final

destruction of the three worlds, played in the beautiful table-land of Mt. Āseri.

22-23. There resided a dreadful demon, Asthipāla by name, haughty with his trembling eyes and his tongue as furious as that of a serpent;—who had obtained a boon from the Lord Brahmā, having undergone a penance for many a year for pleasing him, and having pleased him, asking him for a boon, "May a mortal being not kill me on this earth", eating fresh human flesh daily.

24. Having captured the prince playing near the mountain alive, brought by his servant, the cruel cannibal devoured him like a lion devouring an elephant.

25. The princess, resembling the daughter of a god, playing in the mountain, having beholden such a state of her brother caused by the demon Asthipāla, praised the goddess Āśāpurā in munificient words, weeping incessantly and beating her chest.

26. "O Mother goddess, you are remembered as the primeval power of Lord Viṣṇu, the upholder of the Disc Sudarśana; you are adorable in the worlds as a source for the welfare of the devotees. Indra, after receiving the grace of your lotus-like feet, could enjoy happiness, ruling over the heavenly region".

27. "O Mother, may that lotus of your feet protect us, which holds the beauty of the artifical colour applied by the lustre of rubies studded in the crowns of Indra, bowing down again and again before you".

28. "The Two thousand tongues of Śeṣanāga are useless, since they are unable to extol you. But I conceive, his heads, i.e. thousand hoods are fortunate enough, since they bow down before the lotus of your feet".

29. "O Mother goddess Gaurī, this Girīsha, i.e. Lord Śiva, who has his fortune dextrous in destroying the cupid (lit. bodiless) instantly, is your lover. I presume that your glance at once transforms the enemies bodiless (i.e. cupids), out of competition with him (Lord Śiva) sportively.

30. "You, with your face glittering with the envy against the full moon and with your eyes, reddened with the radiance of intoxicating wine, kill the demons just with your crooked eyebrows, as furious as the bow of the god of Death, during the universal destruction."

31. "O Mother, my paternal family, the ornament of all, is the great Tortoise, and the Śeṣanāga for upholding the family of kings. But my brother (the sole progeny of this family) has been brought to the residence of but never by this murderer comnibal Asthipāla."

32. "O Goddess, since you fulfill all the desires of persons resorting to your lotus-like feet, you have become Āśāpurā. Hence, O Mother, bring my brother at once to life."

33. Having heard the beautiful extolation by the princess with her stammering voicc, the wonderful consort of Bhava (Bhavānī) told him, "Bring forth the remaining limb of your brother, with which I may bring him to life."

34. The delighted princess, thus ordered by the goddess, collected that limb of his body from the earth, which the cruel demon had left from devouring because of its hardness; and she obtained the mass of head bones.

35. Then the princess, desiring to revive her paternal family, took the bones and placed them before the goddess, and requested her paying obeissance. "Kindly bring him to life."

36. Then the primeval power of Murāri, the adorable one, having sprinkled her glances as if full of abundant nectar, brought him again to life.

37. Pleased with her, the goddess blessed him, the progeny of the brave king, telling, "O Son ! arise, and kill the demon Asthipāla, and after killing him, receive his very name. You would become the upholder of your family from today."

38. This brave prince, coming out of the mouth of death, with the grace of the goddess, fought with the demon with no trouble and grinded him shattering his head with fists.

39. Then this demon, the calamity incarnate for the sages, crying loudly, "Ah, leave me, leave me,", at once gave up his life, having entered the victorious arms of the prince.

40. Then the demon Asthipāla—the pleasure mountain of the prince's glory—fell down with his body on the ground, bending low the heads of Śeṣanāga, because of the weight of the earth turning downwards again and again.

41. The prince, the son of Candrasena, after having killed that furious selfish demon, and having received the blessing of Brahmins, came to his home, after paying obeissance to Āśāpurā, his family goddess.

42. The king Candrasena embracing him and donating riches to the Brahmins, named his wonderful son bestowed by the goddess as Asthipāla.

43. Then the prince Asthipāla, installed on the kingdom by his father, shone forth like the heroism incarnate in human form, as tall as a Śāla tree, endowed with well-knit joints, bones, and flesh, broad chest and stout shoulders.

44. The lord of earth with its girdle of seven extensive oceans,the fire of destruction for the enemies, established a beautiful capital city, renowned by his own name like his own fourtune of victory inthe tract-land between the two rivers, or the table-land between the two mountain ranges.

45. His resplendent glory, as white as the milky ocean disturbed because of excessive churning, shone forth in the world, exhausting the moon-like faces of the spouses of his rival kings, and pilfering the beauty of their necklaces.

46. Having destroyed the foes with the power of his arms, the king Asthipāla, resembling Indra, and glorious like the moon (or with his glory as charming as the Moon) obtained the formost bliss (i.e. summum bonum), after contemplating over the supermost light i.e. Brahman during his old age.

47. As the family of king Ikṣavāku bore the name of the dynasty of Raghu since the later, the sinless one, so this family of Cāhuvāna, the ornament of the globe of earth, bore its name after Asthipāla, and all kings born hereafter bore the title of him (i.e. Asthi or Hāḍa) in this world.

48. Thus ends of the birth of Asthipāla in the poem Śatruśalyacarita, of the learned poet Viśwanātha etc.

CANTO—IV

1. Then from the king Asthipāla, was born the king Candrarāja who arose, surpassing even the moon, since his form was luminous in both the halves of the month.

2. Having received the royal status, he tortured only the calamities of the world. Whomever out of his foes he troubled, that one, as we know, decidedly submitted before him.

3. We believe that this exalted king was Indra himself, since he was the kinsman of the noble chivalrous men, as Indra, the brother of the great Viṣṇu, and his hand was shining forth with crores of coins meant for donation, like the hand of Indra, equipped with the thunderbolt, and as he was the cause of death for the army of enemies like Indra, the cause of death for the demon Bala.

NOTE : There is pun in विक्रम (1. Chivalry, 2. Viṣṇu), शतकोटि (1. Hundreds of crores, 2. thunderbolt), and बल (1. army, 2. the demon Bala).

4. While fulfilling the wishes of the mendicants, he lowered the tree of Desire (Kalpavṛkṣa) in dignity; while bestowing too much desired objects to them, he made the gem of wishes (Cintāmaṇi) grief-struck.

5. The king Candrarāja, delighting the earth with its people intoxicated with joy, due to his numerous qualities procreated an obedient son, named Ārtiharaṇa.

6. His command forcibly stood on the heads of the kings and glory climbed the head of the full moon.

7. He, who had glorified his family with his fame, himself of the good noble character and always firm in the battle, with his immense anger blazing like the submarine fire drying up the ocean of enemies, procreated Reṇu (i.e. Reṇusiṁha or Raiṇasī).

8. The pollen of the lotus of his protective feet served as a crown on the heads of the tributary kings, and the mountain of gold, Mt. Sumeru itself at once became just a molecule (Trasareṇu), while he was donating gifts to the mendicants.

9. An obedient son was born to this meritorious king, Kolhaṇa by name, the lord of the earth, a lover of wars, and chastiser of haughty warrior foes.

10. Having gone to the Mt. Kedāra, and having bowed down to the feet of Lord Śiva, he worshipped him with the garland of lotuses of his adulatory words, brilliant with the threads of the qualities of firm devotion.

11. "O Lord, the sages call you as the sole sources of the three worlds with their Vedic statements, and declare you the beautiful bridge for crossing over the ocean of evils and a means for checking the impediments."

12. "O Lord, you bear the Rudrākṣas on your chest, turned yellowish on account of the pollen of saffron applied to the tips of the jar-like breasts of Pārvatī, the daughter of the mountain of snow, (when embraced by you), as if a multitude of bees (flocking there because of the perfume of saffron)."

13-14. "O Hara, you desire to be a sage for ever with one of your eyes absorbed in meditation; but to be a house-holder with another, eye, becoming a Cakorī bird for the moon of the face of Caṇḍikā; and desire still to be the god of Death with the third one furious with the desire of destroying the cupid (lit. one with uneven arrows). But you bear the fourth one as that charming digit of the moon for my protection."

15. "O Bestower of good, you have dispelled the fortune of the foes with just the utterance of 'Hum' with your eyebrows crooked out of anger. I do not know, with whom you still desire to vie, equipped with your bow Pināka even today.

16. "You always bear the deadly poison in your throat just for the welfare of the mankind; the poison which is even more dreadful than the flame of submarine fire, which was stored in the ocean, whirling around because of its churning.

17 "O Mahādeva, having ignored you the protector, Dakṣa, while paying oblations to the gods in a sacrifice, himself made his own body an offering to the fire of the wrath of yours, the sacrificer par excellance."

18. "O Girīśa, though yourself bearing just the dreadful human skull in your hand without any doubt, you decidly transform the devotee of your lotus-like feet as the lord of heaven.

19. "O consort of the daughter of the lord of the mountains, even the Lord Brahmā, equipped with four mouths has been incompetent to eulogise you, whose deeds are unthinkable even by the Vedas, and alas, the goddess of Speech, also became dull and dumb in extolling you."

20. "O Hara, you bear the Ganges with the beautiful upsurging waves on your head, which is a flag for bestowing fearlessness (abhaya) for the human beings, terrified by the heat of the deadful world."

21. "O Iś'a, O Ś'arva, O 'Śiva, O Ś'ankara, O Ś'ambhu,, O Nīlakaṇṭha, O Lord of Girijā, O Pinākin, O Candraśeharea, O Lord, O Enemy of the demon Tripura, O Protector, kindly protect me, approaching for your protection.

22. Then the noble and generous king, his heart devoted to the Lord Śiva praised and requested him for bestowing a boon, "O Lord of Umā, let the region of the Mt. Āḍā i.e. Āḍābalā be steady for my progeny."

23. "May it be so"—having thus received the boon from the Lord Hara (i.e. Śiva), and having completed his worship, the lord of the human being (i.e. the king), equipped with charming limbs, foremost of noble persons and the delighter of the public, was himself immensly pleased.

24. Then the brave and courageous king bore up instanteneously the moon of his glory with its luminous rays, churning the ocean of the rival kings with the churning-sticks of his arms.

25. While he was ruling over the earth, such a lady was never visible who could beget a brave son, dextrous and competent enough to contest the king Kolhaṇa in a fight.

26. This lord of earth, equipped with the majesty like that of eight Vasus, i.e. a group of gods or Fire-god, and shining forth with his qualites, glorified the world with his fame, while ruling over the earth with his firm bow."

27. He, illuminating the globe of earth, with its bounderies as extensive as the seven seas, established Būndī as his capital, with hordes of his enemies captivated there.

28. That city was like Alakā, the capital of Kubera, an abode of great wealthy persons (in the other case, the residence of Dhanada i.e. Kubera), was like the chest of Nṛharī (i.e. Lord Visṇu), a resort of steady fortune (or Lakṣmī, the goddess), was like Vindhya region, a mine of elephants, and like the ground of Sindhu Pradeśa, a mine of well-bread horses.

29. That city was like the body of ocean, a place where gems were placed (a place from where gems were Curned and pulled out), was like the earth of Mt. Sumeru, abundant w!th gold, like the mother of heroes, procreating the multitude of warriors, and like the celestial cow Kāmadhenu, a fulfiller of wishes.

30. That city, beautiful with its mountain laughed impetuously at the heaven, the capital of gods, since it had a group of so many promising intelligent persons, while the heaven has only one intelligent person (Caturānana i.e. Brahmā); since it bore multitude of clever poets and scholars, while the heaven possesses only one Kavi (Śukra i.e. Venus) and one Budha (Murcury), and since it is resplendent with so many nobles and landlords, while the heaven possesses only one Īśa (Lord Śiva).

31. The city was always the incarnation of the mature glory of the noble family of Asthipāla. Alas, the poet is too idle and miser to spend up the riches of his speech for describing it.

32. The intelligent king, Kolhaṇa the bestower of dignity and prestige to the friend kings, and the destroyer of the dignity and prestige of the rival kings, procreated the victorious Āśupāla, like Indra, the killer of Vṛtra begetting the noble Jayanta,—while residing in that city.

33.-34. This Āśupāla, who had pleased Lord Śiva with his firm devotion and had his relatives of high noble character, who had won lovely cupid with the charm of his form, and had paid the obla-

tion of the mouths of his enemies to his own lustre, purifying the earth with his merits and cleaving the foes, begot a noble son, named Vijayapāla.

35.-36. This Vijayapāla was Arjuna himself, since he was born out of Āśupāla, the Indra of earth like Arjuna son of Indra; he was a great warrior and an ornament of Bharata country, like Arjuna, a warrior and an ornament of Bharata dynasty; he was resplendent with his arm equipped with the bow and had his ears glittering with beautiful ear-rings like Arjuna, resplendent with a bow competing with Karṇa, the Mahābhārata hero dazzling with the beautiful celestial Kundalas with which he was born, he had fulfilled the wishes of the righteuos king (his father) like Arjuna fulfilling the wishes of Dharmarāja Yudhiṣṭhira by slaying the multitude of foes, dreadful with the incessant heavy itching sensation for the voilent fight.

37. From the king Vijayapāla, with his mighty character like the king Kāmapāla, was born Vaṅgadeva, the Indra of earthly region, who had disciplined the crowd of his enemies.

38. This Vaṅgadeva, firm in the battle, played the fishing sports in the waters, i.e. tears of the fawn-eyed ones of Vangadeśa, with the beautiful patterns of designs made by musk and saffron on their heavy breasts, like the female crocodiless (makarī) in the ponds.

39. The king Vangadeva, furious with his dancing eye-brows crooked because of anger, upserging in the battle field, was visualised like the god of Death himself by the enemies, devoid of any allies on their side.

40. The great warrior Vangadeva, equipped with his deft prowess, married with proper religious formality, the daughter of the ornament of the family of Vikramāditya; like Rāma, the antagonist of Daśānana Rāvaṇa, marrying Sitā, the daughter of Mithilā.

41. While dallying with her, the noble king, who had confused the consorts of rival kings, deposited in her his powerful virility like the sacred formula (mantra) for the destruction of his foes.

42.-43. The queen, laughing at the Moon with her face, bristling with the pair of her cheeks as pale as the ripened 'lavalī' creeper,

breathing fragrant with the smell of clay, and bearing the virility of the king, the lord of earth, in her womb. like a Śami tree deposing fire inside, possessed blackness on her pair of breasts,; with her belly developing because of the increasing foetus.

44. The blackish row of hair emerged out of the cavity of her deep naval, like the row of black bees coming out from the lotus bud blooming forth on account of solar rays.

45. She shone forth with her dull gait, her feet moving slowly because of the heavy weight and dignity, having her hips curved due to the weight of foetus, and having her body bent because of the pair of her throbbing breasts.

46. The chief consort of the king, in whom the virility was deposited by the lord of earth, gathered fat in her folds of skin, pelvis, and breasts, bearing the twicefold charm of her pregnancy.

47. Since, the three-folds of her skin on her belly disappeared, while bearing the foetus in her womb, it denoted that her son would surely be the conquerer of all the three worlds with his powerful prowess.

48. The sweet-bodied (i.e. charming) queen desired only the sour taste, discarding the sweet edibles like grapes, honey, nectar and mangoes. Verily, the longings of the pregnant women are manifold.

49. As the pregnancy of this royal consort developed with herself quivering with foetus, the desire for seeing the face of a son also developed likewise in the heart of the king.

50. He was too much eager to see the face of his son like a Cakora bird eager to see the moon, enquiring secretly the lady companions of the queen about the month of the delivery of her issue.

51-52-53. The queen though weary because of the weight of embryo. with the beauty of her charming face, gladdened with the drops of perspiration, herself delighted with the noise of the lady companions glad with the birth of a son,—slept in the delivery apartment; rich and luxurious with high bed, where the lights of the lamps were spreading; suggested by the old folk, while the ladies were singing auspicious songs, and while the persons expert in religious rituals had offered the blessings and the Brahmins were chanting the benedictious befitting the auspicious occasion, and while the king was donating riches to them.

54. This queen, mother of a hero, procreated a son like Śachī giving birth to Jayanta in an auspicious period when the five stars were placed in the exalted position.

55. The king caused the various types of drums, trumpets and cymbals to be sounded loudly at the time of the birth of his son,—delighted with immense joy.

56. The king then performed all the religious rites befitting a birth and named the boy as Deva, as he was a God himself descended on this earth.

57. The boy grew up, delighting the king like the developing Moon delighting the ocean, obstructing the brightness of the gem-studded walls of the palace-apartments with his radiance.

58. The progeny of the great king Vangadeva, performed high wonderful feats even during his childhood, while playing with her boy friends, delighting his father.

59. The foes feared this child of a king, still in the stage of infancy (i.e. having milk in his mouth), equipped with slight dark complexion like that of a blue sapphire, and with a voice as energetic as that of a dark cloud-after beholding him.

60. The king Vangadeva, observing the prince, even surpassing him as the qualities of elegance and valour were concerned, conferred on him the status of the crown-prince.

61. The king Vangadeva, placing the heavy weight of kingdom, held by Śeṣa Nāga for a long time, on the head of his son, like Indra placing the weight of heaven in the charge of Jayanta, abandoned the tiresomeness for ever.

62. The earthly globe shone forth with him like the skies with moon, like the solarsystem with the the Sun, and like the gold with lustrous gems.

63. Thinking himself contained with duties observed fully with this boy, the king enjoyed himself at times in the ponds having blossoming lotus-flowers and at times in the pleasure-gardens on the periphery of Bundi-city.

64. The king did not observe so many passing days enjoying hither and thither, with his heart attracted by amorous sportings.

65. Having discarded politics and administration, he became always engrossed alone in hunting expeditions killing the deer, mighty boars and different types of birds.

66. Once the king was administered poison by a wicked Meda, concealing the deadly poison like a cobra, because of the old enemity remembered by him.

67. The king, simple by nature, died as a consequence, his eyes rolling due to the effect of deadly poison, all of his consciousness shrunk and his intelligence and power of contemplation snatched away by the cruel fate.

68. Having heard about the murder of his father by the wicked Medas, the crown-prince (Deva) any how checked the resultant grief, though overpowered by the fire of his vehement anger.

69. Then he emerged forcibly at the head of the battle, bearing the bow, terrible with the resounding of jingling gold bells, surrounded by the furious warriors fighting in the battle, himself dreadful with the lustre of his mighty prowess, gladdened brightly because of the troublesome fire of his anger.

70. The lord of the earth, king Devasimha, enraged during the fight, slayed the Medas, full of haughtiness, throwing down the heads of enemies with his arrows, nailed with the sharp points as torturous and dreadful as the fire of the day of the final disaster (Mahāpralaya), preparing a garland of skulls, befitting the neck of Lord Hara i.e. Lord Śiva.

71. This great warrior king, victorious over his adversaries resembled Nala, equipped with his noble demeanour, spreading his glory and bearing the burden of the earth with the fire of his mighty valour flaming with the throbbing pair of his arms.

72. Then the king Devasimha, with his glory dreadful for the families of his foes, like the lords of the ten quarters; born in the solar dynasty shone forth like the Sun, decorating the mountaineous city called Bundi, with its mansons, abundant with gold-performing the worship of Lord Hari.

73. **Thus ends the fourth canto, describing the destruction of the family of Medas, in the poem of Śatruśalyacarita; composed by the poet Viśwanātha etc.**

CANTO – V

1. Then the steady and haughty king Samarsimha was born as the son of king Devasimha, who ruled over this earth just like a single city, after having assumed the charge of his paternal throne.

2. This ornament of the kings, equipped with his majestic glory e. conquerd the enemy warriors with the weight of his valour, made them subdued with in a moment and governed the public, having disciplined the allies of his foes, like a father very well.

3. In tantly covering up the beauty of his personality resplendent with a special garment with his multitude of glory, he resembling the lord of gods, though as haughty and furious as a lion in the battle, shone forth with his hand glittering with the water taken during donating gifts to mendicants like an elephant shining forth with his trunk, discharging ichor.

4. Residing in Bundi (Vṛndāvati), adorable by the people, he lowered down even the lord of gods, i.e. Indra in dignity, with his wonderful deeds which had delighted the excited armies, and had gladdened the kiths and kins, because the later (i.e. Indra) had tortured the haughty demon Bala (with pun, meaning also army), and had made the multitude of mountains (pun, meaning also relatives) unhappy.

5. His glory was as white and blotless as his personality; his personality as profound and deep as his intelligence; his intelligence as courageous and energetic as his action; and his action as noble as his family tradition.

6. This dignified king, dispeller of the horde of enemy warriors, placing the vast earth on his strong arm, procreated a son of pious character, Nārpa (i.e. Nāpā jī) by name, the upholder of the earth.

7. This king, dreadful for the multitude of kings, shone forth in the battle-field alone, decorating the head of the fight. Since his kingdom (Lit. earth) never paid tributes to any other king, he was called Nārpa.

8. The king Nārpa (Nāpājī), who was the dreadful god of Death for the destruction of the family of foes, and whose firm anger was as harsh and torturous as deadly poison; and the charming Sun for the lotus-pond in the form of Vṛndāvati city (i.e. Bundi), begot a son named Hammiradeva.

9. This king Hammira glowed immensely like the Sun, dispelling the band of adverseries, talkative in the battle-field like the owls, and delighting the public of his kingdom like the lotus-ponds.

10. The king Hammira, who had offered the oblation of the 'Lāja' (perched grains) of the rival kings to the fire of his valour, made the earth, captured by his hand, torn up (i.e. dug up) by the discs of the heels of swift steeds, like a lady, taken up in the hand as a wife, cut down by nail-marks during amorous dallings.

11. The mountain of gold, Meru and the ocean, a mine of jewels, became poor, when this Indra of the earth, who had seized the cycle of glory from Vikramāditya with the valour of his arms, and had transformed the poor mendicants as kings.

12. Then a son of noble character, named Varasimha was born to him like the fruition of the result of virtuous deeds of this lord of earth, who possessed terrible arrows for the destruction of his foes.

13. Though this king Hammira possessed a huge army, he alone was visualised with the help of only his arm equipped with the mighty sword, firmly moving in the battlefield and slaying the adverseries; with his eyes angrily reddened, like the Lord Hari himself.

14. Though himself a king (by pun, Lord Śiva), he made the rival warriors devoid of their limbs (by pun, cupids); he was charming (by pun, the sun), he was always dreadful for the cycle of his rivals; though he was a shining store-house of arts (by pun, the moon), he had destroyed the great evils (by pun, had destroyed the night); though he was a great king (by pun, a great mountain), he had crores of allies (by pun, his wings were decorated by the thunder-bolt of Indra).

NOTE : Lord Siva destroys the cupid, but this Śiva (the king) creates the Cupids; the Solar-god is not always dreadful, while the king is always dreadful for his foes, the moon does not destory the night but as maker of night (doṣākara), while the king destroys evils, the mountain has is wings cut down by Indra's bolt, but not decorated by it; but the king has his allies decorated with crores of donations or prizes.

15. This king Varasimha, the lord of good army, possessor of great riches, delighter of the gods with the offerings presented during their worship, and the torturer of the rival kings with his fear, and the

resort of noble person; begot a son Vairacandra, like the ocean, the lord of rivers, possessor of Lakshmī as his daughter, delighter of the good with offering of super-gems during the churning activity, and a noble resort for the mountain Menāka, tortured by the fear from Indra, and a cause of birth for the moon.

16. The king Vairacandra (i.e. Bairīsāla), decorating the spotless kingdom with his full digits, made the Cakori-bird of his public happy with the moonlights of his glory as sweet as the nectar.

17. The king, destroying even the six internal enemies like passion, anger, avarice, envy etc. bore the burden of the earth as heavy as the burden born by the Kurma (the Primeval Tortoise), the lord of Serpents, Śeṣanāga, and the celestial elephants of the four quarters, with the help of his ministers, dextrous in diplomacy and administration.

18. Fie upon the thousand rays (Lit. hands) of the sun, which are unable to dispel the nocturnal darkness. We extol just the pair of the arms of this king, which have immediately wiped out the name of his enemies.

19. Even the rain-god, fearing punishment from him, rained willingly, while this majestic king was ruling over this earth, and the earth always, bore the riches, oozing the multitude of excellance as the ambrosia.

20. This Vairachandra, the charming moon for the lily of the city of Vṛndāvati; who had conquered the assemblage of his foes, perpetually transformed the evil Kaliyuga as Krtayuga (i.e. Satyayuga), ruling over the earth like an āmalaka fruit (i.e. Emblis Myrobalan) placed on his palm.

21. He, equipped with the stick of his victorious bow, out-stretched upto the end of his ear, anointed the earth, with the fluid of sandal-paste of his glory, which was tortured by the heat of the taxes levied by the evil kings, like a lover anointing his beloved, tortured by the excessive heat of rays of the summer sun with the fluid of sandal-paste.

22. From that king, who had won over the lord of heaven with his meritorious character, was born Bhāramalla, of wonderful majesty, a great wrestler in the battle and a good protector of his subjects.

23. He, the destroyer of the calamities of his subjects, having received paternal heritage and having crushed the great foes with the might of his arms, sat on the hereditary throne, bearing a glittering tilaka mark of his glory **on the earth**.

24. This king Bhāramalla always won over the heart of his public with his noble demeanour, like the sacred formula (mantra), of 'Vaśi-karaṇa', fruitfied at once, laughing over the weak lord of gods (Indra), who had been too much addicted to the tavern (i.e. house of wine) (i.e. by pun, who was attracted towards the heaven, the abode of gods—सुरा+आलय and सुर+आलय).

25. Since he of noble intelligence, having known about the befalling future famine from the words of some one, expert in Yogic practices, nourished the public with storage of all types of grains, why should not he be the sole maintainer of the world ?

26. While the king Bhāramalla was ruling over the earth placing the burden of his kingdom on his faithful ministers with profound and deep intelligence, the calimiteous signs, exhibited by the powerful Kaliyuga appeared on the earth.

27. The four quarters bore the pain of internal heat, like the consorts of his enemies, with their smoky faces dirty with dust, proclaiming the misfortune with the animals vomiting incessently.

28. The earth, pouring down unceasingly the tears in the guise of rain waters from the clouds and crying loudly through the howling of female jackals, shoke incessantly with its heart broken down like the fortuue of his foes.

29. The fickle lightening appeard on the horizon of the Southern quarter like the friendship of the wicked fellows, like the fortune of the evil charactered ones, like the memory of the persons heavily drunk, and like the courage of the excessive timid (coward) persons.

30. The demon Rāhu remembering again his previous enemity, atonce captured the Moon in the day like a king made prisoner, abandoned by the fortune, too much miserable in appearance and bearing an inauspicious halo around her (i.e. moon).

31. The Comet, the cause of the destruction of the whole world, appeared atonce on the courtyard of the sky, the sporting ground of the gods, with moon, Jupiter, Venus and Agastya trembling therein.

32. The herds of cows, dull in grazing the grass, bellowing with the

noise 'humb', with their eyes full of tears, did not cause the calves, though thirsty, to drink the milk from their udders dropping blood, with in the proximity of Vṛndāvati city.

33. The royal horses housed in the luxurious stable, having abandoned the food and contemplating something in their hearts, neighed towards the solar disc even during the mid-day, dreadful with their nostrils quivering for a long time.

34. The king, visualising such sudden calamiteous signs with a grieveous heart enquired his Purohita equipped with clear intelligence, "O pious sage, what has befallen like this on earth ?"

35. Having stayed motionless like a great ocean, with its acquatic animals slept for a while, the Brahmin priest, who had overpowered (lit. snatched) the remoteness of time, because of his knowledge of Vedic lore, told the bitter truth to the king Bhāṛamalla, after having sighed painfully.

36. "O king, we with the intelligence harsh enough because of Vedic knowledge, do not know speak clever and agreeable words before the king. But please do not consider false, today, the secret of our saying, the companion of the Vedic lores.

37. "O Lord, whatever the dreadful calamiteous sign has befallen on the public today, there has never been the slightest carelessness on your part as a reason of it. I simply visualise it as the rudeness of the Kaliyuga.

38. "This Kali, bearing malice towards you, who has obscured righteousness, shall falsify the blessing of the Brahmins, conversant with Vedic knowledge and shall fruitify the multitude of evils.

39. "Alas, the gods shall not regard the oblations offered by sacrificers in the three sacred fires with the chanting of the three Vedas, and the goddess Earth, weary with the heat of draught for a long time shall bear the riches and valuable herbs very slowly."

40. "The kings of royal clan, having abandoned their own traditional precept of a Kshatriya, shall choose the religion of Yavanas to please them out of the greed of receiving the kingdom, serving them with clever flattering words.

41. "Like this, Kaliyuga shall inundate this earth in the ocean of the Yavanas, alarming the world. But the dynasty of Asthipāla shall any how remain luminous like the Primeval fig-tree (Vaṭavṛkṣa), because of the boon granted by Lord Kedāta Nātha."

42. "This Sultan of Mandu (Mandapa-pati), whom the king Vāsudeva, the conquerer of the quarters, had subjugated and made subservient out of kindness; overwhelmed now by his power because of Kali-yuga, shall kill you, while invading Vṛndāvatī".

43. "Then your son, Nārāyaṇa by name, his mighty valour regarded by the three worlds, having worshipped the goddess Raktadantikā, shall again rule over Vṛndāvāti, after having killed the horde of Turuskas, blind with excessive arrogance".

44. Having spoken like this, the great sage, foremost of the knowers of Vedic lore, observed silence. The king also did not grieve because of his firm mind, having thought over such type of irrepressible fate.

45. The fearless Bhāramallu, though bearing the internal pain (Lit. dart), dextrous in concealing his countenance, took counsel with his faithful ministers, governing the state, regarding his welfare.

46. The assembly of his ministers, intelligent in all the matters, considering the welfare of their master as their prime duty, conversant in discerning the powers of friends and foes; when asked by him spoke as follows, befitting the occasion, with their folded hands.

47. "You are considered by us as the foremost of intelligent persons, expert in diplomacy, surpassing even the teacher of gods, (Bṛhaspati) by your wisdom. Still a servant, a co-sharer of pleasure and pain, should direct his lord for welfare, according to the power of his intellect, if asked by him about his advice.

48. Having repeatedly contemplated on his own the group of three policies, the king, engaged in the prosperity of the parts of his kingdom, and having born the multitude of noble merits or six qualities of politics i.e. treaty, fight, invasion, detente, creating conflict, between the rival kings, and seeking protection or shelter

i.e. (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव and समाश्रय), always informed by the spies about his proper actions, should try for victory at an opportune time".

48. "The actions performed at a proper time after due thinking, bear a rich harvest of welfare like the earth. But the action of a fool, performed at an improper time disappears like the autumnal cloud."

48. The intelligent should perform only such act, after which one does not grieve. A wise man should act after such proper thinking that it surprises him afterwards (when the results are received).

49. The intelligent man, well-versed in politics, should place such a faith (in his subordinates), which is meant for his welfare and is bestower of prosperity for the subjects in his kingdom or prosperity of the seven parts (Sapta Prakritis) of the kingdom e.g. king, minister, allies, treasury, state, fort and army) like the grammatical rule governing that secondary suffix which Vṛdhies the root morpheme i.e. the rule of Sanskrit grammar as 'Ajṇit i.e. Aco' ṇit'. But fie upon such a subordinate (lit. means of action) which eliminates whole of the seven parts of the kingdom like such a grammatical formula, which demands the elision of the root morpheme itself.

NOTE : The simile is intellectual and based on knowledge Sanskrit grammar where the initial syllable of the root-morpheme is Vṛdhied when certain secondary suffixes (Taddhita) are affixed to it as in आश्वपत्यम् from अश्वपति, आर्जुनि: from अर्जुन: etc. There is pun in प्रकृति and तद्धित words).

52. That excellence faith, which does not destroy the root of seven parts of the kingdom, though eliminating itself and which bears profit, is good like the secondary suffix. 'Kvip' of Sanskrit grammar, which though elided itself and becoming zero, bears the addition of letter (Āgama) 't' but I declare that faith despisable which serves very little purpose of the kingdom like a suffix which adds very little meaning to the root morpheme.

NOTE : This simile is also intellectual taken from grammatical rule. While applying क्विप् primary suffix to a verbal root it remains only 'zero' e.g. √ जि + क्विप् = √ जि + O + त् आगम = as in शत्रुजित् there the 't' is an addition after the loss of suffix.

53. "When the enemy is gaining power every day, he should rather be given 'secondary importance to ones own strength by the wise man. One who desires to win over the foes just by his sheer valour, his action is termed like the action of a wild beast by the great man".

54. "One who attains strength-immediately equipping ones with forts much inaccessible by ramparts, forests, mountains and deserts etc. and storing them with grass, grain and water, achieves victory at hard.

55. "Therefore, O King, a ruler who is conversant in diplomacy, should always be attentive by all efforts towards his own safety. He, securing the roots of fortune and prosperity for himself, digs out the horde of his foes forcibly from their very roots."

56. "This Sultan of Manḍu too much insulted by your forefathers earlier, having now prospered because of the influence of Kaliyuga, is equipped at present with a powerful army and hence capable of conquering the three worlds".

57. "Whatever your respected priest, conversant with the essence of Vedic meaning, has said, would not be untrue. Learned Brahmins like them, visualising every thing related to all the three temporal periods, do never tell a lie."

58. "The cultured speech does not exhibit its charm like an uncultured vulgar lady before the low-bred flok. (Another suggested meaning is-the Samskrita speech does not exhibit itself like Prakrita for the non-elite). Hence this cultured speech of the learned priest, if accepted by a master like yourself shall be a source of happiness for you like a noble lady".

59. "If it pleases you, O king, let us for the time being retire to the mountain Mandala (i.e. Mandalagarh) with you. We would soon conquer the Yavanas after having enriched the royal exchequer while residing there".

60. Having listened to the advice of the ministers, the steady king, with his face terrible on account of his crooked eyebrows became angry and spoke to them conversant in diplomacy, with his voice as energetic as the roaring sound of the newc loud.

61. "Whatever you with foremost intelligence, have told us is true according to the secrets of diplomacy, but of what use is diplomacy

for the warriors, who have made their lives simply useless like a grass (i.e. who disregard their lives) and who are anxious to achieve the kingdom of heaven in a battle".

62. "Alas, what will the revered Asthipāla, my forefather, of noble fame, and firm for upholding the burden of earth like the lord of Tortoise and the lord of serpents, tell Indra (the destroyer of the cities of foes), begetting a coward progeny like myself avaricious for his like."

63. "Therefore, please hear my view. Go at once to the mountain Mandala with my harem. I am not considering you as cowards, fearing the battlefield, but I am deputing you just for my welfare."

64. "And myself with the help of arm bearing sword, shall enjoy the kingdom or immortality, if slain in the battle, having killed the Sultan of Mandu approaching within the proximity of Vrndāvati."

65. "This action of mine may be like that of a wild beast, or the public may call it the duty of a Kṣatriya, I am least angry about it. O ministers, please hear this decision of mine, which of course is not liable to be changed".

66. Having spoken like this to his ministers, the king Bhāramalla, of noble characteristics, with a firm decision of his wisdom in favour of the battle, shone forth with his eyes, harsh with anger, after having prepared for the ensuing fight.

67. The army of the king Bhāramalla, dazzling with swords, adorned with powerful arrows, and bearing the multitude of the blooming noble hearts of the soliders at the advent of the war looked splendid like a grove with vernal seasonal mark on the forehead (i.e. with the advent of the spring season), charming with moonlight, endowed with the flowers of 'Bāṇa (a kind of flora), and bearing the blooming blossoms of other trees and creepers.

68. Then the powerful Sultan of Manḍu (burning) with great anger, advanced towards the king with a huge army.

69. The row of lightening of the flames of weapons, blazed forth at once, while the cloud of the army of Turuskas was pouring down the rain of the sharp edges of its arms.

70. Having observed the Yavana army advanced towards Vrndāvatī the king discharged his arrows, outstreching his bow forcibly.

71. The Yavana army, shot at by the arrows of king Bhāramalla with emulation, oozing blood from the wounds, bore the resemblance of the blossomed Kimśuka flowers.

72. The delighted angry Yavana army, remembering Allah (i.e. exclaiming the war cry of Allah-O-Akabar), and discharging the volley of arrows like the messengers of the god of Death, Killed thousands of the warriors of Bhāramalla in the battle.

73. The lord of Būndi, discharging the fire-arm with his eyes reddend with excessive rage and piercing the temples of mighty elephants with the arrows shot form his bow, appeared splendid exhibiting the sportings of a tiger in the battle, killing many a Turuska soldier, though himself devoid of his army and marching alone on foot.

74. That personality of Bhāramalla looked splendid bearing the celestial flowers scattered by the nymphs (Lit. heavenly ladies), reaching the heavenly region instantly, after taking a proper bath in the Prayaga of the battle-field, with its pious 'tirtha' of the current of sharp edges of the stainless swords killing the over-crowded Yavanas like the multitude of vices will the volley of his arrows.

75. Alas, the Yavana Sultan, cruel at the battle, dreadful with his haughty pride killing the adverse army and holding the great Vrindāvati in his hand (i.e. annexing the city to his territory), went back to his own kingdom.

76. Thus ends in Śatruśalya carita, the poem of Viśwanātha etc. the rise of Turuskas in Bundi city.

CANTO—VI :

1. Then his (Bhāramalla's) son, the king named Nārāyaṇadāsa, having heard the murder of his father by the cruel Yavana, while at Mandala fort, became angry.

2. Though, still adorned by the adolescent age, he, with the corners of his eyes, which had been red due to anger snatching the beauty of full bloomed lotus, made up his mind forcibly for victory over the Sultan of Mandu.

3. The ministers did not approve his view, as he was without any ally and army, but still wishing to win over the enemies, having powerful companions and equipped with strong army.

4. The submarine fire of his excessive anger, repeatedly checked by the ocean of ministers, blazed forth only inside (i.e. in his heart), capable of burning even the three worlds within a moment.

5. This son of the great warrior was like a lion captured in a cage at the moment, bearing great internal fire in the heart, produced by the excessive wrath.

6. Then his friend, the great warrior of Khairāḍa told him, who was like the forest fire for the jungle of the multitude of Yavanas, and was lean bodied due to the internal grief, in appropriate words, befitting the occasion.

7. "O friend, do not be dejected too much. Persons with self-respect do not grieve like this. How, can you alone, with no friends, be able to surmount the haughty adverseries ?"

8. The king told him "O friend, why do you not look at the sun (Lit. One with harsh hands or rays) who dispels the multitude of darkness without the help of any ally ? Tell me, who has gone to his help ?"

9. "The course of diplomacy, skilled with the contemplation of power and opportune time is just a cowardice. How can a great warrior like yourself resort to it for a long ?"

10. Having heard this speech of the lord of earth, full of bravery, the warrior of Khairāḍa spoke to him with unselfish devotion.

11. "Your first companion is this staff of your arm, destroyer of the pride of adverseries; this sword is your second ally at present; and please consider me as your next friend in the battle".

12. "The dextrousness which you have learnt in archery since childhood' would even surpass (Lit. belittle), Arjuna, in the battle-field."

13. "Whatever the Purohita with noble wisdom, enquired by your father, has said, has been an object of my ears, O friend, please hear that attentively".

14. "Your son, who would have gratified, the goddess Raktadantikā, shall swim over the ocean of the Yavanas in the battle, constructing the great bridge of his own arm over it".

15. So, I consider your goodself, fit enough for bestowing the victory in the battle-field. Extol the goddess Raktadantikā at the city of Sutirtha (i.e. Sathoor), in the vicinity of Bundi".

16. "Gratified with your bowing and landation, she shall bestow a boon, so that you -my friend -would slay even the powerful foes in the battle".

17. Having drunk deep the nectar of his speech like this, he (i.e. Nārāyaṇadāsa) extolled the goddess Raktadantikā with him (the warrio of Khairāḍa) at the place named Sutirtha.

18. "O Mother, I always contemplate that pair of your feet, as red as the fresh lotus, in my heart, even a particle of the dust of which placed on the head bestows dignity and majesty."

19. "O Goddess, these teeth in your mouth as red as the bunch of pomegranate flowers, tell that the demons, infatuated with the pride of their powerful arms have been chewn by you instantly like the betel-leaves."

20. "O Chaṇḍikā, you convert the hordes of adverseries to ashes just by your glances, with their reddened corners. You bear the sword in your hand only as an ornament".

21. "The Vedas describe you as the primeval Prakirti of this world, possessed of all the worldly attributes, but this is not acceptable to me, as you surpass all the attributes by your actions".

22. "Since the devotees, tortured by the excessive heat of the world serve you, I have approached your resort, myself tortured by the fire of the anguish of my father's murder".

23. "Extolling continuously like this, the king Nārāyaṇadāsa, was told by the gratified goddess, "Be you victorious over the enemies in the battle-fields."

24. "Then the king having received the boon from the goddess, accompanied with the Khairāda warrior, went to the great city of Bundi, captured by the Yavanas".

25. The lotus of his feet, which bore fatigue even when being massaged by the sprouts of the delicate palms of the ladies (Lit. the charming-toothed ones), did not feel tired by the long distant path.

26. The king was attentive for a moment in the way towards the sweet notes of the cuckoos, enchanting like sportive notes during amorous dallyings, remembering the voice of the ladies of his harem.

27. The king heard the lucid song of the bees, intoxicated because of drinking honey, as if being served by the sweet notes of the ladies intoxicated after drinking the liqour.

28. Having taken leave from the lotus-pond with the eyes of lotus like a beloved lady, the breeze, dutiful towards the master, served the king like a faithful servant.

29. The king, anxious to rescue the earth, (i.e. Kingdom) captured by Yavanas, cast away his weariness on account of trodding the way, staying for a while in the sub-urbs of the city.

30. He, then told his friend, dextrous in battle, befitting the occasion, "Oh, think over; by what method should we enter the city now".

31. "Then the great intelligent warrior of Khairāda, the supermost combantant in fights, told him, "There is no other diplomatic way favourable for us than the respectful humility in disguise".

32. "The enemy of the demon Mura, Lord Vishnu, having deceitfully making his form dwarfish and approaching with modesty could subdue even the powerful demon king Bali".

33. "And again you know; how the great warriors, like Bhiṣma have been conqured by the sons of Pāṇḍu in the battle. Please tell us, was there any righteousness in diplomacy there"?

34. "For you also, the destruction of your foes, is proper only by deceit (i.e. it is proper for you to kill your enemies only by deceitful means). There is no righteous war as such for a king, while killing the haughty enemies".

35. "Since, I have been deserted by my kiths and kins, I have come to your rescue for my protection being hurt by their behaviour, telling this fradently, you should kill your enemies, haughty with the pride of their prowess".

36. "An intelligent fellow, anxious to destroy the enemies, should not delay too much. O friend, delayed action surely, cuts down the mighty power of ones efforts".

37. Having heard such diplomatic words of his friend, the king blazed forth with the lustre of his prowess at once, like the fire intensified by a blowing wind.

38 & 39. Then the king, with his voice as energetic as the roaring of the new cloud, having the eyes like the lotus and his face furious with the crooked eye-drows, dreadful with his arms resembling the staff of the god of Death (i.e. Yama), bending down the earth with his slow gait, like that of an intoxicated elephant, concealed his identity, per the advice of the Khairāda warrior.

40. This great warrior (i.e. the king Nārāyaṇadāsa) shone forth while concealed by the cleverly devised deceits, like the sun hidden by the clouds and the fire covered by the mass of ashes.

41. Then the right arm of this king, performer of good deeds, foretold the tight embrace of the fortune of victory in the battle, as he was about to enter the city.

42. The charming cranes looking handsome, because of the formation of rows, decorated the arched door-way for him-entering in the city-with fastoons, and producing sweet notes of cooing.

43. "Kill the enemy at once, while returning after hunting in a secret place. This is an auspicious time for victory". -thus he heard the celestial voice.

44. Though concealed in his identity his natural lustre spreeding forth, made the urban fold too much wonder-struck.

44. Though concealed in his Identity his natural lustre spreeding forth, made the urban folk too much wonder - struck.

45. & 46. The urban folk observed him with hearts stupeified by, doubt, whether it is the sun, who has come down on earth, or it is Indra, or the Lord Vishnu, the destroyer of the family of demons, who has assumed the human form to protect the earth or it is the Heroic sentiment itself incarnate, descended here presently.

47. While entering the royal palace and searching for the enemy, the king Nārāyaṇadāsa saw the Yavana, Samarkandi, returning from hunting and guarded by the warriors.

48. They (Nārāyaṇadāsa and the Khairāda warrior), both armed with the swords and well-trained in the military training, approached the apartments of the haughty Yavana like Śani and Rāhu themselves, unobserved by the powerful doorkeepers.

49. Then the king killed Samarkanda in Secracy full of confidence, and faith, strikinga him in the chest with his arm, holding a sword, with utter disregard towards him.

50. Then the sword, shining forth in his lotus like hand, having cut down him, the Yavana, shattered the mighty mountain rock like a grove of plantain trees of the fortune of Yavanas.

51. The Khairāda warrior, devoted faithfully to the master, acting like the god of Death for the invading Yavana soliders in the fight, himself retired to heaven, placing the Kingdom in the charge of the king Nārāyaṇadāsa.

52. This king Nārāyaṇadāsa, burning down the forest of the Yavanas forcibly, made his relatives subdued under his suzerainity.

53. He was adored by the public, like Lord Vishnu (Vanamālī, having assumed the form of the Primeval Boar, while bringing out the great city of the Bundi like the earth, from the deep unfathomable ocean of the wicked Turuskas.

54. Then he was immediately coronated by the urban people with the pious gold pitchers; full of holy waters brought from the different Tirthas (i.e, holy places) and consecrated by the Vedic mantras recited by Brahmins. well-versed in the Vedic lore.

55. The Lord of the people, who had delighted the public for a long period, controlled the whole earthly globe, having assumed his paternal throne, and accumulating the army (or strength) and exchequer.

56. This rising sun of the earth, himself bright and charming for the disciplined public, while dispelling the darkness, nurtured the righteousness, troubled by the night of Kali age.

57. How can his name as Nārāyaṇa be untrue, since he had sported on the earthly globe for a long time obtaining the riches and property ordered by him ?

58. This king with mighty valour, converting the earth free of foes with his sword, and shining forth over Bundi, was overheard by the lord of the Mandapa mountain (i.e. the Sultan of Māṇḍu).

59. Having heard Samarkandi slain by the king through deceptive means, the ocean of Yavana Sultan, shook vehemently with anger, desiring to destroy the world.

60. The fire in the form of Māṇḍu Sultan, intensified too much by the winds of Yavanas, sent forth the flames of the armies towards Bundi with a desire to burn down the adverseries.

61. The king, expert in the war-craft, having stretched his bow, cooled down the furious fire of the Yavana army with the rains of the volleys of arrows like a cloud.

62. The moons of the faces of Yavavans, cut down by the swords, fell down on the battle-field as if bearing the sons of Simhika (i.e. Rahus) in the guise of their dense beards.

63. The group of wild Pisāchas, intoxicated with the blood drunk, sang merrily in the battle-field, and the horde of the headless trnnks of beheaded soldiers of Yavanas, danced constantly to their tunes.

64. The Yavana army, whose Commander was killed in the fight fled away fearfully like the flock of dear, being tormented by the sharp volley of the arrows, discharged by the king in the battle.

65. Then the Yavana army having fled from the battlefield, reported to the Ghori Sultan, "That warrior king can never be subdued even by the gods and demi-gods, what to talk of human beings".

66. Then the king of Yavanas, submerging in the deep ocean of anger, became anxious to invade the enemy, equipping his fourfold army.

67. The king, having heard about the invasion of the Yavana Sultan. from the month of his spies went himself to Māṇḍu, bearing sword in his hand.

68. The brave warrior named Narmada followed his elder brother Nārāyaṇadāsa, bearing sword in hand, harsh enough in staying the hordes of foes.

69. The king rapidly approaching the Māṇḍu fort, shining forth with its height and loftiness trodding the sky and the earth, went directly to the gate of the enemy's palace.

70. There he saw the guards of his adversery, their bodies covered with armours, and arms dazzling with arrows and bows, near the gate of the Sultan's palace.

71. Armed only with his sword, this fearless king at once announced to the guards his name, famous in the three worlds.

72. The gaurds at the doors, bearing staffs, reported to the Yavana Sultan bowing down before him, "Your Majesty, here arrives king Nārāyaṇadāsa, your enemy, on the gate of the royal palace."

73. "In case, the warrior born in the solar race has arrived alone, he may be allowed to enter the palace." Thus spoke the pleased Sultan on the gate-keepers with confusion."

74. The great warrior Nārāyaṇadāsa, escorted by his younger brother entered the assembly of the Sultan, adored by the multitude of Yavanas, bearing sharp arms, disregarding (i.e. over powering) it with his lustre.

75. 76. & 77. The king, himself shone forth for a long time, like the Sun among the nine planets-his eyes as red as the fresh lotus, his face wining over the lunar disc, his arms stretching upto his knees, his chest broad and shoulders stout. He was touching the Sword tied to his waist by the hand bearing marks of the bow-string and was shaking the firmly pulled hard bow producing jingling sound of the bells, as if rebuking the world forcibly with his mighty conceit.

78. Then the Sultan of Māndu, having observed the brave king, who had adorned the world - became still as if painted in a portrait for a moment with his heart confused by fear ad surprise.

79. The strong - minded Sultan, skilful in conceeting his emotions, spoke at once to the king cleverly, regarding the enemy too much at heart.

80. "O brave fellow, I am very much delighted by this great act of yours. I grant you pardon in case you seek friendship with me".

81. "Hearing such clever words from the sultan the son of Bharamalla, contemplating in his mind, replied to the Sultan in the affirmative."

82. "Then the Sultan made him, the progeny of the solar dynasty his good friend, having respected him with the presents of elephants and horses in an auspicious occasion."

83. Then the king Nārāyaṇadāsa, establishing friendship with the Sultan marched towards his natural enemy, the ruler of Shatpura (i.e. Khatkada).

84. The king, conversant in customs, affectionately told his brave younger brother Narbada, superior in valour in the battle, though younger in age.

85. "My dear you communicate my serious command to Akshayarāja, at once going to Spatpura as my emissary.

86. "If you desire to enjoy the earth, deliver to us Shatpura promtly. In case you desire the abode of heaven, face us now in the battle."

87. Having received the instructions of his elder brother Narbada went to Satpura, riding on a swift-horse, capable of winning over the wind with his speed and stupefying the foes.

88. The younger brother of the Indra of earth (i.e. king Nārāyaṇadāsa) the destroyer of the cities - saw the great city Satpura, checking up forcibly the haughtiness of the enemies with the circle of its moat.

89. Then, entering the palace of Akyarāja, he told him in a loud voice " Deliver Satpura at once today, in case you desire to enjoy the earth".

90. Then bearing the fire of wratth flamed by the winds of his message he (Aksayarāja) made up his mind forcibly just for the fight, equipping his four - fold army.

91. Then the ruler of Satpura inferred the fire of the army of one born in the solar dynasty (i.e. Nārāyaṇadāsa), marching (towards Satpura) with the perception of the smoke of dust raised up by the running elephants, horses and infantry soldiers.

(EXP. - The existance of fire through not perceived visually on the mountain etc. is inferred by the perception of the smoke coming out of the mountain on account of the invariable concomittance (Vyāptisambandha) between the fire and the smoke. The metaphoric image here has been taken from the syllogism of inference according to Indian Logic).

92. Then ensued the combat favourite for the god Yama-between the progeny of the solar race and the ruler of Satpura, discharging arrows and having flapped the resounding bows, ready to cross over the ears.

93. The people know from the noises of the twanging of the forcibly drawn bows that the warrior of the solar race rapidly burnt the bamboo-forest of the family of his foes.

94. & 95. That great warrior Nārāyaṇadāsa killed like Garuda (Lit. the chariot (Vehicle) of Lord Vishnu) the powerful serpant of the army of the ruler of Satpura, adorned with the hood of the strong shields, bearing the slough of the mighty armours, having two tongues of swords and arrows, capable of biting the vital parts of the bodies of adverseries. and vomitting the flames of poison of sharp weapons.

96. The sword held by the powerful staff of the shining arm of that born in the solar dynasty, blazed forth in the battle like Kālikā, very much skilful in swallowing the enemies.

97. He (i.e. Nārāyaṇadāsa) enlarged (Lit. caused the belly protuberant) his ocean of glory like Bhagīratha with the waters of river flooded with the blood, dropping out of the bodies of the wounded rivals.

98. Then Aksyarāja, though born in a great family of Ksatriyas (Lit. those born from the arms of the Virāt Purusha) fled away fearfully and only his infame remained steady in the battle-field.

99. The king Nārāyaṇadāsa, knower of the righteous custom did not follow his own enemy, fled away from the battle cowardly with the gallops of a deer (i.e. galloping like a dear). Warriors do not run after those, fleeing from the battle-field.

100. Having instantly won over the enemies and having adorned the earth with his glory, the king returned to his capital, his valour being sung by the ministrels.

101. The sound of the beaten drums of the king, about to enter the city pervaded the sky, resounded by the eachoing sounds of the mountain in the proximity of Bundi city.

102. The flock of Urban ladies, presented repeatedly the offerings of lovely lotuses of their glances to the king Nārāyaṇadāsa.

103. He, resembling the god Kārtikeya (lit. the son of Lord Siva) entered the royal palace, as charming as the mountain of Lord Siva i.e. Kailāsa, resplendent with the walls of gems and glittering with the beauty of gold.

104. Then he, with mighty prowess. shone forth ruling over that great city, like Indra ruling over Amaravati with his fortunes.

105. The king. who was famous on the earth, bearing the lustre of the fire (or of the eight vasus) adorned the earth with his acts, enchanting the world, like the moon adorning the sky.

106. The king slept like Bhīsma, on the bed of arrows, bearing the burden of cows and earth, distressed, by the excessive torture of wounds inflected upon him during the battle.

107. Alas, that progeny of the race of the Solar god, set down like the Sun having made the lotus of the faces of the enemies gloomy with his lustre, gathered up atonce.

108. Having removed again and again the weight of this earth and having kept the rich Country (i.e. kingdom), formerly captured by the Yavanas in his own hard i.e. having recaptured it, Nārāyaṇa, the powerful theif of the glances (lit. eyes) of the deer-eyed wives of the foes at once obtained the noble and exhalted state i.e. Salvation.

CANTO-VII :

1. Then his (Nārāyaṇadāsa's) son, Suryamalla; a source of pleasure to his subjects, became the King, quelling the multitrade of the darkness of adverseries and cleansing the quarters with the lustre of his rays (—arms).

2. The sole warrior in the world, Suryamalla, a lion for the horde of elephants in the shape of his enemies, obtained the throne of his father very well while only in the first part of his age (i.e. young) through justice and statesmanship.

*3.-16.

17. The son of the wind-god, a friend of the foe of Rāvaṇa's son, a resort for the Sun-god was wounded by the group of enemies cut down by the arrows of King Suryamalla, entering the heaven, having split his (Sun's) heart.

18. Having thus killed the ruler of Satpura in the battle, the king Suryamalla, at once, installed his son, out of mercy, as the ruler of Satpura.

19. The king Suryamalla, whose merits were sung by the ministrels, adorned with the royal umbrella as big as his glory lovely like the autumnal moon, went rapidly to his capital, the countryside of which was exuberant with pleasure.

20. The king, dispelling the fear of rogues in his kingdom, and laughing at Bālī, the ruler of the nether regions, ruled over his disciplined subjects, with the power of his arms as mighty as that of Garuda, the son of Vinitā, dispelling the fear of serpants.

21. The king-upholder of the kingdom wirh righteous public, equipped with the status of the king of kings, delighting Lord Shiva—ruled over his city like Kubera, the ruler of the 'Puṇyajanas' (i.e. Yakshas), adorned with the epithet of 'Rājarāja' (a synonym of Kubera), delighting Lord Siva being his friend and ruling over the northern quarter,

22. That warrior king born in the family of Ksatriyas, married the excellent formed sister of king Ratnasimha, the sun among the rulers, who cared a fig even for the good Indra, the ruler of gods.

Verses from 3 to 16 are missing from the mss.

23. Then once the king Suryamalla, while dallying privately with her the faithful spouse, in the lovely pleasure-gardens, heard the son of the ruler of satpura. captured by Ratnasimha.

24. Then the king Suryamalla, the husband of Ratnasimha.s sister, desiring to free him (the son of the ruler of Satpura), himself merched, infatuated with his prowess for the sport of war, epuipped with a thousand of powerful cavalry solldiers,

25. Then the king Suryamalla saw the deceitful king Ratnaiimha, very much respected by the rulers of Bharatavarsha, desiring to start for worshipping the goddess Aparājitā in the autumnal season.

26. He saw the captured, ruler of Satpura sitting behind the king, Ratnasimha, going rapidly, riding on the elephants, back, resembling the elephant of the lord of gods (i.e. Airāvata).

27. Though escorted by many a warrior, dreadful in combat, the brave Suryamalla himself alone rode over the elephant of king Ratnasimha jumping like a lion.

28. The Rana King Ratnasimha. having observed the king Suryamalla, forcibly ignoring his instructions and jumping over his elephant's back, suffered in his heart with excessive anger like medicinal drug, roasted in the fire.

29. The king, with mighty prowess, brought rapidly the ruler of Satpura to his elephant frcm the elephant of Rana Ratnasimha, while returning from the worship of the feet of goddess Aparājitā.

30. Then the brave king Suryamalla, obsering Rana Ratnasimha w'th the pair of his eyes reddened with wrath and his forehead dreadful with crooked eyebrows. spoke to him in short but clever words.

31. "It is improper for ycu, born in the family of Rana, with his pair of feet revered by the rulers of earth to capture this fellow by such a deceitful method"-telling boldly like this, the lord of Bundi (Suryamalla), returned to his capital Vrindāvatī with his Kettle-drums and war-drums beaten loudly.

32. Then he, the destroyer of the horde of haughty enemies, the ornament of the noble solar race, the Indra, adoring the eartly globe. again installed him as the ruler of Satpura in his rich state.

33. Then Ratnasimha, with throbbing envy, arrived rapidly near Chandradurga, with the pretext of hunting and invited instantly the king Suryamalla.

34. Alas, then this deceitful Ratnaśimha, observing the king Suryamalla, sober by nature, approaching towards him, made him at once confident in him again with sweet talk, respect and offerings.

35. The Shameless Ranā, having consulted secretly about the evil design with a solider born in Khinchi clan, went to the forest, full of wild beasts, with the aim of hunting the deer.

36. Both of them desiring to hunt the male deer, requesting again and again the king Suryamalla, bearing the arrows capable of conquering the three worlds, any how approached near him runing swiftly.

37. Then keeping the king Suryamalla, bearing an arrow for checking the flock of the deer on one side and putting the Khinchi soldier on the other, immediately to follow an antelope.

38. Then the soldier, born in the Khinchi clan, receiving a gesture and hearing the, humkāra ' voice of the Ranā chief, discharged forcibly an arrow to kill Suryamalla, encircling the staff of his bow.

39. Then Suryamalla, hit by his arrow, desirous to carry him to the abode of Yama, recovered his consciousness just for a while; his prowess dreadful due to the repeated wrath because of the deceitful behaviour of the Rana.

40. Then he told Ratnasimha, returning back, thinking him (Suryamalla) to be dead, commending himself forth "O king you have perfectly killed the deer now, so return your home alive".

41. Then enraged with his voice, the vicious Rana Ratnasimha, with his horse turned back, ran rapidly to kill that brave fellow (Suryamalla), shaking the sword in his hand, drawn up from the scabbord.

42. Then he (Suryamalla) though himself unconscious, caught the cruel fellow Rana, blind with the intoxication of the itching sensation on the staffs of his arms, at his collar bone, and having pulled up the dagger forcibly cut down at once the vital part of his heart.

43. The vicious Rana Ratnasimha-disgrace to his family and crooked as

the gait of a serpant-came down at once to the ground, enjoying immediately the fruit of his action.

44. Having cut down that Rana chief in the combat with his mighty power easily, the king Suryamalla stood on him, fallen down on the ground, like Shri Nrisimha on the chest of the lord of *D*emons, Hiranyakashipu.

45. Though both the warriors, born in the families of the Sun and Rana respectively, went together to the heaven, only Suryamalla shone forth better, since he bore his body garlanded by the nymphs (and not the Rana being a sinful fellow).

46. There is no wonder that the warrior, though himself unconscious, solely killed the enemy. Verily this is the natural behaviour of the kings, born in the family of the lord of the day i.e. in the solar dynasty.

47. Victorious is Khetu, his mother, who hearing her son alone killed, forbade her daughters-in-law, desirous to follow their husband (by performing the act of Sati)-"If he has come to my womb by the virility of the king Nārāyana, he would not die alone It (i.e. the news of his killing) is a lie, it can not be your husband".

48. From him (Suryamalla) was born a son named Suratāna, who being unfortunately maniac, could not properly rule, over the wonderful paternal state. Alas, observing the state submerged in the ocean of enemies. the ministers counselled about the welfare of the state.

49. Counselling together, with their hearts worried by the indecisivenes s the minister drank with ears (i.e. heard) the ambrosia of the celestial voice-"The grand-son of the energetic chief Narbada and son of Arjuna, Surjanadeva by name, would enjoy this kingdom.

50. Having heared the celestial voice, with its unimpeded true meaning, pleasant to the ears with its voice, as sweet as honey, the ministers installed Surjana on the throne of the rich kingdom with the gold pitchers, full of pious waters of holy places, purified by the bath of the sages prone to the acts, prescribed by the Vedic scriptures".

51. Thus ends the eulogy of Suryamalla in the poem Śatruśalyacharita composed by Sri Viswanatha etc.

CANTO - VIII

1. Then the son of Arjuna, king Surjandeva, the night of death for the wicked, appeared brilliant, bearing the earth like a bracelet in his hand resembling Indra bearing a mountain ridge.

2. This king, his long arms touching the pair of kness, resplendent with the beauty resembling the heated gold, endowed with broadchest and long eyes like lotus, became a source of distress for his foes.

3. The lotus in the form of his enemy, resorting to the moon in the form of the feet of this king-a place of protection - atonce obtained the unattainable state of fortune (or beauty).

4. This king (or mountain) the sole warrior of the solar family, being never hostile towards Indra (Vrddaśravas), himself regarded by the sides of foes and friends (adorned with both of his wings), governed this earth like a single city,

5. He looked too much luminous, though residing on earth, he was for ever living in Sudharmā, the assembly of gods (actually he was kind and inclinical towards righteous deeds (सुधर्म + आश्रित:), was Subahu, the son of Tadakā Raksasi, and still loving Rama (actually equipped with beautiful arms and was lovely and delighting), though moon, he was covetious for the rise of the sun (in fact, he was respository of arts and was covetoius for the prosperity of his noble friends).

NOTE : There is contradiction-Virodha-based on the pun of क्षमा, सुधर्माश्रित:, सुबाहु:, कमनीयराम:, कलानांनिधि, and साधुमित्रोदयैकलुब्ध:,

6. The great king Surjanadeva, the brilliance of his body marked by the fortune of a rich fellow, bearing beautiful forts and having his form adorned with dignity (or his body adorned with rich ornaments) destroyed (Lit. killed) prevalence of passion in the worlds like the Lord Siva, the great God (i.e. Mahesa), bearing the beauty of his body marked with the coil of the snake, possessing the charming goddess Durga his spouse (as half of his body), and his limbs besmeared with ashes, and himself killing the haughtiness of the cupid.

NOTE : Here also the adjectives have double meanings befitting the king and the God Siva.

7. This pious brave king, anxious for donating and enjoying the riches, destroying atonce the enemy of (or with) thousands of vices, donated the conquered earth to the Brahmins like Paraśurama, the sacred son of the sage Jamadagni, always anxious to wander in the celestial region, the killer of the enemy, Sahasrabahu, the Haihaya king, and donating the conquered earth to the twice-born ones.

NOTE: The attributes have double meanings befitting the king and Paraśurama both).

8. He bore the fortune (or beauty) of the king Daśaratha in a moment. being escorted by his noble friends (followed by his noble wife Sumitra in the case of Dasharatha), resorted by good counsel (by his minister Sumantra), and his house adorned with the resplendent idol of Vishnu (his abode adorned with Vishnu's incarnation, Rama in case of Daśaratha) and having constantly gratified Indra (having perpetually gratified the sage Viś vāmitra in the later case.

NOTE : Pun in the words सुमित्रानुगत: सुमन्त्राश्रित: गृहोद्भासित-विष्णुरूप: and कौशिक:)

9. Always devoted to (lit. restored to) the feet of Lord Vishnu, the charming king bearing a clear heart because the giver of life to the people as if like a lovely autumenal cloud, bearing the white interior, and hanging (i.e. flying) in the sky, bestowing water upon the Public.

10. This luminous king, though the lamp of his family, still with his increasing wick (with increasing prosperity), though a Lord (Lord Shiva) still over-powering grief (crushing the eater of poison), shone forth like the sun, having dispelled the heat of the world with his arms (rays). The god Śhiva is himself eater of poison (विषाद:), while this king is crusher of grief (दलद्विषाद:), the Solar-god bestowes heat upto the words with his rays, while this king despels the heat i.e. misery of the world with the power of his mighty arms. Hence the king is greater than the god Śhiva as well as the Sun-god.

11. This dreadful king, placing the customs of the period in his control, having favour towards the prosperity of righteousness, shining with great lustre and always delighted with the act of war, made his foes useless, though being Bhiṣma of Mahābhārata fame, having controlled the death, favouring the prosperity of Dharmarāja Yuddhiṣṭhira, shining forth with the performance of his act of fighting in the Mahābhāarata war, made his enemies devoid of the sons of Pritha i.e. the five sons of Kunti.

NOTE : The beauty of the statement is based on contradiction(i.e. paradox) भीष्मोऽपि परान् अपार्थान् चकार having two meanings first contradictory and the contextual non-contradictory as explained above the three attributes-वशस्थापित कालधर्मः, विराजिधर्मोदयपक्षपातः, and महाभारतयुद्धकर्मा also have two meanings applicable to Rao Surjana as well as Bhiṣma. This श्लेषानुप्राणित विरोध suggests व्यतिरेकध्वनि.

12. & 13. Then he held in his hand (i.e. married) Kanakāvati the daughter of the king of the noble families -like the dancing pastime of Śiva, adorned with the ears touched by her eyes (adorned with the snakes in case of Śiva's dance); like the sky in rainy season lovely because of fully developed breasts, (lovely because of heavy clouds in the later case); and adorned with the divine form like the sportive 'lilā' of Lord Upendra (Vāmana) resplendent with the lovely three-folds of skin on her belly (shining with shattering down (i.e. defeating) the demon king Bali, in the case of Vamanalila).

14. She was a new creation of the cupid, in the form of an invention of the charm of the oblique -glanced damsels of the three worlds, with success of the sacred formula for attracting the minds of the youth.

15. She, herself an elixir for the cupid, with his body burnt down by the enemy of the demon Tripura (i.e. Lord Śiva), prescribed by the doctor in the form of young age, made the king favourable to her atonce, though herself adorned with unfavourable (i.e. oblique) glances.

16. Then the king Surjanadeva marched towards the wicked foes, bearing the bow as dreadful as the Gāndiva, and discharging arrows sharp enough to pierce through the vital parts of the bodies of the adverseries.

17. Then ensued his furious battle, pleasing the God of Death (Yama), frightful due to brave fighters, with the trunk of stain warriors dancing there, against the Yavana rulers of earth, discharging arrows at each other.

18. One of his Yavana enemy, being too much inflicted by arrows slept in the battle-field, leaning on the bed of arrows like Bhisma; while the other abandoned his power (strength) like Karna abending his weapon Śakti given to him by Indra. with his body cut down to pieces.

19. He, endowed with innumerable and immeasurable prowess, soon made mountain Raṇasthambha (i.e. Ranathambhor) under his control like the pillar of victory, after having conqured the Turuṣka warriors, blind with the conceit of the strength of their arms in the battle.

20. This mountain with its beautiful passages, does not have a contracted i.e. small form, being big in dimension. Though without any action i.e. being immovable, it shines too much with its form possessing several glittering minerals.

(Suggested meaning-It does not possess a compounded morphological form as preseribed by the grammar and though without any morphological form, it possesses the modification of the manifested verbal root i.e. Dhātu).

21. This mountain, skilful in covering the visibility of the quarters and sky, and possessing lovely wandering of birds, is perhaps like the philosophy of Mimānsakas e.g. Bhatta Kumārila, well-formed in thought and skilful in overshadowing the light (i.e. view) of the Digambara Jain Philosophy. Again it possesses only a single path to reach the mountain fort, and as such permanently bears the beauty of the Philosophy of Vedānta, following the theory of the Advaita (i.e. Monism).

22. This mountain bears for ever the beautiful pearls falling from the temples of the tuskers, torn up by the sharp edges of the nails of the lions, residing on its top, like the stars falling down from the sky.

23. The moon rapidly passes through its lower table - land, observing his (or her) deer, frightened by the furious sons of lionesses (i.e. cubs) wandering on the ridges and residing in the huge caves on the top of this mountain, thinking them as the son of demoness Siṁhi i.e, Rahu.

24. The King Surjanadeva resided on that mountain, lovely with flowers; abounding with multitude of respected scholars, possessing, beautiful peaks and table-lands like Indra, the lord of Sachi, dwelling on the Mt. Meru, lovely with the gods residing there, abounding with the multitude of respected Vidyādhara demigods and possessing gold peaks.

25 26. & 27. The luminous king Surjanadeva appeared bright while entering his royal assembly, the bestower of happiness upon eyes of the public fortunate like bestowing of [illegible]

upon the thousand eyed-Indra resplendent with persons of noble castes and groups of scholars residing there like the boundry-land of Mt. Sumeru, resplendent with gold and having multitude of gods sporting there; shining with all the arts and skill like the lovely evening time of full - moon day, shining with all the digits of the moon; the source of the progress of noble warriors and beautiful with its splendour like the Eastern quarter being the source of rising of the glamouring sun and beautiful with the asterism Chitrā; and bearing even the members of low caste; highly meritorrous and eloquent like the aphoristic style of the grammarian Pāṇini possessing modification of even the preceding a-phoneme (i.e. a and āphonemes) having guṇated according to the following vowels (i.e. i.ī.front vowels or uū back vowels in the form of e and o respectively according to the Sandhi rules).

28. While this king was adorning his assembly, the sound of the great drums beaten loudly, won over forcibly the roaring noise of the ocean, being churned by the mountain Mandara.

29. The king, sitting on his precious throne, with sober attire, delighting his public, bore the beautiful umbrella, white with the rays of the autumnal moon of his glory.

30. This Indra of the earth sitting in his righteous assembly like the assembly of gods, Sudharmā, regarded as it was the resort of the deeds of the world, welfare like the resort of Viswakarmā, the manson of gods, governed perpetually the family of the lord of quarters (i.e. the gods govering 'the quarters in case of Indra), being fanned by the moving chowries.

31. The king killed the Kali with corporeal punishment (with his sceptre), having divided his duties according to the respective period bestowing happiness upon the public and fostering all the four feet of the virtue.

32. The ministrels praised the king, seated in his assembly attentive for the welfare of the public with their speech, charming with the eloquent composition and graceful meaning.

33. "This noon (or noon prayer) may be favourable to you who has adorned the solar dynasty with its beauty beheld with the brightness of the rays of the hot sun."

34. "This lady in the from of the quarter of the sky, at present fallen unconscious because of the excessive heat of the sun), though being

fanned (for cooling) by the 'Tala' like ears of the elephants of the eight quarters, bears on her body of the paste of rich compher of your fame".

35. "Where are your enemies before the heat of the sun of your prowess. They are just like the shade of Tortoise unable to give any protection from the heat of your prowess."

36. "The daughters of the serpants, sitting inside the cavity of the sandal trees, sing for ever your glory with the pair of their tongues, having their body (limbs) infatuated by the invisible horripilation".

37. "You bear permanently on your arm, the place of protection for the world, the blackness of the collyrium fled away from the eyes of the consorts of your slain enemies, through the mark of the scar made by the bow-string".

38. "It is really a surprise that your creeper of sword, black like the 'Tamāla' flower, reddened with the blood of adversaries in the battle, now produces your glory as lovely (Lit, skilful) as the autumnal moon".

39. "The multitude of diamonds studded on the edges of the crowns of the kings, bowing down at once, bear the lustre of the rubies, because of the splendour of the nails of your crimson foet".

40. "This courtyard of yours, abounding with immumerable tuskers and steeds, always laughs exceedingly at the assembly of Indra possessing a lone elephant (Airāvata) and a single horse (Uchchaisravas).„

41. "There is no wonder that your grace makes a mendicant the earthly Indra; but it surely surprises our heart today that your anger bestows supreme kingdom (i.e. the abode of heaven Swarajya) upon the enemies."

42.

43-44. "Your father, the helper of Udayasimha, was observed by the People marching to conquer the heaven (i.e. dying), while staying on the tope of the mountain (i.e. Chittorgarh) drawing the creeper of sword with his hand, when the great Mt. Chitrakuta, scrapping the clouds, blasted due to the cannon balls (or lighted mires) of the Sultan of Mandu, powerful with the assemblage of the delighted army".

45. Extolled like this by the ministrels, the king Surjandeva, whose lotuses of feet were worshipped by the waving lights (Ārati) of the gems studded on the heads (i.e. headgears or crowns) of the saluting kings, went to his palace, leaving the assembly of his feudal lords.

46. The lord Visnu, the enemy of the demon Mura, protector of the three worlds, slept happily in the ocean without any anxiety; while this king, absorbed in governing the three worlds, was ruling over his public with proper method prescribed by the sacred precepts.

47. Meanwhile, the Emperor Akabar, born in the Chakatta Dynasty, the lord of the horde of Turks, too much conceited for the fights, came to besiege the Mt. Ranastambha (i.e. Ranathambhor), equipped with the Akshauhinis of the archers.

48. The furious huge-bodied boa (Ajagara snake) of the angry army of this Moghul Emperor, dreadful with the fangs of the multitude of arrows, capable of performing the ferocious act of swallowing the three worlds, besieged the mountain within a moment.

49. The most dreadful Yavana Emperor Akber stayed for several years, having besieged the mountain with the hordes of his army, desiring to capture it.

50. When this mountain was being besieged by the enemy, the lord of the earth, brave king Surjana; his prowes of arms blazed by the wrath, marched at once for the battle.

51. The brave king of the solar race, having stretched his toomuch furious bow, angrily discharged the unerring arrows, terrific for the horde of adversaries, towards the Lord of Turks.

52. The people did not discern him whether holding or discharging the arrows, motivated only for the destruction of his foes, infatuated with conceit of their strong arms.

53. & 54. The most powerful arm of this king checked the Vast ocean of Akbar, the Lord of many troops, abounding with the dreadful acquatic animals of his excessive strength, endowed with the upserging waves of weapons, unfathomable because of the mass of water in the shape of army, and bearing too much submarine fire of the might of his arms, anxious to overflow the earth; like the sea-shore mountain checking the ocean.

55. It is strange that this king Surjana, equipped with the comptent front line of the army, and skilful bow, clever in bestowing grant of life upon the three worlds, obstructed like an evil planet the rain of the arrows of his enemies in the battle, though himself resembling Indra (the rain-god) equipped with the beautiful rain bow, and dextrous in bestowing the water (i. e. rain) upon the three worlds.

56. The righteous king having the conduct of equal behavihur (towards all i.e. frinds and foes), and governing his public with the spectre (or penal code) like Dharmarāja Yama, snatched at once, the lives of the mercaneries of the lord of Turks in the battle.

57 to 59. That ocean of battle increased by the progeny of the solar race, became like a moat for the mountain Ranathambhar the ocean with its high tides of the dancing trunks of the beheaded soldiers, overflowing with the watery mass of blood, abounding with the alligators of the torn tuskers and the fish of the wounded unconscious horses, dreadful with the croocodiles of the arms of the slain foes, having mothers of pearls of the skulls of brave soliders flying up there, and resplendent with the gems, studded on the cutdown heads (i.e. crowns) of the warrior kings; resorted to by the sleeping Purnusottām (Lord Viṣu) inside it in the form of dead noble warriors.

60. After this furious fight, the king Surjana climbed up the mountain fort, having killed the foes with the volley of his sharp arrows, and having spread his fame in the worlds, inflicting pain to the ears of his adverseries with the loud sound of his war drums.

61. Then the loud sound of his hardly beaten drums of victory made useless (i.e. unfruitful) even the excessively increased ambition of Akbar.

62. Then, though too much formidable, yet unable to fulfil his wishes, Akbar sent a messenger to the king Surjana, with a desire to establish conciliatory measures (i.e. treaty) with him,

63. The the messenger, after having receivsd the orders of the Emperor Akbar in private, rapidly climbed the mountain Raṇathambhor putting on a civil attire.

64. Having bowed down to the feet of the king Surjana, the messenger delivered to him his most munificient speech, as distinguished as the

aphorism of the grammarian Pāṇini, rich with condense compounds (i.e. construed in bravity) and aptlyused meaningful words.

65. "O King, know me the messenger of the Emperor Akbar, as noble-familied Bhagwandasa, the ruler of the beautiful city of Āmber, and a warrior born in the family of famous Kachāvāhas".

66. "The Emperor Akbar, the lord of Indraprastha (i.e. Delhi) who has made even the lords of eight quarters as only the masters of their courtyards with the valour of his arms, now desires friendship with with you."

67. "He has now become a guest of you.s, a person of noble fame and lover of guests. Hence it is favourable to give away the mountain fort Ranathambhor according to hospitality to him".

68. The strength of arms itself is a fort for brave persons like yourself, born in the family of the exalted Astaipāala. Alas, the fort is considered a place for hiding the lives for ones who are coward at the battle".

69. "This tradition of those born in the solar race, has been read by us written (in immortal words) that the "Tree of wish at once becomes over burdened with fruits for the desirous persons i.e. the solicitors".

70. "O Lord, your elders, having instantly destroyed the allies of their foes with their dreadful arrows, had made persons forget for ever the act of the bow of Indra, having destroyed, the wings of his foes (i.e. mountains)".

71. "Enough now of this informal talk; you should at present establish friendship with this Emperor, regarded by us, respecting him with the presentation of the mountain-fort".

Having thus told politely by him, the king Surjana become pleased with the blooming smile. The progenies of the Sun are delighted when asked for a combat by the foes, or implored for fulfilment of wishes by the entreaters (i.e. donces).

73. The king Surjana spoke to him with a grave voice as loud as that of a lion, transforming the emerald gems, studded on the walls of the assembly hall as diamonds, with the bright lustre of his munificient teeth.

74. "If Akbar himself, having become guest at my residence, asks for the great fort; I am realy too much fortunate and object of respect in the three worlds. I, therefore, certainly, present the fort to him today".

75. For me, the riches, clothes, elephants, horses, the earth won over by my arms and this kingdom; what more even my beloved body (i.e. life) is capable to be offered as a donation. I am, of course, miser in giving away my fame".

76. "Speaking like this, that hero among the doners, king Surjana, a progeny of the solar race, presented Ranthambhor fort to Akbar at once, treating him with respect.

77. While donating the fort of Ranthambhor to the respected Emperor Akbar, he also gave him a sumptuous Dakshina of his own friendship with pleasure.

78. Then the king Surjana went to the city Indraprastha (i.e. Delhi) with that friend Akbar, establishing his great fame with the loud sound of tabors, Kettle-drums and war-drums".

79. Having, reached there (i.e. Delhi), the Emperor Akbar respected the king Surjana with different types of honours and presented him a thousands of elephants, haughty with intoxication and well-bred horses.

80. He appointed the king Surjana, endowed with his generous arm capable to bestow fearlessness upon the three worlds, and the sole gem of the crown of the Kshastriyas-as the ruler (i.e. Subedar) of Pulindadesa (i.e. Gondwānā).

81. The the son of Arjuna i.e. Rao Surjana: his fortune increasead because of the trust of Akbar in him; who had frightened the family of his foes, went to check of the ruler of Pulindas, with twenty thousand horses i.e. cevaliers.

(Exp. The attribute तद्धितप्रत्ययजातवृद्धि : has another suggested granmmatical sense with its initial vowel vriddhied due to the affixing of secondary suffix (तद्धितप्रत्यय) to the root morpheme. In this verse, the word, आर्जुनि: (अर्जुनस्यापत्यं पुमान्) itself is an example of this usage. where the intial अ vowel has been vriddhied of आ because of the अव्ययार्थक suffix added to it).

82. The yellow flag of the king fluttered infront of him, while marching for battle against the Pulindas, like the flame, of the fire of his valour and the creeper of the lightening of the furious day of destruction, garrulous in destroying the allies of the adverseries.

83. His elehhants were looking brilliant infront of his army). always adorned with ichor like the generous persons ready for donating some thing, glittering with the multitude of black bees like the warriors shining with the multitude of arrows and of noble breed like the persons of noble heredity i.e. born in renowed families.

84. His horses, endowed with the jewel-like rounded narks on their necks and the round whirl-like marks on the other parts of their body like chest, head, forehead etc: never touching the earth with their steps out of excessive anger. looked magnificiant marching swiftly like the oceans, abounding with the lustre of gems, (i.e. pearls. etc) and whirl-pools.

85. His warriors, firm in the battle, and covetous only for the honour, rapidly marched for doing good for the master constantly with the strings of the bows and lives of the foes drawn forcibly together.

86. Then, within a moment, the querters became covered with the dust raised by the feet of the running steeds, blinding the people, like the darkness of the great night of distruction for the ruler of Pulida country.

87. Then he, equipped with unflinching valour, bore the beauty of the holder of the thunder-bolt (Indra), the winner of the demon vritra, holding the dreadful sword in his hand for capturing the dominion of the ruler of Bhills.

88. Having subdued the powerful rulers of pulindas with his furious arrows, and having captured the Chatuskachela, the king Surjana at once marched towards the ruler of Chaurachala.

89. Then ensued his terrific fight here, discharging the volleys of arrows with his out-stretched bow, made of good bamboo, equipped with his out-stretched sharp ends and and aborned with beautiful insignia in golden letters.

90. The warriors abondoned the care of (or faith) in thier bodies. like the mass of grass. grazed by the teeth of the calves (i.e. had no hope for their survival), while the frightful fight between the progenies of the solar race and that of the Pulinda race was ensuing.

91. The ruler of Chauragarh, himself firm in the play of battle fought with the king, unyeilding as far as his prestige was concerned, furiously pouring down the shower of Cannon balls.

92. The fire weapons (or mines), ignited by the mutual pounding of the arrows and Cannon balls of both the armies, blazed at once heavily due to the fire licking the sky.

93. Then the son of Arjuan extinguished the fire like the energy of the arms of the ruler of Chauragarh in the battle, with the force of the pouring down rain showers of the sharped edges of his sword.

94. Then he applied the anointment of sandal paste by the watery mass of overflowing blood of the slain Pulinda youths to his glory dancing in the battle field.

95. The lady goblins, intoxicated after having drunk the wine of blood in the shining goblets of the skulls, danced in the wounderful courtyard of the battle field, a stage for Rao Surjana's glory.

96. The group of parrots, gathered there atonce, pulled the pearls, dropping from the temples of the intoxicated elephants cut down by the swords; crimsoned because of dripping blood, thinking them by mistake to be the sweat fruits (i.e. seeds) of the pomegranate fruit.

97. Then the ruler of pulindas, fallen down on the ground with his body cut down by the sharp sword of the king Surjana, at once acquired that state of deliverance on the head of the battle (i.e. in the battle) which is befitting the Yogies.

99. His body, served perpetually by the goblins, his skull scattered, and himself patronized by the female jackals, became Hara (Siva), who is perpetually served by the Bhatas has scattered the skulls and is patronized by his consort parvati; after having immersed in the Ganges of battle.

100. Having killed the ruler of Chauragarh, and having made poor and miserable Devagiri fort, kidg Surjana, the praise of whose arms was sung by the ministrels, snatched the fortune of tne ruler of Vairāgarh

101. Having uprooted the enemies in the "Swayamvara" of the battle, this king won over the fortune of victory, shining in the battle field, lika Aja winning over Indumati (of Raghavamaśa's fame), looking lovely, in the battle-field.

102. Having thus destroyed the allies of his foes and having captured the Pulinda county with his valour, the king Surjana begot two noble sons, Duryodhana and Bhojadeva, like the pair of Ashwini Kumaras.

103. The king Surjandeva, now tried of the act of governing the earth, plunged into the ocean of relief and pleasure, after having delivered the whole of fortune to his two sons.

104. 105. & 106. Uprooting the working of teeth like the conduct of Yavanas uprooting the customs of Brahmins; checking at once the path of the eyes of human beings like the dark night; powerful in destroying the interest in passions and objects of senses like the cruel policy of the wicked rulers; powerful in perishing the riches of the country; marked with the foldings of Skin on the body like the world, adorned with the fortune of the demon king Bali (or a power ful brave king), having the limbs trembling like the ravines of the Himalayas, causing the limbs of the viewer to tremble the old age became manifested in the body of the king, who had gratified the gods of the earth i.e. Brahmins, telling him in secret at the root of of his ear about the cessation (i.e. end) of his body (i.e. arrival of death), in the guise of grey hair.

107. & 108. Having placed Duryodhana, who had for a long tortured the horde of enemies in Bundi, and having taken his most favour the and devoted son Bhojadeva with him, this king Surjana went at once to the Avimukta Ksetra (Varanasi), beautiful because of the river Ganges flowing, desiring to obtain salvation, after having observed his body in its find stage, like the flickering light of the lamp bereft of oil and having only the last portion of the wick.

109. Then the king saw Varanasi charming among all the cities, the sporting place of Lord Shiva, and a beautiful casket for keeping the pearl of salvation.

110. Having seen the river Ganges, as if a river full of neckar, and a resort for the world heated by the three torments physical, psychic and spiritual he was very much delighted at heart.

111. Bathing in that celestial river, inhabitated by the Gods, Vishnū. Indra, etc., he praised the revered river with the extollation, composed in fine Arya metres.

112. I bow down to the Ganges, the creeper of the sweet fruit of salvation, born in the clotted hair of Lord Śiva. having resplendent waves, and the destroyer of the vices.

113. I contemplate the image of the three currents of the Ganges, the glory of the family of the Himalayas, shatterings the pains of the human beings and making the world happy.

114. I praise the noble consort of the ocean, the excellent matted lock of the hair of Lord Śhiva. resorted by the folks of blacks bees and birds (or resorted by the group of Brahmins earning their livlihood by alms), and abounding with the perfume of salvation (lit. Supermost state of Being or Summnthen bonum).

115. May the mother of Bhimśa who has extinguished the dust (dispe the Rajoguna), and who is the destroyer of the heat (i.e. pain of the world ; like a rain could, protect us shattering the darkness of our ignorance like the brilliant lustre of the moon.

116. May the celestial river, the pollen mass of the lotus - formed feet of Lord Viṣhnu, most powerful in the whole world, the perfume of many a good path (i.e. conduct), dispel my sins.

117. This daughter of Jahnu, playing the games befitting a child, with the pretext of its waves, moving, in the courtyand of the 'Kamandalu' of Brahmā is supreme over all.

118. This Ganges, as if preparing the garland of pearls of the deliverance with its unchecked drops of pure water, flying up and touching the sky, is my place of protection.

119. May that river who has belittled the Mt. Kailsā like a small cottage, playing on the head of Lord Śiva, and transforming the persons immersed in her as Lord Śiva himself-protect me.

120. May the river Bhagirathi, bestows the supermost bliss, bereft of birth, death and pain, upon the human beings protect me like a mother, the happiest place for protection.

121. May the river, bearing one of her co-wives, (i.e. the Yamunā) blackened due to jealousy, and the other one (i.e. the Saraswatī), reddened with anger; but h erself kind and gracious (or pure and white protect me.

122. Praising the noble Ganges, regarded by the sages and mandicants with a hymn of ten verses like this, the king Surjana, reaching final stage of life (i.e. old age) went to have the 'darshana' of Lor Viśweshwara.

123. Then having folded his hands, he praised Lord Viśwanātha reciting a Dandaka Verse, repeatedly bowing down with his head, quivering on the ground.

124. "O Mahādeva, I always adore the esteemed lotus-like feet of yours, offering the oblation of the whole world to the flaming fire of your wrath, blazing with the furious assemblge of the flames burning on the altar of your third eye brightened at the time of the final destruction of the world; bearing the daughter of the lord of Mountains (i.e. the Himalayas) as half of the body and, instructing the sacred, formula of 'Tāraka-Mantra' to the righteous fellows merging in the ocean of the distress of this world, bereft of happiness yourself regarded by all the three worlds and perpetually sung by the group of Vedas and resorted to by the gods.

125. Then the king Surjanadeva, a progeny of the brilliant solar race, clad in the beautiful attire, went with confounded feet to the revered Vindumādhava, drenched in the feeling of devotion (i.e. moved by the feeling of devotion).

126. Having bowed down before the husband of Lakṣhmi, the noble-minded pious king, recited the flawless laudation, with his eyes full of tears of joy and his voice stuttering because of motionlessness and suffocation on account of upserging tears.

127. "Bow down (you) firmly before the Fish-bodied one (Matsyāvatāra), protecting the world and pulling out the ancient (i.e. perpetual) gem of Vedas from the ocean of deluge furious because of whirl-pools".

128. "I contemplate in my heart the Tortoise-bodied one (Kacchhapāvatāra), under whose feet the world has bent down, and who had destroyed the distres of the devotees, bearing always on his back the mighty earth like a green-moss (i e. algae)".

129. "May the Boar-shaped one (Varāhāvatāra), on whose tusk (or teeth) the earth shone forth at the time of the destruction of the world like the collarium of the pair of eyes of his consort Kamala (i.e. Lakshmi) kissed by him."

130. "I always bow down to that Narasimha, whose crimson nails shone forth like a saw for the chest of the son of Diti (i.e. Hirayakashipu) as if bearing the redness (also, love) of the bosom (also, heart) of the goddess Lakṣmi".

131. "I extol the god Hari, subdung at once intensely the great demon king Bali, who had conqured the gods, with his wonderful dwarfish form (Vamanāvatāra), for the desturction of the horde of (my) sins".

132. "I praise excessively the progeny of Bhrigu i.e. Parashurāma, who had fulfilled his wishes by sacrificing the assemblage of Kṣatriyas, who had committed the sin of his father (i.e. father's murder), into the fire of his wrath, enveloping the quarters".

133. "May that Rāma who had taught a proper lesson to the Rākṣasas, while residing in the Daṇḍaka forest following his father's instructions and who had made the Ten-necked one (i.e. Rāvaṇa) helpless (Lit. blunt)-protect us".

134. "I always praise that Baladeva, who has lovely eyes crimson-coloured because of the intoxication of sweet liquor, slayer of the demon Pralamba, clad in the blue attire and most pious in the three worlds (or purifier of the three worlds.)

135. "I contemplate that pure-spirited Buddha, who sprinkled the ambrosia of his compassion on the weary world tortured by the distress, and who is equipped with the act of forgiveness and is too much detached from the worldly attachment."

136. "I take delight in the supermost god Kalkin, who offers the oblation of abstruse horde of Yavanas to his sword, dreadful in the battle, for the hapiness of the world".

137. Thus mediating always upon the god Mādhava, who has performed the above - mentioned ten 'Lilās', the king Surjanadeva daily performed the wonderful religious pilgrimage, worshipping lord Hari."

138. Then the lusturous king, extinguishing the darkness of the enemies with the prowess of his arms like the sun, dispelling the darkness with his rays, and having poured down the Sumptuous rain of gold for the medicants like water for the human beings in the rainy season appeared brilliant like the Solar-god, when sitting on the weighing scale for 'Tulādāna', though himself incomparable (Lit. unweighable), like the sun, having moved to the Zodiac Libra, and having already poured down the rich life giving water during the rainy season.

139. The king atonce enjoyed the fruit of his righteous deeds sowing the seeds of riches (wealth) in the barren land irrigated by the waters taken in his hand for donating them to medicants.

140. He made the gait of the Stupid minded (i.e. confused) sun first swift and then slow, revolving in the firmament, endowed with the lotus of his hand brilliant with billions of wealth (or thunder-bolt like Indra), having bestowed the gold mountains upon the Brahmins.

141. That lord of armies (i.e. Surjana) being afraid of the obstruction of of the city of the enemy of Tripura (Śiva), himself resided permanently at Chunār, situated on the bank of the Ganges.

142. The king appointed his beloved younger son Bhoja, capable of bearing the burden of earth with his valour, dreadful in the battle; as the ruler of his own kingdom.

143. The king Surjana made his last age proper and successful by hearing and meditating upon the episodes of Itihāsa and Purānas, and contemplating on the lotus-like feet of the foe of demon Mura (i.e. Lord Viśnu).

144. The great king Surjana, the most powerful and noble-minded in the solar dynasty; himself respected by all the worlds, obtained the essence of the gem of salvation, the noble state of heaven, being engrossed in the supreme knowledge and being devoted to the pair of Hari's feet, after having placed the burden of the earth on the shoulders of his son.

145. Thus ends of description of Rao Surjana in the poem Śatruśalya charitam of the poet Vishwanātha etc.

CANTO-IX :

1. Then the brave Duryodhana (i.e. Rao Dudā), sitting on the seat of crown-prince, atonce assumed the ccntiol of Bundi, even while his father was alive.

2. He appeared like the lord of Kurus (i.e. Duryodhana), who had delighted his kingdom (who had delighted his father Dṛitarāṣtra), had his eyes as long as touching the ears (had has intelligence residing in the advice of Karna. the faster son of Adhiratha and Rādhā), and who was envious of the dreadful prowess (or army) of his enemies (who was envious of the strength of his enemy Bhīmasena).

3. Though born from the lord of armies Rao Surjana, the brave ruler of the twice-born ones, himself a source of delight for the resplendent earth i.e. his kindom (विलसत्-कु-मुदाकर:) had conqured the armies of the adverseries, like the moon, the king of Brahmins, though born from the lord of rivers i.e. ocean, who had blossomed the groves of water-lilies and who had not become too much powerful by the company of the stars (न तारातिवलो अभवत्).

4. This brave prince, who had captured the countries of the adverseries had uprooted the excessive evils and bore too much (lit. enough) malice towards the vicious king (अलकानृप-द्रोही) appeared like Rāma who had captured the region of Janasthāna, had uprooted the haughty Rakshasa Dūṣaṇa, and bore too much malice towards Rāvaṇa, the king of Lankā (लङ्का-नृपद्रोही).

5. He had obtained the kingdom with ease and had very well governed his public with his qualities of fame reaching the ears of the public like Nārāyaṇa who had obtained the earthly globe with the form of the Boar (Sukarāvatāra) and had protected the worlds, with his qualities of fame, lauded by the Vedas.

6. He immediately bowed down the heads of his adverseries, himself bearing the burden of the earth, too much unbearable even for Śeṣa Nāga.

7. He did not bow down his head, held up out of pride, before any body except the Lord Viṣṇu, or his victorious father Surjana.

8. Having heared the story of the Ratnasimha, killed by Suryamalla earlier, he himself wished in his heart to kill the lord of Delhi (Akbar) in a battle.

9. Inflicted by the anguish in the vital part of his heart as if by a javeline, he made up his mind for fight, willing to perform an aggressive act.

10. Though this son of Surjana was alone a match to conquer the thousands of archers, he still made preparations for equipping his army.

11. He respected the powerful archers, with their pillars of arms like the posts for tying the tuskers of victory, though themselves rich with the wealth of self-respect with sumptuos money as presents.

12. His steeds, equipped with armed cavaliers, not touching the circle of earth by their feet, with a desire to win over the houses of the Solar god, shone forth at the gate of his royal palace.

13. He created the huge river of the flowing ichor, dripping from (the) seven limbs of his mighty elephants, like a deep ditch around the city of Bundi.

14. The chariots, unchecked in their speed, equipped properly by all the parphernalia (weapons, etc.) befitting a war, appeared splendid at the gate of his palace.

15. The infantry soldiers, more than thousand (i.e. thousands) in number too much proud of their arms garrulous for the fight against an active army, served him day and night (as his body-guards).

16. Thus equipped with four-fold army, that brave prince Dūdā cared a fig even for the great emperor of Delhi (i.e. Akbar).

17. Then, he making all the rulers his tributaries at once, and having killed the ruler of the Medakas (i.e. Mevas or Minās) captured the mountain Trikūṭa.

18. Gradually conquering the quarters with his valour in the battle, he made the leader of the Bhils, Vrika (i.e. Bīka) by name, as his servant.

19. Then this prince Dūdā, angry for fighting the extinguisher of the armies of his foes, raided the countries of the lord of Delhi (the Moghal Emperor) with a malice towards him.

20. He rapidly killed hundreds of Yavanas, ruling over those countries, under the suzerainity of the Emperor of Delhi.

21. He rapidly impeded the forts, shattered the cities, obtained (Lit. tied up) the booties or tributes for himself again and again and thus created unhappiness (Lit. unhealthy atmosphere) in the domains of the Emperor of Delhi.

22. Then the Emperor Akbar, having heard about this plunderer of his kindom, sent forth rapidly some Yavana commander, Mohammad by name (lit. Mahāmada, a fellow with high conceit).

23. The angry Yavana commander carrying ten thousand cavaliers, established his camp at once in the proximity of Bundi.

24. Then the brave Dūdā (Duryodhara), his eyes reddened wtth excessive Wrath, came to the battle-field, discharging the volleys of arrows.

25. The enraged Yavana commander, surrounded by a huge army, faced him, shooting thousands of weapons towards him angrily.

26. Then ensured for a long time, the chattering sound from the fire-arms (i.e. muskets), blazing the forest of the bamboos of the families of the foes, with garrulous sound produced for ears.

27. Then atonce, arose the smoke from the fire-arms, indicator of the blazing fire, produced by the Sami trees of the terrific arms of the multitude of warriors.

29. The Cannon balls, made of the lead (or pun in Nāga i.e. serpants) overthrown by the Cannons did not abandon the quality of eating the lives (i.e. the breath of life) of the worlds taken from its constituent cause.

(Exp. The cannon balls made of lead (नाग) ate up the lives of the enemies, as if they being made of serpants (नाग) had taken the qualities of eating the air like their constituent cause. The serpants eat air (पवनाशन), hence they are (प्राणाशन). The balls are effect (कार्य) of their cause (हेतु or कारण) i.e. नाग (lead, serpant) As such effect has taken the quality of its cause, the quality of प्राणाशनत्व per dictum of Nyaya philosophy. The qualities of the constituent cause are a source of the qualities of the effect (कारणगुणा: कार्य-गुणानारभन्ते). The whole beauty of the scholarly

fancy here is based on the use of' double entendere' in बाण and प्राणाशन.

30. Then when the fire of arms was extinguished by the Varuṇāastra of his arrows, a furious fight ensued, the enlarging of magnifying the joy of the brave warriors.

31. The brave warriors of both the armies looked brilliant and vigorous, while discharging the arrows informing the distruction of numerous enmies.

32. The arrows, bearing the golden-lettered wings, shown forth like the celestial birds, arrived to the the human battle.

33. The fire, produced by the collision of the arrows, playing in the sky, looked like the flood of blood emitted by the heavy striking of the weapons.

34. The arrows, plunged into the temples of the intoxicated elephants, wiih only their feathered ends outside, looked in the battle like the black bees covetous for the ichor.

35. The brave warriors bore the wounds inflicted by the arrows on their foreheads, as it was the third eye born with a desire to burn the world (like the Lord Śiva).

36. The elephants, horses, chariots and footsolidiers were wounded in a moment, when the furious volley of arrows was discharged in the battle.

57. The son of Surjana (Dūdā), having rapidly outstretched his bow, dextrous in the destruction of adverseries, fought with the Yavanas.

38. The jingling sound of the anklets of the goddess of the fortune of Victory, approaching nearly by was heard in the guise of the bow, outstretched by Duryodhana (i.e. Dūdā).

39. Neither united against him, nor detatched from him, his soldiers, devoted to their duty towards their master, fought there considering their lives as worthless as grass i.e. causing least about their lives.

40. The son of Surjana created within a minute the wonderful pastime of keeping the sportive birds in the cage of arrows for the commander of Yavanas, i.e. he captured him within the cage of arrows.

41. The serpants of his arrows entered the nether regions like on an ant-hill, after having devoured the air of the lives of the enemies piercing

through their chests.

42. Then ensued the mutual fight with javerines throw at each other and and with swords striking each other, after he i.e. Dūdā) was shooting several arrows and killing the Yavanas in such a way.

43. Then all those Yavanas, displaying their vigorous valour, fought with confusion for the good of the Emperor of Delhi.

44. The Turuşkas, with their faces as red as those of monkeys by nature, bore crimson colour on their faces, because of excessive anger.

45. The enraged Dūdā himself destroyed them vehemently like the God of Death, having checked their weapons with his own weapons.

46. He fell down the elephants, cut them down into two pieces with his sword, emitting profusely the blood like the mountains emitting the fluid of minerals, red-chalk etc.

47. His victorious sword bore the shower of flowers, scattered by the gods in the guise of pearles attached to the torn up temples of the tuskers.

48. The rival soliders, with their necks cut off by the sword of the son of Surjana (being transformed as headless trunks); infatuated too much with conceit, killed their own archers.

49. The battle-field hurridly Sang the glory of Dūdā, with the buzzing sound of air passing through the cavities of necks of the trunks of the beheaded soldiers.

50, 51 & 52. This brave Dūdā created abundance of harvest in the regions of the God of Death (Yamaraja), by making the great river, having the moss of flesh and fat, abounding with the watery mass of blood, possessing the watery plants (algae) of hair, upserging with rhe tides of dancing trunks of beheaded soliders and full of stones of bones; resplendent with the merceneries, furious with tortoises in the shape of horse, and the crocodiles in the shape of cut down trunks of the tuskers-flow in the battle-field.

53. Having killed the Yavana army like this, the son of Surjana became dreadful for sight like the hot-rayed sun scorching the forehead.

54. The Yavana commander at once fled away from the heat of prowess, more furious even then the brightness of the (twelve) cruel suns of the day of destruction.

55. The Yavana commander went to the Emperor of Delhi with the greed of his life (i.e to save his life), having left his slain nephew and Cousin in the battle-field.

56. The Emperor of Delhi (Akbar) nicknamed him (Dūdā) as 'Laguda' (Lakkaḍa Khan i.e a log), hearing that his (Dūdā's) head was incapable of being bowed down before anybody.

57. Then the Emperor of Delhi rebuked his own warriors in the assembly, considering Dūdā his great enemy in his heart.

58. One Yavana commander named Bāhudara (i.e. Bahadur Khan), furious with the pair of his staff of arms, excessively itching. reported to the Emperor of Delhi.

59. " O Emperor, since your Majesty has nicknamed that son of Surjana (Dūdā) as "Lakkadakhan" (Laguda), I am the axe (Kuṭhāra), capable to cut down him".

60. "The conceited rival merceneries run away like the timid deer from the battle, fearing my arms."

61. The lord of Delhi, delighted at his heart, sent that brave fellow, making him 'Kuradkhan i.e. the Axe (Kuṭhāra) to face the son of Surjana.

62. Then the cruel Kuradkhan, escorted by the twenty thousand troops, angrily rushed to the proximity of Bundi atonce to kill Dūdā.

63. Having encamped his army at the rich 'Varahrada' (Bardhā), village, that brave muslim commander, Kuradkhan, became ready for the fight within a moment.

64. Having heard Kuradkhan ready (lit. armoured) for the fight, the son of Surjana, killed many a Muslim warriors chasing them like a hawk.

65. Then he (Duda) initiated for the sacrifice of battle, offered the oblation of even those strong twenty thousand Muslim troops to the fire of his valour.

66. "O Kuradkhan, do you think that you would cut down me as hard as a log (nicknamed by your Emperor as Lakkada)? Behold now, I shall make your edge blunt".

67. Having said this, the son of Surjana, with his bow outstretched upto his ear, discharged the volley of arrows; his fire of valour increased by an excessive anger.

68. He made this Varahrada village befitting its meaning (i.e. a village with a big lake), elevated because of the flowing blood of the enmies, whose armours have been cut down to pieces.

69. Then the brave Khuradkhan hid himself in a tent, blunted at the edge, forcibly by this Duda, nicknamed as Lakkadakhan by Akbar.

70. Thus the fortune of victory became obedient like the faithful consort of a devoted husband, while he (Duda) was slaying several foes in each battle like this.

71. Neither has such a mother of brave son borne, nor such a mother shall be borne, who may give birth to a son, matching Duda in a battle.

72. Then the son of king Surjana, energetic for constant war; his arms capable of destroying the foes, rapidly marched towards Gujarat to protect the Sultan of Gujarat, threatened by Akbar and checked by the invasion; like the enemy of the demon Mura (i.e. Lord Vishṇu) to protect the elephant checked by the wicked crocodile.

73. Then he atonce installed the Sultan of Gujarat on his kingdom, behaving like the God of Death for the soliders of Akbar in the battle-field inceasently discharging the volley of arrows angrily, having outstreched his bow with its hard ends dreadful because of the hard string.

74. Then after the battle, he passed slowly on the way, returning to his capital, with the glory of his mighty arms, reaching the three worlds and filling the circle of the quarters, with the loud sound of heavily beaten war-drums, echoing with the deep noise of the plentiful kettle-drums.

75. He cast away the weariness of the journey, plunging into the lakes, where many male swans were indulging in sportive dallings with the female swans, desiring to cohibid; and himself curious about the music of black bees, afflicted by the perfume of blooming lotus ponds, quivering because of being kissed by the breeze repeatedly.

76. He killed many a wild animal, rapidly wearing the attire befitting the hunting occasion, outstreching his bow, wandering sometimes in

a huge forest, abounding with beautiful birds, with the boars creating noises harsh for the ear, and with the deer, antelopes, etc running hither and thither.

77. He, the churning stick for the huge ocean of enemies, dreadful with the furious army and equipped with beautiful bow in his hand, encamped at the rich Davagrāma (i.e. Devapurā) wendering slowly and enjoying the numerous pastimes in the way.

78. Then knowing, his incarnation (i e. life) near an end, he desiring to abondon his body through meditation, assimilated his own light (i.e. soul), emerging out of the cavity of his mouth with the Supreme Light (i.e. Supreme Soul), as blue as that of the watery cloud (i.e with the supreme light of Lord Vishṇu).

79. Thus ends the eulogy of the valour of Duryodhana (Rao Duda) in the poem Śatruśalyacharitam of the poet Viśwanātha etc.

CANTO-X :

1. Then the king Bhoja, having instantly obtained the great kingdom from his father Surjana, appeared bright like the fire, receiving the brightness of the sun during the end of the day (i.e. during the night).

2. He governed the earth, possesssing the lusture of the fire god Vasu with the beauty of his form like that of charming champaka flower; his voice as energetic as the roaring of a youthful (i.e. watery) cloud, and his eyes as red as the blossomed lotus.

3. The king Bhoja, who had conquered even the king Vikrama with his qualities; and dispelled the agonies of the public with his valour, serving as a courtier over the theee worlds, made his subjects too much attached towards him.

4. Prepetually removing the poverty of the mendicants, with its excessive heat (i.e. pain) like that of fire, through the rain of the waters of donated riches' he appeared like a cloud; too much charming with his glory and quenching the thirst of birds of mendicants.

5. The rays (i.e. lustre) of the gems studded in the crowns of the bowing down enemies, crimsoned by the lustre of his nails (of feet), spoke about the redness (or attachment i.e. love) of the magnificient fortune of victory of the world; while he was sitting on the precious throne (Lit. the precious seat of the king).

6. Dispelling the fear of the wicked persons in the world instantly, with just the secret formula of his noble name, he made his disciplined public perpetually happy, himself endowed with the valour of the son of Vinatā (i.e. Garuda), removing the fear of snakes in the world, just with the formula of his name.

NOTE : It is a belief that the snake-charmers cure the person bitten by a snake, and also remove the ferr of snakes by reciting the magic formula, with the name of Garuda, who is the dead enemy of serpants.

7. The watch drums i.e. the drums beaten after every third hour-prahara-of the day) of this lord of earth and wise people, shone forth like the plentiful clouds roaring loudly on the mountain of Bundi.

8. Though there are hundreds of kings on the earth, there is no one comparable to this king, because, even the submarine fire, fled away fearing the fire of his mighty valour, had made his residence in the abode of crocodiles (i.e. the ocean) for protection.

9. The king Bhoja chose as his wife the beautiful and courteous daughter of Vanavīra, the head-gem of the famous Ghālukya dynasty, and the ruler of the city of Todā (i.e. Todā Raisimha), an ornament of the earth.

10. It is a matter of gratification that this daughter of the noble king, possibly created by the cupid himself, with deep interest in his heart with the assemblage of the foremost charms of the three worlds; served her husband with politieness as well as courtesy.

11. This couple (husband and wife) obtained a son, endowed with the mighty valour, favourable to the public, but never bearing the welfare of his foes, from the grace of Lord Vishṇu, the enemy of the demon. Mura, gratified with their austerity, penance and religious observances.

12. As he had arisen like the gem of the crown on the head of the prosperous kings of the worlds the disciplined son of the king Bhoja was born as Ratna (by name), himself the snatcher of the honour of his foes.

13. Then the king Bhoja marched towards the Pulinda country (i.e., Gondwana) bearing with him the four-fold army competent to destroy the enemy, with a desire to help Akbar, his father's friend.

14. Then the king, charming with his sports of victory over the three worlds; having, pained the ears of the horde of his enemies with the battle-drums and taburs roaring loud, fought against Pulindas in the battle.

15. This lord of earth fought with his outstrectched furious bow, echoing with the jingling sounds of beautiful bells, covering the quarters with his arrows.

16. The noble-intellected king, embraced by the spotless fortune, captured the Māndu Fort in the battle, bestowing atonce the kingdom of death (i.e. Yama) upon the brave Pulind soldiers.

17. Though obliged to him, the wicked king Mānasimha (of Amber), did back-biting before Akbar. It is really regretable and painful

that the snake, though respected, still vomits only poison in secret.

18. 19. & 20. "Stretching your hand with the courage for the desire of the gems on the hoods of the serpants and considering the unattainable mane of the lion to be attained easily; you, born in the family of the stern Kachhawāhas, in case, have enough strength to pick up the head gem (of mine), then do take it out from the lovely lock of my hair with you dagger today".

Thus was told the king Mansimha, seeking to obtain the precious head gem of Bhoja with the consent of Akbar by the sole conqueror of the world, with his eyes. reddened with anger.

21. The king Bhoja, endowed with the invincible valour, appeared in the assembly (i.e. Mughal Court), like a lion, while the multitude of kings had their locks of hair, moustaches and beards shaven off forcibly, when the mother of the Emperor Akbar had expired.

22. The king Bhoja, endowed with mighty strength of big army, followed the Emperor Akbar, whom his father had given the present of his friendship and who was skilul in combats, when he was marching towards Gujarat.

23. Then ensued his great fight who was the ally of Akbar in the war, and was endowed valour of mighty arms against the brave Gurjara soliders full of poisonous flames of wrath.

24. He, the dispeller of the enemies and the remover of the heat of wicked persons, atonce made (i.e. constructed) the great path equipped with the steady bridge with his arrows on the ocean of Gurjara army, abundant with the multitude of huge tides of the warriors enraged excessively.

25. Then too much injurious thunderbolt-like arrows of this king, equipped with the bow, skilful in the battle, entered the chests of the adversaries, as if desiring to cut down the gems of their exalted fortitude.

26. The forceful arrows of this king endowed with noble-intellect, reaching the targets in the battle, swiftly went to the nether region. to narrate delightfully the glory of Bhoja before the king of serpants (i.e. Śesa Nāga).

27. The warriors with their beheaded necks, having assembled together, danced there like the delighted peacocks, while the cloud in the form of this king was pouring profuesely the raindrops of the arrows and was roaring with the noise of the resounding bow string.

28. Thus manifesting his dexterity of archery in the assembly of Gurjara wars, this king proclaimed the art of his mighty sword, himself endowed with the wrath as excessive as that of Yama.

29. The sword of this lord of earth, too much sharp, because of being sharpened on the huge spindle stone, swallowed the three worlds atonce, like the god of death, angry at the time of the final destruction.

30. The creeper in the form of his sword, a lady-go-between (i.e. a lady messenger in love) for the nymphs, herself inflicted by the cupid, caught the noble warriors in the neck (i.e. embraced forcibly the noble warriors) out of desire for making love.

31. The creeper of sword appeared in the hand of this fortunate king, like the charming braid of the hair of the fortune of victory, adorned with the flowers of the pearls of the temples of elephants, stringed. with the red threads in the guise of blood drops.

32. Having thus killed several warriors, furious with the conceit of their pair of arms haughty for the fight, in the battle, the king Bhoja prepared a garland of the lotuses of their skulls for the lord Siva (Lit. the enemy of the cupid, having crocidile as insignia on his flag).

33. That king Bhoja, the sole warrior of the world, capturing Muzaffarashah, the Sultan of Gujarat, was embraced by the charming and stable fortune of victory in the private chamber (lit. chamber for amorous dallings) of the battle field.

34. The king, adorned with the successful expedition, released out of exalted mercy the Sultan of the west quarter of Gujarat, Muzaffarshah, crying in pathetic voice.

35. Then he, to whom the circle of his state was devotedly attached, captured the city of Surat, abounding with prosperous citizens, and equipped with the moat of the sea around it, and hence unassailable by the adversary soldiers even in contemplation.

36. Having obtained the nectar of his glory from the churned ocean of the battle through the churning stick of the valour of his arms of he made his ally Akbar, fortunate enough, like Lord of gods (i.e. Indra), obtaining the nectar from the churned ocean.

37. Having reached the city of Agra (Argalāpura) with Akbar, he (Bhoja), his drums of victory being beaten loudly, entered his palace endowed with the powers like that of the son of Lord Siva (i.e. Kārtikeya), beaing the resplendent javeline of power.

38. There flows the sister of Yama (the river Yamunā), destroyer of the multitde of sins, with its blue water more bliush because of the splendour of blue sapphires (of the steps) on its bank; just on the proximity of that city.

39. The lustre of the glowing multitude of rubies emitted from the magnificient mansious, reduced the darkness rare even in the nights, with a desire to perform the act of the sun.

40. The beautiful maidens, though with their hearts full of love and attraction, became angry (lit. displayed displensure), even towards their fortune lovers, sitting in the rich and mignificient pleasure-chambers studded with the precious gems, glowing with their lusture, (i.e. with its inner walls studded with the precious gems. (Exp. The lovely maidens, visualising their images on the walls manifolded thought that there are other co-beloveds of the lover and hence they became enraged).

41. Residing in a magnificent palace (another meaning with contradiction - though without chambers, lit-having no rooms (shalas), endowed with beautifully, painted, vast and charming gallaries (with fresco. paintings) the king enjoyed delightfully, as if having snatched the pleasure of Indra.

42. Then he marched rapidly towards Ahmednagar, too much dreadful. because of the enclosure of well-built rampart, unseizable in the battle even by the hundreds of Akbar's troops.

43. There resided the wife of the Sultan of Deccan, (Lit, the quarter of Yama) named Chandramukhī (Chandbibi), with her face as lovely as the moon, resembling the goddess. Durga, the consort of the holder of Trishūla (i.e. Lord Shiva), respected on the earth by the public, and herself capable of destroying the adversaries.

44. That city was just the chamber of the herem of the fortune of victory of the diplomatic Sultan of Daccan, bearing an encircling (Kundalanā), denoting it to be left out from the invasion of the enemy, with the pretext of the deep unfathomable ditch.

45. That city, which had burnt the forest of the multitude of foes with the fire of too much powerful fire pipes (i.e. cannons) appeared truly on earth like the city of the great grandson of the demon king Virochana (i.e. Shoṇitapura, the captital of Bāṇāsura).

46. And in that place of mighty warriors even the ladies (i.e. women warriors) bearing arrows, bows and swords with their arms distressed and mutilated the entire family of the foes in the battle, like the mother goddess.

47. The king Bhoja, unequal in his valour during the war, shattered that city of Ahmednagar, resembling the hollow cavity of mountain and the sole abode of the victory of all the three worlds.

48. While just riding on the horse-back, the king Bhoja destroyed rapidly the enclosing wall (i.e. the rampart of the fort) in the battle. Did it denote that he (the king), had removed the veil from the face of the lady in the shape of Daccan, after having snatched the fortune of the enemy ?

49. It is really surprising that the king Bhoja, endowed with the vigour of eminence (or endowed with the vigour of a mighty wild buffalo)' blazed forth furiously here in the quarter of the lord of dead fore-fathers (i.e. South), having scorched the foes with his lustre, where even the torturous multitude of the solar rays themselves decrease in its lustre.

50. That king, endowed with his powerful army and his lustre as torturous as the rays of the sun, made that lady Chandramukhi (Chānd Bibi) exhausted, though incessently armed with the weapons *NOTE* : There is contradiction in स्त्रियमपि अस्त्रीयभाजां though a lady still like a non-lady), where the meaning of the later words is armed with weapons (अस्त्रीयते इति अस्त्रीयभाजां, अस्त्रै : सज्जिता मिति भाव :)

51. Having thus made that quarter of Daccan in submissive to his instructions (i.e. orders), the king, a tree of which (Kalpavṛikṣha) for the wishes of Akbar, returned to his country, his merits being sung by the ministrels.

52. The king Bhoja, the conquerer of the three worlds forcibly made Shah-salim (i. e. Jahangir), the son of Akbar, as the ruler of Indraprastha, (i.e. Delhi), when the Emperor Akbar was desiring to state i.e. departing for heaven and the king Mānsinha was preparing (i.e. plotting) to confer the burden of the great earth upon his (Akbar's) grandson (Khurram, the eldest son of Salim).

53. The king Bhoja, initiated for bestowing fearlessness on the three worlds contemplated upon the lotus of the feet of the killer of demon Madhu (i.e. Lord Vishṇu), after having installed his son Rao Ratna born on this earth like the Kshatriya conduct incarnate and like the ripened fruit of the creeper of his earlier righteous deeds, on the globe of the earth for protecting the public.

54. Thus king Bhojadeva has been eulogised in the poem Śatruśalya charitam of the poet Viśwanātha etc.

CANTO-XI

1. Then Sri Ratna, bearing the weight of his vast kingdom (lite earth), the controller of wicked warriors, endowed with demenour capable of dispelling the sorrows of the three words and ruling over his subjects, and delighting (lit anointing) the eyes of public with the glory of his arms, won over even the renowned ancient kings without any effort.

2. Shining forth with the Golden Complexion of his body ; Rao Ratna the ornament of his family; profound and sagacious like the deep occan, steady like the mountain but hard because of anger, looked brilliant with his well built shoulders, full of flesh equipped with broad chest, lotus like eyes and the pair of beams of his arms, perplexing his foes.

3. Lo, this fearless brave king, his nails reddened by the pair of feet competing with and winning over the beautiful lotus, full blown and coloured with the beauty of the bright face resembling the autumnal moon, conqured even the lord of goods (i.e. Indra) fearlessly with his lustre, being steady in the battle and profound like the deep sea.

4. Oh. his grandeur, endowed with the sporative activity of causing the lotuses of the fortunes of rival kings to sleep (i.e. to close), having pervaded the eight quarters and four oceans, rotates in the sky as the thirteenth form in the guise of the Sun (i.e. with the pretext of the thirteenth sun).

5. His mass of glory is the moon born out of the ocean of the gems of his king Rao Ratna, too much bright like the foams of the occan of of nector, agitated because of its churning heavily dispelling the darkness of quarters and subquarters, and itself held by all on their heads, satisfies the Chakori birds permanently even during the day time.

6. How can his mighty dreadful arm, destroying the wishes of the hearts his adversaries, attain the similarity of Kalpa-Vriksha (the tree of Gods). The foot at this king is, truly a great Tree of Desire, since it bestows all the wishes even upon his rivals, approaching him for rescue.

7. Indra is the drinker of wines (auother meaning protector and ruler of Gods), but this king drinks the nector, left up during the sacrifices; he is the destroyer of his families (another meaning the cutter of mountains), but this king deligths his kiths and kins; Sakra i.e.

(Indra) is Jealous towards the strength or the army (another meaning, the enemy of the demon Bala), but this king has assumed the strength or has equipped the army and loves it. How can this king Rao Ratna be similar to him (i.e. Indra)?

8. Ignoring haughtily even the gem of the Desire (chintamani), his unexhausted grace bestows fruit of happiness upon the dejected ones, and the anger of this gem of the kings Rao Ratna forcibly makes even the lord of the quarter (Dikpala), miserable and devoid of his exalted status.

9. The Mountain Mandara, any how could know the depth of the ocean churned by the gods for the sake of nector. But no one has been able to discern the depth (i.e. Profundity) of the heart of gem of kings Rao Ratna in all the three words.

10. The innumerable stars of the firmament can be counted any how, at some time by the experts and even the atoms can be measured (i.e. counted) any how by the accomplished sages; but the merits of this gem of the crown of kings, well known to all, are never the objects of even the speeches of the poets i.e. they are undescrible.

11. This Rao Ratna staying at the beautiful place of chunar, surrounding the upper summit of the table land of the mountain, a place of penance of Parashuram, (the progeny of Bhrigu) endowed with the arms capable of protecting all the human beings made angrily a yavana, dreadful and furious in strength in the battle, just like a moth to the lamp, of his prowess in a combat.

12. Then he married the daughter of a ruler of Amber of the famous Bhagwandasa by name, the sun for the lotus-pond of family of kachhawahas capable of bearing the burden of the earth named with the initial name of Rama (i.e.) Rama Kumari, fortunate and lovely like the goddess Lakshmi herself born out of the ocean of beauty rapidly churned by the cupid himself.

13. Dallying with that consort, who was devoted with her heart to the feet of her husband very much like Arundhati and had conquered over the conceited wives of gods by the charm of her body in the luxurious palace, the king Rao Ratna procreated a son named Gopinath, the mighty warrior in the world.

14. Then, when the king was pouring down excessive gold again and again on the Public at the time of the birth of Gopinath, the gods poured down the flowers on the king Ratna as if intensively competing with him.

15. Then as the charming son of Rao Ratna developed with the natural strength of his arms, he quickly uprooted the tusks of the mighty elephants while playing and smilingly placed them into the mouths of artificial elephants (i.e. elephant-toys or sculptures) at once.

16. While playing with his friends of his age, he haughtily cut down the manes on the necks of the lion-cubs and putting them rapidly on the necks of the artificial horses (i.e. horse-toys or sculptures, caused them to run on the ground swiftly, riding on them.

17. Having formed half of his friends as the army on his side and the other half as the army of the rival side, this brave young boy conquered them with [ease, angrily discharging the sharp arrows in the great sportive war of childhood.

18. Though still a child, playing like this, was he possessing the strength of ten thousand elephants, the enemy of the demon Baka (i.e. Krishṇa) came down on this earth to remove its burden ? While bearing the lofty rock of the mountain on his hand just to observe the strength of his arm, he shone forth like Lord Hari holding the Mt. Govardhan.

19. The king Rao Ratna, having begot the son Gopinath fit for bearing the burden of earth with his demeanow exhibiting the terrible prowess like a lion anxious to combat with the herd of mighty tuskers of the rival warriors, felt too much delight in his heart.

20. Then the king went with his followers to see his capital Bundi, himself equipped with the power of redoubled strength of his son, possessing the powerful arms, skilful in sporting with the fortune of victory, emerging out of the ocean of the adverseries, being anxious for a combat.

21. While residing in Bundi city; with its mansons shining with gold and bearing the multitudes of fortresses, regarded too much by the people and adorned by the wealthy persons and great land-lords etc, rebuking the city of gods adorned. With only one Kubera and one Shiva etc, the king Rao Ratna appointed his son Gopinath as the crown prince.

22. Then Gopinath, dreadful for the family of his foes, with his mighty arms, bearing the whole burden of the earth placed on his head by his father, married the daughter of the king Vijayanatha, the ruler of Mahamela fort named Mata i.e. Gauri possessing charming and delicate form.

23. Was Gopinath forcibly drawn away towards herself with her strong ropes of qualities, by that lady as if creaked by the cupid (lite the flower bowed one) himself, having collected the immeasurable and uncountable charms of the the world with an idea of competing with the lord Brahma whose intelligence has been too much dull because of constantly reciting the Vedas.

24. The dallying with her, instantly transforming the bodiless cupid into full bodied one with the multitude of her glances as charming as those of the female deer, he procreated Shatrushalya like the husband of Laxmi (i.e. lord Vishṇu) begetting Pradyumna while sporting with Rukmiṇi.

25. There developed immense happiness in the house of Shri Rao Ratna where the People were delighted, the happiness which was redoubled by the sounds of the loudly beaten celestial drums, war drums, tambos and kettle drums and echoing with the noise of innumerable musical instruments played upon.

26. There arose the noise of the auspicious singing of the lotus-eyed urban ladies with the profusely pouring down of the flowers of celestial Mandara trees by the gods, when this manifestation incarnate of the result of the multitude of righteous deeds earned by many earlier births in the form of this grand son was born in the house of Rao Ratna.

27. That grand son of Rao Ratna making successful the wound of the fortunate mother constantly and adorning very much the delivery chamber, covered instantly the beauty of the walls, having the lustre of the multitude of glittering gems studded there in with his own lusture.

28. It is strange that the delight; created by the birth of the grand son could not be contained in the heart of the king Rao Ratna, who could contain even that enemy of demons (i.e. lord Vishṇu) in his heart daily (by contemplating upon him), in whose vast womb all the worlds are enveloped during the destruction of the creation, and who is possessed immeasurable charming form.

29. Then suddently a loud voice arose in the sky which could hardly be be heard because of the sounds of drums beaten with excessive joy - "O king Ratna this grandson of yours, shall enjoy the earth for a long time, forcibly placing his foot over the heads of his enemies with his valour."

30. The king was instantly delighted with the horripilation, as if taking a bath swiftly in the ocean of the nector, drinking the celestial voice, capable of removing the agony of the heart at once with its charming speech, with the cup of the palms of his ears.

31. The king having, observed again and again his prosperous kingdom, always charming with the joyful public and endowed with the happiness of riches and having appointed his son Gopinath, whose arms were like sharp goads for the migthy elephants in the form of rival kings as incharge of the state himself marched.

32. Then treading over the earth with his prowess, and disturbing (lit churning) the king. Salivahana, in the battle, this king Rao Ratna endowed with his valiant personality at once captured the fort of Gougunda by the great warriors with his prowess, he had captured the city of 'Pura' (i.e. Pura Mandala).

33. Then that ally (lit companion of the victory of the emperor of Delhi King Rao Ratna having himself invaded the earthly region rapidly at once went to Ajmer to protect the Moghal Emperor (lit. Sultan), very much competing with the great Rao King in he battle.

34. Adoring the command of the great army of the ruler of Delhi for a long time, this great warrior endowed with the strength of his staff of arms competing with the sub-marine fire and discharging arrows angrily set them Rao King free though captured in the battle out of mercy.

35. Alas, khurram, the son of the Emperor of Delhi after having heard that enemy (the Rao) set forth by that Indra of the earth (i.e. Rao Ratna) exihibited mischief before his father saying "that king Ratna with (whom you consider yourself fortunate enough has presently established liasion with your enemies.

36. Alas, the Emperor Salim i.e. Jahangir, though sober by nature, yet possessing evil nature because of his yavana birth, desired in his heart to murder him (Rao Ratna) the corners of his eyes, reddened with the execessive of growing wrath.

37. I am unable to kill you openly because of your (earlier) friendship, though you have established liasion with the enemies, out of mercy

towards you. Therefore, be you now prepared to fight against my huge army having returned to your well fortified state.

38. Thus told by the messenger in the angry and cruel words of the lord of yavanas, the king Rao Ratna renowned in the world, at once exclaimed in the assembly...his voice challanging the uproar of a lion excessively furious because of the glowing wrath and conceit.

39. "Know you undoubted the great fort of ours; born out of the ocean of the family of Solar God encircled by the rampart of the fire of the prowess of our mighty arms, as powerful as the multitude of burning flames and by the moat of the ocean of blood of the slain enemies as the circle of the earth itself, surrounded by the oceans.

40. Then the king Rao Ratna reproaching even the multitude of sins of the day of terrible cosmic destruction with the glow of his face, his furious eyes reddened because of the expressively wirling eye brows, reached the battle field with twenty thousand warriors himself desiring to form the allies of the enemy down with his wrath.

41. Then the ruler of the yavanas, Emperor Jahangir himself sitting on tne window of the royal palace became distressed at his heart and was told by Jaman Beg hurridy in words, full of respect and diplomacy as follows "This fellow can never be won-over even by the gods, assisted by Indra himself."

42. Having contemplated over his report in his heart for a long, Shah Salim, with his advice of the (or same) very wicked son khurram, at once ordered his commander-in chief Asaf Khan "Let Rao Ratna enter by assembly unarmed with ease."

43. The king Rao Ratna, at once told by that fellow (Asaf Khan), ordered by his master (Jahangir) as above replied him, with ering down his lotus like face with the moon light of the rays of his (Ratna's) teeth "how can I surrender my arms today which have been placed in the arms of the Kshatriya by the creater himself to protect (one self and the world like an important coward."

44. Thus that king Rao Ratna who was determined with the excessive conceit of his arms, entered that assembly of the sultan terrible with the assemblage of horrible warriors, itself laughing even at the assembly of Indra, himself equipped with weapons and rebuking all the courtiers with his intense to lustre.

45. Then he shone forth in the Emperors's assembly handling his blue sword, as darn as the row of shining smoke, as if accompanying the fire of his burning prowess, hanging at his waist, and bearing the

dagger, resembling the demon Rahu, capable of swallowing the moonlight of the glory of his adverseries.

46. Having seen Rao Ratna entered in the assembly placing his foot (also rays) on the heads of the wicked, like the Brilliant Sun on the heads of the wicked planets with his lustre, the grace though permanent deserted those mischevious fellows including khurram atonce like the grace of nocturnal lilies departing because of the spreading sunlight.

47. Having drunk (i. e. observed) with his eyes and catching the sight of Rao Ratna, the gem born out of the ocean of the family of Sun-god. converting poor even the grace of Indra with his lusture, the Emperor immediately rose up from his luxurious (magnificient royal seat.

48. "O friend, please excuse my offence whatever I have Uttered to you being myself out of senses because of the excessive drinking of wine repeatedly in the form of complaints of the wicked informers with my ears". thus told the pleased lord of yavanas respectfully.

49. Then the lord of Delhi (Lit. the city of Indra; Indraprastha) his heart filled up with the nector of excessive joy, presented his friend, the king Rao Ratna, respected by other kings, the royal elephant, choicest among the intoxicated tuskers, and also numerous tall horses as swift as the mind itself.

50. Then the fortunate king Rao Ratna, always regarded by the worlds returned to his camp atonce, having received immeasurable respect from Shāh-Salim (i.e. Emperor Jahangir) in the royal assembly : his Panegyrics being sung by the minstrels, whose voices were mixed with the loud sounds of roaring tambours and drums.

51. Lamanting too much in his heart about the ill-omenous quivering of his left eye excessively, while at his camp, king Rao Ratna heard the summoning of his crown-prince (Gopinath) by Indra to fight against the demons in a great combat (i.e. heard about the death of his crown prince.

52. The excessive grief of the lord of earth (caused by the death of his eldest son) which was at once cutting down the vital powers of heart like a saw, which was immediately spreading over the whole of his body like the poison of a cobra, and which was quickly burning his body like the fire ignited by the hard Khadira wood, snatched his intelligence instantly.

53. Whatever effort, like the building up of the dam of fortitude etc., this king made to check up the flood of the great ocean, which had disturbed the emotion of pathos, the cruel mass of sorrow, caused by the death of the son of this king, broke down all that one.

54. That great haughty submarine fire of sorrow, burning with the assemblage of flames, caused by the death of the crown prince instantly drank up the ocean of the heart of the lord of earth though firm by nature, and resorted by great spirit (or in case of ocean, resorted by huge acquatic beings).

55. Though the mass of sorrow burning too much in the heart of the king like the drugs roasted in a 'Puṭapāka', was unable to assume the gaseous form, being too much hard (i.e. firm), still it came out of the window of his eyes atonce with great suffering in the form of tears.

(Exp. :- Here the process of distilling has been described. The sorrow of the king was distilled as tears like the medicinal drugs roasted 'Puṭapāka' or distilled in the from of 'āsava'.)

56. The numerous big-drops of the liquified metal of sorrow (of the king) dripped down from the pipe of the king's eyes, in the of guise of accumulated tears.

57. Surely, the unhappy king, fainting again and again, angry with the creation of Brahma, his nostrils and lips quivering on account of excessive grief, his face washed by tears flowing down deeply was drowned in the ocean of pathetic feelings.

58. Then the sweet celestial voice sprinkled the senseless king burnt down by the fire of pathetic feeling with the charming words as sweet as the fresh ambrosia "Oh king, do not lamenet for the dead son, give the earth (i.e. kingdom) to your grand son".

59. Hearing these celestial words (lit) making the letters of the voice of Gods as guests of his ears), and having instantly released the hot sighing on the ground, the king abandoned the grief of his son's death, thinking in his heart that no one is powerful enough to check the orders of the fate.

60. Then breaking down the sorrow slowly he went to his Capital, desiring to put the huge burden of his kingdom, borne by the elephants of the quarters, great 'Kuoaja' mountains and Śesa Nāga on the head of his grand son. and also to pacify or compose the harem distressed by the grief.

61. Then the king rendering the support (of his hand) for the ladies of harem, drowning in the deep ocean of the pathetic feeling, like a boatsman and having conciliated them, arranged to declare his grand son as the crown-prince.

62 Then the son of Gopinātha, bearing the ornament of crown, an insignia of the crown prince placed on his head by the father of his father (i.e. grand father), attracted the hearts of the public and also removed the dart of darkness in the shape of foes from the eyes of the people shining forth with his lustre like the snatching away the light of other violent planets (eg: Mercury & Saturn).

63. The lustre of the rubies, studded on the crowns of the feudal lords bowing down before him, shone forth the great progency of Gopinātha endowed with strong arms haughty with the conceit of conquering the horde of adverse warriors in the three worlds and splashing forth redness of affection and love to all persons, like the earth waving forth lights (नीराजना as a token of his welcome.

64. The respectable king **Ratna**, his feet adorned with all the feudal lords, staying at Bundi for a series of nights, went to conquer Nizam the Sultan of southern quarter, himself desiring to render help to the Emperor of Delhi at the head of the battle.

65. Then going at his own will to the city of Iccāhpur, the lord of earth, who had deafened the ears of the enemies with the noise of the tambours and drums beaten loudly, prepared for the fight, terrible for all people against the warriors headed by Malik-Amber, the brave Commander-in-chief of the Nizam Sultan.

66. Then that created excessively the extinction of the lives of his adverseries discharging the multiple of volleys of arrows as furious as the angry poisonous snakes, after having shaken too much his huge bow as fierce as the mouth of God of Death (yamarāja) at the head of the battle.

67. Oh, that king, who was resorted by the people for their lives, stratching out the string of the bow, left during the combat, at once snatched away each and every life of the enemies in the battle like the lord of Death, whose eyes were crooked because of the agitated eyebrows revolving out of excessive wrath.

68. The king at once created the prosperity of food for the eaters of flesh (like gobling, carnludarous, beasts and birds) with the blood of his foes. the obstructing, the having rain of poison (another-meaning water) of the arrows at the head of the battle and himself lowering

down even the excessive heat of the dreadful Sun of the day of destruction (Pralaya) scorching the forehead.

69. He protected at once the bimba like lower lips of the ladies of his enemies from the intense pain of wounds inflicted by the teeth of their lovers during the fight of amorous dalliance biting his own lip with the excessively poisonous wrath and creating the non-duality (अद्वैत) of arrows injurious to the alien warriors at each battle.

70. Oh, the famous dancer of the fame of king Rao Ratna constantly danced; very much with the happy headless trunks, (of the slain warriors) dancing on the stage of the battle-field with muddy ground, over-flowing with the flood of blood oozing excessively from the elephants, horses and infantry soldiers cut down (during the battle).

71. The five ferocious strong warriors Bhairon-Singh) etc. who were highly lustrous and were victorious over the world, atonce attained debtlessness from the lord having conquered the enemies like the five arrows of the great cupid (lit. one with the insignia of crocodile on his flag, during the combat of this famous slayer of foes, the king desirous of conquest in the battle.

72. The languid adverseries atonce bore the darkness of the extinguished fire of the their prowess, while this king, endowed with powerful vanguard of army, was discharging the volley of arrows from his strong stretched up bow at the battle-field, resembling Lord Indra (Sunāseera, one having good vanguard of the army), pouring down excessive rains with his spread out rain-bow.

73. Then the king, his pair of arms engaged in embracing the damsel of the goddess of victory of the Deccan forcibly, went to Bundi back having converted his orders competitor of the head-gear of Malik Ambar (Commander in chief) haughty with the prowess of arms.

74. The king shone forth very much,-while kissing the forehead of his able grandson, bowing down on his feet out of modesty, drinking him again and again with his eyes, full with the nector of excessive joy, the grand-son, sweet with the fragrance of his career engaged in investigation of his state instructing the public.

75. Then this king ran rapidly to protect the sultan (i.e. Emperor Jahangir) hearing Khurram, desiring to kill his father and marching with more than a lac of armymen, equipped with powerful weapons, fortunate in combats, having converted all the princes in his favour with the greed of money (i.e. bribing them).

76. While maching for the help of Emperor Jahangir, this king, an ally of the Lord of Delhi considered that immeasurable and astounding temptation of presentations of elephants, horses etc, made by the wicked Khurram as worthy as a straw. The noble can never be tempted (lit-deceived) even by the hundreads of kingdoms of lord Indra.

77. When the wicked fellow (Khurram) was unsuccessful in subduing him (i.e. Rao Ratna), he at once obstructed his way with his warriors, but the brave king Rao Ratna marched to protect Shah Salim, dispelling his furious army with the volley of arrows like the famous Arjun (Kirtiti, the great Mahabharate hero).

78. Then the great lord of earth (i.e, Rao Ratna) haughty, in crushing his foes, himself equipped with huge splendid army, bore the beauty of Upendra (Lord Vishnu), with the synonymous name of Vishvaksena, equipped with 'Sudarshana' disc, compentant in crushing the foes, desiring to protect the great intoxicated elephant in the form of lord of Indraprastha (i.e. Emperor of Delhi), fallen in the mouth (i.e, Jaws) of the wicked crocodile in the form of the invasion of haughty Khurram.

Note :- Reference in made here to the mythological story of गजग्राह mentioned in the Puranas, chosen as Metaphor)

79. While going towards the side of Delhi, this king, his glory as splendid as the full automnal moon, uplifting shortly the huge distressed earth (i.e. kingdom), belonging to shah Salim submerged in the deep mud of the strength of Khurram, with the strength of his arms was proclaimed as the protector of earth in the three words (like the incarnation of varaha, the Primeaval Board).

Note :-Reference is made here to the Puranic story of वराहावतार chosen as Metaphor.)

80. Then the lotus of the heart of the Emperor of Delhi, which was closed because of the excessive prowess of the evil-doer Khurram like the excessive lustre of the moon (दोषाकर) blossomed atonce, having beholden this splendid Sun-like king, whose arms (rays in case the of Sun) were instrument for dispelling the darkness of adversaries and whose demeanour was noble in bestowing protection to all the three worlds.

81. The lord of yavanas, thinking himself a master, felicitated king Rao Ratna, respected very much by people with the presents of hundreds of noble bred intoxicated tuskers and holders of horses. ordered by him.

82. Having observed both Rao Ratna and Shah Salim together, like Vayu and Agni (the Wind-god and Fire god) arisen up during the destruction of the three worlds, desiring to burn down the allies of the adversaries just like a straw, Khurram crossed over (i.e. ran towards) the region of quarters, leading on the steed of fear.

83. Alas, such a warrior was never to be seen among his (Khurram's) army, who could be able even to look at the magestic King Rao Ratna, shining forth like the Sun-god with his lustre pervading the boundless firmament of the battle-field while the son of Emperor of Delhi (Khurram) was running away with the speed of a dear.

84. This majestic king bearing the charge of the Commander-in-Chief (like the dlivine Commander-in-Chief Kartikeya), and borne by the Peacock (as fire) of Prowess, capable of devouring the snakes of foes, haughty with conceit, became glorified, while residing in the fomous prosperous city of Tapipur (i.e. Burhanpur situated on the banks of Tapti river).

85. If the great Ganges destroys the fire of sins, there is no wonder in it (lit, what wonder is there in) because it is accompanied with the mountain of snow (Mt. Himalaya). It is really surprising that here Bradhnanagara (Agra) the river Yamuna (lit, hot), the daughter of Solar-god (lit, heating one) kills (i.e. destroys) forcibly the three miseries (physical, mental and spiritual) drinking them. instantly.

86. The rising sun only protects the friendship of the lotus, while the the shining lustre of the multitude of gems, displayed by the merchants in the market place, the dispeller (lit rubber) of the darkness has spread its light in the region.

87. The king Rao Ratna residing in that metropolis, abounding with plenty prosperous localities, himself glorified too much because of his assault on the powerful foes, gladdened the southern quarter (Deccan), glittering with his lustre spreading from his Cantonement residence.

88. Then khurram enraged with his earlier insult (or humiliation) marched (for assault on Rao Ratna) with the assemblage of warriors like Nizam and Yakut Khan having heard about this king, the slayer of wicked rulers (in the battle) an ally of the Lord of Delhi, appointed as the commander-in-Chief (i.e. governor-Manasabadar) of the Deccan (the quarter of yama) through his spies.

89. The horde of Raksasa warriors in the form of the soldiers of Khurram's army beseized that Rama (i.e. Rao Ratna) having imme-

diately crossed the way to be walked over in so many days, spreading great disaster over the earth, with the help rendered by Malik Amber, the minister of Nizam.

90. This lord of meat-eaters (i.e Khurram like the lord of camibals, Rāvana), his heart as enraged as the submarine fire, hearing about this King Rao Ratna the surety for the protection of the three worlds alone, ordered immediately to his soldiers—" Invade at once the city of the Bradhna (i.e. Agra).

91. The self conceit of his (Khurram's) warriors, who were rapidly engaged in obeying the orders of their master with a zeal for combat, and were wearing the armours equipped with the (steel) head-gears on their bodies, and were instantly bearing the mass of poigant dazzling weapons, shone forth there.

92. That vast ocean of the army of Khurram, deeply agitated because of earlier defeat at the hands of Rao Ratna, indicated the distruction of the world, itself crossing over the limits (over flowing the shores) and roaring again and again with the protext of the noise of tambours and kettle-drums (beaten aloud).

93. This Khurram-equipped with sixty thousand archers firm for the pleasure of combat, his voice as loud as that of the multitude of clouds-told the brave Gopala, born in the flawless family of Gauda-Rajputs himself having prepared for battle aginst Rao Ratna with the increasing competitive spirit.

94. "Tell Rao Ratna, conceited with the prowess of his powerful stuff of arms obstinate with the conceit for combat as my messanger as fellows—" Deliver the city of Bradhna (Agra) to us, otherwise I shal offer the oblation (of worship) with the fat of your flesh today.

95. This great Gauda Rajput warrior intelligent enough in diplomacy, who was himself an ex-servant of Rao Ratna, began to convery him the message (lit- words) of magestic Khurram, himself bowing down on the feet of the King with his fore-head quivering on the ground.

96. "Oh king, though I have been the eater of your, left up residues during meals and salt for the last seven generations and as such, still hate this act of being a messanger, this service of the Turk prompts me to speak because my being dependant. Please execuse me for it"

97. "As it is heard from the mouth of sanskrit grammarians following the school of Panini that according to his aphoristic rule mentioned in the eighth chapter of Astadhayi that in the three sections of this

work the following rules are not applicable to the rules in the seven and a quarter Adhyayas (chapters) of the work, mentioned, earlier, so my later service of khurram may not be applicable to may earlier service under your majesty.

98. The victorious khurram, equipped with the horde of army creating unhealthy destructions of his foes with his range, and having regarded his soldiers with affection and money, is making today an effort to capture the kingdom of his father (Jahangir), finding him addicted to liquor for a long and subdued by a woman (i.e. queen Nurjahan).

99. Though the elder son of sultan, Parvez by name, is there, still this fellow (Khurram) deserves better to occupy the vast paternal kingdom. became of his great plowerss. On, the earth can be enjoyed only by the brave and not the fickle minded ones.

100. "Moreover, the mighty warriors equipped with great prowess moving for the combat and dreadful with the pillars of their arms like the posts befitting for trying the elephants of victory, pleased with the forest of battle, are very much on his side for fame, money or otherwise, desire to favour him even by giving up their own lives.

101. "Oh the multitude of his elephants, coverting unless even the vindhdyas the energy of which was spent up only by the command of the sage. Agastya, with the grandeur of the height of their bodies, desire to uproot forcibly the lotus of the fortunc of the adversary out of anger.

102. "This Khurram, churner of the ocean of enemies, is thus able to conquer all the warriors all alone instantly, who is capable enough to project the poor Delhi, within the three worlds, against him (Khurram), presently helped even by the lords (i.e. Subedars) of other quarters (i.e. provinces).

103. "Having instantly ignored all the alien warriors out of rage, he desiring to invade Delhi for the object of its gain within a couple of days (lit. two or three days), wants to celebrate the first auspicious ceremony with the present of this Tapinagar offered by you to him at once."

104. "Repeatedly remembering my valuable earlier service towards you at my heart, I tell you something favourable. This Khurram is sure to be the Emperor of Delhi. As such, he is not to be made hostile in the least by a diplomate like your goodself.

105. "Therefore. having presented the city of Jag-inagar (Burhanpur) to him at once, you should be a soucre, for his gain of Delhi. Oh, who

delays in obtaining the glory, a courier of the three worlds, approaching itself by fate, which can be purchased only with the barter of ives ?"

106. When that eloquent warrior ceased after telling privately Rao-Ratna the policy of diplomacy and obedience, the king, rembembering his duty as a kshatriya, befitting to his flawless famiiy, told him (i.e. Gopala Ganda), befitting even the preceptor of Gods (Dhishana, the Sage Brihaspati) with his intelligence.

107. The mass of brilliance of his teeth as bright as the kunda flower blossomed because of the smile of that king, speaking in the assembly (hall) as charmfully as the sound of a new cloud, bore the rising beauty of the moon light of h!s glory shining forth on account of dispelling the rlsing darkness of the inebriation of the conceited khurram.

108. "Oh you really surpass forcibly all my men, while telling about good future, befitting the occasion out of friendship (towards me). But this state of my heart anointed by the oil of affection towards the sultan very much, is unable to bear even a letter of your advice.

109. "If you call this unfit friendship (lit. colourless also against one's social status), resulting only for the sake of body, then how has this blamist has not come to your notice (lit. has not been a guest of your sight ? or I presume that you have as if, forgotten the duties of a kshatriya because of your new service at the assembly of a Muslim (yavana) master.

110. "Though you, clever in eloquency have repeatedly described the dreadful khurram with mighty strength, victorious of the alien warriors, how can we believe your words, having beholden him fleeing away from facing the lord of Delhi earlier (in the battle.)

111. Alas, if you consider the horde of his army as the ocean of destruction, then reckon me the sage Agastya, dextrous in drinking it. Or if you know him as a fire for the forest of powerful foes, then why should I not be considered a new cloud discharging the volley of the poison (water also in the sense of pun) of arrows.

112. Talking about Delhi under the supremacy of khurram, while his father is very much alive, you may consider even the flower of sky, (i.e. impossible thing) easily avaiiable, despite of my staff of arms, dreadful for the death of alien archers; fierce because of their

it ching sensation for the battle; and a guarantee for the fortune of victory.

113. "Alas, this master (of yours khurram)may obtain Delhi (lit. the city of Hari i.e. Indra), while awakening or in dream with the strength of faithful soldiers like yourself. But where is such a mother of brave man, who may bear a son capable of capturing the city of Bradhna (i.e. Agra) encirclded by the rampart of the fire of lustre (i.e. strength) of my large arms ?

114. "Alas, If you—the knower of the wealth of fame - consider the fame earned by becoming a source for capturing Delhi by this fellow (khurram) too much then how the infame of mine deserting the limit of great warriors, trodden by my elders would not stay today".

115. "Please know that even if the ocean may sometime abandon its depth out of fear; the group of seven mountain (kula - Parvatas) may leave its loftiness instantly; even the Sesa Naga may leave whole of earth (Placed on his hoods): the family of Asthipala would not anyhow abandon the limit of a kshatriya".

116. "Therefore, we tell you that this great khurram should capture Delhi by force at once, the fame of his family with his own might then this warrior (i.e, myself) shall decidedly deliver Bradhnanagar (the city of Agra) to him, equipped with his paternal throne, conquered with his own prowess".

117. Thus the honourable king Rao Ratna, the worthy son of Shri **Bhoja**, equipped with the career of proficiency in the vedas of royal **conduct** made the Sun-god, the foremost of gods or planets as his **'kulaguru'** (the preceptor of his family), with his voice resembling "Om" of the chanting of vedic Mantras of his forthcoming fame.

118. Then this Gopala, treated with proper hospitality and answered as above by the great king Rao Ratna emphasising on the proper conduct of a kshatriya, having considered shamefully the business of his master unfruitful, naratted that befitting reply to khurram.

119. Ah, hearing (lit. making proximate of ears) at once his utterence in privacy, this fellow (khurram), as colourless as the ocean, agitated because of its churning with the Mandara Moutain, marched for battle with rage, destroying the world without any reason, infatuated with the dreadful conduct heightened by his terrible worriors.

120. The colourful flags of this cruel-natured khurram, desiring to march for a furious battle, were beholden by the public like the big flames of Submarine fire of his excessive wrath blazing inside the ocean of his immeasurable army.

121. Then the multitudes of archers were caused to march, keeping all the great warriors, frightful like fire in the vangurd and after them the division of Elephants in front of the army, then placing afterwards warriors like Mohd. Faqi and Yakut Khan etc. on his side and back, this fellow Khurram formed the array of his army, placing himself in between.

122. Having formed thus the array of his army, he, the furious one with unbearable might, shone forth too much within the vicinity of Tapipur with sixty thousand warriors ready for the pleasure of combat, himself desiring to scatter the array of the alien army.

123. Having made Khurram too much hostile and having heard him willing for the pleasure of battle, the king, gem of the Solar race himself received (lit. bore) the consecration (Diksha) with the priests in the form of his warriors to perform the sacrifice of battle, for obtaining the fruit or effect (Phala) of the destruction of his adversaries.

124. strongest of the strong, this king did not wear an armour just to protect his body, while marching for the battle against his adversaries, because the vow of bravery itself is the strong armour for those born in the family of Asthipala, whose arms are competent enough to protect three worlds.

125. The royal flag inherited from his family, lovable or charming to be looked at but still very much dreadful insight for the foes; placed on the elephant of his vanguard, shone forth very much in front of him, desiring to enter the battle and willing to spread the destruction of the family of his enemies.

(Note:- There is paradox (विरोध) in सुदर्शनमपि भीमदर्शन, and the word सुदर्शनं also suggests the meanlng of the disc of Vishu" because of pun (श्लेष) here.

126. The yellow flag fluttered too much in front of him like the firm flame of Lamps of worship presented by the king, marchig with his army, zealous for fight, desiring to please the goddess (Kali), possessing dreadful sword (in her arm) with the blood of the family of his foes too much in order to attain the greatest fame in the three world.

127. That the lord of earth, the gem of the crowns of the warriors bravest in the world himself marched with his army full of curiosity for the ensuing combat, desiring to burn down the grass (or the forest of dry wood) of the family of his foes within a moment with the flames of the violent fire in the form of his superior prowess.

128. The excellent war-drum of the king which had sound of the wings of Bird god Garuda, dispeller of the poisonous snakes in the form of the arms of his enemies; conceited for combat; the robber of the wealth of the life of the people resounded as loudly as the roaring of the ocean agitated by the destruction of the globe.

129. The mass of the dust, raised by the sharp hoots of the mighty horses driven by the cavaliers, hasty for the great war, looked like the mass of smoke indicating the fire of the prowess of this king, willing to burn down the dense forest of the bamboos in the form of the family of his foes during the ensuing battle.

130. Oh, the splendour of his dreadful spear, the unexpected destroyer of the adversaries, was beholden from far away by the warriors like the powerful lightening, while the great clould of the multidude of his army was desiring to pour down the volley of showers in the form of weapons profusely on the mountains in the form of great alien kings.

131. The brave warrior king, dreadful in the fight, shone forth very much within the boundary of battle field himself equipped with the prowess of his mighty arms like the wild fire of the day of destruction, for the half chewed morsels of the world (the desiring to devour the world), wishing to put the ocean of enemies on the palm of his wreth like the sage born from the pitcher (i.e. Agastya) with the excessive thirst for the pleasure (in Agastiya's case, water रस) of victory.

132. Then the splendour of the beauty of red colour applied to the lower lips of the fawn-eyed ones (the ladies) of the mutitude of his adversaries resorted at once; as if out of fear, to the eyes of the king as the informer of the destruction of his mighty foes, wishing to play with alien warriors on the play ground of the battlefield.

133. The two clouds of global destruction in the form of Rao Ratna and the son of Emperor of Delhi (Khurram), thundering with guise of the loud roar of the lions, endowed with excessive speedy eagerness for assault on each other), furious because of wonderful bows strecthed along and glittering with the flames of the multitude of weapons as dreadful as the fall of thunderbolt, marched towards each other.

(or Rao Ratna and Khurram, resembling the two clouds of global destruction etc.).

134. The cannons similar to the extensive fire of destruction (lit. end of cosmos), emitted (lit. vomitted) very much the fire; like the rocks of sun-stone (Surya-Kanta-gem); roaring loudly, burning down the warrior; dextrous (विदग्ध, another meaning of double entranel, too much burnt already), in fight; when the shining prowess of both the innumerable armies enraged excessively, was blazing with the heat as furious as the cruel Sun-God on all sides within the battle-field.

135. The fires rising from the cannons-dreadful as the sparks of the blazing flame of the unrestrained noble prowess sparked because of the collision of clouds of the multitude of warriors, furious with the itching sensation of staffs of their arms, and increased by their blasts like the opening of the huge crooked eye on the forehead of the husband of Chaṇdi (Rudra) enraged during the time of universal destruction, blazed betwixt both the mighty armies.

136. The fire emitted by cannons played for a moment with the volleys of arrows-the preceptor of training of widowhood for the ladies of alien warriors, continuously attracting their on of conceit of the adverseries like a magnate, and serving as love-messanger of the libidinous ladies of Gods (i.e Nymphs for the meeting with their lovers, covering the sky as well as earth.

137. The twang of his bow, deft in fighting the 'Om' of the sacred lore of battle, the thundering of the cloud of final destruction of all the three worlds, the voice of the 'Nandi' (benedictory verse) in the beginning of the drama of the art of death of the rival kings, and the loud sound of the bell of the great elephant of victory approaching near by in future shone forth too much (there in the battle field).

138. The haughty warriors of the strict Khurram, Pierced through (or shot by the arrows of Sri Ratna, discharged from his mighty bow, the dreadfully roaring string of which was quickly pulled upto ear, bore as if the anointment of saffron-paste on their bodies, cut-down (in the combat oozing the streams of blood profusely from them, befitting their marriage ceremony with the celestial damsels.

139. The loud cloulds of the sharp-sounding war-drums roared properly in the battle: the bow of one born in the solar race (Rao-Ratna) discharged the violent volley of arrows very much, this earth was

watered deep by the oozing blood of the alien warriors, and the creeper of cupid (i:e passion) of the libidinous celestial ladies sprouted up wonderfully.

140. The great lecher (or libidinous fellow) in the form of his arrow dallied too much, seizing the necks of the multitude of fickle-charactered-warriors (like the necks of the ladies) desiring the colibition of the sportings of war, and squeezing the pair of breasts in the form of the fully developed temples of the ladies in the form of highly intoxicated troops of elephants, in the broad day-light of the noon-despite the presence of this king, here, a source of fear for the wicked, with his luster like that of the sun dazzling during mid-day.

141. The libidinous fellow in the form of quivering arrows of this king, desiring to dally competitively out of rage for the choicest victory over the trouble of the suddenly cut-bursting son of the shah (i:e Khurram), tightly caught-hold of the necks of the horde of chief warriors (like the necks of the excellent ladies), kissed their bimba-like lips and approached the lobes of their ears as if to whisper something favourable (i:e love-secret) in the pleasure house (lit. chamber of love) of the battle field.

142. The intoxicated elephants, seperated from their lives (i.e Slain) by the dreadful arrows of Sri Ratna. similar to the submarine fire with in the ocean; as powerful as the arrows of Arjuna (Pārtha), looked like the dirty mountains of foul fame of Khurram incarnate toppling down because of the falling down of the assemblage of the tops of mountains, cut down at once by Indra (Dambholi), heaped up together.

143. Alas, how did the assemblage of the creepers of the lines of paintings of anointment on the faces and bodies of the wives of foes dry up, when the cloud of his bow was pouring down the large rain-drops of arrows (पृषत्क) double-enterdre) too much on the multitudes of adverseries and was always scattering the water of the mass of lives all around and the eyes of lhe ladies of the rivals were trickling down the excessive drops of tears very much.

144. The arrows of Sri Ratna, terrible in the battle field, cruel in catching, the necks of the innumerable marching army of the arrogant Khurram; the touch stone for rubbing the increasing itching sensation of the staffs of arms of the warriors looking dreadful and crooked with their weapons, emitting the mass of burning flames

made the country of the lord of fore-fathers (i.e. yamaraja) a happy and prosperous region.

145. The angry and energetic soldiers of the army of the rugged khurram, beholding that brave king, churning the ocean of the army of his foes with intensive copy furry fought too much against him, with their swords, abandoning their lives like a straw for the cause of their master in the battle.

146. Then the king very much bold for the combat, his eyes terrible with rage beholding the foes, desiring to burn down the house of the three worlds with the rows of flames of their weapons instantly manifested the row of clouds in the form of his sword, of glittering with the water of its powerful sharp edge, resembling the goddess kali, the lady-friend of the wordly destruction of the assembleage. of his adverseries.

147. The sword of that king-the night of the final destruction of foes dreadful with the dense darkness, creating fear for the three world, the female snake what has licked up the vital parts of the bodies (of his enemies) emerged out at once from the ant-hill of the scabbord; the row of collyrium leaving the eyes of the assembled ladies of the adverseries, and the stream of the smoke of the fire (his) prowess, glittered in the battle field.

148. The sword of that king, the big blooming creeper of poison in the form of rage of mighty victorious kings born in the family of majestic earthly hero Asthipāla, looked as beautiful as the garland of blue lotuses put on necks of the enemies, placed by the most charming nymphs (lit. celestial damsels), desiring to woo the group of brave men.

149. The flocks of the army elephants of khurram, cut down by the sword of the king Rao-Ratna, which was the row of the furious and agitated angry glances of kali for devouring the horde of his adverseries-bore the beauty of the anointment of the thick red lead colour (Sindoor) of the blood oozing continuously as crimson as the rays of rising Sun, on their Newples.

150. Oh, how whole of that army of khurram, atonce attainded the deep slumber (lit. death), being swooned by the night of destruction, while this sun in the form of king Ratna, the best friend of the lotus pond of the Emperor of Delhi (Jahangir) was very much

shining with the brilliant lustre of the rugged rays of his arms, dancing in the firmament of battle-field.

151. It is really surprising that the afflicted army of the adverseries, too much despised, though possessing great lust for the delight of combat, became atonce averse to this king, the lord of this earth, keeping the glittering sword in his arm, producing the illusion of the row of bees dinging to the lotus of his hand, in the harem of the battle field.

152. That highly bold khurram, covetous for the safety of his life, his army bitten (lit - licked up) by the female snake in form of the on too much rugged huge sword of king Rao-Ratna, did not stay even for a moment on the battle field, himself crying loudly, and being beholden by the citizens laughing with the clapping of their extended hands (at his miserable plight).

153. Ah, having known meanwhile the king Rao-Ratna, deft in the battle attacked by their master, the highly treacherous innumerable warriors of khurram, headed by Mohd. Taqi who had abandoned their lives for the cause of their master atonce entered the unprotected Tapipur (the city on the banks of Tapi-river) breaking through the rampart constructed out of clay.

154. The multitude of the happy soldiers of khurram, entering the city like dogs, the seekers of holes in the form of weak points after having captured the crossway market-place of the city, praising themselves, despatched the messanger of the loud roar of the war drums and the violent sound of kettle drums as if willing to convey (lit explain) their victory to their master (khurram).

155. The exalted lord of Bundi, inflated with conceit, marched instantly towards the city for fight, having heard the loud beating of the war drums (of the foes) displaying their happiness on account of the capture of Tapipur, and having scattered the army of the adversery with the might of his arms-himself too much terrific because of the whirling (lit. dancing) around of the pair of his crooked eyes furious due to the puffing (swelling) of anger.

156. Then this foremost among the kings again stepped up in the battle against his enemies-marching with his royal elephant Gyanabandhu by name crushing the army (also strength of) the adversery, instantly deafining the ears of the foes with the sound of beating drums, and furious with the staff of his arms dazzling with the sword as sharp

as the long tongue of the mouth of the God of death, opened at the time of global destruction.

157. The master of the earthly glove, Rao Ratna, terrible for the game of hunting in the form of war, the corner of his eyes violent with rage; sported too much furiously, equipped with the shining sword with the soldiers of the horde of his enemies, fighting inorderly with the force of delight for the combat; forcibly invading like the violent attack of the hawk (in the battle), where the fight with the strength of spears from both the sides (had now started).

158. His royal elephant Gyanbandhu impelled forward by his driver (Mahavat) destroyed (lit. created the splitting of) the army of adverseries, with their elephants, terrified with the smell of his ichor oozing profusely, when this great army of the enemies, too deep to be plunged into because of the hundred of deadly arrows as well as swords, destroying the lives, and spears competent in piercing through the vital parts of the body was prepared for fight.

159. His elephant, blind with the conceit and terrible with the excessive itching of his broad temples', looked eminent sparking in the battle field as if in a forest, rubbing the banks of the river of the army of alien soliders with the pair of his tusks and forcibly uprooting creeper of the auspicious state of wifehood (सौभाग्य) of the assemembly of the spouses of his foes with the staff of his trunk.

160. The exhausted warriors of Khurram, headed by Mohd. Taqi at once entered the fort for the safety of their lives and shutdown the huge door of the main gate, having beholden the royal elephant (of Rao Ratna), as terrible as the Death itself with his sullied body, as if blackened due to the appliance of the anointment of infame created by giving the instruction of widowhood to the the ladies of the enemies.

161. The wooden door of the gateway, the cavity of which was shut down immediately by the family of his (Rao Ratna's) foes at that time, shook forth repeatedly. Was it the cruel God of Death himself, his pair of jaws too much tightened out of joy, having lately received the food in the form of yavanas brought to him effortlessly by the favourable providence, the violent fire of the cavity of whose stomach was burning for eating the flesh.

162. The alien soldiers discharged the balls thrown by cannons, placed on the cavities of the windows of rampart terrible with flames; furious arrows and volleys of stones at the time of extinction, when this lustrous king approached them, like the lamps blazing with their increased light at the time of extinction in the morning (sunrise).

163. This King, desiring to burn down at once the allies of his adverseries with the violent and rugged lustre of the rays of his arms of the cruel (twelve) Suns in the form of the furious warriors, on the day of destruction, caught alive the principal warriors of khurram along with Mohd. Taqi and other innumerable southerners. who had immediately surrendered their arms out of fear, having burnt down the panel of the door.

164. They (i.e. the alien warriors), whose feet were tied up with iron-chains, their heads bowing down, looking ery with too much shame and bearing the blackness of their infame abusing together their master very much; looked like the elephants of victory incarnate, besmeared with thick red lead (Sindoor) of the blood oozing again and again from their bodies cut down by the weapons.

165. Then the king, who had extinguished the assemblege of burning flames in the form of his foes with furious and violent prowess of the staffs of his arms returned to his residence, the multitude of his war drums resouding like the loud thunder of clouds, grouped together for the breaking of the huge Cosmos.

166. While returning, the king noticed for a moment the stage of the battle field, indicator of his powers; creating the illusion of the sportive movements of the zealous activity of Siva's dance; together the burst of loud laughter of intoxicated furious goblins, because of the excessive drinking of strong liquor of the bubbling blood (of slain warriors).

167. The victorious Rao Ratna, whose arms were a place of resort for all the people, protected the frightened Khurram, obstructed (lit. arrested) by the river Tapi, sporting with the pastinue of an intoxicated fellow, highly intoxicated by the heavy flood of rainy season due to the pouring down of torrential rains, rendering (the help of) many swift boats.

168. That king Ratna, thus protecting the royal umbrella of the Emperor of Delhi for long, bearing the umbrella of his own fame shining with victory over his foes and guarding the city, Bradhna by name (i.e.

the city of Agra) with the might of his arms, came back to the respected city of Bundi, the glory of his family.

169. When the Emperor of Delhi (Jahangir), born In the family of Chakattas (i.e. Chaghtai), departed for heaven, this King Rao Ratna, remembering his friendship since the days Rao Surjan, made Khurram; though his enemy, approaching to him for his protection, the ruler of Delhi. The great men forgo their anger when approached with courtesy and humility (lit. Sulutation).

170. I presume that this charming blotless moon of khurram (Emperor, Shahjahan) has expanded because of the vast ocean of milk in the form of clean fame of the king Rao Ratna. As he the moon of khurram prospers, rising above and above in the firmament, he (the ocean of Rao Ratna greatness too much opulence (exhuberance, lit. fat) with his lustre.

171. Having protected the flock of cows from that khurram, manifesting the cruel demeanour of a Turk on the earth, he (Rao Ratna) shining the globe (lit. Circle) of the quarters with his glory; retired to the charming abode of majestic divine lustre, resembing the dark could (i.e. Lord Vishnu); having placed the huge burden of his kingdom on his grandson, Śatruśalya by name.

172. Thus Śrī Rao Ratna has been eugolized in the poem Satrusalyacharitana of the poet Vishwanatha etc.

CANTO-XII

1. May Śatruśalya, the grandson of the king Rao Ratna: and the son taken birth from the Prince Gopinatha, himself famous as the supermost brave person in the whole world and who has dispelled the worry of the safety of three worlds, be victorious.

2. I beg Lord Visnu who has dispelled the worry of the safety of three worlds for the welfare of this son of Gopinatha; conquering the wicked kings with the lustre of his pair of arms, protector of the worlds.

3. May Hari be for (i.e. bestow) the joy and happiness of this king (Śatruśalya); having created him as a befitting correction for the conduct of adversaries, who are averse to righteousness, and truth. His (Hari's) worship, and kindness, when the worldly situation has been made unstable in this evil age of Kali.

4. May Lord Siva, who had shown his insignia to Gauri (Satruśalya' mother) bearing him in her womb, in the dream, bearing the umbrella of the multitudes of the hoods of Seshanaga, over his heads bestow welfare upon this prince.

5. The multitude of gods, with their fattened bodies because of the sacrifices performed by the wealthy Brahmins, prosperous on account of the favourable glances of him, with which the fortune of hundreds of the gems of wish (Chintamani) runs forward, bestow him (Satrusalya) happiness.

6. Who is such an intelligent scholar, who may be able to count the multitude of his innumerable merits ? Still my tongue (lit. knower of the taste) is covetous for getting even a drop of the ocean of nectar in the shape of his merits.

7. & 8. It is this Satruśaly-the pleasure-chamber of the fortune of victory of the three worlds; the rest-house of the mature knowledge; the foremost preceptor of the qualities like generosity; the source of delight for the well -disciplined public; the moon for the water-lilies of the hearts of scholars-appearing luminous like the rising moon with his prosperity.

9. Though he is Indra (Lord of the earth), still he is destroyer of Indra (i.e. destroyer of the hundreds of grief of human beings, शत-मन्यु-प्रहर्ता), though he is Fire-god, still he is the remover of heat (i.e.

dispeller of the agony of his public); though he is Dharmarāja (Yama), still he is the bestower of the lives to the three worlds (while Yama actually takes away the lives of men); though he is the protector of earth (-the Rākṣaka of the earth भूमीरक्ष:), still he has pleased (Lit. blossomed) Rama.

10. & 11. How can the lords of eight quarters be equal to this king. Indra is the enemy of family (गोत्रद्वें षी, the enemy of mountains); while the king loves his family; Agni, the fire - god travels on a black path (कृष्णवर्त्मा), while the king walks on the white righteous path; Yama (the lord of the Dead) has a strict (furious) staff in his hand, while this king's, punishment is not harsh; Nairata (the lord of south-western sub-quarter) wonders dreadfully in the night (being a Rākṣasa), but this king is neither dreadful nor wonders in the night; Varuna (the water-god) is Lord of the stupid (जडराज:-जलराज) while this king is lord of the wise; Vayu (the wind -god) is fickle in nature, while the king is stable minded; the lord of Kinnaras (Kubera) is befitting the meaning of his name; and the friend of uneven-eyed one (i.e. lord Siva having three eyes) is the eater of poison (or afflicted with grief), while this king is not like this.

12. Though so many eminent kings have born in this solar race, the earth has been, verily, with a just king (राजन्वती) only because the ornament of all these, the king Satruśalya governs (over it).

13. Is he the virtue of Ksatriya incarnate, endowed with broad shoulders, too long arms touching his kees, himself as tall as the Sala tree having well formed joints of the limbs, having eyes as lovely as the lotus and complexion as yellowish as the Champaka flower.

14. Oh, the son of Simhika (Rahu) has been humiliated by the beauty of his flowing dense lock of hair. I think, the moon is surely distressed (feels pain) again and again being equal to only a portion of the charm of his face.

15. Is this king a swan who is pleasant to his friends picking the milk of merits from the water of demerits. Hence he has given the crooked and black hair, clinging over the forehead, a place above his head covering for its smoothness.

16. The high over-stretched and round lovely head of this king bears always the natural beauty of the umbrella, the lady-messenger of the kingdom of unbounded earth.

17. I conjecture that his forehead is the love-letter of the goddess earth, having immense love towards him expressive (lit-talkative) of the nectar of her (its i.e. earth's) desire.

18. & 19. The three lines (folds of skin) shine forth on his forhead, the line placed by Brahma, desiring to create him with the assemblege to good qualities at one place, scattered in the three worlds, like the three wonderful boundary lines of the faithfulness of fortune; of fortune of victory over this earth (kingdom) of wicked rulers, and the beautiful form, spreading over the three worlds.

20. This king shines forth as Siva incarnate in the three worlds, having beautiful neck (having the name of Srikantha) and equipped with strong forts (having Durgā as half of his body); bearing an extra third eye besides the natural two as the eye of intelligence (being three-eyed in case of Siva) and embraced by prosperity (embraced by ashes as Siva') and having the forehead like the half-moon (bearing crescent of moon on the fore head in case of Siva).

21. & 22. The creator, Lord Brahma, considering his creation, the moon as insufficient, creating another new moon for the pleasure of both the lords in this world i.e. the son of Gopinātha (Satruśalya) and killer of cupid (enemy of Siva) and having placed half of this new moon on the head of Siva, has surely placed the other half to be discerned in the guise of the lovely forehead of this king, whose personality is endowed with his glory as luminous as the moon.

23. In case the demoness Simhi gives birth to another warrior son Rāhu who may not wipe off the deer sitting in the lap of the moon, buy this moon not vanish; then and then only she (the moon) can full bear the charm of his (king's) face.

24. Since his face (is) bearing an undescribable excellent handsomeness due to all the digits (of the full moon), who is such a scholar (i.e. poet) who may describe (Lit. know) it (his face) similar to the lotus far away opposed to them (i.e. all the digits of the moon).

NOTE : As the lotus is averse to moon, no scholar would compare to the face enowed with the brilliance of the full moon.

25. I presume that the louts (specie of lotus) with its stalk of on the bearing the rosary of Rudraksas in the form of the row of bees has the sun (Standing) in the water in order to obtain the beauty over (king's) face.

NOTE : The specie of lotus is observing a penance for pleasing the Sun-god to bestow upon it the beauty of king Śatrusalya's face, because it is not as beautiful as his own face.

26. Whether the specie of lotus may serve the Sun very well or may give bribe of riches (beauty), or may bestow a high position (office) presently, alas, inspite of all this it can never achieve his resemblance of his too much radiant face.

27. I exactly conjecture that his shining pair of ears are the manifested palms of his heart, for drinking the nectar of the name of lord Vishṇu, powerful enough to revive the human beings to life.

28. This figure of 'nine (e) explains the forceful fortune of victory of twice nine (i.e. eighteen) islands (or Continents) in the guise of the pair of the ears of this king, respected among the group of all the kings.

29. & 30. His staff of arms too much torturing the three worlds itself, gave initiation of widowhood to the consorts of his adverseries, and also gave poverty to the poverty itself; as such of his twice-fold in fame overheard (by the people) is prominently visible obviously in the guise of the two divided locks of curved dark hair on his forehead of this king.

31. The crooked and black wings of the Khanjan-bird, submerged in the depth (i.e. deep waters) of the pond of the beauty of the eyes of this king are visible in the guise of the pair of his eyebrows.

32. I conjecture his even eyebrows as the line of the row of smoke of the lamp of his sharp lovely and resplendent nose placed in a spot without wind, divided into two portions.

33. I doubt, has this animal (the deer of the moon), not observed the defeat of the moon by the beauty of his face, because this small deer (fawn), afraid of the mass of the beauty of his eyes has taken protection in the moon.

34. If this noble man (human being) Sun, his friend, helps the fresh red lotus with the multitude of his rising lusters without any titre someness, then it (i.e. red lotus) can assume a bit of the charm of his lovely eyes.

NOTE : The fancy has also a tinge of grammatical erudition; the sun is friend (मित्र) of the lotus, but he is not neuter (नपुंसक) in gender, in fact he is masculine (मित्र:-सुपुमान्) i.e. it is potent enough being endowed with the multitude of lusters.

35. Since the glances of his eyes are renowned as the birth place of hundreds of the gems of wishes (Chintāmaṇi) and the seed of the thousands of the celestial trees (Kalpavrkṣha); what object then the eye of this king is similar to ?

36. Has Lord Brahma created his nose as the boundary line of both of his eyes, presuming them disputing together to invade the region of each other's ears.

37. The pair of his fully developed, fleshy rounded cheeks, as lovely as the brilliant fresh champaka-flower shines forth as a pair of the wheels of the chariot for riding of the beauty of his face, desiring to conquer the moon.

38. Verily this is the pair of the ripe fruit of the best pomegranate of the fortune of his beauty, the sprout of which was irrigated by the nectar of the feeling of love, fruitioned in the guise of his cheeks, resembling the rising sun.

39. Does his moustache look as the sprouts of the creeper of his excessive self-respect, taking the support of the tree of the Ksātradharma (the conduct befitting a warrior) and growing on the ground (i.e. field) always irrigated by the waters of his self conceit (lit. anger)

40. His moustache is truly the bow of the cupid, desiring to kill (i.e shatter) the anger of the damsels. His nose is a pair of pipes of the muskets (i.e. dunāli bandook), since it shines forth (Lit. they two shine forth) in the guise of the two cavaties of the nose.

41. Is this row of moustache belonging to him, love letter of the fortune of victory of the three worlds, the cloud for the fire of the jungle of the valour of the wicked warriors, and the flock of black bees accompanying the lovely perfume of the breathing of his mouth ?

42. Are his teeth the buds of the smile of the goddess of speech, residing in his mouth; belittling the Kunda flower and snatching loudly and bravely the diamond ?

43. The thirty-two teeth of this king tell the glory of his victory over the eighteen great islands together with the fourteen upper and nether regions.

44. The tongue of this king, resembling the patal of the red lotus is really the flag of the boat of his intelligence crossing over the deep oceans of the eighteen branches of knowledge (lit-learning).

45. This tongue of the king, possessing the charm of the twig of the great tree of wishes (Kalpadruma) is really the expert densuese of the opera of love; who has attained the height of dexterity in all the fine arts.

46 The big and fleshy pair of lips, as beautiful as the ripened bimbi-fruit and resplandent with the lovely corness of the mouth, look red as if smeared by the love, residing in the hearts of the young ladies.

47. Is the fleshy and round, lovely bearded chin of this prince, bearing the beauty of the orange fruit, and the ball of the sporting, goddess of beauty of his charming form, studded with the blue sapphires together with rubies ?

48. His neck, resplandent with the three folds of the skin, stoutly former with flesh, and competing with the counch-shell, shines forth as the drain of the rivulet of relish.

49. Alas, the tongue of that man be hundred-fold (i.e. be shattered into hundred pieces), who tries to give the simile of the cuckoo (lit. reared by others) to the sweet voice of this king (i.e. prince), making harsh even the notes of the viṇā.

50. I presume (or think), the voice of this prince with sweet and lovely sound is the accomplished Mantra (sacred formula) for bewitching the hearts of the lovely maidens, the source instrument (or amulet) of all the arts, and the twaing of the bow of the god of love (i.e. cupid).

51. This brave prince, endowed with the strength of a mighty lion dextrious in shattering the temples of the intoxicated tuskers roars with his voice with the thundering of the black (lit. smooth) cloud while himself in the battle.

52. The fat (i.e. fleshy) and round neck of this lord' bearer of the earth; resplandent with seven oceans, is really the golden axele made by Brahma creating the artistic creation of this world.

53. Has the Dharma in the form of bull hidden itself in his heart being tortured it is why (because). the fat hump (ककुद) by kali age of this Dharma is visible in the form of his (the princes) robuet and and stout shoulders.

54. I conjecture that his lovely, rounded arms, turning towards left side and touching his knees, resembling the trunk of an elephant and marked with the scar of bow- string, are the shining supporting rods for the fortune of Sovereignty.

55. With what (whom or which) his arms the two big rods of the loom for weaving the shining cloth of his glory, dreadful like the snakes devouring the lives (another meaning, air, i.e. breath) of the enemies and the supporting for the tree of gods for fulfilling the wishes of scholars, may bear their resemblance ?

56. His pair of arms strong enough like the beams of the door of the fortune of rival kings, capable in protecting the three worlds, speak the absence of the hords of his enemies through the pretext of the mark of round and black big scar made by the bow-string

57. The well-formed wrist of this prince, the basin of shining tree of gods of his shining which bears the blossoming garland of flowers, resembling the wristlet of his wooing by the earth (like a bride).

58. Is his hand, as lovely as the fresh red lotus, the pond of the goddess of beauty of his body, because the masses of the lotus, and counch - shell are visible here together with the loturs fire and big fresh (as prescribed as signs of fortune by the science of palmistry).

59. I presume, this prince has presently robbed the famous cupid with the high conceit of the beauty of his limbs, that is why, he bears the insignias of his (cupid's) kingdom in his own hand the fish and his flag and the exalted royal umbrella.

60. Are his five clear and red fingures, pointed with the lovely buds of red and shining nails, the branches of the trunks of his hand resembling the resplandent tree of gods.

61. His broad, and robust lovely chest is the sporting apartment of the damsel of the fortune of Victory. Oh, I presume that it carries (i.e. bears) the beauty of the door in robbing the bities of the flaughty enemies.

62. The chest of this prince, the plaque tableau of victory, the sole sporting ground for the goddess of beauty and the original seat (or

pedestal) of the goddess Bhakti of Lord Vishnu, bears (i.e. creates) the agitation for his enemies.

63. There is no surprise, if a blossoming lotus, with scanting, fragrance attracts the black bee towards it too much. This, of course, creates wonder for us that the bee of his heart attracts the lotus of the feet of Hari towards it.

66. The robust and smooth back of prince looks very much like the leaf of the plant or tree, where this message is written on it, "I desire to embrace your brave enemies."

67. His stomach, beautiful because of the absence of the foldings of skin, speaks that there is no other king (except him) in the world, who collects the tributes (from the world), while this crown prince endowed with wonderful deeds rules over the great earth, possessing the rampart of the fair ocean.

68. Is his deep and round naval curving towards right, the pond of beauty, as this line of hair on it as black as the row of black bees looks like the mass of water.

69. This prince, converting even the lords of quarters simply the rulers of small hamlets any how endures the epithet of the king of wild animals (i.e. lion) though living in the forest, with the word "Raja' ' attached to it (i.e. in the synonym 'mrigarajah'). because he has snatched forcibly the fortune (i.e. charm) of his (i.e. lion's) waist.

70. The thighs of his prince always rebucking the trunk of the plaintain tree and snatching the beauty of the matacarpus create very much the illusion of the pillars for the swinging sport of the goddess of beauty.

71. Oh, are the round, fleshy and even pair of his knees equipped with well-covered joints, two lovely fruits of the 'jambira'-lemons, grown in the charming garden of the goddess of beauty.

72. How can the shanks of this prince, desirous of destroying (lit. killing) forcibly the beauty of the pillar of gold plaintain tree, grown in the celestial garden, bear the resemblance of the harsh and hard trunk of the elephants.

73. Are the ankles of this king (i.e. crown-prince), bearing the simile of the rounded shining golden "jamun" fruit, a pair of which is clinging to the glittering Tree of wish in the form of his feet, capable of bestowing all the riches very much.

74. Verily, this convex, crimson, smooth and flesh warm pair of feet, with invisible veins and covered up ankles, wins over the lotus, just to snatch the beauty residing in it (i.e. the lotus).

73. As his tender pair of feet with shining heels and with fingers clinging to them possessing the charm of red shining nails, emitting no perspiration, do not touch the earth (fully being convex in shape) it is because of declaring his own incarnation of some deity (on the earth).

76. Oh, since his pair of feet, as charming as the lotus, bears the long upward lines, it just suggests the beautiful tonsures or locks of hair dressed on the end of the heads of kings of the world (touching his, feet).

77. Oh, I presume, that the terrified lord of twice-born i.e. the moon won over by his face has come to the protection of the lotus of his feet, with its digits in the form of the assemblage of his shining nails.

78. The slow and steady gait of his pair of feet, resembling, that of the intoxicated elephant, as if suggests that the commands of the things in this world have become inactive.

79. The physical fitness (lit-signs) of this prince, as enumerated here, suggest that his mighty valour forcibly pents (or shatters) the horde of his enemies into hundreds of pieces like the way of the wind shattering the assemblage of clouds.

80. This great king, who has a single hair in each pore, possesses two streams of urine turning in a curving fashion from left to right and who has low threefolds of skin on the belly, is like fresh dark complexioned (loud and has four long limbs (arms, eyes, nose and possesses five things (i.e. speech tongue, teeth, eyes and nail shining and glossy, His six limbs (i.e. the arm-pits, belly, chest, nose shoulders and forehead) are raisee, and seven limbs (i.e. the palmo soles, corners of eyes, nails, palate, tongue and lower lip) are red. He is the conquerer of the eight quarters and lord of nine islands (Dvipas), and is endowed with ten limbs (i.e. mouth, eyes, face, tongue, lips, sole, pimples of the chest, hands and feet similar to lotus.

81. This brave prince always dull (making inactive) even the great tree of the wishes in crushing (i.e. removing) the poverty of the multitude of the Brahmin donees, and belitling even that great Mt. Meru, the

foremost among the mountains i.e. the bearers of the earth), surpasses, all while residing in the great city of Bundi.

82. The celestial Cow is but an animal, the tree of Wishes is stable (or inanimate); the demon king Bali is the enemy of gods (pun, enemy scholars), Zarna (of Mahabharata fame) has been burnt (i.e. made powerless) by the curse (given by Parashurama), and alas the gem of wish can be reckoned as a petty worthless stone. Oh, how can they bear the rsemblanse of this prince, Śatruśalya.

83. Thus ends the description of the signs of body belonging to the prince Satrusalya in the poem Satruśalya Caritam composed by the poet Vishwanatha etc.